उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान सम्पादक
जगत नारायण

जनवरी, फरवरी, मार्च, 1984 (II)

सम्पादक
हेतराम बाल्मीकि

नि० प० 1984

विधि साहित्य प्रकाशन,
विधि और न्याय मन्त्रा... .यी विभाग), भारत सरकार

नामानुसार अनुक्रमणिका
जनवरी-फरवरी-मार्च, 1984 (II)

पूर्ण न्यायपीठ निर्णय :

अन्य निर्णय :

विषयानुसार अनुक्रमणिका

जनवरी-फरवरी-मार्च, 1984 (II)

असम मोटर एक्सीडेंट क्लेम्स ट्राइब्यूनल रूल्स, 1960

—नियम 5 और 6—अनुयोजन खारिज करने की अधिकरण की शक्ति—डाक सेवा के माध्यम से सूचना तामील न की जा सकने पर अधिकरण का यह कर्त्तव्य है कि वह आदेशिका तामीलकर्ता द्वारा सूचना तामील करवाता—ऐसी स्थिति में अधिकरण को अनुयोजन संक्षिप्ततः खारिज करने की अधिकारिता नहीं है। खारिजी का आक्षेपित आदेश अविधिमान्य है।

गोहाटी-36

आयकर अधिनियम, 1961

—धारा 67(1)(ख)—उक्त धारा 67(1)(ख) में यह उपबन्धित है कि किसी भागीदार को दिया गया कोई वेतन ब्याज, कमीशन या अन्य पारिश्रमिक भागीदार को प्रभाजित लाभ है—परन्तु जहां पर भागीदार द्वारा कोई पारिश्रमिक अर्जित किया जाता है जो कुटुम्ब की आस्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता है तब इस प्रकार कर्ता द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं होता जब तक कि इसका सीधा सम्बन्ध परिवार द्वारा लगाई गई रकम से न हो।

पटना-58

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947

—धारा 2(ध)—उक्त धारा 2(ध) में प्रयुक्त 'शरीरिक काम' को केवल हाथ द्वारा किए काम तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है, उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शारीरिक कार्य आते हैं, जो यंत्रवत् पुनरावर्ती होते हैं और जो अपनी प्रभावकारिता के लिए मुख्यतः शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं, किसी काम की प्रकृति निर्धारित करते समय, शारीरिक काम, जो अन्य प्रकार के अर्थात् ऐसे कार्यों का आनुषंगिक या सहायक है, जो बौद्धिक, कल्पनात्मक, सृजनात्मक क्षमताओं की अपेक्षा करते हैं, अवधारक नहीं होगा। इस प्रश्न को अवधारित करने के लिए कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद

अधिनियम की धारा 2(ध) के अधीन कर्मकार है, उसके काम को इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है। इस प्रकार देखने पर यह स्पष्ट है कि अध्यापक का काम हाथ का काम नहीं है और इसलिए अध्यापक कर्मकार नहीं है।

केरल-10

—धारा 25-ख (2) सपठित धारा 25-च—किसी ऐसे कर्मकार की सेवा, जिसने अपने नियोजन की 240 दिन की अविच्छिन्न सेवा पूरी कर ली हो, मात्र इस कारण समाप्त नहीं की जा सकती कि उसकी नियुक्ति मौसमी (सामयिक) थी जब तक कि उस तारीख का विनिर्दिष्ट रूप से उल्लेख न किया गया हो जिसको उसकी सेवा समाप्त की जानी है—यदि ऐसे कर्मकार की सेवा समाप्त की जाती है तो वह उक्त धारा के अधीन एक मास की सूचना या उसके बदले में एक मास का सम्बलम् पाने का हकदार है।

पटना-49

कम्पनी अधिनियम, 1956

—धारा 100(1) और धारा 155—कम्पनी द्वारा कुछ व्यक्तियों से 2,50,000 रुपये की राशि प्राप्त किया जाना और उसके लिए कोई शेयर जारी न किया जाना—कम्पनी द्वारा शेयर रजिस्टर में परिशुद्धि के लिए आवेदन फाइल किया जाना और उसका विद्वान कम्पनी न्यायाधीश द्वारा नामंजूर किया जाना—कोई पक्षकार विधि की स्वीकृति से आबद्ध न होकर तथ्यों की स्वीकृति से आबद्ध होगा।

पटना-123

गुजरात कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1962

—धारा 88 (1982 के अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित) तथा धारा 89—सहकारी बैंक के प्रबन्धक से बैंक के कार्यकलाप के सम्बन्ध में कतिपय जानकारी मांगने की शक्ति किसी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति के अन्तर्गत आती है अर्थात् जानकारी मांगने के लिए आदेश एवं पत्र जारी करने के लिए सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण उसकी एक पुरोभाव्य शर्त है—अतः लेखाबहियों के निरीक्षण से अलग रहकर जानकारी मांगने के लिए दिया गया आदेश अवैध और अधिकारातीत होने के आधार पर अपास्त किया जा सकेगा।

गुजरात-9

—धारा 160 (1982 के अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित)—रजिस्ट्रार द्वारा निदेशक के पद भरने के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले उम्मीदवारों के नामांकन पत्रों की निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में संवीक्षा किए जाने के समय उपस्थित रहने के लिए किसी प्रक्षक की प्रतिनियुक्ति का निदेश धारा 160 के उपबंधों से पूरी तरह असम्बद्ध है—अतः ऐसा आदेश अकृत और शून्य है तथा अभिखण्डित किया जा सकेगा।

गुजरात-9

गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन) नियमावली, 1977 तथा आठवां संशोधन, 1978

—सपठित गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963, धारा 206—पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित करके पिटीशनरों को विभिन्न काडरों/ग्रुपों में विकल्प के आधार पर आबंटित किया जाना—विधानमंडल को नियमावली विरचित करके राज्य सेवाओं को पुनर्गठित करने की प्रशासनिक शक्ति है और उक्त नियमावली में कोई मनमानापन नहीं है—अतः उक्त नियमावली राज्य विधानमण्डल की शक्तियों के अधीन होने के कारण विधिमान्य अधिनियमितियां हैं।

गुजरात-45

—सपठित गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963, धारा 206—पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित करके पिटीशनरों को विभिन्न काडरों/ग्रुपों में विकल्प के आधार पर आबंटित किया जाना—उक्त नियमावली से पिटीशनरों की सेवा की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि प्रोन्नति के भावी अवसर सेवा की शर्तें नहीं हैं—अतः यह नियमावली अधिनियम की धारा 206 के प्रतिकूल नहीं है।

गुजरात-45

घातक दुर्घटना अधिनियम, 1855

—धारा 1-क—मृतक के माता-पिता द्वारा प्रतिकर के लिए वाद लाया जाना—मृतक के माता-पिता प्रतिकर के हकदार हैं।

पंजाब-हरियाणा-47

—धारा 1-क—मृतक के आश्रितों को प्रतिकर की रकम का निर्धारण —ऐसे मामले में वार्षिक आश्रिता को उपयुक्त गुणक द्वारा गुणा किया जाना होता है।

पंजाब-हरियाणा-47

जम्मू-कश्मीर कोर्ट फीस ऐक्ट, सम्वत् 1977

—धारा 7(iv)(सी) सपठित जम्मू-कश्मीर स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, सम्वत् 1977, धारा 42 तथा विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 धारा 34 और न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, धारा 7(iv)(ग)—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वादी को जीवन बीमा निगम के विरुद्ध इस घोषणा के लिए नहीं कि वह बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर बीमा धन पाने का हकदार है वरन् बीमा धन की वसूली के लिए वाद फाइल करना चाहिए—जहां घोषणात्मक अनुतोष और आज्ञापक व्यादेश के अनुतोष को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक दूसरे से स्वतन्त्र माना गया है वहां आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा धन की वसूली के अनुतोष का स्थानापन्न नहीं माना जायेगा—अतः बीमा धन की वसूली के लिए वाद पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संदाय करना आवश्यक होगा।

जम्मू-कश्मीर-1

जम्मू-कश्मीर लिमिटेशन ऐक्ट, सम्वत् 1995

—धारा 10, 9 तथा अनुच्छेद 57 और 145 सपठित जम्मू-कश्मीर ट्रस्ट्स ऐक्ट, सम्वत् 1977 धारा 6—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—बीमाकृत व्यक्तियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति द्वारा बीमा धन की वसूली के लिए वाद उस बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु के तीन वर्ष के अन्दर फाइल किया जाना चाहिए—यदि उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु भी उक्त तीन वर्ष की अवधि के भीतर ही हो जाती है तो भी उसके वारिस उसी तीन वर्ष की अवधि के भीतर वाद फाइल करनें के लिए बाध्य हैं—ऐसे मामलों में वादियों की अवयस्कता भी अप्रासंगिक होगी—अतः तीन वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया वाद स्पष्टतः कालवर्जित है।

जम्मू-कश्मीर-1

जम्मू-कश्मीर सिविल प्रोसीजर कोड, सम्वत् 1977

—धारा 20 और 21 सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 20 और 21—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वाद लाने का स्थान—बीमा धन के लिए वाद उस न्यायालय में लाया जाएगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु होती है।

जम्मू-कश्मीर-1

जम्मू-कश्मीर स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, सम्वत्, 1977

—धारा 42 सपठित जम्मू-कश्मीर कोर्ट फीस ऐक्ट, सम्वत् 1977, धारा 7(iv)(सी) तथा विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963, धारा 34 और न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, धारा 7(iv)(ग)—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वादी को जीवन बीमा निगम के विरुद्ध इस घोषणा के लिए नहीं कि वह बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर बीमा धन पाने का हकदार है वरन् बीमा धन की वसूली के लिए वाद फाइल करना चाहिए—जहां घोषणात्मक अनुतोष और आज्ञापक व्यादेश के अनुतोष को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक दूसरे से स्वतन्त्र माना गया है वहां आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा धन की वसूली के अनुतोष का स्थानापन्न नहीं माना जाएगा—अतः बीमा धन की वसूली के लिए वाद पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संदाय करना आवश्यक होगा।

जम्मू-कश्मीर-1

दण्ड संहिता, 1860

—धारा 109—सपठित धारा 409—दुष्प्रेरण के लिए दोषसिद्धि—यदि अभियुक्त को दुष्प्रेरण गठित करने वाले तथ्यों की जानकारी थी और यद्यपि आरोप यदि अभिपत्र केवल मुख्य अपराध के लिए ही था तथा दुष्प्रेरण के लिए पृथकआरोप पत्र बनाने में हुए लोप के कारण अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था तो ऐसी दशा में उसे दुष्प्रेरक के लिए सिद्धदोष किया जा सकता है, भले ही मुख्य अपराध का आरोप असफल हो गया हो।

पंजाब-हरियाणा-88

—धारा 302 और धारा 304 का भाग II—अभियुक्त का क्षणिक आवेश में कसौले से एक ही वार किया जाना—अभियुक्त को इस बात का ज्ञान होना कि वह ऐसी क्षति कारित कर रहा था जिससे मृत्यु कारित हो सकती है किन्तु उसका घातक क्षति कारित करने का कोई आशय न होना—यदि अभियुक्त द्वारा मारने के आशय के बिना एक ही वार किया गया हो अथवा ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना वार किया गया हो जिससे मृतक के मरने की सम्भावना हो तो ऐसे मामले को भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 के उपबन्ध लागू नहीं होंगे और निष्पक्ष रूप से वह धारा 304 के भाग II की परिधि के अन्तर्गत आएगा।

दिल्ली-97

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973

—धारा 125 सपठित हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, धारा 25—मजिस्ट्रेट द्वारा संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन में भरण-पोषण मंजूर किया जाना—पिटीशनर (पति) द्वारा मजिस्ट्रेट के भरण-पोषण के आदेश पर यह आक्षेप वैध नहीं है कि सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद वह (मजिस्ट्रेट) संहिता के अधीन भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता है—ये दोनों अधिकारिताएं एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं अतः सक्षम सिविल न्यायालय का भरण-पोषण का आदेश संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन के लिए कोई वर्जन नहीं है।

दिल्ली-110

—धारा 145—इस धारा के अधीन आदेश पारित करने में मजिस्ट्रेट का प्रयोजन भूमि के कब्जे के प्रति किसी पक्षकार का हक या अधिकार विनिश्चित करना न होकर हक या अधिकार के प्रश्न को विधि के सम्यक् अनुक्रम में विनिश्चित किए जाने के लिए अभिव्यक्त रूप से सुरक्षित रखना है—शांति-भंग की आशंका उसकी अधिकारिता का आधार होती है और उस उद्देश्य से वह उन अधिकारों के निरपेक्ष एक अस्थायी आदेश पारित करता है जिनके सम्बन्ध में न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया जाएगा और विधि द्वारा उपबंधित रीति से निपटारा किया जाएगा—तथाकथित आदेश का पर्यवसान सिविल न्यायालय द्वारा ऐसे हक या अधिकार के सम्बन्ध में डिक्री पारित होते ही हो जाता है—इस प्रकार मजिस्ट्रेट का आदेश पुलिस का आदेश मात्र होता है और वह हक सम्बन्धी किसी प्रश्न को विनिश्चित नहीं करता।

पटना-1

—धारा 378—उक्त धारा 378 के अधीन दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में यदि साक्ष्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार संभव हों और विचारण

न्यायालय ने अभियुक्त के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया हो और उसे दोषमुक्त कर दिया हो तो अपील न्यायालय दोषमुक्ति को मात्र इस आधार पर नहीं बदलेगा कि वह साक्ष्य के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण अपनाना चाहता है।

दिल्ली-71

—धारा 482 सपठित धारा 397 और 399—अन्तर्निहित अधिकारिता—जहां उच्च न्यायालय किसी आदेश का पुनरीक्षण नहीं कर सकता वहां यह धारा 482 के अधीन मामले की परीक्षा कर सकता है।

दिल्ली-110

दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958

—धारा 25-ख—उक्त धारा 25-ख के अधीन कानून ने नियंत्रक द्वारा जारी किए जाने वाले समनों की तामील के दोनों ही ढंगों को एक-सा महत्व दिया है। समय की गणना द्वितीय तामील से की जानी चाहिए, जो कालक्रम की दृष्टि से बाद में होती है।

दिल्ली-47

नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत

—दूसरे पक्ष को भी सुनो—यदि किसी मामले में अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध शास्तिक आदेश सिविल परिणाम होते हैं, और ऐसा आदेश कुछ दस्तावेजों के आधार पर पारित किया जाता है तो अपराधी व्यक्ति दस्तावेजों की जांच करने और उनकी प्रतियां प्राप्त करने के लिए हकदार है और उसे सुनवाई का अवसर भी दिया जाना चाहिए—इन शर्तों में से किसी भी शर्त के अतिक्रमण से दूसरे पक्ष को भी सुनो सिद्धांत का अतिक्रमण होता है—दण्डस्वरूप दिया गया आदेश अवैध है।

पटना-138

पंजाब ग्राम पंचायतस ऐक्ट, 1952

—धारा 5(2) सपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950, धारा 21 तथा संविधान, 1950—अनुच्छेद 245, 246 तथा राज्य सूची की प्रविष्टि सं० 5—पंचायतों के निर्वाचन—लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन विधान सभा के निर्वाचनों के लिए रखी गई निर्वाचक नामावलियों को राज्य अपनी पंचायतों के निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए विधिमान्य रूप से अपना सकता है—अतः धारा 5(2) के उपबंध विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के अभ्यर्पण या परित्याग की कोटि में नहीं आते और न वह अत्यधिक प्रत्यायोजन के दौर से ग्रस्त है।

पंजाब-हरियाणा-55

पंजाब टाउन इम्प्रूवमेण्ट ऐक्ट, 1922

—धारा 42 और 44-क—उक्त धारा 44-क में अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से स्कीम के पूरा किए जाने के लिए अनम्यतः पांच वर्ष की अवधि का उपबंध किया गया है, जब तक कि उसके परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा उसका सम्यक् रूप से विस्तार नहीं कर दिया जाता है। तथापि, स्कीम का वह भाग जो पांच वर्ष की अवधि से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं माना जाएगा।

पंजाब-हरियाणा-12

पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स (जो पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 की धारा 240 के अधीन बनाए गए हैं)

—नियम 1 और 3 सपठित हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973, धारा 40, 46 और 279—कर्मचारी को सेवा से हटाना—कर्मचारी पर अनुशासनहीनता और गैर जिम्मेदार होने का आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक है—कर्मचारी को 'सेवा से हटाना' (रिमूवल फ्राम सर्विस) उसकी 'पदच्युति' (डिसमिसल) के समान है—नगरपालिक समिति अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति का आदेश कर सकती है और नियमों के अतिक्रमण में या उसके अननुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य न होगा।

पंजाब-हरियाणा-95

परिसीमा अधिनियम, 1963

—अनुच्छेद 54—उक्त अनुच्छेद 54 के अनुसार यदि संविदा के पालन के लिए नियत तारीख हो तो ऐसी तारीख से 3 वर्ष के भीतर या यदि ऐसी कोई तारीख नियत न हो, तब वादी पालन से इन्कार करने की सूचना मिलने से तीन वर्ष के भीतर वाद फाइल कर सकता है।

पटना-128

—अनुच्छेद 64 सपठित बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950 की धारा 6—वादी और प्रतिवादियों द्वारा भूमि का संयुक्त रूप से नीलाम में क्रय किया जाना—वादी और प्रतिवादियों का भूमि पर संयुक्त कब्जा होना—वादी द्वारा अपने अंश के लिए विभाजन की मांग किया जाना—भूमि पर प्रतिवादियों का खास कब्जा होना और उनके द्वारा प्रतिकूल कब्जे का दावा किया जाना और यह अभिवाक् किया जाना कि प्रतिवादियों के प्रतिकूल कब्जे के आधार पर भूमि में वादी का हक निर्वापित हो गया था—वादी द्वारा

सहअंशधारी होने के रूप में यह अभिवाक् किया जाना कि एक सहअंशधारी का कब्जा दूसरे सहअंशधारी का भी कब्जा होता है—निचले अपील न्यायालय द्वारा वादी और प्रतिवादियों को सहअंशधारी के रूप में अभिनिर्धारित किया जाना—यदि वादी और प्रतिवादी किसी भूमि के सहअंशधारी हैं और उनमें से उस भूमि पर एक सहअंशधारी का कब्जा हो तो एक सहअंशधारी का कब्जा दूसरे सहअंशधारी का भी कब्जा समझा जाएगा और इस बात के बावजूद भी कि वादगत भूमियां प्रतिवादियों के कब्जे में थीं तो भी प्रतिवादी चूंकि केवल सहअंशधारी हैं और प्रतिवादियों का कब्जा वादी का भी कब्जा होगा।

पटना-109

पूर्वोदाहरण

—न्यायिक पूर्वोदाहरणों, विशेष रूप से पूर्णन्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय आबद्धकर होते हैं—ऐसे विनिश्चय पर ऐसे किसी नए तर्क के आधार पर, जो पूर्ववर्ती विनिश्चय दिए जाते समय उठाया नहीं गया था या उस पर विचार नहीं किया गया था, पुर्नविचार नहीं किया जा सकता।

पंजाब-हरियाणा-31

प्रशासनिक विधि

—यदि कर्मचारी चयन आयोग ने भर्ती के संबंध में अधिकथित विधि का अनुसरण नहीं किया है तो इसके कारण संबंधित कर्मचारी (अभ्यर्थी) को नुकसान नहीं उठाने दिया जाएगा।

दिल्ली-1

बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950

—धारा 6 सपठित बिहार एण्ड उड़ीसा जनरल क्लाजिज ऐक्ट की धारा 15(2)—उक्त धारा 6 में प्रयुक्त "मध्यवर्ती" शब्द यद्यपि एकवचन में है किन्तु इसमें स्पष्टतः बहुवचन सम्मिलित होगा।

पटना-109

—धारा 6(1), 6(2) तथा 35—अधिनियम की धारा 35 में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो सिविल न्यायालय को हक की घोषणा और कब्जे के परिणामी अनुतोष के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से रोकती हो—धारा 35 विभिन्न प्रकार के वादों के संबंध में व्यवहृत होती है—धारा 6(1) में भी वादी के हक और कब्जे के अधिकार के विवाद्यक को विनिश्चित करने की सिविल न्यायालय की शक्ति के प्रति कोई निषेध नहीं है और न ही धारा 6(2) के बारे में आनुमानिक रूप से यह कहा जा सकता है कि सिविल न्यायालय की पूर्ण शक्ति का निषेध करती है।

पटना-1

बिहार लड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया एण्ड एक्वीजीशन आफ सरप्लस लैंड) ऐक्ट, 1961

—धारा 16 सपठित भारतीय रजिस्ट्रीकरण की धारा 18—किसी दस्तावेज का अन्तरण और उसका भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकरण धारा 16 के विभिन्न उपबंधों तथा अधिक विशेष रूप से धारा 16(3)(i) के उपबंधों के प्रवर्तन के प्रयोजनार्थ अधिनियम की धारा 16 का एक अविभाज्य अंग है—संगत अर्थान्वियन का नियम—किसी कानून के उपबंधों का अर्थान्वियन संगत रूप से किया जाना चाहिए ताकि विधानमण्डल का सही आशय अभिनिश्चित किया जा सके—न्यायालय को ऐसा निर्वचन करने से बचना चाहिए जो कानून के दो उपबंधों में विरोध उत्पन्न करता हो।

पटना-79

बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 (1949 का अधिनियम सं० 10)

—धारा 45ण(1) सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 धारा 3—यदि किसी बैंककारी कम्पनी ने निष्पादन पिटीशन फाइल करने से पूर्व परिसमापन के लिए आवेदन फाइल कर दिया है तो परिसीमा विषयक अवधि की संगणना करने में उस अवधि को अपवर्जित कर दिया जाएगा जो परिसमापन के लिए पिटीशन फाइल करने की पश्चात्‌वर्ती अवधि हो।

पटना-33

माध्यस्थम् अधिनियम, 1940

—धारा 5—नियुक्त किए गए मध्यस्थ के प्राधिकार को इस आधार पर प्रतिसंहरण करने के लिए आवेदन देना कि ऐसी परिस्थिति मौजूद है जिससे कि मध्यस्थ के पक्षपातपूर्ण होने की सम्भावना है—अगर ऐसी परिस्थिति की जानकारी वाद के किसी प्रक्रम पर भी होती है तो न्यायालय नियुक्त मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहरण करने की इजाजत देने में सक्षम है।

केरल-1

माध्यस्थम् करार

—सरकारी संविदा—सरकार नुकसानी के लिए अपने दावे का समायोजन अन्य संविदा से संबंधित पक्षकार की धनराशि में से नहीं कर सकती

है—"उसे संविदा से उद्भूत होने वाले" पद से यह अभिप्रेत है कि विवादग्रस्त विषय का विनिश्चय करने के प्रयोजनार्थ संविदा की शर्तों का अवलम्ब लेना आवश्यक है तो मामला माध्यस्थम् खण्ड के अन्तर्गत आता है।

दिल्ली-63

मोटर यान अधिनियम, 1939

—धारा 110-ख—प्रतिकर अधिनिर्णीत किया जाना—प्रतिकर की रकम वापस प्राप्त करने के लिए आवेदन—प्रतिकर की रकम का दुर्विनियोजन —उच्च न्यायालय द्वारा अधिकरण को इस सम्बन्ध में मार्गदर्शक सिद्धान्तों का बतलाया जाना जिससे कि प्रतिकर की रकम का दुर्विनियोजन न हो सके।

गुजरात-1

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908

—धारा 35(2)—इस धारा में ऐसा कोई नियम अधिकथित नहीं है कि किसी दस्तावेज के निष्पादक की मृत्यु हो जाने की दशा में रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह मृत निष्पादक द्वारा निष्पादित किसी सम्पत्ति के व्ययन सम्बन्धी किसी दस्तावेज के प्रस्तावित रजिस्ट्रीकरण के नोटिस की तामील करे।

पटना-15

रेल सेवा (आचरण) नियम, 1966

—नियम 3(1) और 19(1)—कर्मचारी द्वारा समाचार-पत्र के सम्पादक को पत्र लिखना तथा ऐसे पत्र का सरकारी मंजूरी प्राप्त किए बिना प्रकाशित किया जाना—यदि पत्र लेखक कौन था, यह साबित नहीं होता है और पत्र में गलत कथन होना साबित नहीं होता है तो कर्मचारी का सेवा से हटाए जाने का आदेश अवैध है और अभिखण्डित किए जाने योग्य है।

केरल-56

लुसाई हिल्स आटोनामस डिस्ट्रिक्ट (एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस) रूल्स, 1953

—नियम 23(1)(बी)—उक्त नियमों के अधीन गठित जिला परिषद् (काउन्सिल) न्यायालय की अधिकारिता—जिला काउन्सिल न्यायालय प्रकृत व्यक्तियों के बीच जो अनुसूचित जनजाति के हों, मामले का विचारण कर सकते हैं—जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे मामलों का विचारण नहींकर

सकता जिनमें से एक पक्षकार अनुसूचित जनजाति का न हो—राज्य प्रकृत व्यक्ति नहीं है—जिला काउन्सिल न्यायालय को राज्य के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है ।

गोहाटी-24

संविदा अधिनियम, 1872

—धारा 37 सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 101 और 102—प्रतिवादी सं० 1 के पिता द्वारा कुछ भूमि के विक्रय हेतु अग्रिम धन प्राप्त करके वादी के पक्ष में करार-विलेख निष्पादित किया जाना—प्रतिवादी सं० 1 के पिता की मृत्यु हो जाना—वादी के बार-बार कहने पर करार विलेख के अनुसरण में मृतक और प्रतिवादियों की ओर से विक्रय-विलेख का निष्पादित न किया जाना और मृतक की मृत्यु से कुछ समय पूर्व प्रतिवादी सं० 3 के पक्ष में उक्त भूमि के बारे में विक्रय-विलेख निष्पादित किया जाना—प्रतिवादी सं० 3 द्वारा वादी के पक्ष में किसी पूर्व संविदा की सूचना/जानकारी के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता का अभिवाक् किया जाना—यद्यपि सुस्थापित विधि यह है कि यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि वह पूर्व संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था फिर भी प्रतिवादियों द्वारा वादी की पूर्व संविदा की जानकारी न होने के बारे में इनकार करने की दृष्टि से उसे साबित करने का भार वादी पर होगा ।

पटना-128

संविधान, 1950

—अनुच्छेद 13 भाग 3 (साधारण) सपठित पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952, धारा 5(2)—मताधिकार एक मूल अधिकार नहीं है—अतः अपुनरीक्षित निर्वाचक नामावलियों के आधार पर कराया गया निर्वाचन अवैध या शून्य नहीं है ।

पंजाब-हरियाणा-55

—अनुच्छेद 14 और 16—विधि के समक्ष समता—अनुसूचित जाति आदि के अभ्यर्थी को उसके पक्ष में आरक्षण न होने पर कर्मचारी चयन आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षा में एक साधारण अभ्यर्थी के रूप में बैठने से वंचित नहीं किया जा सकता ।

दिल्ली-1

—अनुच्छेद 30(1) सपठित मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स, 1949 रूल 106(2) अनुसूची (च) के खण्ड 1(2), 5, 13, 15, 24, 27 और 30 (गुजरात अमैण्डमेंट रूल्स, 1978 द्वारा यथा-संशोधित)—उक्त अनुच्छेद 30(1) के अधीन अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा भाषा या धर्म के आधार पर अपनी रुचि की शैक्षणिक संस्थाओं को स्थापित करना तथा उनका प्रशासन करने के अधिकार का आत्यंतिक होना—चूंकि राज्य सरकार द्वारा विरचित उक्त नियम अल्पसंख्यक वर्ग के उक्त अधिकार को छीनता है तथा उसे कम करता है अतः ये नियम संविधान के उक्त अनुच्छेद 30(1) के अतिक्रमणकारी होने के कारण अवैध और शून्य हैं।

गुजरात-59

—अनुच्छेद 141—पक्षकारों की सम्मति मात्र से न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के सिद्धान्त निराकृत नहीं होंगे, जब तक कि उसे उच्चतम न्यायालय द्वारा उलट नहीं दिया जाता है। पक्षकारों या उनके काउन्सेलों द्वारा विधि की किसी रियायत से विद्यमान नजीर का आधार प्रभावित नहीं होगा क्योंकि निर्णय का आधार उसका तर्क और युक्तिसंगतता होता है, न कि मात्र उसका निष्कर्ष। निर्णय का परिणाम सम्मति या समझौते द्वारा भिन्न हो सकता है किन्तु उसकी युक्तिसंगतता और तर्क वरिष्ठ न्यायालय के विपरीत निर्णायक निष्कर्ष द्वारा ही निराकृत किया जा सकता है।

पंजाब-हरियाणा-1

—अनुच्छेद 226—उच्च न्यायालय की अधिकारिता—पिटीशनर का उच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर नियोजित होना—जिस अधिकारी के अधीन पिटीशनर कार्य कर रहा था तथा जिस अधिकारी ने आक्षेपित आदेश पारित किया था, वे सब उच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर थे किन्तु जब पिटीशनर को आक्षेपित आदेश तामील किया गया उस समय पिटीशनर उच्च न्यायालय की अधिकारिता के भीतर निवास कर रहा था—रिट पिटीशन चलने योग्य है।

केरल-56

—अनुच्छेद 226—रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति —परीक्षा में नकल करने का आरोप—परीक्षा समिति द्वारा नकल करने वाले छात्र को व्यक्तिगत सुनवाई के अवसर पर उस परीक्षक और भवन

प्रबन्धक (बिल्डिंग कण्डक्टर) की रिपोर्ट, जिसका जांच समिति द्वारा अवलम्ब लिया गया है, न दिखाए जाने से नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण होता है—अतः ऐसे छात्र के विरुद्ध पारित आक्षेपित आदेश अकृत और शून्य है।

गुजरात-21

—अनुच्छेद 226—रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति —परीक्षा भवन में किसी अन्य छात्र की उत्तरपुस्तिका से प्रश्नों के उत्तरों की नकल करने के अवचार के आधार पर जारी किए गए हेतुक दर्शित करने के नोटिस में उस छात्र के नाम का उल्लेख न किए जाने मात्र से नोटिस दूषित नहीं होगा—अतः इस आधार पर छात्र समुचित अनुतोष प्राप्त करने के लिए हकदार नहीं होगा।

गुजरात-21

—अनुच्छेद 226—विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में विद्यार्थी द्वारा अनुचित साधनों के अपनाए जाने वाले मामले को यदि विश्वविद्यालय की उच्च शैक्षणिक निकाय ने प्रक्रिया विषयक नियमों और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का यथावत् अनुपालन करते हुए सम्यक् विचार-विमर्श के पश्चात् विनिश्चित किया है तो ऐसे विनिश्चय में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

जम्मू-कश्मीर-31

—अनुच्छेद 226 और 227—उच्च न्यायालय की अधीक्षण और अन्तर्निहित शक्ति—उच्च प्रशासनिक अधिकारियों से बना अधिकरण उच्च न्यायालय का अधीनस्थ होता है और वह अनुच्छेद 227 के अधीन अधीक्षण की शक्ति के अधीन होता है—अन्याय से परेशान किसी व्यक्ति द्वारा समावेदन करने पर उच्च न्यायालय मामले को वापस करने का मार्ग अपनाए बिना अंतिम अनुतोष मंजूर कर सकता है ताकि पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय किया जा सके—न्याय की पूर्ति के लिए अनुतोष उपयुक्त रूप से परिवर्तित किया जा सकता है—बिल्कुल तकनीकी और संकीर्ण प्रक्रियात्मक आधारों पर अनुतोष देने से इनकार नहीं किया जाना चाहिए।

गोहाटी-1

—अनुच्छेद 299—सरकारी संविदा यदि उसकी निविदा की जाती है

और भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है तो इसे पूरा किया जा सकता है।

दिल्ली-63

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882

—धारा 123—चूंकि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, पंजाब राज्य में 1 अप्रैल, 1955 से लागू कर दिया गया था, अतः उक्त राज्य में उक्त धारा 123 के अनुसार स्थावर सम्पत्ति का अन्तरण रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

पंजाब-हरियाणा-78

साक्ष्य अधिनियम, 1872

—धारा 32, सपठित भारतीय दंड संहिता, .860, धारा 302—मृत्युकालिक कथन के संबंध में सुस्थिर विधि यह है कि ऐसे कथनों पर विचार सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए और ऐसे कथन को स्वीकार करने से पूर्व उसकी परीक्षा ब्यौरेवार तथा सांगोपांग रूप में की जानी चाहिए—विधि का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो मृत्युकालिक कथन को संपुष्टि के अभाव में अपवर्जित करता हो किंतु अभियोजन का यह कर्त्तव्य है कि वह संपूर्ण कथन को न्यायालय के समक्ष उसी रूप में रखे जिस रूप में वह किया गया था और उसकी शब्दावली या उसके तात्पर्य को किसी भी रूप में विकृत न करे—न्यायालयों से यह अपेक्षित है कि वे इस बात को भी ध्यान में रखे कि अन्वेषण अधिकारी इस बात के लिए प्रोत्साहित न किए जाएं कि वे ऐसे मृत्युकालिक कथनों को स्वयं अभिलिखित करें और यदि यह न्यायालय को प्रतीत होता है कि अन्वेषण अधिकारी के पास पर्याप्त समय और साधन था कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के लिए मजिस्ट्रेट को बुला सके तो उस दशा में अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन पर विचार नहीं किया जाना चाहिए।

दिल्ली-10

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908

—धारा 24(1)(क)—जिला न्यायाधीश के न्यायालय में अपील का फाइल किया जाना—जिला न्यायाधीश द्वारा स्वप्रेरणा से अपील को अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अन्तरित किया जाना और पक्षकारों या उनके

वकीलों को ऐसे अन्तरण के बारे में कोई सूचना (नोटिस) जारी न किया जाना—यदि जिला न्यायाधीश द्वारा स्वप्रेरणा से अपील का अधीनस्थ न्यायाधीश को अन्तरण करते हुए न तो पक्षकारों को या उनके वकीलों को कोई सूचना जारी नहीं की जाती है तो वादी के पक्ष में निचले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री में हस्तक्षेप किया जा सकता है ।

पटना-93

—आदेश 1, नियम 10—प्रक्रिया न्याय की सेविका है, न कि स्वामिनी। प्रक्रियात्मक अनियमितता या गलती से न्याय का सारभूत हित ध्वंस नहीं होने दिया जा सकता है, जब तक कि यह दर्शित नहीं कर दिया जाता कि इस अनियमितता के कारण अन्य पक्षकार अपरिहार्य रूप से प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया है । यदि विचारण न्यायालय में संस्थित वाद की बावत व्यक्ति अपने तथाकथित वादमित्र की मार्फत इस गलत धारणा के अधीन वाद फाइल करता है कि अभिकथित वादी अवयस्क बना हुआ है, तो न्यायालय निश्चय ही वादी के उस गलत नाम या गलत वर्णन के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे सकता है।

गुजरात-28

—आदेश 6, नियम 17—यदि किसी वादपत्र के वादहेतुक में कोई त्रुटि हो तो उसे ठीक करने के लिए संशोधन अनुज्ञात किया जा सकता है किन्तु यदि वादपत्र में कोई वादहेतुक नहीं है तो नए वाद हेतुक को लाने के लिए संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाएगा ।

पटना-103

—आदेश 21 नियम 58 सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 धारा 3—परिसीमा विषयक प्रश्न का उक्त आदेश 21, नियम 58 के अधीन अन्वेषण के विस्तार से परे होने के कारण दावे का अन्वेषण करने वाला न्यायालय उक्त नियम 58 के अधीन दावे का अन्वेषण करते समय निष्पादन आवेदन को खारिज करने के लिए परिसीमा अधिनियम की उक्त धारा 3 का आश्रय नहीं ले सकता ।

पटना-33

—आदेश 32, नियम 3—उक्त आदेश 32, रियम 3 के उपबंध

आज्ञापक हैं और यदि अवयस्क प्रत्यर्थियों का किसी कार्यवाही में उचित रूप से प्रतिनिधित्व न किया गया हो तो अवयस्क के विरुद्ध दिया गया निर्णय या पारित किया गया आदेश अधिकारितारहित, अकृत और शून्य होगा।

पटना-93

—आदेश 32, नियम 3 (4) के अधीन जारी किया गया आदेश तभी विधिमान्य होगा जब किसी संरक्षक की नियुक्ति के पूर्व सक्षम प्राधिकारी द्वारा अवयस्क के नियुक्त संरक्षक, माता या पिता या नैसर्गिक संरक्षक या उनके न होने पर उस व्यक्ति को, जिसकी देख-रेख में अवयस्क रह रहा है, को इसकी सूचना दी गई हो और उसके द्वारा फाइल किए गए आक्षेप, यदि कोई हैं, पर भली-भांति विचार कर लिया गया है। अगर इस प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया जाता है तो इस प्रकार की गई संरक्षक की नियुक्ति अविधिमान्य होगी।

पटना-72

सीमा शुल्क अधिनियम, 1962

—धारा 25 सपठित सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975, धारा 3 और प्रथम अनुसूची का अध्याय 56—विस्कोष स्टेपल फाइबर व विस्कोष टाव पर भारत में आयात किए जाने पर छूट दिया जाना—पिटीशनर अधि-सूचना में वर्णित विस्तार तक उस छूट के लिए हकदार है जो छूट सीमा शुल्क टरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची में वर्णित हैं—पिटीशनर 1975 के अधिनियम की धारा 3 के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण का संदाय करने के लिए या वित्त अधिनियम के उपबंध के अधीन सहायक शुल्क का संदाय करने के लिए दायी हैं।

केरल-45

हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973

—धारा 40, 46 और 279 सपठित पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 की धारा 240 के अधीन बनाये गए पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स, नियम 1 और 3—कर्मचारी को सेवा से हटाया जाना—कर्मचारी पर अनु-शासनहीनता और गैर जिम्मेदार होने का आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक है—कर्मचारी को 'सेवा से हटाना' (रिमूवल फ़ाम सर्विस) उसकी 'पदच्युति' (डिसमिसल) के समान है—नगरपालिक समिति अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति का आदेश कर सकती है

और नियमों के अतिक्रमण में या उसके अननुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य न होगा।

पंजाब-हरियाणा-95

हिन्दू विधि

—धालीवाल जाट सिखों में प्रचलित प्रथा—उक्त प्रथा के अनुसार किसी विधवा को विरासत में अपने मृतक पति से प्राप्त सम्पदा उसके द्वारा मृत पति के भाई से करेवा प्रथा के अनुसार विवाह की दशा में ही समपहृत हो जाती है।

पंजाब-हरियाणा-78

—मिताक्षरा—अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब की सम्पत्ति के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि कुटुम्ब के सभी सदस्यों की प्रास्थिति संयुक्त है—अगर परिस्थितियों से अन्यथा निष्कर्ष नहीं निकलता है तो यही स्थिति बनी रहती है—मिताक्षरा विधि से नियन्त्रित कुटुम्ब का कोई भी सदस्य अपने पृथक होने की इच्छा के सम्बन्ध में सुस्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में दूसरे सहदायिकों को सूचना देकर विभाजन करने के पश्चात् अपने हिस्से का अलग से भोग कर सकता है।

पटना-19

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

—धारा 125 सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 125—सक्षम सिविल न्यायालय द्वारा हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 25 के अधीन पत्नी को भरण-पोषण मंजूर किया जाना—उक्त भरण-पोषण के आदेश के बावजूद मजिस्ट्रेट द्वारा संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन में भरण-पोषण मंजूर किया जाना—पिटीशनर (पति) द्वारा मजिस्ट्रेट के भरण-पोषण के आदेश पर यह आक्षेप वैध नहीं है कि सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद वह (मजिस्ट्रेट) संहिता के अधीन भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता है—ये दोनों अधिकारिताएं एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं अतः सक्षम सिविल न्यायालय का भरण-पोषण का आदेश संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन के लिए कोई वर्जन नहीं है।

दिल्ली-110

नि० प० 1984 : केरल—1

कोशी बनाम के० एस० ई० बोर्ड

(Koshy *Vs.* K. S. E. Board)

तारीख 8 जुलाई, 1983

[न्या० के० के० नरेन्द्रन]

माध्यस्थम् अधिनियम, 1940—धारा 5—नियुक्त किए गए मध्यस्थ के प्राधिकार को इस आधार पर प्रतिसंहरण करने के लिए आवेदन देना कि ऐसी परिस्थिति मौजूद है जिससे कि मध्यस्थ के पक्षपातपूर्ण होने की सम्भावना है—अगर ऐसी परिस्थिति की जानकारी बाद के किसी प्रक्रम पर भी होती है तो न्यायालय नियुक्त मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहरण करने की इजाजत देने में सक्षम है।

पिटीशनर प्रत्यर्थी-केरल राज्य विद्युत बोर्ड का एक ठेकेदार था। चूंकि उसके दावों का निपटारा नहीं किया गया था इसलिए उसने संविदा के माध्यस्थम् खण्ड का अवलम्ब लेते हुए त्रिवेन्द्रम के उप-न्यायालय से मध्यस्थ की नियुक्ति करने की प्रार्थना की। न्यायालय ने दिनांक 22 जुलाई, 1980 वाले अपने आदेश द्वारा प्रत्यर्थी को मध्यस्थ के रूप में नियुक्त कर दिया। उपर्युक्त आदेश के पश्चात् पिटीशनर को यह पता चला कि प्रत्यर्थी बोर्ड ने दिनांक 21 अप्रैल, 1979 को अपने मुख्य अभियन्ता को एक पत्र लिखा जिसमें उसने मध्यस्थ द्वारा निपटाए जाने वाले अधिकतर विवाद्यकों को पिटीशनर के विरुद्ध विनिश्चित किया था। न्यायालय को भी मध्यस्थ की नियुक्ति के समय इस तथ्य से अवगत नहीं कराया गया था। इसलिए पिटीशनर नियुक्त मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहृत करने के लिए तथा दूसरे मध्यस्थ को नियुक्त करने के लिए माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 5 और 8 के अधीन न्यायालय में आए हैं। न्यायालय ने आक्षेपित आदेश द्वारा पिटीशनर की इस प्रार्थना को यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दिया कि पिटीशनर को चाहिए था कि वह मध्यस्थ की नियुक्ति के समय यह आक्षेप उठाता। इस सिविल पुनरीक्षण में नियुक्त मध्यस्थ की प्राधिकारिता को माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 5 के अधीन प्रतिसंहृत करने के लिए इजाज़त देने की न्यायालय की शक्ति और परिधि पर विचार करने का प्रश्न उद्भूत हुआ है। प्रश्न यह है कि इजाज़त केवल तब दी जाएगी जब मध्यस्थ का पूर्वाग्रह सिद्ध हो जाता है या किसी ऐसी परिस्थिति का होना, जिससे मध्यस्थ के पूर्वाग्रही होने की सम्भावना है सिद्ध हो जाता है।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

यह सही है कि संविदा के किसी भी पक्षकार को किसी भी युक्ति से संविदा भंग करने की आज्ञा आसानी से नहीं दी जा सकती। परन्तु इसके साथ ही माध्यस्थम् के लिए की गई संविदा परम् विश्वास पर आधारित संविदा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए कि ऐसी संविदा में सम्पूर्ण और पक्की स्पष्टवादिता या निष्कपटता और ईमानदारी होनी चाहिए। जरा से छिपाव और प्रवंचना से संविदा दूषित हो जाएगी। वास्तव में मध्यस्थ को पूर्वाग्रही नहीं होना चाहिए। यह पर्याप्त है कि यह युक्तियुक्त लक्षण हो कि वह पूर्वाग्रही हो जाएगा और वह मामले का विनिश्चय उचित रूप से नहीं कर पाएगा और जो पक्षकार संविदा करता है, उसे ऐसी आशंका युक्तियुक्त रूप से होती है। यह इसलिए है कि माध्यस्थम् कार्यवाहियों की विधिमान्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्ण रूप से एकरूप और पक्षपातरहित होनी चाहिए जैसा कि अन्य न्यायिक और अर्द्ध न्यायिक कार्यवाहियों में होता है। इसलिए अगर कोई ऐसी परिस्थिति है जिसकी जानकारी पक्षकार को संविदा करते समय या न्यायालय द्वारा मध्यस्थ की नियुक्ति के समय नहीं थी तो धारा 5 के अधीन उसमें हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। यह न्यायहानि को निवारित करना है। इस मामले में प्रत्यर्थी-बोर्ड मध्यस्थ को निर्देशित कुछ मुद्दे पिटीशनर के विरुद्ध पहले ही विनिश्चित कर चुका था। पिटीशनर को इस बात का पता केवल न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी को मध्यस्थ नियुक्त किए जाने के पश्चात् लगा। न्यायालय को भी इसकी जानकारी नहीं थी। साधारण अनुक्रम में प्रत्यर्थी को चाहिए था कि वह इस बात को न्यायालय की जानकारी में लाता। ऐसा नहीं किया गया। चूंकि माध्यस्थम् में अन्तर्वलित कुछ विवाद्यकों पर प्रत्यर्थी ने पहले ही निर्णय ले लिया था इसलिए यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि पिटीशनर युक्तियुक्त रूप से इस बात की आशंका नहीं कर सकता कि प्रत्यर्थी-बोर्ड पक्षपातपूर्ण होगा। विद्वान् उप-न्यायाधीश ने मामले के कानूनी पहलू पर ध्यान दिए बिना साधारण रूप से पिटीशनर पर यह दोष लगाते हुए इजाज़त देने से मना कर दिया कि उसने प्रत्यर्थी को मध्यस्थ नियुक्त किए जाने के आदेश के समय आक्षेप क्यों नहीं किया था। प्रत्यर्थी यह कैसे कह सकता है कि उसके द्वारा मामले में पहले से लिए गए विनिश्चयों की जानकारी पिटीशनर को थी। इजाजत देने से मना करके निचला न्यायालय उसमें निहित अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है। (पैरा 3)

		पैरा
[1956]	ए० आई० आर० 1956 एस० सी० 1036 : मैसर्स अमरचन्द **बनाम** अम्बिका जूट मिल्स (M/S. Amarchand *Vs.* Ambica Jute Mills);	4

[1952] ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 294 : भुवालका ब्रदर्स **बनाम** फतेह चन्द (Bhuwalka Brothers *Vs.* Fateh Chand) 4

का अवलम्ब लिया गया ।

[1913] 1913 ए० सी० 241 : ब्रिस्टल कारपोरेशन **बनाम** जान एअर्ड एण्ड कम्पनी (Bristol Corporation *Vs.* John Aird and Company); 4

[1894] (1894) 2 क्यू० बी० 667 : एकर्सले **बनाम** मर्से डाक्स एण्ड हारबर बोर्ड (Eckersley *Vs.* Mersey Docks & Harbour Board); 4

[1858] (1858) 1 ग्रिफ 258 : कैम्प **बनाम** रोज (Kemp *Vs.* Rose) 4

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1981 का सिविल पुनरीक्षण पिटीशन सं० 2111.

त्रिवेन्द्रम के उप-न्यायालय द्वारा माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 5 के अधीन 22 जुलाई, 1980 को पारित किए गए आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री पी० ए० सिरस और जान कोशी

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री सी० जनार्धन कुरुप

न्या० के० के० नरेन्द्रन :

इस सिविल पुनरीक्षण में नियुक्त मध्यस्थ की प्राधिकारिता को माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 5 के अधीन प्रतिसंहृत करने के लिए इजाजत देने की न्यायालय की शक्ति और परिधि पर विचार करने का प्रश्न उद्भूत हुआ है । प्रश्न यह है कि इजाजत केवल तब दी जाएगी जब मध्यस्थ का पूर्वाग्रह सिद्ध हो जाता है या किसी ऐसी परिस्थिति का होना, जिससे मध्यस्थ के पूर्वाग्रही होने की सम्भावना है, ही पर्याप्त है ।

2. पिटीशनर प्रत्यर्थी-केरल राज्य विद्युत बोर्ड का एक ठेकेदार था । चूंकि उसके दावों का निपटारा नहीं किया गया था इसलिए उसने संविदा के माध्यस्थम्

खण्ड का अवलम्ब लेते हुए त्रिवेन्द्रम के उप-न्यायालय से मध्यस्थ की नियुक्ति करने की प्रार्थना की। न्यायालय ने दिनांक 22 जुलाई, 1980 वाले अपने आदेश द्वारा प्रत्यर्थी को मध्यस्थ के रूप में नियुक्त कर दिया। उपर्युक्त आदेश के पश्चात् पिटीशनर को यह पता चला कि प्रत्यर्थी बोर्ड ने दिनांक 21 अप्रैल, 1979 को अपने मुख्य अभियन्ता को एक पत्र लिखा जिसमें उसने मध्यस्थ द्वारा निपटाए जाने वाले अधिकतर विवाद्यकों को पिटीशनर के विरुद्ध विनिश्चित किया था। न्यायालय को भी मध्यस्थ की नियुक्ति के समय इस तथ्य से अवगत नहीं कराया गया था। इसलिए पिटीशनर नियुक्त मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहृत करने के लिए तथा दूसरे मध्यस्थ को नियुक्त करने के लिए माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 5 और 8 के अधीन न्यायालय में आए हैं। न्यायालय ने आक्षेपित आदेश द्वारा पिटीशनर की इस प्रार्थना को यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दिया कि पिटीशनर को चाहिए था कि वह मध्यस्थ की नियुक्ति के समय यह आक्षेप उठाता।

3. माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 5 इस प्रकार है :—

> "5. **नियुक्त किए गए मध्यस्थ या अधिनिर्णायक के प्राधिकार का न्यायालय की इजाजत के सिवाय अप्रतिसंहरणीय होना** : जब तक कि माध्यस्थम् करार में प्रतिकूल आशय अभिव्यक्त न हो, नियुक्त किए गए मध्यस्थ या अधिनिर्णायक का प्राधिकार न्यायालय की इजाजत से प्रतिसंहृत किए जाने के सिवाय प्रतिसंहरणीय नहीं होगा।"

यह सही है कि संविदा के किसी भी पक्षकार को किसी भी युक्ति से संविदा भंग करने की आज्ञा आसानी से नहीं दी जा सकती। परन्तु इसके साथ ही माध्यस्थम् के लिए की गई संविदा परम् विश्वास पर आधारित संविदा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए कि ऐसी संविदा में सम्पूर्ण और पक्की स्पष्टवादिता या निष्कपटता और ईमानदारी होनी चाहिए। जरा से छिपाव और प्रवंचना से संविदा दूषित हो जाएगी। वास्तव में मध्यस्थ को पूर्वाग्रही नहीं होना चाहिए। यह पर्याप्त है कि यह युक्तियुक्त लक्षण हो कि वह पूर्वाग्रही हो जाएगा और वह मामले का विनिश्चय उचित रूप से नहीं कर पाएगा और जो पक्षकार संविदा करता है उसे ऐसी आशंका युक्तियुक्त रूप से होती है। यह इसलिए है कि माध्यस्थम् कार्यवाहियों की विधिमान्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्ण रूप से एकरूप और पक्षपातरहित होनी चाहिए जैसा कि अन्य न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक कार्यवाहियों में होता है इसलिए अगर कोई ऐसी परिस्थिति है जिसकी जानकारी पक्षकार को संविदा करते समय या न्यायालय द्वारा मध्यस्थ की नियुक्ति के समय नहीं थी, तो धारा 5 के अधीन उसमें हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। यह न्यायहानि

को निवारित करना है। इस मामले में प्रत्यर्थी बोर्ड मध्यस्थ को निर्देशित कुछ मुद्दे पिटीशनर के विरुद्ध पहले ही विनिश्चित कर चुका था। पिटीशनर को इस बात का पता केवल न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी को मध्यस्थ नियुक्त किए जाने के पश्चात् लगा। न्यायालय को भी इसकी जानकारी नहीं थी। साधारण अनुक्रम में प्रत्यर्थी को चाहिए था कि वह इस बात को न्यायालय की जानकारी में लाता। ऐसा नहीं किया गया। चूंकि माध्यस्थम् में अन्तर्वलित कुछ विवाद्यकों पर प्रत्यर्थी ने पहले ही निर्णय ले लिया था इसलिए यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि पिटीशनर युक्तियुक्त रूप से इस बात की आशंका नहीं कर सकता कि प्रत्यर्थी-बोर्ड पक्षपातपूर्ण होगा। विद्वान् उप-न्यायाधीश ने मामले के कानूनी पहलू पर ध्यान दिए बिना साधारण रूप से पिटीशनर पर यह दोष लगाते हुए इजाज़त देने से मना कर दिया कि उसने प्रत्यर्थी के मध्यस्थ नियुक्त किए जाने के आदेश के समय आक्षेप क्यों नहीं किया था। प्रत्यर्थी यह कैसे कह सकता है कि उसके द्वारा मामले में पहले से लिए गए विनिश्चयों की जानकारी पिटीशनर को थी। इजाज़त देने से मना करके निचला न्यायालय उसमें निहित अधिकारिता का प्रयोग करने में असफल रहा है।

4. **मैसर्स अमरचन्द** बनाम **अम्बिका जूट मिल्स**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "यह सही है कि धारा 5 के अधीन दिए गए आवेदन में यह बताना आवश्यक नहीं है कि मध्यस्थ वास्तव में पक्षपाती है और यह बताना ही पर्याप्त है कि ऐसी आशंका का युक्तियुक्त आधार है कि मध्यस्थ पक्षपाती हो जाएगा। परन्तु युक्तियुक्त आधार उस न्यायालय के समाधानप्रद रूप में होना चाहिए जिसके सम्मुख नियुक्त मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहृत करने के लिए आवेदन दिया जाता है।". (पैरा 12)

उपर्युक्त मामले में आगे यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "मध्यस्थ के प्राधिकार को प्रतिसंहृत करने की इजाज़त देने के विवेकाधिकार का प्रयोग करने से पूर्व न्यायालय को चाहिए कि वह इस बात का समाधान कर ले कि ऐसी इजाजत देने से मना करने से पर्याप्त न्यायहानि होगी। प्रतिसंहरण की शक्ति का प्रयोग करने की बात का अवधारण करते समय न्यायालय को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि माध्यस्थम् विवादों को निपटाने का विशिष्ट तरीका है। पक्षकार कानून

[1] ए० आई० आर० 1956 एस० सी० 1036.

के विलम्ब से बचने के लिए जानते हैं या उन्हें जानना चाहिए कि माध्यस्थम् को विवाद निर्दिष्ट करने से उन्हें मध्यस्थ को स्वीकार करना पड़ता है और तथ्य और कानून की दृष्टि से उसका निर्णय अन्तिम होता है। बहुत से मामलों में पक्षकार माध्यस्थम् को इन्हीं कारणों से अधिमान देते हैं। अपने विवेकाधिकार का सावधानीपूर्वक और कभी-कभी ही प्रयोग करते हुए इसमें कोई शक नहीं है कि न्यायालय इन परिस्थितियों को ध्यान में रखेगा और विचार करेगा कि पक्षकारों को उनके द्वारा चुने गए किसी अधिकरण से छुटकारा केवल इसलिए न दे दिया जाए क्योंकि वे डरते हैं कि मध्यस्थ का निर्णय उनके विरुद्ध न चला जाए।" (पैरा 13)

भुवालका ब्रदर्स बनाम **फतेह चन्द**[1] वाले मामले में माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 5 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन में यह अभिकथन किया गया था कि बंगाल चैम्बर आफ कामर्स के लगभग सभी सदस्य, जिनसे मध्यस्थ बनने के लिए कहा जाएगा, किसी न किसी संगम के सदस्य हैं और चैम्बर द्वारा जारी किए गए परिपत्र में मामले पर उल्लिखित विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति समर्पित हैं और इसलिए चैम्बर के विवाद में मध्यस्थ बनने के प्राधिकार के प्रतिसंहरण की इजाज़त दी जाए। इजाज़त देते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

"मैं दो सीमाएं, जिनके अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग किया जाना चाहिए, बताने का साहस कर रहा हूं, प्रथम, न्यायालय को चाहिए कि वह पक्षकारों को अपने समझौते से आसानी से छुटकारा न दे। इससे यह पता चलेगा कि न्यायालय संविदा को कितना पवित्र समझता है, और दूसरे यह कि न्यायालय को अपना यह समाधान कर लेना चाहिए कि अगर वह इजाज़त देने से इनकार करता है तो पर्याप्त न्यायहानि होगी। इन्हीं सीमाओं के भीतर विवेकाधिकार का प्रयोग किया जाना चाहिए।" (पैरा 11)

भुवालका ब्रदर्स वाले मामले में[1] न्या० बनर्जी ने **ब्रिस्टल कारपोरेशन बनाम जान एअर्ड एण्ड कम्पनी**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश किया है। उसमें लार्ड एटकिनसन ने यह मत व्यक्त किया था :—

"यद्यपि ठेकेदार संविदा से आबद्ध है, लेकिन फिर भी उसे यह मांग करने का अधिकार है कि अभियन्ता द्वारा बनाए गए दृष्टिकोणों के

1 ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 294.

2 1913 ए० सी० 241.

होते हुए भी उस भद्र पुरुष के तर्कों को सुनना होगा और उसे सौंपे गए मामले का अवधारण एक ईमानदार व्यक्ति की भांति इतने उचित ढंग से करना होगा जितना वह कर सकता है। और अगर वास्तव में यह सिद्ध कर दिया जाता है कि ऐसा कोई युक्तियुक्त लक्षण है कि वह इतना पूर्वाग्रही हो जाएगा कि वह उन मामलों में उचित रूप से निर्णय नहीं करेगा तब ठेकेदार को अपने समझौते से हटने की और विवाद का विचारण देश के किसी साधारण अधिकरण से करवाने की इजाज़त है, परन्तु मेरे विचार से उसे इससे भी अधिक अधिकार है। अगर, उसका कोई कसूर नहीं है, अभियंता अपने आपको उस स्थिति में ले आया है कि यह उसके लिए उपयुक्त या मर्यादित या उचित नहीं है कि वह किसी एक या अधिक विवादों में मध्यस्थ के रूप में कार्य करे। ठेकेदार को न्यायालय में अपील करने का अधिकार है और न्यायालय को आवेदन के उत्तर में यह कहने का हक है कि माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 4 द्वारा उसमें निहित विवेकाधिकार का प्रयोग करे।"

उपर्युक्त मामले में न्या० बनर्जी ने **एक्सले बनाम मर्से डाक्स एण्ड हारबर बोर्ड**[1] वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया है। उस मामले में लार्ड एन० आर० इशर ने यह मत व्यक्त किया है :—

"इस मामले में वादी की ओर से यह कहा गया था कि न्यायालय द्वारा यह कहे जाने का पर्याप्त कारण है कि विवादों की कार्रवाइयों को बोर्ड के अभियंता को निर्दिष्ट न किया जाए क्योंकि वह पूर्वाग्रही हो सकता है। अगर न्यायालय का यह मत हो कि इस संभावना का कोई आधार नहीं है कि वह पूर्वाग्रही हो जाएगा तो केवल यह कहना कि वह पूर्वाग्रही हो सकता है, पर्याप्त कारण नहीं है। जब वादियों द्वारा स्थापित की जाने वाली प्रतिपादना की परीक्षा की गई तो यह पता चला कि विवादों को अभियंता को निर्दिष्ट नहीं किया जाना चाहिए था क्योंकि उस पर पूर्वाग्रही होने का शक किया जा सकता है चाहे वास्तव में वह पूर्वाग्रही न भी हो। यह न्यायाधीशों, न केवल वरिष्ठ न्यायालयों के बल्कि सभी न्यायाधीशों पर लागू होने वाले सिद्धान्त को लागू करने की चेष्टा है कि केवल यही नहीं कि वे पूर्वाग्रही न हों परन्तु यह कि अगर यह प्रदर्शित कर दिया जाता है कि वे पूर्वाग्रही नहीं होंगे तो भी उन्हें उस मामले में न्यायाधीश के रूप में कार्य नहीं करना चाहिए जहां पर

---

[1] (1894) 2 क्यू० बी० 667.

परिस्थितियां ऐसी हैं कि आवश्यक रूप से न केवल विवेकी लोग परन्तु बहुत से लोग उन पर पूर्वाग्रही होने का संदेह करेंगे।"

भुवालका ब्रदर्स वाले मामले[1] में न्या० बनर्जी ने निम्नलिखित विधि अधिकथिक की है :—

"अगर किसी मध्यस्थ का कोई ऐसा हित है जो उसके विनिश्चय पर निर्भर करता है तो वह इसके लिए निरर्ह हो जाएगा अगर उसकी नियुक्ति के समय कोई भी पक्षकार ऐसे तथ्य से अनभिज्ञ है और हित ऐसी प्रकृति का है कि उसे प्रकट किया जाना चाहिए था। अगर इस तथ्य को पूरी तरह से जानते हुए भी पक्षकार किसी ऐसे मध्यस्थ का चयन करते हैं जो निष्पक्ष व्यक्ति नहीं है या उसे ऐसे कर्तव्यों का निर्वहन करना होता है जिसके कारण वह निष्पक्ष बना नहीं रह जाएगा तो न्यायालय उन्हें उस सौदे से, जिसके लिए वह सहमत हुए थे, छुटकारा नहीं देगा। अगर संविदा का कोई पक्षकार विनिश्चय में हितबद्ध किसी अधिकरण की अधिकारिता को स्वीकार कर लेता है तो जब तक न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि उसे इस समझौते के, जो वह कर रहा है, निबन्धनों की जानकारी थी या जानकारी होनी चाहिए थी, इस आधार पर न्यायालय उसे समझौते से छुटकारा नहीं देगा चाहे वह उसे कितना ही अदूरदर्शी क्यों न मानता हो।"

न्या० बनर्जी ने अपने निर्णय में **कैम्प बनाम रोज़**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश किया है। उसमें एक निर्माणकर्ता ने एक संविदा द्वारा अपने आपको इस बात के लिए आबद्ध कर लिया कि वह श्री लैम्ब, वास्तुविद के विनिश्चय और प्रमाणपत्र के आधार पर कार्य के लिए संदत्त की गई रकम को स्वीकार कर लेगा। उसे इस बात की जानकारी नहीं थी कि वास्तुविद ने विरोधी पक्षकार को इस बात का आश्वासन दे दिया था कि भवन का मूल्य विहित रकम से अधिक नहीं होना चाहिए यद्यपि उसने ऐसी गारंटी देने से इनकार कर दिया था। सर जान स्टुअर्ट वी० सी० ने अपने निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया :—

"लिखित संविदा के अनुसार वादी ने इस पूर्ण विश्वास के साथ कि उसका विनिश्चय एक निष्पक्ष व्यक्ति का विनिश्चय होगा, अपने आपको श्री लैम्ब के विनिश्चय के साथ पूर्ण रूप से आबद्ध कर लिया था।

---

1 ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 294.

2 (1858) 1 ग्रिफ 258.

प्रत्येक न्यायिक कार्यवाहियों में पूर्णरूपेण एकरूपता और निष्पक्ष मस्तिष्क का होना आवश्यक है।

इसलिए, एक या दोनों व्यक्तियों को, जो अपने आपको किसी और के विनिश्चय से आबद्ध कर लेते हैं, बाद में यह पता चलता है कि ऐसी परिस्थिति थी कि जिस व्यक्ति को विनिश्चय का काम सौंपा गया है, वह पूर्वाग्रही बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति इस न्यायालय के हस्तक्षेप को न्यायोचित बना देगी।

क्या ऐसी परिस्थिति मध्यस्थ के मस्तिष्क में है या नहीं तो अधिकतर वह साक्ष्य द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति, शायद मध्यस्थ स्वयं भी, उसके बारे में अनभिज्ञ होगा। यही पर्याप्त है कि ऐसी परिस्थिति मौजूद थी……

यह कल्पना कीजिए कि श्री लैम्ब ने यह गारंटी दी थी। उसने अपने आपको एक संविदा द्वारा इस बात के लिए आबद्ध कर लिया था कि 2500 पौंड से अधिक के खर्चे उसके द्वारा संदत्त किए जाने चाहिए। क्या सफलतापूर्वक यह दलील देना संभव होगा कि जो वादी संविदा करता है वह मध्यस्थ के हित से अनभिज्ञ था और वह संविदा के उन निबन्धनों से आबद्ध होगा जो व्यापक रूप से श्री लैम्ब को सभी प्रश्नों पर विनिश्चय देने के पारिश्रमिक को छोड़ कर होगा। यद्यपि एक आश्वासन गारंटी से काफी कम प्रभाव वाला है और वास्तव में श्री लैम्ब के निर्णय को पक्षपातपूर्ण नहीं बनाया फिर भी यह विचार किया गया कि उसका ऐसा प्रभाव पड़ेगा। श्री लैम्ब पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाए बिना यह कहा जा सकता है कि यही पर्याप्त है कि ऐसी परिस्थिति है, जिसके बारे में वादी अनभिज्ञ था और जो उसके निर्णय को पक्षपातपूर्ण बना सकती है। वास्तुविद और अभियंता के रूप में श्री लैम्ब की शक्ति, जिसके निर्णय पर लगभग सभी मात्रा और कीमत की बाबत बातें भी हैं, छोड़ दी गई थीं, जैसाकि इसी प्रकार की बहुत सी बातों में होता है, जो लगभग आबद्धकर नहीं होती हैं अगर ऐसा छोटा-सा धब्बा या परिस्थिति है जो उसके निर्णय को अनुचित रूप से पक्षपात-पूर्ण बना देगा। इसलिए उसका निर्णय संविदा के पक्षकारों पर पूर्ण रूप से आबद्धकर नहीं होगा। इसलिए वादी श्री लैम्ब के विनिश्चय को इस न्यायालय द्वारा पुनरीक्षित करवाने के हकदार हैं।"

5. परिणामतः आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है। पिटीशनर को माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 5 के अधीन मध्यस्थ के रूप में नियुक्त

किए गए प्रत्यर्थी-बोर्ड के प्राधिकार को प्रतिसंहृत करने की इजाज़त दी जाती है। यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रतिसंहरण के पश्चात् पिटीशनर माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 के उपबंधों के अनुसार एक मध्यस्थ नियुक्त करने के लिए न्यायालय को कह सकता है। सिविल पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया जाता है। खर्चे नहीं दिए जाएंगे।

पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

खन्ना/मि०

नि० प० 1984 : केरल—10

कार्थियानी और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य

(Karthiayani & others *Vs.* Union of India & others)

तारीख 3 अगस्त, 1983

[मु० न्या० पी० सुब्रह्मण्यन् पोती और न्या० वी० शिवरामन् नायर]

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 धारा 2(ध)—उक्त धारा 2(ध) में प्रयुक्त 'शारीरिक काम' को केवल हाथ द्वारा किए काम तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है, उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शारीरिक कार्य आते हैं, जो यंत्रवत् और पुनरावर्ती होते हैं और जो अपनी प्रभावकारिता के लिए मुख्यतः शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं। किसी काम की प्रकृति निर्धारित करते समय, शारीरिक काम, जो अन्य प्रकार के अर्थात् ऐसे कार्यों का आनुषंगिक या सहायक है, जो बौद्धिक, कल्पनात्मक, सृजनात्मक क्षमताओं की अपेक्षा करते हैं, अवधारक नहीं होगा। इस प्रश्न को अवधारित करने के लिए कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) के अधीन कर्मकार है, उसके काम को इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है। इस प्रकार देखने पर यह स्पष्ट है कि अध्यापक का काम हाथ का काम नहीं है और इसलिए अध्यापक कर्मकार नहीं है।

उच्च न्यायालय में प्रस्तुत इन तीनों अपीलों में विनिश्चयार्थ जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित कर्मकार है। अपीलार्थियों ने यह दलील दी है कि अध्यापन शारीरिक काम है, कदाचित् कुशल शारीरिक काम और इस प्रकार

अध्यापक, जो शिक्षा में, जो एक उद्योग है, कुशल शारीरिक काम करने के लिए नियोजित किए जाते हैं, औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा-परिभाषित कर्मकार हैं। प्रत्यर्थियों ने इस प्रतिपादना का खण्डन किया है और उन्होंने यह निवेदन किया है कि अध्यापन, कुशल या अकुशल, किसी भी प्रकार का शारीरिक काम नहीं है और न वह लिपिकीय या तकनीकी या पर्यवेक्षी काम ही है और इसलिए अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की अवधारणा के बाहर हैं।

अभिनिर्धारित—अपीलें खारिज की गईं।

"मैनुअल वर्क" का सीमिततम शब्दकोषीय अर्थ नहीं अपनाना चाहिए, बल्कि ऐसा व्यापकतर अर्थ अपनाना चाहिए, जिसके अन्तर्गत शारीरिक बल को अन्तर्वलित करने वाला सभी प्रकार का कार्य आता है और जो बुद्धि के प्रयोग की अपेक्षा वैयक्तिक मांस-पेशीय श्रम पर अधिक निर्भर रहता है। उस संदर्भ में, जिसमें उक्त पद औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में प्रयुक्त किया गया है, प्रकटतः लिपिकीय, पर्यवेक्षी और तकनीकी उप-व्यवसायों से भेद दर्शित करने के लिए, यह अभिनिर्धारित करना उचित होगा कि "मैनुअल वर्क" पद को व्यापकतर अर्थ दिया जाना चाहिए, अर्थात् शारीरिक श्रम का कोई भी रूप, जो मुख्यतः बौद्धिक, परिवर्तनात्मक, कल्पनात्मक या सृजनात्मक क्षमताओं को अन्तर्वलित करने वाले श्रम से भिन्न वैयक्तिक मांस-पेशीय (शारीरिक) श्रम पर अधिक निर्भर करता है। यदि सीमित अर्थ स्वीकार किया जाता है, तो चौकीदार, जो ऐसा कार्य करता है, जो यंत्रवत् और पुनरावर्ती है (बार-बार उसी प्रकार किया जाता है) तथा जो ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें केवल शारीरिक श्रम अन्तर्वलित है किन्तु जो पैदल चलकर (घूम फिर कर) करना होता है, या सिर पर बोझा उठाने वाला मजदूर, जो अपने हाथों की अपेक्षा अपने सिर और कंधों का अधिक प्रयोग करता है, हाथ का काम करने वाला नहीं माना जाएगा। पुनश्च, कोई कलाकार, जिसे चित्र बनाने के लिए सृजनात्मक और काल्पनिक शक्ति का प्रयोग करना होता है, फिर भी हाथ का काम करने वाला कर्मकार होगा क्योंकि वह अपने हाथ से कार्य करता है। इसी प्रकार शल्य चिकित्सक, जिसका काम हाथ का है और जिसमें काफी श्रम करना होता है, कर्मकार हो सकता है भले ही वह आपरेशन करने में अपनी बुद्धि, विशेषज्ञता और संचित कुशलता का प्रयोग कर रहा हो; जो पूर्णतः गैर-शारीरिक प्रकृति की होती है। (पैरा 10)

औद्योगिक विवादअधिनियम, 1947 की धारा 2(ध) में प्रयुक्त 'शारीरिक काम' को केवल हाथ द्वारा किए काम तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है;

उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शारीरिक कार्य आते हैं, जो यंत्रवत् और पुनरावर्ती होते हैं और जो अपनी प्रभावकारिता के लिए मुख्यतः शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं। इसके अतिरिक्त, किसी काम की प्रकृति निर्धारित करते समय, शारीरिक काम, जो अन्य प्रकार के अर्थात् ऐसे कार्यों का आनुषंगिक या सहायक हैं, जो बौद्धिक, कल्पनात्मक, सृजनात्मक क्षमताओं की अपेक्षा करते हैं, अवधारक नहीं होगा। इस प्रश्न को अवधारित करने के लिए कि क्या वह औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) के अधीन कर्मकार है, अध्यापक के काम को इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है। (पैरा 14)

विनिश्चित मामलों से उद्भूत होने वाले सिद्धान्तों के प्रति निर्देश से, अध्यापकों के कार्य का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् इस कथन से सहमति व्यक्त की जाती है कि अध्यापकों का काम शारीरिक काम नहीं है, सीमित अर्थ में ही नहीं जिसमें कि उक्त पद अपीलाधीन विनिश्चयों में समझा गया था, बल्कि मुख्यतः शारीरिक श्रम अन्तर्वलित करने वाले कार्य को समाविष्ट करने के व्यापक अर्थ में भी है। निस्संदेह शारीरिक श्रम की मात्रा में, जो अध्यापन कार्य में अन्तर्वलित है, अन्तर हो सकता है, जिस प्रकार कि शिक्षा के विभिन्न प्रक्रमों पर, अर्थात् प्री-प्राइमरी या किण्डरगार्टन, एलीमेंटरी या प्राइमरी स्कूल, सेकेण्डरी स्कूल, कालेजिएट, पोस्टग्रेड्यूएट और रिसर्च (अनुसन्धान) के विभिन्न स्तरों पर बौद्धिक श्रम की मात्रा में इस प्रकार का अन्तर होता है। तथापि, यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि शिक्षा के किसी भी प्रक्रम पर अध्यापन का काम उक्त पद के बृहत्तर अर्थ में भी प्रधानतः और मुख्यतः शारीरिक श्रम का काम है। (पैरा 24)

अध्यापन का भौतिक (शारीरिक) भाग, कदाचित्, दृश्य निरूपणों से युक्त मौखिक अनुदेश, लिखित कार्य का संशोधन, उनसे सम्बन्धित अभिलेखों का रखा जाना, आदि है। दृश्य निरूपणों से युक्त मौखिक अनुदेश से केवल बौद्धिक क्रिया-कलाप प्रकट होता है, जिसके द्वारा अध्यापक के मस्तिष्क और बुद्धि के कार्य का उत्पाद शिष्य को संप्रेषित किया जाता है। इसी प्रकार छात्रों के लिखित कार्य के संशोधन में अन्तर्वलित शारीरिक श्रम का तत्व भी मुख्यतः अध्यापक की बुद्धि का कार्य है। यह प्राख्यान नहीं किया जा सकता है कि इस प्रक्रम पर भी यह कार्य-कलाप मुख्यतः शारीरिक है। भौतिक (शारीरिक) भाग मुख्य क्रियाकलाप का प्रकट रूप मात्र है, जो प्रकृति में बौद्धिक है। शारीरिक या हाथ का श्रम ज्ञान प्रदान करने की प्रक्रिया का सहायक और आनुषंगिक मात्र है, जो मुख्यतः बुद्धि का क्रियाकलाप है। यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि अध्यापन का कार्य किसी विशेष अध्यापक की बौद्धिक और सृजनात्मक क्षमता के प्रयोग को

अन्तर्वलित करने वाली प्रक्रिया की अपेक्षा यंत्रवत् और पुनरावर्ती शारीरिक अभ्यास है। इस तथ्य को भुलाया नहीं जा रहा है कि अत्यधिक वाणिज्यिकरण ने शिक्षा के क्षेत्र को प्रभावित किया है और अध्यापकों तथा संस्थागत शिक्षा के स्वरूप के बीच सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले नए दृष्टिकोण ने उसे लगभग व्यवसाय के रूप में ही रूपान्तरित कर दिया है। हमारी अध्यापन-बिरादरी का प्रायः सम्पूर्ण कलेवर ही ट्रेड यूनियन लाइन पर संगठित किया गया है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले में किए गए विनिश्चय में ठीक ही मत व्यक्त किया है, इन सब बातों से यह उपदर्शित होता है कि शिक्षा को उद्योग के रूप में माना जाए। कदाचित् इन बातों का यह सहज निष्कर्ष होगा कि शिक्षा में, जो उद्योग है, नियोजित व्यक्ति कर्मकार माने जाने चाहिए। किन्तु ऐसा केवल उसी स्थिति में हो सकता है जब कानूनी परिभाषा ऐसी स्थिति को अनुज्ञात करे। यह अभिनिर्धारित करना कि अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथापरिभाषित कर्मकार हैं और वे कुशल या अकुशल शारीरिक काम करने के लिए नियोजित व्यक्ति हैं, बहुत दूर की बात ही माना जाएगा। कानूनी परिभाषा के प्रति निर्देश से और अपीलार्थियों के काउन्सेल द्वारा किए गए इस निवेदन के विशेष संदर्भ में कि अध्यापन का काम कुशल या अकुशल शारीरिक काम है, अध्यापकों के काम की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् केवल यही अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि अपीलाधीन निर्णय, जहां तक उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अध्यापकों का कार्य शारीरिक काम नहीं है, सही है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि अध्यापकों का काम लोगों को शिक्षित करना है। इस स्थल पर एम्ब्रोज फिलिप्सकृत 'डेविल्स डिक्शनरी' में "एजूकेशन" पद की इस परिभाषा का स्मरण उचित होगा : "वह जो बुद्धिमान व्यक्तियों को उनकी समझ का अभाव प्रकट करती है और मूर्ख व्यक्तियों से उनकी समझ के अभाव को छिपाती है।" किसी भी अर्थ में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि शिक्षा का कार्य प्रकृति में मुख्यतः शारीरिक है; न तो बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रकट किए जाने के अर्थ में और न मूर्ख व्यक्तियों से छिपाने के अर्थ में। (पैरा 27)

		पैरा
[1971]	[1971] 1 उम० नि० प० 277=1970 (3) एस० सी० सी० 378=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 922 : बर्मा शैल आयल स्टोरेज **बनाम** बर्मा शैल प्रबन्धतंत्र (Burmah Shell Oil Storage *Vs.* Burmah Shell Management);	6

[1966]	(1966) 3 आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 539 : जे० एण्ड एफ० स्टोन लाइटिंग एण्ड रेडियो बनाम हेगार्थ (J. & F. Stone Lighting & Radio *Vs.* Haygarth);	12
[1963]	1963-II एल० एल० जे० 335=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873 : दिल्ली विश्वविद्यालय वाला मामला (Delhi University case);	16
[1938]	(1938) 1 आल ई० आर० 20 : मैसेक वाले मामले, तिर्रेली वाले मामले (Re Maschek, Re Tyrrelli);	12
[1934]	(1934) 2 के० बी० 265 : नेशनल हैल्थ इंश्योरेंस ऐक्ट वाले मामले और प्रोफैशनल प्लेयर्स आफ एसोसिएशन फुटबाल वाले मामले (In Re National Health Insurance Act; In Re Professional Players of Association Football);	12
[1933]	(1933) 148 एल० टी० 406 : मैकमेनस वाला मामला (Re Mc Manus);	12
[1921]	(1921) 2 ए० सी० 339 : जा उएस बनाम ओनर्स आफ स्टीम टग एलैक्जेण्ड्रिया (Ja ues *Vs.* Owners of Steam Tug Alexandria);	12
[1913]	(1913) 108 एल० टी० 894 : नेशनल इंश्योरेंस ऐक्ट वाले मामले, लिथोग्राफिक आर्टिस्ट्स वाले मामले और एनग्रेवर्स वाले मामले (Re National Insurance Act; Re Lithographic Artists, Re Engravers) का अवलम्ब लिया गया।	12
[1975]	1975 (2) एल० एल० जे० 189 : मार्शल ब्रेगेंजा बनाम स्मैन्त (Marshal Braganza *Vs.* Smant);	13
[1975]	1975 (48) एफ० जे० आर० 344 : क्राउन टाकीज, मद्रास बनाम एम० पी० सेतुराजन् (Crown Talkies, Madras *Vs.* M.P. Sethurajan);	13
[1966]	1966-I एल० एल० जे० 777 : विष्णु शुगर मिल्स बनाम बिहार राज्य (Vishnu Sugar Mills *Vs.* State of Bihar);	19

[1957] 1957 (1) एल० एल० जे० 422 : बी० आई० सी० लि० (न्यू एगर्टन वूलन मिल्स ब्रांच) **बनाम** राम बहादुर जमादार [B. I. C. Ltd. (New Egertion Woollen Mills Branch) *Vs.* Ram Bahadur Jamadar]; 13

[1955] 1955 (2) एल० एल० जे० 633 : विनय नाथ नारायण सिन्हा **बनाम** बिहार जर्नल्स लि० (Vinaya Nath Narain Sinha *Vs.* The Bihar Journals Ltd.); 13

[1955] 1955 (1) एल० एल० जे० 167 : नैलीमार्ला जूट मिल्स कं० लि० **बनाम** स्टाफ यूनियन, नैलीमार्ला जूट मिल्स (Nellimarla Jute Mills Company Ltd. *Vs.* Staff Union, Nellimarla Jute Mills); 13

[1955] 1955 (2) एल० एल० जे० 1 : लक्ष्मी देवी शुगर मिल्स लि० **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Lakshmi Devi Sugar Mills Ltd. *Vs.* State of U. P.); 13

[1955] 1955 (2) एल० एल० जे० 448 : एडवर्टाइजिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया **बनाम** बरेन्द्र चन्द्र नाग (Advertising Corporation of India *Vs.* Barendra Chandra Nag) 13

से **सहमति** व्यक्त की गई ।

[1960] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 675 : नागपुर नगर निगम **बनाम** उसके कर्मकार (Corporation of City of Nagpur *Vs.* Its Workmen) 16

को **उलट** दिया गया ।

[1982] 1982 के० एल० टी० 829 : उमैयाम्माल **बनाम** केरल राज्य (Umayammal *Vs.* State of Kerala); 5

[1982] 1982 के० एल० टी० 327 : वेंकटरामन् **बनाम** श्रम न्यायालय (Venkataraman *Vs.* Labour Court); 8

[1981] 1981 के० एल० टी० 660 : मुथय्यन **बनाम** मैनेजर, 8

कडलूर एस्टेट (Muthayyan *Vs.* Manager, Kadalur Estate);

[1980] 1980 (56) एफ० जे० आर० 483 : एम० डी० सिगमणि **बनाम** श्रम न्यायालय (M. D. Sigmani *Vs.* Labour Court); 19

[1979] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस०सी० 548 : बंगलौर वाटर सप्लाई वाला मामला (Bangalore Water Supply case); 5

[1972] 1972 (74) बाम्बे लॉ रिपोर्ट्स 124 : कोकिल **बनाम** जी० एम० एस० सी० रेलवे (Kokil *Vs.* G. M. S. C. Railway); 19

[1969] 1969 (2) एल० एल० जे० 670 : आनन्द बाजार पत्रिका **बनाम** कर्मकार (Ananda Bazar Patrika *Vs.* Its Workmen); 5

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 678 : मे एण्ड बेकर (इण्डिया) लि० **बनाम** कर्मकार [May & Baker (India) Ltd. *Vs.* Their Workmen]; 5

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1522 : साउथ इण्डियन बैंक **बनाम** ए० आर० चाको (South Indian Bank *Vs.* A. R. Chacko); 5

[1964] (1964) 25 एफ० जे० आर० 93=ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 737 : जे० के० काटन स्पीनिंग एण्ड वीविंग मिल्स कं० लि० **बनाम** ट्रिब्युनल आफ इण्डिया (J. K. Cotton Spg. & Wvg. Mills Co. Ltd. *Vs.* Tribunal of India) 20

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (रिट अपीली) अधिकारिता : 1982 की रिट अपील सं० 587, 410 और 411.

1979 के आरम्भिक पिटीशन सं० 3696 में किए गए निर्णय के विरुद्ध रिट अपील।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री के० रामकुमार, बी० सतीशचन्द्रन्, एस० परमेश्वरन् और आर० नित्यानन्दन्

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री एम० सी० चेरियान, सारम्मा चेरियान, टी० ए० राजन्, सी० पी० रवीन्द्र नाथ, एम० रामचन्द्रन्, के० ए० नायर, ई० आर० वेंकेटेश्वरन् और सरकारी प्लीडर

न्यायालय का निर्णय न्या० शिवरामन् नायर ने दिया ।

न्या० नायर :

इन तीनों अपीलों में विनिश्चयार्थ जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित कर्मकार है । न्या० खालिद ने, 1979 के आरम्भिक पिटीशन सं० 3696 में 1980 के अपने निर्णय में, जो अब 1982 के० एल० टी० 327 में प्रकाशित किया जा चुका है, यह अभिनिर्धारित किया कि अध्यापक, शारीरिक (हाथ का) काम करने के लिए नियोजित व्यक्ति न होने के कारण, कर्मकार नहीं है । उक्त निर्णय ही 1982 की रिट अपील सं० 410 और 411 की विषय-वस्तु है । न्या० यू० एल० भट्ट ने 1981 के आरम्भिक पिटीशन सं० 6966 में अपने निर्णय में 1981 के० एल० टी० 560 और 1982 के० एल० टी० 327 में प्रकाशित न्या० खालिद के एक पूर्वतर निर्णय का अनुसरण किया और यह अभिनिर्धारित किया कि रेल प्रशासन द्वारा नियुक्त प्रतिस्थानी अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन संरक्षण के लिए हकदार कर्मकार नहीं थे । वह निर्णय 1982 की रिट अपील सं० 587 की विषय-वस्तु है ।

2. औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में कर्मकार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :—

> "2(ध) 'कर्मकार' से कोई ऐसा व्यक्ति (जिसके अन्तर्गत शिक्षु आता है) अभिप्रेत है, जो कोई कुशल या अकुशल, शारीरिक, पार्यवेक्षणिक, तकनीकी या लिपिकीय काम, भाड़े या इनाम के लिए करने के लिए किसी उद्योग में नियोजित है, चाहे नियोजन के निबन्धन अभिव्यक्त हों या विवक्षित, और किसी औद्योगिक विवाद के संबंध में इस अधिनियम के अधीन की किसी कार्यवाही के प्रयोजन के लिए इसके अन्तर्गत कोई ऐसा कर्मकार आता है, जो उस विवाद के संसंग में या

उसके परिणामस्वरूप पदच्युत या उन्मोचित कर दिया गया है या जिसकी छंटनी कर दी गई है, अथवा जिसकी पदच्युति, उन्मोचन या छंटनी किए जाने से वह विवाद पैदा हुआ हो, किन्तु इसके अन्तर्गत कोई ऐसा व्यक्ति नहीं आता है, जो—

(i) सेना अधिनियम, 1950 या वायुसेना अधिनियम, 1950 या नेवी (डिसिप्लिन) ऐक्ट 1934 के अध्यधीन हो; अथवा

(ii) पुलिस सेवा में या किसी कारागार के अधिकारी या अन्य कर्मचारी के रूप में नियोजित हो; अथवा

(iii) मुख्यत: प्रबन्धकीय या प्रशासनिक हैसियत में नियोजित हो; अथवा

(iv) पार्यवेक्षणिक हैसियत में नियोजित होते हुए पांच सौ रुपए प्रतिमास से अधिक मजदूरी लेता हो अथवा या तो पद से संलग्न कर्तव्यों की प्रकृति के या अपने में निहित शक्तियों के कारण ऐसे कृत्यों का प्रयोग करता है जो मुख्यत: प्रबन्धकीय प्रकृति के हैं।"

3. अत: उक्त परिभाषा में कर्मकार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उससे किसी उद्योग में हाथ के, पर्यवेक्षी, तकनीकी या लिपिकीय कार्य में रत व्यक्ति अभिप्रेत हैं। हाथ का कार्य कुशल या अकुशल हो सकता है। अतः कुल मिलाकर ऐसे लोगों के पांच प्रवर्ग हैं, जो कर्मकार की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। वे हैं—(1) ऐसे व्यक्ति, जो हाथ का कुशल काम करते हैं; (2) ऐसे व्यक्ति, जो हाथ का अकुशल काम करते हैं; (3) ऐसे व्यक्ति, जो पर्यवेक्षी काम करते हैं; (4) ऐसे व्यक्ति, जो तकनीकी काम करते हैं; और (5) ऐसे व्यक्ति, जो लिपिकीय काम करते हैं। उक्त परिभाषा की अवधारणा के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों की व्यापकता से चार प्रवर्गों के व्यक्ति अपवर्जित किए गए हैं। वे हैं—(1) ऐसे व्यक्ति जो सेना अधिनियम, 1950 या वायु सेना अधिनियम, 1950 या जल सेना (अनुशासन) अधिनियम, 1934 [नेवी (डिसिप्लिन) ऐक्ट 1934] के अधीन हैं; (2) ऐसे व्यक्ति जो पुलिस सेवा में नियोजित हैं या कारागार के अधिकारी या अन्य कर्मचारी के रूप में नियोजित हैं; (3) ऐसे व्यक्ति, जो मुख्यत: प्रबन्धकीय या प्रशासनिक हैसियत में नियोजित हैं; और (4) ऐसे व्यक्ति, जो पर्यवेक्षी हैसियत में नियोजित होने के कारण, प्रतिमास 500 रुपये से अधिक वेतन (मजदूरी) लेते हैं या संबंधित पद से संलग्न कर्त्तव्यों की प्रकृति द्वारा या

अपने में निहित शक्ति के कारण, मुख्यतः प्रबन्धकीय प्रकृति के कृत्य करते हैं।

4. अपीलार्थियों ने यह दलील दी है कि अध्यापन हाथ का काम है, कदाचित् हाथ का कुशल काम है और इस प्रकार अध्यापक, जो शिक्षा में, जो एक उद्योग है, हाथ का कुशल काम करने के लिए नियोजित किए जाते हैं, औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित कर्मकार हैं। प्रत्यर्थियों ने इस प्रतिपादना का खण्डन किया है और उन्होंने यह निवेदन किया है कि अध्यापन, कुशल या अकुशल, किसी भी प्रकार का हाथ का काम नहीं है और न वह लिपिकीय या तकनीकी या पर्यवेक्षी काम ही है और इसलिए अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की अवधारणा के बाहर हैं।

5. **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] और **उमैयाम्माल बनाम केरल राज्य**[2] वाले मामले में किए गए विनिश्चय को देखते हुए, अब यह सामान्य आधार है कि शिक्षा औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित 'उद्योग' है और यदि अध्यापक अधिनियम की धारा 2(ध) की अध्यपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं, तो वे कर्मकार होंगे। इस तथ्य के बारे में भी कोई विवाद नहीं उठाया गया है कि नियोजित व्यक्ति के काम की प्रबल प्रकृति ही इस प्रश्न को अवधारित करेगी कि क्या वह कोई हाथ का या पर्यवेक्षी या तकनीकी या लिपिकीय काम करने के लिए नियोजित किया गया है। ऐसा **साउथ इण्डियन बैंक** बनाम **ए० आर० चाको**[3], **मे एण्ड बेकर (इण्डिया) लि०** बनाम **कर्मकार**[4], **आनन्द बाजार पत्रिका** बनाम **कर्मकार**[5], और **बर्मा शैल आयल स्टोरेज** बनाम **बर्मा शैल प्रबन्धतंत्र**[6] वाले मामलों में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों को देखते हुए है। अपीलार्थियों के काउन्सेल ने यह निवेदन भी किया है कि अध्यापन का कार्य पर्यवेक्षी या तकनीकी या लिपिकीय नहीं हो सकता है; और हमें केवल इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है कि क्या वह हाथ का कुशल काम है या अकुशल।

6. एक दलील, जो ऊपर से युक्तियुक्त दिखाई देती थी, यह दी गई कि 'शिक्षा' को **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय द्वारा

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

[2] 1982 के० एल० टी० 829.

[3] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1522.

[4] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 678.

[5] 1969 (2) एल० एल० जे० 670.

[6] [1971] 1 उम० नि० प० 277=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 922.

उद्योग माना गया है, अतः ऐसे अध्यापक, जो उसमें नियोजित किए जाते हैं, कर्मकार माने जाने चाहिए। इस दलील का आधार यह धारणा है कि अधिनियम की धारा 2(ध) में दी गई परिभाषा के अन्तर्गत सभी प्रकार के कर्मचारी आते हैं अर्थात् वह परिभाषा निश्शेषकारी है और किसी उद्योग में नियोजित व्यक्तियों के एकमात्र प्रवर्ग, जो उक्त परिभाषा की परिधि से बाहर हैं, परिभाषा द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से अपवर्जित व्यक्तियों के चार वर्ग हैं। यदि यह निवेदन सही होता, तो कर्मकारों को हाथ का काम करने के लिए नियोजित कर्मकार या पर्यवेक्षी या तकनीकी या लिपिकीय काम करने के लिए नियोजित कर्मकारों के रूप में प्रवर्गीकृत करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उक्त परिभाषा में केवल अपवर्जित व्यक्तियों के चार वर्गों को छोड़ कर, उद्योग में नियोजित सभी व्यक्तियों के उल्लेख की आवश्यकता थी। उच्चतम न्यायालय के समक्ष भी यही निवेदन किया गया किन्तु वह **बर्मा शैल आयल स्टोरेज** बनाम **बर्मा शैल प्रबन्धतंत्र**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय में भ्रामक निवेदन के रूप में अस्वीकार कर दिया गया। उक्त विनिश्चय से उद्धृत निम्नलिखित मताभिव्यक्ति ऊपर से आकर्षक दिखाई देने वाले इस तर्क के पूर्ण उत्तर के रूप में कार्य करेगी :—

> "यदि, चार अपवादों में वर्णित कर्मचारियों को छोड़कर, उद्योग का प्रत्येक कर्मचारी कर्मकार होता, तो परिभाषा में इन चार वर्गीकरणों के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं थी और कर्मकार को ऐसे मामलों को छोड़कर, जिनमें वह किसी एक अपवाद के अन्तर्गत आता था, उद्योग में नियोजित व्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता था। स्पष्टतः कार्य के चार प्रकारों का विनिर्देश यह अधिकथित करने के लिए आशयित है कि कर्मचारी केवल उसी स्थिति में कर्मकार होगा यदि वह उक्त चार प्रकारों में से किसी एक प्रकार का काम करने के लिए नियोजित किया जाता है, जबकि ऐसे कर्मचारी भी हो सकते हैं जो ऐसा काम न करने के कारण 'कर्मकार' शब्द की परिधि से बाहर होंगे, और उसके लिए अपवादों का अवलम्ब नहीं लेना पड़ेगा। एक उदाहरण, जो बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होता है, किसी उद्योग में बिक्री बढ़ाने के लिए नियोजित व्यक्ति का उदाहरण होगा। उससे कोई कागजी (लिखा पढ़ी) काम करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है और न उससे यह अपेक्षा की जा सकती है कि उसके पास कोई तकनीकी जानकारी हो। वह किन्हीं अन्य कर्मचारियों के काम का अधीक्षण नहीं

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 277=1970 (3) एस० सी० सी० 378=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 922.

करता है और न वह हाथ का कोई कुशल या अकुशल काम ही करता है। फिर भी वह कर्मचारी होगा, न कि कर्मकार, क्योंकि वह कार्य, जिसके लिए वह नियोजित किया गया है, परिभाषा में वर्णित चार प्रकारों के अन्तर्गत नहीं आता है, न कि इस कारण कि वह अपवादों में से किसी अपवाद के अधीन परिभाषा से बाहर माना जाएगा।"

7. 1982 की रिट अपील सं० 587 में एक और मुद्दे पर जोर दिया गया, अर्थात् यह कि अध्यापक का काम "कुशल और हाथ का काम" है। इस प्रयास में यह सुझाव दिया गया प्रतीत होता है कि "कुशल या अकुशल काम" के दो भिन्न और स्वतंत्र प्रवर्ग हैं, जिनका हाथ के या लिपिकीय या पर्यवेक्षी या तकनीकी काम से कोई संबंध नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने इस स्थिति को और अधिक आश्वस्त कर दिया है, जो अन्यथा भी इस परिभाषा से स्पष्ट है कि "कुशल या अकुशल" केवल "हाथ के काम" को ही विशेषित करता है और वह काम के भिन्न और स्वतंत्र प्रवर्गों को विनिर्दिष्ट करने के लिए आशयित नहीं है, जिसे करने के लिए कर्मकार को नियोजित किया जाए। **बर्मा शैल आयल स्टोरेज** बनाम **बर्मा शैल प्रबन्धतंत्र**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय में यह मत व्यक्त किया :—

> "इस परिभाषा के अधीन कर्मकार होने के लिए उद्योग में के किसी कर्मचारी के लिए यह स्पष्ट है कि वह कुशल या अकुशल हाथ का काम, पर्यवेक्षी काम, तकनीकी काम या लिपिकीय काम करने के लिए नियोजित किया जाना चाहिए। यदि कर्मचारी द्वारा किया गया काम इस प्रकार का नहीं है तो वह कर्मकार नहीं होगा।"

अत: अब जिस प्रश्न पर विचार किया जाना है वह यह है कि क्या अध्यापक का काम कुशल या अकुशल हाथ का काम है। इस प्रश्न के उत्तर पर ही यह विनिश्चय निर्भर करता है कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(2) के अधीन कर्मकार है।

8. न्या० खालिद ने **मुथय्यन** बनाम **मैनेजर, कडलूर एस्टेट**[2] वाले मामले में अपने विनिश्चय मे यह अभिनिर्धारित किया था कि "हाथ का काम" से हाथ द्वारा किया गया काम अभिप्रेत है और यह कि उस अर्थ में इस प्रश्न का कि क्या बागान के प्रबन्धतंत्र द्वारा नियोजित अध्यापक कर्मकार होगा या नहीं, औद्योगिक अधिकरण द्वारा साक्ष्य के आधार पर विनिश्चय किया जाना था।

---

[1] [1971] 1 उम० नि० प० 277=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 922.

[2] 1981 के० एल० टी० 660.

1982 की रिट अपील सं० 410 में **वेंकटरामन्** बनाम **श्रम न्यायालय**[1] वाले मामले में अपीलाधीन निर्णय में न्या० खालिद ने अपने इस पूर्वतर विनिश्चय का अनुसरण किया कि अध्यापक "हाथ से किए गए काम" के अर्थ में हाथ का काम (मैनुअल वर्क) नहीं करता है, अतः वह औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन कर्मकार नहीं है, क्योंकि :—

> "अध्यापक का काम उसके भारसाधन के अधीन रहने वाले प्रतिपाल्यों के बौद्धिक विकास के इस विशिष्ट क्षेत्र के अन्तर्गत आता है और मेरे निर्णय के अनुसार उसके काम की हाथ के काम से बराबरी नहीं की जा सकती है, यद्यपि कभी-कभी वह कुशल काम हो सकता है। अतः मुझे यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि अध्यापक का काम हाथ का काम नहीं है।"

उसके पश्चात् उन्होंने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या अध्यापक का काम लिपिकीय काम या तकनीकी काम या पर्यवेक्षी काम था। न्या० भट्ट ने 1981 के आरम्भिक पिटीशन सं० 6966 में अपने निर्णय में न्या० खालिद के उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों का अनुसरण किया। हमारे समक्ष इन अपीलों में अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि अब एकमात्र प्रश्न, जिस पर हमें विचार करने की आवश्यकता है, यह है कि क्या अध्यापक कुशल या अकुशल हाथ का काम करता है। वस्तुतः, एकमात्र विनिर्दिष्ट आधार 1982 की रिट अपील सं० 587 में लिया गया है, जिसमें आधार सं० 2 में यह दलील दी गई है कि विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा इस आशय के उल्लेख का लोप हुआ था कि अध्यापक **कुशल और हाथ का काम** कर रहे हैं, जो पर्याप्त रूप से 'कर्मकार' के प्रवर्ग में आएगा।

9. 1979 के आरम्भिक पिटीशन सं० 3696 और 1980 के आरम्भिक पिटीशन सं० 697 में दिए गए सामान्य निर्णय में और **मुथय्यन** बनाम **मैनेजर, कडलूर एस्टेट**[2] वाले मामले में अपने पूर्वतन निर्णय में न्या० खालिद ने "मैनुअल वर्क" पद के इस शब्दकोषीय अर्थ का अवलम्ब लिया है कि उससे हाथ द्वारा किया गया काम अभिप्रेत है और यह निष्कर्ष निकालने के पश्चात् कि अध्यापक का काम उस अर्थ में मुख्यतः हाथ का काम नहीं है, उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया है कि "अध्यापक" औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित कर्मकार नहीं है। अपीलार्थियों के काउन्सेल ने इन निष्कर्षों को कायम न रखे जाने योग्य कह कर चुनौती दी है और यह निवेदन किया है कि

---

[1] 1982 के० एल० टी० 327.

[2] 1981 के० एल० टी० 660.

उस संदर्भ में, जिसमें "हाथ का काम" औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में प्रयुक्त किया गया है, उसे व्यापक और उदार अर्थ दिया जाना चाहिए, जिससे उसके अन्तर्गत शारीरिक श्रम को अन्तर्वलित करने वाला सभी प्रकार का काम आ सके। यह निवेदन भी किया गया है कि अध्यापन का काम बौद्धिक श्रम की तुलना में शारीरिक श्रम के गुरुतर या मुख्य तत्व को अन्तर्वलित करने के अर्थ में हाथ का काम है।

10. "मैनुअल" शब्द के विभिन्न शब्दकोषीय अर्थ हैं:—निस्संदेह, उनमें से एक अर्थ है "हाथ द्वारा कृत, या किया गया या प्रयुक्त", जो न्या० खालिद द्वारा **सुथय्यन बनाम मैनेजर, कडलूर एस्टेट**[1] वाले मामले में अपने निर्णय में अपनाया गया है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इस पद को विभिन्न रूपों में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उससे "हाथ से संबंधित या किया गया", "अब विशेष रूप से (शारीरिक) श्रम का" अभिप्रेत है। उक्त पद से संबंधित और स्ट्राउण्डकृत जुडीशियल डिक्शनरी (चतुर्थ सस्करण) में निर्दिष्ट न्यायिक विनिश्चयों में विभिन्न अर्थ अपनाए गए हैं, जैसे "ऐसा कार्य जिसमें बौद्धिक श्रम की अपेक्षा शारीरिक श्रम अधिक अन्तर्वलित है", "मांसपेशियों पर तनाव अन्तर्वलित करने वाला काम" और "ऐसा काम जिससे मनुष्य की मांस-पेशियों और स्नायुओं की परीक्षा होती है" आदि। जॉन बी० साण्डर्सकृत "वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज" "लीगली डिफाइंड" (द्वितीय संस्करण) में ऐसे विनिश्चयों की सूची दी गई है, जिनमें उन अर्थान्वयनों की अपेक्षा, घन या फावड़ा चलाने वाले या भारी वजन उठाने वाले अवयवों के स्नायुओं और मांस-पेशियों के प्रयोग के प्रति निर्देश किया गया है, "हाथ द्वारा किया गया श्रम"—यह सीमित अर्थान्वयन किया गया है। ब्लैककृत ला डिक्शनरी (चतुर्थ संस्करण) में "मैनुअल लेबर" को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उससे "हाथ से किया गया काम", "औजारों, मशीनरी या उपस्कर की सहायता से या उसके बिना, हाथ द्वारा या शारीरिक बल के प्रयोग द्वारा किया गया श्रम, जो अपनी प्रभावकारिता के लिए "कुशलता, बुद्धि या निपुणता" की अपेक्षा मुख्यतः वैयक्तिक मांस-पेशियों के श्रम पर अधिक निर्भर रहता है।" हम यह महसूस करते हैं कि हमें "मैनुअल वर्क" का सीमिततम शब्दकोषीय अर्थ नहीं अपनाना चाहिए, बल्कि ऐसा व्यापकतर अर्थ अपनाना चाहिए, जिसके अन्तर्गत शारीरिक बल को अन्तर्वलित करने वाला सभी प्रकार का कार्य आता है और जो बुद्धि के प्रयोग की अपेक्षा वैयक्तिक मांस-पेशीय श्रम पर अधिक निर्भर रहता है। उस संदर्भ में, जिसमें उक्त पद औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में प्रयुक्त किया गया है, प्रकटतः लिपिकीय, पर्यवेक्षी

[1] 1981 के० एल० टी० 660.

और तकनीकी उप-व्यवसायों से भेद दर्शित करने के लिए, हम यह अभिनिर्धारित करना उचित समझते हैं कि "मैनुअल वर्क" पद को व्यापकतर अर्थ दिया जाना चाहिए, अर्थात् शारीरिक श्रम का कोई भी रूप, जो मुख्यतः बौद्धिक, परिवर्तनात्मक, कल्पनात्मक या सृजनात्मक क्षमताओं को अन्तर्वलित करने वाले श्रम से भिन्न वैयक्तिक मांस-पेशीय (शारीरिक) श्रम पर अधिक निर्भर करता है। यदि सीमित अर्थ स्वीकार किया जाता है, तो चौकीदार, जो ऐसा कार्य करता है, जो यंत्रवत् और पुनरावर्ती है (बार-बार उसी प्रकार किया जाता है) तथा जो ऐसी प्रक्रिया है जिसमें केवल शारीरिक श्रम अन्तर्वलित है किन्तु जो पैदल चलकर (घूम फिर कर) करना होता है, या सिर पर बोझा उठाने वाला मजदूर, जो अपने हाथों की अपेक्षा अपने सिर और कंधों का अधिक प्रयोग करता है, हाथ का काम करने वाला नहीं माना जाएगा। पुनश्च, कोई कलाकार, जिसे चित्र बनाने के लिए सृजनात्मक और काल्पनिक शक्ति का प्रयोग करना होता है, फिर भी हाथ का काम करने वाला कर्मकार होगा क्योंकि वह अपने हाथ से कार्य करता है। इसी प्रकार शल्य चिकित्सक, जिसका काम हाथ का है और जिसमें काफी श्रम करना होता है, कर्मकार हो सकता है भले ही वह आपरेशन करने में अपनी बुद्धि, विशेषज्ञता और संचित कुशलता का प्रयोग कर रहा हो, जो पूर्णतः गैर-शारीरिक प्रकृति की होती है।

11. अधिकांश न्यायिक विनिश्चयों में भी उक्त पद के व्यापक अर्थ को प्रोत्साहन दिया गया है। उनमें इस प्रश्न को अवधारित करने के लिए कार्य के मुख्य स्वरूप की कसौटी भी लागू की गई है कि संबंधित व्यक्ति का काम हाथ का है या अन्यथा।

12. **मैकमेनस वाले मामले**[1] में न्या० रोशे ने यह अभिनिर्धारित किया कि बाजीगर और विदूषक शारीरिक श्रम करने वाला व्यक्ति नहीं है, यद्यपि उसके प्रदर्शन में काफी शारीरिक श्रम अन्तर्वलित होता है। उक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया :—

> "कसौटी यह है कि क्या हाथ से किया जाने वाला काम संबंधित काम का सार है या क्या कोई अन्य शक्ति या गुण उस काम का सारभूत तत्व है।"

नेशनल हैल्थ इंश्योरेंस ऐक्ट वाले मामले और **प्रोफेशनल प्लेयर्स आफ एसोसिएशन फुटबाल वाले मामले**[2] में उक्त विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित

[1] (1933) 148 एल० टी० 406.
[2] (1934) 2 के० बी० 265.

किया कि व्यावसायिक फुटबाल-खिलाड़ी शारीरिक श्रम नहीं करता है। इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया गया :—

> "यहां व्यावसायिक क्रिकेट-खिलाड़ी के समान ही व्यावसायिक फुटबाल-खिलाड़ी सारभूत रूप से ऐसा व्यक्ति है, जो खेल में अपना अर्जित या वंशगत कुशलता का प्रदर्शन करता है, जिसे निरन्तर अनुदेश, अध्ययन और अभ्यास द्वारा पुष्ट और विकसित किया जाता है।"

मैसेक वाल मामले, तिर्रेली वाले मामले[1] में, गार्डनर की अपील में न्या० ब्रानसन ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में मैनुअल और नान्-मैनुअल (शारीरिक और गैर-शारीरिक) श्रम के बीच अन्तर का अनुमोदन किया कि "क्या सम्बन्धित कार्य में हस्त-कौशल से भिन्न वैज्ञानिक जानकारी मुख्यतः उपयोग में लाई गई थी।" **जा उएस** बनाम **ओनर्स आफ स्टीम टग एलैक्जेण्ड्रिया**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि स्टीम टग का मास्टर (वाष्प कर्ण-नौका का प्रधान) जिसे आनुषंगिक रूप से शारीरिक श्रम अन्तर्वलित करने वाले अनेक कार्य भी करने होते हैं, शारीरिक श्रम (मैनुअल लेबर) करने वाला व्यक्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में लार्ड समर ने यह मत व्यक्त किया :—

> "दूसरी ओर, 'शारीरिक श्रम से भिन्न रूप में' सेवा (सर्विस) ऐसे व्यक्ति के मामले में ठीक बैठती है, जिसकी सेवा में, कभी शारीरिक श्रम के साथ और कभी उसके बिना, मानसिक गुणों का प्रयोग प्रधानतः अन्तर्वलित है।"

उक्त विनिश्चय में लार्ड परमूर ने यह मत व्यक्त किया :—

> "अपीलार्थी के काउन्सेल ने यह तर्क दिया कि दावेदार ऐसे सभी मामलों में प्रतिकर के लिए हकदार था, जिसमें नियोजन के अन्तर्गत ऐसा कार्य आता था, जो परिमाण में नगण्य नहीं था और ज़ो शारीरिक श्रम के रूप में था, तथा जो नियोजन का आवश्यक ही नहीं, बल्कि उसका अभिन्न भाग था। यदि यह अर्थान्वयन सही है, तो अपीलार्थी अपील में सफल रहेगा किन्तु मैं समझता हूं कि यह सही नहीं है और इसको अपनाने का अर्थ ऐसे अनेक नियोजनों को सम्मिलित करना होगा जो शारीरिक श्रम के रूप में नियोजन किसी प्रकार भी नहीं हैं।"

नेशनल इंश्योरेंस ऐक्ट वाले मामले, लिथोग्राफिक आर्टिस्ट्स वाले मामले और

---

[1] (1938) 1 आल ई० आर० 20.

[2] (1921) 2 ए० सी० 339.

एनग्रेवर्स वाले मामले[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जिस प्रकार चित्रकार मूल चित्र बनाता है या शिलामुद्रक (लिथोग्राफर), जो विशेष रूप से तैयार की गई सतहों पर डिजाइन बनाता है या उत्कीर्णक, जो हाफटोन (बिन्दु चित्र) प्लेटों को ठीक करता है और उनमें सुधार करता है, मस्तिष्क और बुद्धि के श्रम में नियोजित है, न कि शारीरिक श्रम में। इस सम्बन्ध में न्या० वारिंगटन ने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "अतः, प्रस्तुत मामले में, कर्मचारी (शिलामुद्रक) को एक विशिष्ट सतह पर विशिष्ट रीति में कार्य करना होता है, जिसका अन्ततः चित्र के निर्माण में प्रयोग किया जाना होता है। ऐसा करते समय, वह अनिवार्यतः अपने हाथों का प्रयोग करता है किन्तु वह प्रयोग, जिसमें वह अपने हाथों को लगाता है, श्रम नहीं है, क्योंकि उसमें उसके हाथ या उसकी भुजा की मांसपेशियों का सश्रम प्रयोग अन्तर्वलित नहीं है। वास्तविक श्रम, जो अन्तर्वलित है, मस्तिष्क और बुद्धि का श्रम है। शिला-मुद्रक कलाकार भी उसी प्रकार शारीरिक श्रम में रत नहीं कहा जा सकता है, जिस प्रकार शाही (राजकीय) कलाकार जो कोई चित्र या प्राकृतिक दृश्य चित्रित करता है, शारीरिक श्रम में रत नहीं कहा जा सकता है।"

और

> "उत्कीर्णक का मामला हाफटोन प्लेटों को ठीक करने और उनका सुधार करने में रत व्यक्तियों का मामला है। उक्त मामला तो और भी अधिक स्पष्ट है। उसमें कर्मचारी को केवल मुद्रक का औजार और अनुमोदन के रूप में प्रस्तुत, या किसी चित्र या किसी अन्य वस्तु के उत्कीर्णन द्वारा पुनः प्रस्तुतीकरण के लिए अन्तिम रूप से प्रस्तुत प्लेट में कुछ शुद्धियां ही करनी होती हैं। मैं समझता हूं कि इस मामले में भी उत्कीर्णक शारीरिक श्रम नहीं करता है।"

इस विनिश्चय के प्रति निर्देश करते हुए लार्ड मोरिस आफ बार्थ-वाई-गैस्ट ने **जे० एण्ड एफ० स्टोन लाईटिंग एण्ड रेडियो** बनाम **हेगार्थ**[2] वाले मामले में बहुमत द्वारा पुष्ट अपनी राय में यह मत व्यक्त किया :—

> "उक्त मामला ऐसे मामलों के उदाहरण को उपदर्शित करने में सहायक है, जिसमें वास्तविक अर्थ में यह माना जाएगा कि शारीरिक

---

[1] (1913) 108 एल० टी० 894.

[2] (1966) 3 ग्राल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 539.

श्रम सर्जनात्मक शक्ति जैसी किसी प्रबलतर चीज के लिए आनुषंगिक मात्र है। रचियता या लेखक का सर्जनशील मन अपने हाथ के कार्यकलाप को उपयोग में ला सकता है, जो उसके मस्तिष्क या उसकी कल्पना या उसकी बुद्धि के श्रम के लिए सहायक मात्र है।"

उपर्युक्त मामले में लार्ड अपजान ने अपने सहमति-निर्णय में नेशनल इंश्योरेंस **ऐक्ट वाले मामले**[1] में दिए गए विनिश्चय का अनुमोदन किया और यह अभिनिर्धारित किया :—

"सभी मामलों में यह मत स्वीकार किया गया है कि प्रायः प्रत्येक कार्यकलाप में शारीरिक श्रम अन्तर्वलित रहता है और इसलिए कलात्मक कुशलता और बुद्धि के प्रयोग का प्रश्न शक्तिशाली तत्त्व है। उदाहरणार्थ, मैं समझता हूं कि कोई भी व्यक्ति शल्यचिकित्सक द्वारा अपने रोगी के आपरेशन के समय किए जाने वाले शारीरिक श्रम से अधिक श्रम का प्रयोग नहीं करता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति सम्भवतः यह सुझाव नहीं देगा कि वह शारीरिक श्रम में रत था। शल्यचिकित्सक मन और बुद्धि की उच्चतम सम्भव कुशलता के कार्य का सम्पादन करता है, जिसमें वह अत्यधिक हस्त कौशल का प्रयोग भी करता है।"

13. **बर्मा शैल कं० बनाम बर्मा शैल मैनेजमेंट स्टाफ एसोसिएशन**[2] वाले मामले में न्यायालय ने, इस प्रश्न पर विचार करते समय कि कर्मचारी कर्मकार था या नहीं, यह मत व्यक्त किया :—

"तकनीकी कार्य और शारीरिक कार्य के बीच स्पष्ट अन्तर है। इसी प्रकार, ऐसे नियोजनों, जो सारभूत रूप से शारीरिक कर्तव्यों के लिए होते हैं, और उन नियोजनों के बीच अन्तर है, जिनमें मुख्य कर्तव्य पर्यवेक्षी या अन्य प्रकार के होते हैं, यद्यपि आनुषंगिक रूप से उनमें कुछ शारीरिक कार्य अन्तर्वलित रहता है। यद्यपि भारत में प्रचलित विधि इंग्लैण्ड में प्रचलित विधि से भिन्न है, फिर भी न्या० ब्रानसन द्वारा मैसेक वाले मामले, तिर्रेली वाले मामले में गार्डनर की अपील [(1938) 1 आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 20] में व्यक्त किए गए मत से सहायता मिलती है क्योंकि वहां भी काम की प्रकृति पर यह देखने के लिए विचार किया जाना था कि क्या वह शारीरिक कार्य था। शारीरिक श्रम से भिन्न कर्तव्यों के उदाहरणों के रूप में, यद्यपि उनमें आनुषंगिक रूप से शारीरिक कार्य अन्तर्वलित होता है, उन्होंने ऐसे मामलों का उल्लेख किया, जिनमें कर्मकार

---

[1] (1913) 108 एल० टी० 894.

[2] 1970 (2) एल० एल० जे० 590.

(क) मुख्यतः लिपिकीय या लेखा कार्य में लगा हुआ है, या (ख) मुख्यतः दूसरों के कार्य का पर्यवेक्षण करने में लगा हुआ है, या (ग) मुख्यतः किसी कारबार या विभाग का प्रबन्ध करने में लगा हुआ है, या मुख्यतः विक्रेता के कार्य में लगा हुआ है, या (ङ) यदि उसके कार्य का सफल निष्पादन मुख्यतः कल्पना की अभिरुचि के प्रदर्शन या किसी विशेष मानसिक या कलात्मक क्षमता या वैज्ञानिक जानकारी पर निर्भर करता है, जो हस्त कौशल से भिन्न है। दोनों प्रकार के मामलों के बीच अन्तर का उनके द्वारा दिया गया एक अन्य सहायक उदाहरण इस प्रकार है—

"यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को इसलिए नियोजित पाता है कि उसमें कलात्मक क्षमताएं हैं जो उसे स्वयं उसकी ही सृष्टि के रूप में वांछित किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए समर्थ बनाएंगी, तो स्पष्टतः, यद्यपि उसमें काफी शारीरिक श्रम अन्तर्वलित है, वह इस दृष्टि से नियोजित किया गया है कि नियोजक उसकी सर्जनात्मक क्षमता का फायदा उठा सके।"

विनय नाथ नारायण सिन्हा बनाम **बिहार जर्नल्स लि०**[1] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी समाचार-पत्र का सहायक सम्पादक कर्मकार नहीं है क्योंकि वह शारीरिक या लिपिकीय कार्य नहीं करता है। इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया गया :—

"ज्येष्ठ सहायक सम्पादक के रूप में पिटीशनर सं० 1 को सौंपे गए कर्तव्य लिपिकीय नहीं है। अपना सम्पादकीय कार्य करने के लिए पिटीशनर सं० 1 को पहल करने और स्वतन्त्रता के गुण प्रदर्शित करने होते हैं और मैं समझता हूं कि अत्यधिक खींचातानी से ही यह तर्क दिया जा सकता है कि पिटीशनर सं० 1 के कर्तव्य यन्त्रवत् या नेमी वर्णन के हैं। मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि पिटीशनर सं० 1 व्यापार विवाद अधिनियम (ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट) के अर्थान्तर्गत 'कर्मकार' नहीं है।"

नैलीमार्ला जूट मिल्स कं० लि० बनाम **स्टाफ यूनियन, नैलीमार्ला जूट मिल्स**[2] वाले मामले में भारत के श्रम अपील अधिकरण को इस प्रश्न पर विचार करना था कि क्या जूट मिल द्वारा नियोजित निगरानी का काम करने वाले कर्मचारिवृन्द और अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) के अधीन कर्मकार हैं। अध्यापकों के मामले पर विचार करते समय, यह मत व्यक्त किया गया :—

---

[1] 1955 (2) एल० एल० जे० 633.

[2] 1955 (1) एल० एल० जे० 167.

"अध्यापकों की ओर से यह तर्क दिया गया कि उन्हें अपने हाथों का प्रयोग करना होता है और लिपिकीय कार्य करना होता है क्योंकि उन्हें श्यामपट (ब्लैकबोर्डों) पर लिखना होता है, अभ्यास-पुस्तिकाओं में शुद्धियां करनी होती हैं, उपस्थिति रजिस्टर भरने होते हैं, छात्र-रजिस्टर रखने होते हैं और प्राथमिक शिक्षा देनी होती है। दोनों विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों की परीक्षा की गई। उन्होंने यह स्वीकार किया कि अध्यापकों के कार्य का मुख्य भाग शिष्यों के अध्यापन में निहित था और उनके समय का शेष भाग शिक्षा प्रचार करने, विद्यालयों के रजिस्टर और अभिलेख रखने तथा नियतकालिक विवरणियां प्रस्तुत करने में व्यतीत होता है। हमारे मन में इस सम्बन्ध में कोई शंका नहीं है कि अध्यापकों का कार्य न तो लिपिकीय है और न शारीरिक ही। उनका मुख्य कर्तव्य अपने शिष्यों को पढ़ाना है और वह पूर्णतः मस्तिष्क का कार्य है। ऐसी स्थिति में, अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में यथा परिभाषित 'कर्मकार' नहीं हैं।"

लक्ष्मी देवी शुगर मिल्स लि० बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ को इस प्रश्न पर विचार करना था कि क्या चीनी मिल द्वारा नियोजित डाक्टर और कम्पाउण्डर औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) में यथा परिभाषित कर्मकार हैं। न्या० दयालु द्वारा न्यायपीठ की ओर से दिए गए निर्णय में यह मत व्यक्त किया गया है :—

"अतः हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या यू० पी० औद्योगिक झगड़ों के ऐक्ट के प्रयोजन के लिए डाक्टर और कम्पाउण्डर कर्मकार कहे जा सकते हैं। हमारी यह राय है कि वे ऐसे कर्मचारी नहीं कहे जा सकते हैं, जो हाथ का या लिपिकीय काम करते हैं। वे कर्मकार केवल उसी स्थिति में कहे जा सकते हैं यदि उनका मुख्य काम हाथ का या लिपिकीय हों, केवल इस कारण नहीं कि ऐसा काम उनके मुख्य कर्तव्यों को कार्यान्वित करने के लिए आनुषंगिक है। डाक्टर का मुख्य काम न केवल प्रैसक्रिप्शन (दवाएं) लिखना है या रोगी की नब्ज देखना है। उसका मुख्य काम रोगी की जांच करना, उसकी शिकायतों को सुनना, अपने अनुभव और जानकारी के आधार पर उसके रोग का पता लगाना और उसके पश्चात् ऐसी दवा लिखना है जिसे वह रोगी के लिए उत्तम समझता है। इसी प्रकार कम्पाउण्डर का काम न केवल दवाएं निकालना, यथाविहित रूप में समुचित अनुपात में उनका मिश्रण बनाना

[1] 1955 (2) एल० एल० जे० 1.

और लिखी गई दवाओं को बांटना है। उसका भी मुख्य काम दवाओं की जानकारी, उनकी नापतोल रखने की क्षमता के प्रयोग और उन्हें समुचित रूप से बांटने और उन दवाओं के समुचित रूप से बांटने में सामान्य सतर्कता का प्रयोग करने की जानकारी की अपेक्षा करता है। अतः हम नहीं समझते कि मैडिकल स्टाफ के ये दो व्यक्ति, अर्थात् डाक्टर और कम्पाउण्डर 'कर्मकार' पद की परिभाषा की अध्यपेक्षाओं को पूरा करते हैं।"

इस प्रश्न पर विचार करते समय कि क्या मुख्य कलाकार द्वारा दृष्टिगत भाव या चित्र के अनुसार चित्र तैयार करने के लिए किसी विज्ञापन समुत्थान द्वारा नियोजित सहायक कलाकार औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन कर्मकार होगा, भारत के श्रम अपील अधिकरण (लेबर अपीलेट ट्रिब्युनल आफ इण्डिया) ने **एडवर्टाईजिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया बनाम बरेन्द्र चन्द्र नाग**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया :—

"प्रस्तुत मामले में सहायक कलाकारों को सम्बन्धित विचार (भाव) मुख्य कलाकार से मिला और उन्हें अपने रेखांकनों में उस विचार को अभिव्यक्त करना था। मात्र इस तथ्य से कि मूल विचार उपान्तरित नहीं किया जा सकता था, इन सहायक कलाकारों का काम लिपिकीय नहीं हो जाता है। उनके लिए मूल विचार की सीमाओं के अन्दर रहते हुए, अपनी सृजनात्मक प्रतिभा, प्रत्यक्षीकरण और मौलिकता दर्शित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश रह जाती है।"

उक्त मामले में यह मत भी व्यक्त किया गया :—

"उप-सम्पादक उसी रीति में समाचारपत्र की नीति के अन्तर्गत रहेगा जिसमें सहायक कलाकार मुख्य कलाकारों द्वारा दृष्टिगत मूल विचार के अन्तर्गत स्वयं को सीमित रखते हैं। उपर्युक्त दोनों में से किसी भी मामले में दिए गए निदेश इससे परे नहीं जाते हैं। सहायक कलाकार, चित्र में अपना प्रत्यक्षीकरण, सृजनात्मक प्रतिभा और मौलिकता प्रदर्शित करते हुए, उसी प्रकार इन सीमाओं के अन्दर चित्र तैयार करने के लिए स्वतन्त्र है, जिस प्रकार उप-सम्पादक सम्बन्धित समाचारपत्र की नीति सम्बन्धी सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए सम्पादकीय टिप्पण लिखेगा, जो समाचारपत्र के सभी कर्मचारियों के लिए साधारण निदेश को प्रकृति के रूप में था। हमने उक्त प्रश्न पर बहुत सावधानीपूर्वक विचार किया

---
1 1955 (2) एल० एल० जे० 448.

है और हम अधिकरण के इस निर्णय से सहमत होने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं कि प्रत्यर्थी, जो एडवर्टाईजिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया लि० में सहायक कलाकार थे, कर्मकार थे ।"

बी० आई० सी० लि० (न्यू एगर्टन वूलन मिल्स ब्रांच) बनाम राम बहादुर जमादार[1] में भारत के श्रम अपील अधिकरण ने पुनः हाथ के काम के प्रश्न पर विचार करते समय यह मत व्यक्त किया :—

"इस परिभाषा में हाथ का काम (मैनुअल वर्क) अनिवार्यतः हाथ के प्रयोग द्वारा किये जाने वाले काम तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसके अन्तर्गत मानसिक या बौद्धिक श्रम से भिन्न शारीरिक श्रम अन्तर्वलित करने वाला सभी प्रकार का कार्य आता है । अन्यथा ऐसा संक्रियाकार, जो केवल अपने पैरों से काम करता है और जो निस्संदेह कर्मकार है, इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएगा । यहां 'मैनुअल वर्क' (हाथ का काम) स्पष्टतः व्यापकतर अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जिससे शारीरिक श्रम अन्तर्वलित करने वाला सभी प्रकार का काम अभिप्रेत है ।"

उक्त मामले में यह मत भी व्यक्त किया गया :—

"यहां परिवादी के कर्तव्य अनिवार्यतः प्रकृति में हाथ के (शारीरिक) काम इस अर्थ में हैं कि उनमें शारीरिक प्रयास पर्याप्त मात्रा में अन्तर्वलित है और तदनुसार हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वह औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(क) के अर्थान्तर्गत कर्मकार है ।"

मार्शल ब्रेगंजा बनाम स्मैन्त[2] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि फिल्म कैमरामैन कर्मकार नहीं है क्योंकि कैमरामैन के काम की प्रकृति से यह उपदर्शित होता है कि वास्तविकता की सफल सृष्टि के लिए वह अपनी कल्पना के संप्रदर्शन और कलात्मक क्षमता के प्रयोग तथा तकनीकी जानकारी के प्रयोग पर निर्भर करता है, जो हस्तकौशल से भिन्न हैं ।

ऐसे चार्टरित लेखापाल (एकाउण्टेण्ट) के मामले पर विचार करते समय, जिसे नियोजक समुत्थान की दिल्ली शाखा के, मिलान कथनों (विवरणों) के संकलन, बजट-कथनों (विवरणों) आदि के तैयार करने का काम सौंपा गया था, दिल्ली उच्च न्यायालय के न्या० (तत्समय) प्रकाश नारायण ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर्मचारी कर्मकार नहीं था, क्योंकि उसके कर्तव्य न तो लिपिकीय थे

---

[1] 1957 (1) एल० एल० जे० 422.

[2] 1975 (2) एल० एल० जे० 189.

और न वे हाथ के कुशल काम के रूप में ही थे। इस संदर्भ में यह मत व्यक्त किया गया :—

"केवल इस कारण से कि गोयल विभिन्न लेखा-बहियों में कुछ प्रविष्टियां किया करता था, उसका नियोजन लिपिकीय प्रकृति के नियोजन में संपरिवर्तित नहीं हो जाएगा······इस संबंध में केवल यही देखा जाना है कि क्या उसके द्वारा यथाप्रदत्त उसके कर्तव्यों की प्रकृति कुशल या अकुशल हाथ के काम की थी या पर्यवेक्षी काम की थी या तकनीकी अथवा लिपिकीय काम की थी। यदि प्राथमिक रूप से यह इस प्रकार की नहीं थी, तो गोयल कर्मकार नहीं हो सकता है। वह कुछ और हो सकता है, किन्तु धारा 2(ध) के अर्थान्तर्गत कर्मकार तो निश्चित रूप से नहीं। गोयल के मुख्य कर्तव्य गैर-लिपिकीय और इस प्रकार के प्रतीत होते थे जो मानसिक क्षमता के प्रयोग और पहल की अपेक्षा करते हैं। यह कुशल श्रम या कुशल हाथ के काम से भिन्न है······मिलान कथनों का संकलन, बजट कथनों का तैयार किया जाना कुशल या अकुशल हाथ का या लिपिकीय काम नहीं कहा जा सकता है। वह तकनीकी लिपिकीय काम भी नहीं हो सकता है। वह सृजनशीलता, कल्पना और मानसिक क्षमता के प्रयोग की अपेक्षा करता है, जो कुशल या अकुशल हाथ के काम, सर्वेक्षण कार्य और तकनीकी या लिपिकीय कार्य से भिन्न है।"

क्राउन टाकीज, मद्रास बनाम **एम० पी० सेतुराजन्**[1] वाले मामले में न्या० रामानुजम् को हाथ के काम के प्रति निर्देश से औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(ध) के अधीन इसी प्रश्न पर विचार करना पड़ा था। उक्त मामले में उन्होंने यह मत व्यक्त किया :—

"पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने आक्सफोर्ड डिक्शनरी में दी गई, 'मैनुअल' शब्द की परिभाषा के प्रति निर्देश किया है, जिसमें यह कहा गया है कि 'मैनुअल' शब्द से हाथ से किया गया अभिप्रेत है और यह कहा गया है कि चौकीदार के काम में हाथों का प्रयोग अन्तर्वलित नहीं है और इसलिए उसका काम मैनुअल वर्ग (हाथ का काम) नहीं माना जा सकता है। यह सच है कि सामान्यतः और प्रायिकतः 'मैनुअल' शब्द से 'हाथ से संबंधित'; हाथ द्वारा किया गया या बनाया गया, का बोध होता है। तथापि, मैं इस मामले में, उक्त शब्दकोष में

[1] 1975 (48) एफ० जे० आर० 344.

कर्मकार नहीं हैं। **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में बाद में व्यक्त किए गए इस मत को देखते हुए इन दोनों में से कोई भी प्रतिपादना सही प्रतीत नहीं होती है :—

> "प्रथम आधार, जिसका न्यायालय द्वारा अवलम्ब लिया गया है, इस प्रारम्भिक निष्कर्ष पर आधारित है कि अध्यापक परिभाषा द्वारा कर्मकार नहीं हैं। कदाचित् अध्यापक कर्मकार नहीं हैं, क्योंकि वे शारीरिक काम या तकनीकी काम नहीं करते हैं। हम इस संबंध में पूर्णतः निश्चित नहीं हैं कि हाथ के काम की, अवमान सहित उपेक्षा करना और उसे शिक्षा से पृथक करना उचित है या नहीं और न हम इस संबंध में भी पूर्णतः निश्चित नहीं हैं कि क्या हमारे प्रौद्योगिकी विश्व में शिक्षा को अपवर्जित किया जाना है। किन्तु यह ऐसी लड़ाई है जो मुकदमेबाजी द्वारा पश्चात्वर्ती अवसर पर लड़ी जा सकती है और इस समय इस संबंध में निर्णय देने का हमारा कोई इरादा नहीं है। न्यायालय ने दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले में इसी धारणा के आधार पर कार्यवाही की थी कि अध्यापक कर्मकार नहीं हैं, जिसे हम उक्त तर्क की विधिमान्यता को परखने के लिए अपनाएंगे।"

इससे यह उपदर्शित होता है कि **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[2] में व्यक्त किए गए इस मत के होते हुए भी, कि यदि 'उद्योग' और 'कर्मकार' पदों का शाब्दिक अर्थान्वयन स्वीकार किया जाता है, तो शिक्षा उद्योग होगी और अध्यापक कर्मकार होंगे, बृहत्तर न्यायपीठ ने नवीनतम विनिश्चय में इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ दिया है कि क्या अध्यापक कर्मकार हैं। **नागपुर नगर निगम बनाम उसके कर्मकार**[3] वाले मामले में पूर्वतम निर्णय को बहाल रखते हुए, **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में किए गए नवीनतम विनिश्चय में **नागपुर नगर निगम बनाम उसके कर्मकार**[3] वाले मामले में, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि शिक्षा में नियोजित सभी व्यक्ति अधिनियम के फायदों के लिए हकदार हैं, और दूसरे, **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[2] में, जिसमें इस धारणा पर जोर दिया गया है कि शाब्दिक अर्थान्वयन के आधार पर अध्यापक कर्मकार होंगे किन्तु वे वस्तुतः कर्मकार नहीं हैं, किए गए पूर्वतर दोनों विनिश्चयों में अन्तर्विष्ट साधारण मताभिव्यक्तियों को प्रतिधारित न करने का ध्यान रखा गया है। कानूनी परिभाषा की अध्यपेक्षाओं के प्रति निर्देश से इस प्रश्न पर विचार किया जाना,

---

1 [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

2 ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

3 ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 675.

जैसा कि उसे ऊपर समझा गया है, बाध्यकर नहीं है, जैसा कि न्या० खालिद ने ठीक ही निष्कर्ष निकाला है।

19. अपीलार्थियों के काउन्सेल ने हमारा ध्यान दो विनिश्चयों के प्रति आकर्षित किया, जिनमें यह दावा किया गया था कि अध्यापक कर्मकार माने गए हैं : उनमें से एक **एम० डी० सिगमणि** बनाम **श्रम न्यायालय**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा किया गया विनिश्चय है, और दूसरा **कोकिल** बनाम **जी० एम० एस० सी० रेलवे**[2] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा किया गया विनिश्चय है। दूसरी ओर, 1982 की रिट अपील सं० 410 में प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल, श्री के० ए० नागर ने **विष्णु शुगर मिल्स** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया।

20. उपर्युक्त दोनों मामलों में से, जिनके प्रति अपीलार्थियों के काउन्सेल द्वारा निर्देश किया गया है, किसी भी मामले में इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई है कि क्या अध्यापकों द्वारा किए जाने वाले काम की प्रकृति शारीरिक (हाथ की), लिपिकीय, तकनीकी या पर्यवेक्षी होने के आधार पर, अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। पूर्ववर्ती मामले में यह तर्क दिया गया कि शिक्षा उद्योग है, अतः उसमें नियोजित व्यक्ति कर्मकार हैं। उसमें विचारार्थ जो प्रश्न उद्भूत हुआ था वह यह था कि क्या कारखाने से संलग्न विद्यालय में कारखाने के प्रबन्धक द्वारा सहायक अध्यापिका के रूप में नियोजित व्यक्ति, जिसमें केवल कारखाने के कर्मचारियों के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता था, औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 33-ग के अधीन कार्यवाही संस्थित करने के लिए हकदार कर्मकार है, जो कारखाने के कर्मचारी के सभी फायदों का उपभोग कर रही थी और जिसे कभी-कभी महिला कर्मकारों की जांच-पड़ताल करने के लिए कारखाने के द्वार पर नियोजित किया जाता था। नियोजक की ओर से यह दलील दी गई कि विद्यालय उद्योग नहीं है, और यदि यह मान भी लिया जाता है कि विद्यालय उद्योग है, फिर भी वह औद्योगिक स्थापन का भाग नहीं है बल्कि उसका प्रबन्ध एक समिति द्वारा पृथक् रूप से किया जाता है और उसे तमिलनाडु मान्यताप्राप्त निजी विद्यालय अधिनियम (तमिलनाडु रिकग्नाइज्ड प्राइवेट स्कूल्स ऐक्ट), 1973 लागू होता था; अतः कर्मचारी किसी भी स्थिति में कारखाने का कर्मकार नहीं था। यद्यपि निर्णय में औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) में कर्मकार की परिभाषा

---

[1] 1980 (56) एफ० जे० आर० 483.

[2] 1972 (74) बाम्बे ला रिपोर्ट्स 124.

[3] 1966-I एल० एल० जे० 777.

उद्धृत की गई थी, किन्तु परिभाषा के प्रति निर्देश से इस सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं की गई है कि क्या अध्यापक उसकी अध्यपेक्षाओं को पूरा करता है। यह मान लिया गया प्रतीत होता है कि जब एक बार यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि, यदि कोई व्यक्ति उद्योग में नियोजित है, वह कर्मकार है। श्रम न्यायालय ने, जिसने औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 33-ग के अधीन पिटीशनर के आवेदन को खारिज कर दिया था, यह निष्कर्ष निकालने में **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[1] का अवलम्ब लिया था कि शिक्षा उद्योग नहीं है, अतः उसमें नियोजित अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन कर्मकार नहीं हो सकता है। न्या० वरदराजन् ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्वयं उच्चतम न्यायालय ने तारीख 30 मार्च, 1978 को श्रम न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय से पूर्व ही, तारीख 21 फरवरी, 1978 को **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[2] में **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[1] में किए गए निर्णय को उलट दिया था। मामले के इस स्वीकृत तथ्य को देखते हुए कि कर्मचारी को प्रत्यर्थी-प्रबन्धतंत्र द्वारा नियुक्त किया गया था और वह कारखाने का कर्मचारी बना रहा तथा वह कभी-कभी कारखाने के कर्मकार के रूप में काम करता हुआ भी पाया गया, यह अभिनिर्धारित किया गया कि पिटीशनर औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 33-ग के अधीन श्रम न्यायालय का अवलम्ब लेने के लिए हकदार कर्मकार था। चूंकि शिक्षा को उद्योग माने जाने का निष्कर्ष निकाला गया था और यह भी कि विद्यालय कर्मचारियों के बच्चों के फायदे के लिए चलाया जाता था, **जे० के० काटन स्पीनिंग एण्ड वीविंग मिल्स कं० लि० बनाम ट्रिब्युनल आफ इण्डिया**[3] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के आधार पर यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि उसमें नियोजित अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 33-ग के अधीन कार्यवाहियां चालू रखने के लिए हकदार कर्मकार है। अतः इस विनिश्चय से इस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए कोई सहायता नहीं मिलती है कि क्या अध्यापक कुशल या अकुशल हाथ का काम करने के लिए किसी उद्योग में नियोजित व्यक्ति के अर्थ में औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) में यथा-परिभाषित कर्मकार है। अतः हम न्या० खालिद के इस मत से सहमत हैं कि इस विनिश्चय से इस प्रश्न का कोई अवधारण नहीं होता है कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) के अधीन कर्मकार है।

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

[2] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

[3] (1964) 25 एफ० जे० आर० 93=ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 737.

21. मुम्बई वाले मामले में विचारार्थ जो प्रश्न उद्भूत हुआ था वह यह था कि क्या रेल प्रशासन द्वारा नियोजित अध्यापक, जो सुसंगत रेल नियमों के अधीन "औद्योगिक कर्मचारी" और "रेल सेवक" की परिभाषा की अध्यपेक्षाओं को पूरा करता था, रेल सेवकों की ट्रेड यूनियन (व्यवसाय संघ) का पदधारी होने के लिए हकदार था। उक्त प्रश्न पर इस पहलू से भी विचार किया गया कि क्या रेल विद्यालय में अध्यापक का काम मुख्य औद्योगिक क्रियाकलाप की आनुषंगिक संक्रिया या क्रियाकलाप कहा जा सकता है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह, भले ही यह मान लिया जाए कि अध्यापक द्वारा किए जाने वाले काम की प्रकृति किसी भी अर्थ में औद्योगिक क्रियाकलाप के रूप में वर्णित नहीं की जा सकती है, इस प्रकार की संक्रिया या क्रियाकलाप था। इस प्रयोजन के लिए **जे० के० काटन स्पीनिंग एण्ड वीविंग मिल्स कं० बनाम भारत का श्रम अपील अधिकरण**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया, जिसमें मिल के अधिकारियों के बंगलों में बाग-बगीचों की देखभाल करने के लिए मिल द्वारा नियोजित माली (बागवान) कर्मकार माना गया। इस प्रकार अभिनिर्धारित करने के पश्चात् यह निष्कर्ष भी निकाला गया कि भारतीय रेल स्थापन निर्देशिका (इण्डियन रेलवे एस्टैब्लिशमेंट मैनुअल) के नियम 3610 के अनुसार, उसमें पिटीशनर रेल कर्मचारियों की यूनियन का पदधारी होने के लिए हकदार था। उस मामले में भी इस प्रश्न पर विचार नहीं किया गया कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) में अन्तर्विष्ट परिभाषा के अनुसार कर्मकार था। अतः हम न्या० खालिद और न्या० भार द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमति व्यक्त करते हुए, यह अभिनिर्धारित करते हैं कि इस विनिश्चय से इस प्रश्न का विनिश्चय करने में कोई सहायता नहीं मिलती है कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) के अधीन कर्मकार है।

22. और न **विष्णु शुगर मिल्स बनाम बिहार राज्य**[2] वाले मामले में किए गए विनिश्चय से ही, जो प्रत्यर्थियों के काउन्सेल द्वारा प्रोद्धृत किया गया है, इस सम्बन्ध में कोई सहायता मिलती है। निस्संदेह वह प्रश्न, जिस पर विचार किया गया था, इस प्रश्न जैसा ही था, जो यहां उद्भूत हुआ है। पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[3] में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के आधार पर ऐसा व्यक्ति कर्मकार नहीं था।

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 737.

[2] 1966-I एल० एल० जे० 777.

[3] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

वर्णित 'मैनुअल' शब्द की परिभाषा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूं क्योंकि मेरे मतानुसार, धारा 2(घ) में 'कर्मकार' की परिभाषा में वर्णित 'मैनुअल वर्क' (हाथ का काम) पद काफी व्यापक है, जिससे कि उसके अन्तर्गत सभी प्रकार का मैनुअल या शारीरिक श्रम आता है और उसे हाथ द्वारा किए गए काम तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। इस बात के बारे में विवाद नहीं उठाया जा सकता है कि चौकीदार के काम में शारीरिक श्रम अन्तर्वलित है क्योंकि उसे थियेटर और उसकी सम्पत्तियों की अपने स्थान पर खड़े हुए या बैठे हुए देखभाल करनी होती है और इस प्रकार यह स्वाभाविक ही है कि ऐसा कार्य इस प्रकार की सभी शारीरिक क्षमताओं (फैकल्टी) के प्रयोग की अपेक्षा करता है, जिनके अन्तर्गत आंखें, कान, पैर और हाथ आदि भी आते हैं। मेरे अनुसार, 'कर्मकार' की परिभाषा में वर्णित 'मैनुअल वर्क' (हाथ का काम) पद मानसिक या बौद्धिक कार्य के विरोध में प्रयुक्त किया गया है, जिससे कि शारीरिक श्रम द्वारा किए गए काम और ऐसे अन्य काम के बीच अन्तर दर्शित किया जा सके, जो पर्यवेक्षी तकनीकी या लिपिकीय प्रकृति का है। यदि पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की दलील स्वीकार कर ली जाती है, तो केवल ऐसे व्यक्ति ही 'मैनुअल वर्कर्स' की परिभाषा के अन्तर्गत आएंगे जो हाथ से कार्य करते हैं, और व्यक्तियों का एक बड़ा वर्ग इस परिभाषा की परिधि से बाहर रह जाएगा। औद्योगिक विवाद अधिनियम के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, धारा 2(घ) में 'कर्मकार' पद की परिभाषा का ऐसी संकुचित और सीमित रीति में अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है। हम इस विषय में और अधिक नजीरें देना आवश्यक नहीं समझते हैं।"

14. इन विनिश्चित मामलों से जो सिद्धान्त उद्भूत होते हैं वे पूर्णतः असंदिग्ध हैं और वे इस प्रकार हैं—(क) धारा 2(घ) में प्रयुक्त 'शारीरिक काम' (मैनुअल वर्क) को केवल हाथ द्वारा किए काम तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है; उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शारीरिक श्रम के कार्य आते हैं, जो यंत्रवत् और पुनरावर्ती होते हैं और जो अपनी प्रभावकारिता के लिए मुख्यतः शारीरिक श्रम पर निर्भर करते हैं, और (ख) किसी काम की प्रकृति निर्धारित करते समय, शारीरिक काम, जो अन्य प्रकार के अर्थात् ऐसे कार्यों का आनुषंगिक या सहायक है, जो बौद्धिक, कल्पनात्मक, सृजनात्मक क्षमताओं की अपेक्षा करते हैं, अवधारक नहीं होगा। इस प्रश्न को अवधारित करने के लिए कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) के अधीन कर्मकार है, उसके (अध्यापक के) काम को इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में देखा जाना है।

15. इस प्रश्न पर कि क्या शिक्षा में नियोजित व्यक्ति औद्योगिक कर्मचारी होगा, उच्चतम न्यायालय द्वारा सर्वप्रथम **नागपुर नगर निगम** बनाम **उसके कर्मकार**[1] वाले मामले में किए गए अपने विनिश्चय में विचार किया गया था। इस प्रश्न के प्रति निर्देश से कि क्या नागपुर नगर निगम के विभिन्न विभाग उद्योग थे, यह अभिनिर्धारित किया गया कि सेवा प्रदान करने के अर्थ में शिक्षा सैण्ट्रल प्रोविंसेज एण्ड बरार इण्डस्ट्रीयल डिस्प्यूट्स सैटलमेंट ऐक्ट की धारा 2(14) के अधीन उद्योग थी। सुसंगत निष्कर्ष इस प्रकार है :--

> "शिक्षा विभाग।
>
> यह विभाग निगम की सीमाओं के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा, अर्थात् अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करता है। (देखें पक्षकार सं० 1 के साक्षी सं० 1 का साक्ष्य)। यह सेवा प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा भी की जा सकती है। यह विभाग अन्य कसौटियों पर भी सही उतरता है। अधिनियम के अधीन 'कर्मचारी' की परिभाषा के अधीन आने वाले इस विभाग के कर्मचारी निश्चय ही अधिनियम के फायदों के लिए हकदार होंगे।"

16. किन्तु **नागपुर नगर निगम** बनाम **उसके कर्मकार**[1] वाले मामले में किया गया उपर्युक्त विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[2] में इस कारण उलट दिया गया कि पूर्वतर विनिश्चय में केवल इस प्रश्न पर ही विचार किया गया था कि क्या नगरपालिक क्रियाकलाप सैण्ट्रल प्रोविंसेज एण्ड बरार इण्डस्ट्रीयल डिस्प्यूट्स सैटलमेंट ऐक्ट, 1947 की धारा 2(14) में यथा परिभाषित 'उद्योग' पद के अन्तर्गत आएंगे, न कि इस प्रश्न पर कि क्या शैक्षिक क्रियाकलाप औद्योगिक विवाद समझौता अधिनियम (इण्डस्ट्रीयल डिस्प्यूट्स सैटलमेंट ऐक्ट) की धारा 2(14) के अधीन उद्योग होंगे। किन्तु यह मत व्यक्त किया गया :—

> "इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अधिनियम में यथा-परिभाषित 'उद्योग' शब्द की परिधि के अन्तर्गत कोई भी आजीविका या सेवा या नियोजन आता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि प्रत्यर्थियों द्वारा दिए गए तर्क में प्रथमदृष्ट्या कुछ बल अवश्य है; किन्तु इस तर्क की विधिमान्यता की परख करते समय तुरन्त ही इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाएगा कि क्या शिक्षा

[1] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 675.
[2] 1963—II एल० एल० जे० 335=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

संस्थाओं द्वारा किया जाने वाला कार्य उसके द्वारा अध्यापकों के श्रम या सहयोग की सहायता से किया जाने वाला कार्य कहा जा सकता है। शिक्षा संस्था का मुख्य कर्तव्य छात्रों को शिक्षा प्रदान करना है और यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि शिक्षा का प्रदान किया जाना उद्योग है, जिसके प्रति निर्देश से शिक्षा संस्था नियोजक है तो यह निष्कर्ष अवश्य ही निकलना चाहिए कि वे अध्यापक, जो संस्था के साथ सहयोग करते हैं और शिक्षा प्रदान करने में अपने श्रम से उसकी सहायता करते हैं, संस्था के कर्मचारी हैं और इस प्रकार सामान्यता ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो अधिनियम के फायदों के लिए हकदार होगा, कर्मकार होगा। नियोजक और कर्मचारियों का सहयोग, या दूसरे शब्दों में, पूंजी और श्रम के बीच सहयोग, जिसके प्रति औद्योगिक न्यायनिर्णयन द्वारा सदा निर्देश किया जाता है, प्रत्यर्थी की दलील के आधार पर, शिक्षा-संस्था और उसके अध्यापकों के बीच सहयोग में अपना समानान्तर पाएगा। निस्संदेह, यह कुछ विचित्र-सा लगेगा कि अधिनियम के अर्थान्तर्गत शिक्षा को उद्योग के रूप में और अध्यापकों को कर्मकारों के रूप में वर्णित किया जाना चाहिए, किन्तु यदि उस शाब्दिक अर्थान्वयन को, जिसके लिए प्रत्यर्थियों ने दलील दी है, स्वीकार कर लिया जाता है, तो उसके परिणाम भी स्वीकार किए जाने चाहिए। अधिनियम की स्कीम और अन्य सुसंगत विचारणाओं से यदि उक्त परिणाम निकलता है, तो न्यायालय को इस तथ्य के होते हुए भी प्रत्यर्थियों की दलील स्वीकार करनी ही होगी कि वह 'उद्योग' शब्द के साधारण स्वीकृत अर्थ में फिट नहीं बैठता है।"

(जोर देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

17. यहां इस तथ्य पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि अधिनियम के अर्थान्तर्गत शिक्षा उद्योग होगी और अध्यापक कर्मकार होंगे, यदि वह शाब्दिक अर्थान्वयन, जिसके लिए प्रत्यर्थियों ने दलील दी है, स्वीकार कर लिया जाता है। (यह स्पष्ट है कि यह मत व्यक्त करते समय औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) में 'कर्मकार' पद की परिभाषा में निहित सूक्ष्म अर्थान्तरता पर ध्यान नहीं दिया गया था।) 'उद्योग' शब्द की परिभाषा के शाब्दिक अर्थ से शिक्षा को बाहर रखने के लिए पश्चात्‌वर्ती

पैरा में दिए गए कारण पर **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में समीक्षात्मक रूप से विचार किया गया था। इन तर्कों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात्, निर्णय के पैरा 93 में यह अभिनिर्धारित किया गया :—

> "सम्यक् सम्मान प्रदर्शित करते हुए, हम यह कहना चाहते हैं कि हम इन प्रतिपादनाओं से असहमति व्यक्त करते हैं और, जैसा कि नागपुर निगम (ऊपर निर्दिष्ट) ने अभिनिर्धारित किया था, यह अभिनिर्धारित करते हैं कि शिक्षा उद्योग है और जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट आस्ट्रेलिया वाले मामले में न्या० आइजैक्स ने अभिनिर्धारित किया है, शिक्षा प्रधानत: सेवा है।"

पैरा 94 में दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले के पैरा 5 में दिए गए इस अन्य तर्क के संबंध में चर्चा की गई है कि "विश्वविद्यालय का मुख्य क्रियाकलाप अध्यापन था और चूंकि अध्यापक अधिनियम की परिधि के अन्तर्गत नहीं आते थे, अत: अधीनस्थ कर्मचारिवृन्द का आनुषगिक क्रियाकलाप ही उसकी परिधि के अन्तर्गत आ सकता था किन्तु उससे संस्था का मुख्य स्वरूप परिवर्तित नहीं हो सकता था।" पैरा 101 में इस तर्क को भी अस्वीकार कर दिया गया। यह अभिनिर्धारित किया गया :—

> "हमारा यह निष्कर्ष है कि दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले का गलत ढंग से विनिश्चय किया गया और यह कि शिक्षा, अपने संस्थागत स्वरूप में, उद्योग हो सकती है और है।"

18. **बंगलौर-वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में विनिश्चय का प्रकट प्रभाव न केवल **नागपुर नगर निगम वाले मामले**[2] को बहाल रखना है बल्कि दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले में अन्तर्विष्ट इस आशय की मताभिव्यक्ति को भी बहाल रखना है कि यदि शिक्षा के लिए शाब्दिक अर्थान्वयन उद्योग है और अध्यापक कर्मकार हैं, तो उसके परिणाम भी स्वीकार किए जाने चाहिएं। अपीलार्थी के काउन्सेल ने यह दलील दी है कि इस समय यही सही विधिक स्थिति है। किन्तु प्रत्यर्थियों के काउन्सेल ने यह दलील दी है कि **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] द्वारा **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[3] को केवल इस निष्कर्ष की बाबत ही उलटा गया है कि शिक्षा उद्योग है और उसके द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले में निकाले गये इस अन्य निष्कर्ष को उलटा नहीं गया है कि अध्यापक

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=1978-I एल० एल० जे० 349=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

[2] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 675.

[3] 1963-II एल० एल० जे० 335=ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

28. यद्यपि अपील के ज्ञापन में अन्य मुद्दे भी उठाए गए थे, अपीलार्थियों के काउन्सेलों ने अपील पर बहस के समय स्वयं को प्रश्न के केवल इस पहलू तक ही सीमित रखा है और हमारे अनुसार उन्होंने यह दृष्टिकोण ठीक ही अपनाया है। अतः हमारे लिए अपील के ज्ञापनों में उठाए गए अन्य मुद्दों पर विचार करना आवश्यक नहीं है।

अतः अपीलें खारिज की जाती हैं और इस निष्कर्ष की पुष्टि की जाती है कि अध्यापक कर्मकार नहीं हैं क्योंकि अध्यापन का काम कुशल या अकुशल शारीरिक (हाथ का) काम नहीं है। ऐसा हम उन कारणों से भिन्न कारणों से अभिनिर्धारित कर रहे हैं जिनका उल्लेख न्या० खालिद ने किया है जिनसे न्या० भट्ट ने सहमति व्यक्त की थी, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। हम खर्चे के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं कर रहे हैं।

अपील खारिज की गई।

नरेश

नि० प० 1984 : केरल—45

राजलक्ष्मी मिल्स लिमिटेड और अन्य बनाम भारत संघ, वित्त मंत्रालय और अन्य

(The Raja Lakshmi Mills Ltd. and others *Vs*. The Union of India, Ministry of Finance and others)

तारीख 10 अक्तूबर, 1983

[का० मु० न्या० के० भास्करन और न्या० वी० भास्करन नम्बियार]

सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 धारा 25 सपठित सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975, धारा 3 और प्रथम अनुसूची का अध्याय 56—विस्कोस स्टेपल फाइबर व विस्कोस टाव पर भारत में आयात किए जाने पर छूट दिया जाना—पिटीशनर अधिसूचना में वर्णित विस्तार तक उस छूट के लिए हकदार है जो छूट सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची में वर्णित है—पिटीशनर 1975 के अधिनियम की धारा 3 के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण का संदाय करने के लिए या वित्त अधिनियम के उपबंध के अधीन सहायक शुल्क का संदाय करने के लिए दायी हैं।

पिटीशनरों ने भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर विस्कोस स्टेपल फाइबर या पालिनोसिक स्टेपल फाइबर आयात किया है। इस फाइबर के आयात पर सीमा शुल्क उन दरों पर लागू होती है जो दरें सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) के अध्याय 56 में विनिर्दिष्ट हैं और साथ ही इस पर अतिरिक्त शुल्क भी लगता है जो उसी अधिनियम की धारा 3 के अधीन प्रतिरोधी शुल्क के तौर पर ज्ञात है। अध्याय 56 के अधीन अधिनियम की धारा 2 के अधीन सीमा शुल्क वर्ष 1980-81 के लिए 140 प्रतिशत है और वर्ष 1983-84 के लिए वह 150 प्रतिशत की दर से है। अतिरिक्त शुल्क के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वर्ष 1983-84 के लिए वह प्रति किलोग्राम 13 रुपये है।

सीमा शुल्क अधिसूचना तारीख 1-11-80 पर उद्गृहीत सीमा शुल्क की दर में बहुत अधिक छूट दी गई है और वह 1975 के अधिनियम सं० 5 की **प्रथम** अनुसूची के अधीन उद्ग्रहणीय है जितनी कि वह मूल्यानुसार 10 प्रतिशत से अधिक है। सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 203 तारीख 26-8-1982 के द्वारा छूट में 20 प्रतिशत तक की वृद्धि कर दी गई है जबकि 14-12-1982 की सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 295 के द्वारा वह 30 प्रतिशत बढ़ा दी गई थी और सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 39 तारीख 1-3-1983 के द्वारा वह बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दी गई थी। इसी प्रकार की अधिसूचना पोलिनासिक स्टेपल फाइबर के लिए भी जारी की गई थी। अतः यदि छूट के आदेश, जिन पर इन रिट पिटीशनों में आक्षेप किया गया है, पिटीशनरों के सीमा शुल्क का संदाय करने के दायित्व की अधिसूचनाओं के अधीन नियत प्रतिशत तक ही सीमित करते हैं तो सीमा शुल्क के सम्बन्ध में उन पर और किसी अतिरिक्त रकम का संदाय करने का दायित्व नहीं होगा और अतिरिक्त शुल्क (प्रतिरोधी शुल्क) के संदाय के सम्बन्ध में की गई मांग अब अवैध है और किसी कानूनी शास्ति द्वारा औचित्यपूर्ण नहीं है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

सीमा-शुल्क, सीमा-शुल्क अधिनियम के अधीन उद्ग्रहणीय है। दरें या तो सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन नियत की गई हैं। टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची में दर उपबंधित की गई है। इस दर से अधिक धारा 3 में अतिरिक्त उद्ग्रहण अधिरोपित किया गया है जो प्रतिरोधी शुल्क के तौर पर मामूली तौर से ज्ञात है। (पैरा 11)

जब टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची के अधीन नियत की गई दरों पर सीमा-शुल्क उद्ग्रहीत किया जा सकता है तो वह अधिनियम की धारा 3 के अधीन बढ़ाया भी जा सकता है या वह वित्त अधिनियम के अधीन और अधिक बढ़ाया जा सकता है। (पैरा 13)

यदि राजस्व का आशय सम्पूर्ण सीमा शुल्क से छूट देने का था तो अधिसूचना में "उक्त प्रथम अनुसूची के अधीन" शब्दों के जोड़े जाने की जरूरत नहीं थी। सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 में सीमा शुल्क से छूट के लिए मंजूरी दिए जाने का उपबन्ध किया गया है। छूट किसी विनिर्दिष्ट वर्णन के माल से सम्बन्धित हो सकती है। वह सीमा शुल्क की सम्पूर्ण राशि और उसके किसी भाग की हो सकती है। वह साधारण छूट हो सकती है जो या तो आत्यंतिक रूप से या कतिपय शर्तों के अधीन हो सकती है। एकमात्र रक्षोपाय यह है कि छूट की मंजूरी केवल तब ही दी जा सकती है यदि सरकार का समाधान हो जाता है कि ऐसा करना लोकहित में जरूरी है। (पैरा 14)

पिटीशनर एक सीमित विस्तार तक की छूट के लिए हकदार है जो आक्षेपित अधिसूचना के अन्तर्गत आती है और जो छूट सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची में वर्णित दरों के बारे में है। वे अधिनियम की धारा 3 के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण का संदाय करने के लिए या वित्त अधिनियम के उपबन्ध के अधीन सहायक शुल्क का संदाय करने के लिए दायी हैं। (पैरा 16)

1982 का रिट पिटीशन सं० 7325—1983 का ई० सी० आर० 199 डी : श्री आयनार स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड **बनाम** भारत संघ (Sree Ayyanar Spinning and Weaving Mills Limited *Vs.* Union of India) — 17

निर्दिष्ट किया गया।

आरम्भिक रिट अधिकारिता : 1983 की रिट अपील सं० 219 के साथ अन्य रिट अपीलें और 1983 एन० की आरम्भिक पिटीशन सं० 6372.

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री के० ए० नायर और ई० आर० वैंकटेश्वरन

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री पी० सी० चाको

न्यायालय का निर्णय कार्यकारी मु० न्या० वी० भास्करन नम्बियार ने दिया।

का० मु० न्या० भास्करन नम्बियार :

सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 25 के अधीन जारी की गई अधिसूचना के निर्वचन के आधार पर इन आरम्भिक पिटीशनों में उठाए गए विवाद का हल अंतर्वलित है। अधिसूचना इस प्रकार है :—

"सीमा शुल्क अधिसूचना :

सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का अधिनियम सं० 52) की धारा 25 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो गया है कि लोकहित में ऐसा करना आवश्यक है। अतः वह एतद्द्वारा सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) की प्रथम अनुसूची के अध्याय 56 के अधीन विस्कोस स्टेपल फाइबर, विस्कोस टाव को तब छूट देती है जब उसका भारत में आयात किया जाता है। यह छूट उक्त प्रथम अनुसूची के अधीन उस पर उद्ग्रहणीय सीमा शुल्क के इतने भाग से मूल्यानुसार के 10 प्रतिशत से अधिक होती है।

परन्तु यह कि अधिसूचना में अंतर्विष्ट कोई भी बात निम्नलिखित को लागू नहीं होगी :—

(i) हाई परफामेंस विस्कोस स्टेपल फाइबर और हाई परफामेंस विस्कोस टाव

(ii) हाई टेनेसिटी विस्कोस स्टेपल फाइबर और हाई टेनेसिटी विस्कोस टाव

(iii) हाई वैट माडुलम विस्कोस स्टेपल फाइबर और हाई वैट माडुलम विस्कोस टू और,

(iv) पोलिनोसिक स्टेपल फाइबर और पोलिनोसिक टाव।"

2. पिटीशनरों ने यह दलील दी है कि इस छूट के आधार पर वे मूल्यानुसार के 10 प्रतिशत से अधिक किसी सीमा शुल्क का संदाय करने के लिए दायी नहीं हैं।

3. प्रस्तुत प्रयोजन के लिए सुसंगत तथ्य इस प्रकार हैं।

उक्त विनिश्चय में भी औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) के अधीन कर्मकार की परिभाषा के प्रति निर्देश से उक्त प्रश्न पर कोई विचार नहीं किया गया था। यहां यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि **दिल्ली विश्वविद्यालय वाले मामले**[1] को, जिसे ही पटना उच्च न्यायालय ने अपने विनिश्चय का आधार बनाया था, पश्चात्वर्ती मामले—**बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[2] में किए गए विनिश्चय में उलट दिया गया है। इस प्रकार इस विनिश्चय से भी प्रस्तुत विवाद का समाधान करने में कोई सहायता नहीं मिलती है।

23. वह एकमात्र विनिश्चय, जिसमें इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि क्या अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) के अधीन कर्मकार हैं, **नैलीमार्ला जूट मिल्स कं० लि०** बनाम **स्टाफ यूनियन, नैलीमार्ला जूट मिल्स**[3] वाले मामले में भारत के श्रम अपील अधिकरण का विनिश्चय प्रतीत होता है। अधिकरण ने, अध्यापक के काम के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला :—

> "हमारे मन में इस बारे में कोई शंका नहीं है कि अध्यापक का काम न तो लिपिकीय है और न शारीरिक (हाथ का)। उनका मुख्य कर्तव्य अपने शिष्यों को पढ़ाना है और वह पूर्णत: मस्तिष्क का कार्य है। ऐसी स्थिति में अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम में यथा परिभाषित 'कर्मकार' नहीं हैं।

24. विनिश्चित मामलों से उद्भूत होने वाले सिद्धान्तों के प्रति निर्देश से, अध्यापकों के कार्य का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् हम इस कथन से सहमति व्यक्त करते हैं कि अध्यापकों का काम शारीरिक काम नहीं है, सीमित अर्थ में नहीं जिसमें कि उक्त पद अपीलाधीन विनिश्चयों में समझा गया था, बल्कि मुख्यतः शारीरिक श्रम अन्तर्वलित करने वाले कार्य को समाविष्ट करने के व्यापक अर्थ में भी। निस्संदेह शारीरिक श्रम की मात्रा में, जो अध्यापन कार्य में अन्तर्वलित है, अन्तर हो सकता है, जिस प्रकार कि शिक्षा के विभिन्न प्रक्रमों पर, अर्थात् प्री-प्राइमरी या किण्डरगार्डन, एलीमेंटरी या प्राइमरी स्कूल, सेकेण्डरी स्कूल, कालेजिएट, पोस्टग्रेड्यूएट (स्नातकोत्तर) और रिसर्च (अनुसन्धान) के विभिन्न स्तरों पर बौद्धिक श्रम की मात्रा में इस प्रकार का अन्तर होता है। तथापि, यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि शिक्षा के किसी भी प्रक्रम

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873.

[2] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

[3] 1955 (1) एल० एल० जे० 167.

पर अध्यापन का काम उक्त पद के बृहत्तर अर्थ में भी प्रधानतः और मुख्यतः शारीरिक श्रम का काम है।

25. शब्दकोषों के अनुसार, 'टीच' शब्द का अर्थ है :—"दर्शित करना : निदेश करना : ज्ञान या कला प्रदान करना : अध्ययन का मार्गदर्शन करना : इस प्रकार प्रदर्शित करना कि ज्ञान या कला प्रदान करने के लिए सम्बन्धित व्यक्ति के मन को प्रभावित किया जा सके।" (चैम्बर्स ट्वेंटीयथ सैंचुरी डिक्शनरी)। "अनुदेश देना, अध्ययन का मार्गदर्शन करना, ज्ञान, अनुभव, कुशलता प्रदान करना, किसी विषय में अनुदेश देना, किसी व्यक्ति को (किसी विषय की) जानकारी या कुशलता से अवगत कराना—(दि यूनीवर्सल डिक्शनरी आफ दि इंगलिश लैंगुएज)।" ब्लैककृत 'ला डिक्शनरी' (पंचम् संस्करण) में 'टीच' शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"पाठों के माध्यम से ज्ञान प्रदान करना, अनुदेश देना, ज्ञान संप्रेषित करना, सच्चाई या जानकारी के रूप में किसी व्यक्ति के मन में किसी चीज को जमाना, जो लिखित संप्रेषणों द्वारा, वैयक्तिक निदेश द्वारा, सार्वजनिक प्रेस द्वारा या ऐसे किसी माध्यम द्वारा किया जाए, जिससे जानकारी या सूचना को फैलाया जा सकता है या वह अन्य व्यक्तियों द्वारा अभिव्यक्त भावनाओं या दिए गए तर्कों को स्वीकार करके किया जा सकता है, जो उनके अंगीकरण और मार्गदर्शन के लिए अन्य व्यक्तियों को वितरित किए जाते हैं।"

26. "दि यूनीवर्सल डिक्शनरी आफ दि इंगलिश लैंगुएज" में 'टीचर' शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"वह व्यक्ति जो पढ़ाता है; मन को प्रशिक्षित करने वाला व्यक्ति, अनुदेशक आदि"। यहां मन के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार एलीमेंटरी स्कूल के अध्यापक को आधारभूत मानसिक कुशलता—पठन, लेखन और गणित—अवश्य ही पढ़ाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, एलीमेंटरी स्कूल के अध्यापक को राष्ट्र या चर्च (धार्मिक संस्था) या विद्यालय को सहायता देने वाली किसी अन्य संस्था के लिए अनुकूल तथ्य और दृष्टिकोण पढ़ाने चाहिएं। अध्यापकों के कृत्यों और भूमिकाओं को इस प्रकार प्रवर्गीकृत किया गया है :—

> "मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि अध्यापक का कृत्य, अपने आश्रित (शिष्य) को ज्ञान प्रदान करके और ऐसी स्थिति निर्मित करके अपने आश्रित (शिष्य) की सहायता करना है, जिसमें आश्रित (शिष्य) प्रभावी रूप से सीख सकता है और सीखेगा। किन्तु अध्यापक अनेक जटिल भूमिकाएं निभाता है जो अलग-अलग समाजों और अलग-अलग शैक्षिक स्तरों के अनुसार अलग-अलग होती हैं। इनमें से कुछ भूमिकाएं

विद्यालय या विश्वविद्यालय में निभाई जाती हैं और कुछ भूमिकाएं समाज में रहकर निभाई जाती हैं।

विद्यालय या विश्वविद्यालय में निभाई जाने वाली भूमिकाएं

ज्ञान-विवाचक
अनुशास्ता या छात्र-व्यवहार का नियंत्रक
संरक्षक का प्रतिस्थानी
छात्रों का विश्वासपात्र
उपलब्धियों का निर्णायक
पाठ्य-विवरण का आयोजक
नौकरशाह (प्रधान कार्य सम्पादक)
विद्वान् एवं अनुसंधान-विशेषज्ञ
अध्यापक-संगठन का सदस्य

समाज में निभाई जाने वाली भूमिकाएं

लोक सेवक
मध्यवर्गीय नैतिकता का प्रतिनिधि
ज्ञान या कुशलता के किसी क्षेत्र में विशेषज्ञ
समाज का नेता
सामाजिक परिवर्तन का अभिकर्ता

ऐसे क्षेत्रों में, जिनमें अध्यापन ने व्यवसाय का रूप धारण नहीं किया है, अध्यापक इन भूमिकाओं में से कम भूमिकाएं ही निभा सकता है। उदाहरणार्थ, सरल (आडम्बरहीन) कृषिक समाज में प्राथमिक विद्यालय का अध्यापक विद्यालय वाली भूमिकाओं में से केवल प्रथम पांच भूमिकाएं ही पूरी करेगा और समाज में निभाई जाने वाली भूमिकाओं में से केवल प्रथम और संभवतः द्वितीय भूमिका ही पूरी करेगा।"

27. अध्यापन का भौतिक (शारीरिक) भाग, कदाचित्, दृश्य-निरूपणों से युक्त मौखिक अनुदेश, लिखित कार्य का संशोधन, उनसे सम्बन्धित अभिलेखों का रखा जाना, आदि है। दृश्य निरूपणों से युक्त मौखिक अनुदेश से केवल बौद्धिक क्रियाकलाप प्रकट होता है, जिसके द्वारा अध्यापक के मस्तिष्क और बुद्धि के कार्य का उत्पाद शिष्य को संप्रेषित किया जाता है। इसी प्रकार छात्रों के लिखित कार्य के संशोधन में अन्तर्वलित शारीरिक श्रम का तत्व भी मुख्यतः अध्यापक की बुद्धि का कार्य है। यह प्राख्यान नहीं किया जा सकता है कि इस प्रक्रम पर भी यह

कार्यकलाप मुख्यतः शारीरिक है। भौतिक (शारीरिक) भाग मुख्य क्रियाकलाप का प्रकट रूप मात्र है, जो प्रकृति में बौद्धिक है। शारीरिक या हाथ का श्रम ज्ञान प्रदान करने की प्रक्रिया का सहायक और आनुषंगिक मात्र है, जो मुख्यतः बुद्धि का क्रियाकलाप है। हम यह अभिनिर्धारित नहीं कर सकते हैं कि अध्यापन का कार्य किसी विशेष अध्यापक की बौद्धिक और सृजनात्मक क्षमता के प्रयोग को अन्तर्वलित करने वाली प्रक्रिया की अपेक्षा यंत्रवत् और पुनरावर्ती शारीरिक अभ्यास है। हम इस तथ्य को भूल नहीं रहे हैं कि अत्यधिक वाणिज्यिकरण ने शिक्षा के क्षेत्र को प्रभावित किया है और अध्यापकों तथा संस्थागत शिक्षा के स्वरूप के बीच सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले नए दिशामान ने उसे लगभग व्यवसाय के रूप में ही रूपान्तरित कर दिया है। हमारी अध्यापन-बिरादरी का प्रायः सम्पूर्ण कलेवर ही ट्रेड-यूनियन लाइन पर संगठित किया गया है। जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा **बंगलौर वाटर सप्लाई वाले मामले**[1] में किए गए विनिश्चय में ठीक ही मत व्यक्त किया गया है, इन सब बातों से यह उपदर्शित होता है कि शिक्षा को उद्योग के रूप में माना जाए। कदाचित् इन बातों का यह सहज निष्कर्ष होगा कि शिक्षा में, जो उद्योग है, नियोजित व्यक्ति कर्मकार माने जाने चाहिएं। किन्तु ऐसा केवल उसी स्थिति में हो सकता है जब कानूनी परिभाषा ऐसी स्थिति को अनुज्ञात करे। यह अभिनिर्धारित करना कि अध्यापक औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(घ) में यथा परिभाषित कर्मकार हैं और वे कुशल या अकुशल शारीरिक काम करने के लिए नियोजित व्यक्ति हैं, बहुत दूर की बात ही माना जाएगा। कानूनी परिभाषा के प्रति निर्देश से और अपीलार्थियों के काउन्सेल द्वारा किए गए इस निवेदन के विशेष सन्दर्भ में कि अध्यापन का काम कुशल या अकुशल शारीरिक काम है, अध्यापकों के काम की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् हम केवल यही अभिनिर्धारित कर सकते हैं कि अपीलाधीन निर्णय, जहां तक उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अध्यापकों का कार्य शारीरिक काम नहीं है, सही है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि अध्यापकों का काम लोगों को शिक्षित करना है। हमें इस स्थल पर एम्ब्रोज फिलिप्सकृत 'डेविल्स डिक्शनरी' में 'एजूकेशन' पद की इस परिभाषा का स्मरण हो रहा है : "वह जो बुद्धिमान व्यक्तियों को उनकी समझ का अभाव प्रकट करती है और मूर्ख व्यक्तियों से उनकी समझ के अभाव को छिपाती है।" किसी भी अर्थ में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि शिक्षा का कार्य प्रकृति में मुख्यतः शारीरिक है; न तो बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रकट किए जाने के अर्थ में और न मूर्ख व्यक्तियों से छिपाने के अर्थ में।

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 1053=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 548.

4. पिटीशनरों ने भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर विस्कोस स्टेपल फाइबर या पालिनोसिक स्टेपल फाइबर आयात किया है। इस फाइबर के आयात पर सीमा शुल्क उन दरों पर लागू होती है जो दरें सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) के अध्याय 56 में विनिर्दिष्ट हैं और साथ ही इस पर अतिरिक्त शुल्क भी लगता है जो उसी अधिनियम की धारा 3 के अधीन प्रतिरोधी शुल्क के तौर पर ज्ञात है। अध्याय 56 के अधीन अधिनियम की धारा 2 के अधीन सीमा शुल्क वर्ष 1980-81 के लिए 140 प्रतिशत की गई है और वर्ष 1983-84 के लिए वह 150 प्रतिशत की दर से है। अतिरिक्त शुल्क के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वर्ष 1983-84 के लिए प्रति किलोग्राम 13 रुपये है।

5. सीमा शुल्क अधिसूचना तारीख 1-11-1980 जो प्रथम पैरा में उद्धृत की गई है, पर उद्ग्रहीत सीमा शुल्क की दर में बहुत अधिक छूट दी गई है और ऐसा 1975 के अधिनियम सं० 5 की प्रथम अनुसूची के अधीन उद्ग्रहणीय है जितनी कि वह मूल्यानुसार 10 प्रतिशत से अधिक है। सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 203 तारीख 26-8-1982 के द्वारा छूट में 20 प्रतिशत तक की वृद्धि कर दी गई है जबकि 14-12-1982 की सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 295 के द्वारा वह 30 प्रतिशत बढ़ा दी गई थी और सीमा शुल्क अधिसूचना सं० 39 तारीख 1-3-1983 के द्वारा वह बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दी गई थी। इसी प्रकार की अधिसूचना पोलिनासिक स्टेपल फाइबर के लिए भी जारी की गई थी।

6. अतः यदि छूट के आदेश जिन पर इन रिट पिटीशनों में आक्षेप किया गया है, पिटीशनरों के सीमा शुल्क का संदाय करने के दायित्व को अधिसूचनाओं के अधीन नियत प्रतिशत तक ही सीमित करते हैं तो सीमा शुल्क के सम्बन्ध में उन पर और किसी अतिरिक्त रकम का संदाय करने का दायित्व नहीं होगा। और अतिरिक्त शुल्क (प्रतिरोधी शुल्क) के संदाय के सम्बन्ध में की गई मांग अब अवैध है और किसी कानूनी शास्ति द्वारा औचित्यपूर्ण नहीं है। अतः विभिन्न कानूनों की कतिपय सुसंगत धाराओं के प्रति निर्देश करना आवश्यक है।

7. सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 12 द्वारा सीमा शुल्क का उद्ग्रहण प्राधिकृत किया गया है। यह भारण धारा है और यह धारा इस प्रकार है :—

"12 शुल्क्य माल (1) इस अधिनियम या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में जैसा अन्यथा उपबन्धित है उसके सिवाय, भारत में आयात

किए गए या भारत से निर्यात किए गए माल पर सीमाशुल्क का ऐसी दरों पर जो भारतीय टैरिफ अधिनियम, 1934 या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन विनिर्दिष्ट की जाएं, उद्ग्रहण किया जाएगा।

(2) उपधारा (1) के उपबन्ध सरकार के सभी माल को उसी प्रकार लागू होंगे जैसे वे गैर-सरकारी माल को लागू हैं।"

8. इस प्रकार सीमा शुल्क की दर उन दरों के बराबर होंगी जो सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में विनिर्दिष्ट हैं। अतः चूंकि उद्ग्रहण सीमा शुल्क अधिनियम के अधीन अधिरोपित किया गया है, दर टैरिफ अधिनियम के प्रति और तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के प्रति निर्देश्य है।

9. सीमा शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) की धारा 2 में दरों का उपबन्ध किया गया है। धारा 2 इस प्रकार है :—

"2. सीमाशुल्क अधिनियम, 1962 के अधीन सीमाशुल्क का उद्ग्रहण ऐसी दरों पर किया जाएगा जो पहली अनुसूची और दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।"

इस प्रकार उद्ग्रहण ऐसी दर से है जो अधिनियम की प्रथम और द्वितीय अनुसूचियों में विनिर्दिष्ट किया गया है। यह स्वीकार किया गया है कि पहली अनुसूची ही इस मामले में पिटीशनरों को लागू होती है।

10. इस दर के अतिरिक्त 1975 के अधिनियम सं० 51 की धारा 3 के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण अनुज्ञात है और धारा 3 इस प्रकार है :—

"3(1) किसी वस्तु पर जिसका भारत में आयात किया जाता है, ऐसा अतिरिक्त शुल्क (जिसे इस धारा में इसके पश्चात् अतिरिक्त शुल्क कहा गया है) उद्गृहीत किया जाएगा जो वैसी ही वस्तु पर, जिसका यदि भारत में उत्पादन या विनिर्माण किया जाता है, तो तत्समय उद्ग्रहणीय उत्पाद-शुल्क के बराबर होगा और यदि वैसी ही वस्तु पर ऐसा उत्पाद आयातित शुल्क उसके मूल्य के किसी प्रतिशत पर उद्ग्रहणीय है तो उस अतिरिक्त शुल्क की संगणना, जो उस आयातित वस्तु पर इस प्रकार उद्गृहीत किया जाएगा, उस आयातित वस्तु के मूल्य के उसी प्रतिशत पर की जाएगी।

स्पष्टीकरण—इस धारा में "वैसी ही वस्तु पर, जिसका यदि भारत में उत्पादन या विनिर्माण किया जाता है तो, तत्समय उद्ग्रहणीय उत्पाद-शुल्क" से अभिप्रेत है तत्समय प्रवृत वह उत्पाद-शुल्क जो वैसी ही वस्तु पर, यदि उसका भारत में उत्पादन या विनिर्माण किया जाता है, तो, उद्ग्रहणीय होता, अथवा यदि वैसी ही वस्तु का इस प्रकार उत्पादन या विनिर्माण नहीं किया जाता है तो, तत्समय प्रवृत वह उत्पाद-शुल्क जो उस वर्ग या वर्णन की वस्तुओं पर जिस वर्ग या वर्णन की वह आयातित वस्तु है, उद्ग्रहणीय होता और जहां ऐसा शुल्क भिन्न-भिन्न दरों पर उद्ग्रहणीय है, वहां अधिकतम शुल्क।

(2) किसी आयातित वस्तु पर इस धारा के अधीन अतिरिक्त शुल्क संगणित करने के प्रयोजन के लिए, उस दशा में जब ऐसा शुल्क उसके मूल्य के किसी प्रतिशत पर उद्ग्रहणीय है, उस आयातित वस्तु का मूल्य, सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 14 में किसी बात के होते हुए भी, निम्नलिखित का योग होगा, अर्थात् :—

(i) यथास्थिति, आयातित वस्तु का उक्त धारा 14 की उपधारा (1) के अधीन अवधारित मूल्य अथवा ऐसी वस्तु का उस धारा की उपधारा (2) के अधीन नियत टैरिफ मूल्य; और

(ii) उस वस्तु पर सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 12 के अधीन प्रभार्य कोई सीमाशुल्क और उस वस्तु पर तत्समय प्रवृत किसी विधि के अधीन, सीमाशुल्क के अतिरिक्त और उसी रीति से प्रभार्य, कोई राशि, किन्तु उसके अन्तर्गत उपधारा (1) में निर्दिष्ट शुल्क नहीं है।

(3) यदि केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो जाता है कि किसी आयातित वस्तु पर [चाहे उस वस्तु पर उपधारा (1) के अधीन शुल्क उद्ग्रहणीय है या नहीं] ऐसा अतिरिक्त शुल्क उद्ग्रहीत करना लोकहित में आवश्यक है जो ऐसी कच्ची सामग्री, घटकों या संघटकों पर जो ऐसी वस्तु के उत्पादन या विनिर्माण में उपयोग में लाई जाने वाली कच्ची सामग्री, घटकों या संघटकों की प्रकृति का है या उनके समान है, उद्ग्रहणीय शुल्क को प्रति सन्तुलित कर देगा तो वह, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, निदेश दे सकेगी कि ऐसी आयातित वस्तु पर ऐसी कच्ची सामग्री, घटकों और संघटकों पर उद्ग्रहणीय उत्पाद शुल्क के उतने भाग के

बराबर अतिरिक्त शुल्क भी उद्ग्रहीत होगा जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त बनाए गए नियमों द्वारा, किसी भी दशा में, अवधारित किया जाए।

(4) उपधारा (3) के प्रयोजनों के लिए कोई नियम बनाने में, केन्द्रीय सरकार वैसी ही वस्तु के उत्पादन या विनिर्माण में प्रयोग में लाई जाने वाली कच्ची सामग्री, घटकों या संघटकों पर संदेय उत्पाद-शुल्क की औसत मात्रा का ध्यान रखेगी।

(5) इस धारा के अधीन प्रभार्य शुल्क इस अधिनियम के अधीन या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन अधिरोपित किसी अन्य शुल्क के अतिरिक्त होगा।

(6) सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 और उसके अधीन बनाए गए नियमों और विनियमों के उपबंध जिनके अन्तर्गत वापसी, प्रतिदायों और शुल्कों से छूट सम्बन्धी उपबन्ध भी हैं, जहां तक हो सके, इस धारा के अधीन प्रभार्य शुल्क को लागू होंगे जैसे वे उस अधिनियम के अधीन उद्ग्रहणीय शुल्कों को लागू होते हैं।

11. इस प्रकार जो स्थिति सामने आती है, वह यह है कि सीमा-शुल्क, सीमा-शुल्क अधिनियम के अधीन उद्ग्रहणीय है। दरें या तो सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन नियत की गई हैं। टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची में दर उपबन्धित की गई हैं। इस दर से अधिक धारा 3 में अतिरिक्त उद्ग्रहण अधिरोपित किया गया है जो प्रतिरोधी शुल्क के तौर पर मामूली तौर से ज्ञात है। यह वर्णित किया गया है कि वित्त अधिनियम के अधीन सहायक शुल्क के तौर पर एक अन्य उद्ग्रहण किया जाता है।

12. हमें इस बात पर विचार करने के लिए रुकने की आवश्यकता नहीं है कि क्या टैरिफ अधिनियम या वित्त अधिनियम के अधीन माल के आयात किए जाने पर सीमा-शुल्क उद्ग्रहणीय है या नहीं, क्योंकि अधिसूचना की शब्दावली के तौर पर इसका उत्तर बहुत सीधा-सादा प्रतीत होता है।

13. जब टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची के अधीन नियत की गई दरों पर सीमा-शुल्क उद्ग्रहीत किया जा सकता है तो वह अधिनियम की धारा 3 के अधीन बढ़ाया भी जा सकता है या वह वित्त अधिनियम के अधीन और अधिक बढ़ाया जा सकता है। सीमा-शुल्क राजस्व की वृद्धि करने के लिए

तीन कानूनी तरीके हैं। छूट से केवल उन कानूनी उद्ग्रहणों में से एक पर ही प्रभाव पड़ता है और उन सभी पर प्रभाव नहीं पड़ता है। टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची के अधीन उद्ग्रहण अधिनियम की धारा 2 के अधीन किया जा सकता है। वह अधिसूचना के फायदाप्रद उपबन्ध के अधीन आता है क्योंकि उसमें वर्णित है कि उसके अधीन उस पर उद्ग्रहणीय सीमा-शुल्क का इतना भाग जो प्रथम अनुसूची के अधीन था। अब जो मांग की गई है और इस पिटीशन में जिस पर आक्षेप किया गया है, वह टैरिफ अधिनियम की धारा 3 के अधीन हैं, और वह प्रथम अनुसूची की दर के सन्दर्भ में नहीं हैं। पिटीशनरों ने यह स्वीकार किया है कि छूट के आधार पर प्रथम अनुसूची में नियत मूल्यानुसार शुल्क की 40% राशि का संदाय कर दिया गया है। वे धारा 3 के अधीन अपर उद्ग्रहण का संदाय करने के लिए दायी हैं या वित्त अधिनियम के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण के लिए दायी हैं जिसके लिए कोई छूट नहीं है।

14. यदि राजस्व का आशय सम्पूर्ण सीमा शुल्क से छूट देने का था तो अधिसूचना में "उक्त प्रथम अनुसूची के अधीन" शब्दों के जोड़े जाने की जरूरत नहीं थी। सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 में सीमा-शुल्क से छूट के लिए मंजूरी दिए जाने का उपबन्ध किया गया है। छूट किसी विनिर्दिष्ट वर्णन के माल से सम्बन्धित हो सकती है। वह सीमा-शुल्क की सम्पूर्ण राशि और उसके किसी भाग की हो सकती है। वह साधारण छूट हो सकती है जो या तो आत्यंतिक रूप से या कतिपय शर्तों के अधीन हो सकती है। एकमात्र रक्षोपाय यह है कि छूट की मंजूरी केवल तब ही दी जा सकती है यदि सरकार का समाधान हो जाता है कि ऐसा करना लोकहित में जरूरी है। जब वर्तमान अधिसूचना पर इन रिट पिटीशनों मे आक्षेप किया गया है कि जो अध्याय 56 के अधीन विनिर्दिष्ट माल के प्रति निर्देश है, "स्टेपल फाइबर एण्ड विस्कोस टी" और उसमें वास्तव में यह भी वर्णित है कि प्रथम अनुसूची के अधीन उद्ग्रहणीय शुल्क के उस भाग को छूट प्राप्त है। छूट केवल उस भाग से सम्बन्धित हो सकती है और किसी अन्य से नहीं। ऐसी एक अधिसूचना है जो जैसा कि सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 25 में उपबन्धित है, सीमा-शुल्क के एक भाग से सम्बन्धित है।

15. जब कभी राजस्व विभाग ने टैरिफ अधिनियम की धारा 3 के अधीन अपर उद्ग्रहण से छूट मंजूर की तब ऐसा उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया। यह बात दूसरी अधिसूचना, 243-कस्टम्स—तारीख 13-11-1981 एक्सटे० आर०-3 (बी) से ज्ञात होती है जो इस प्रकार है :—

> "सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 (1962 का अधिनियम सं० 52) की धारा 25 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का

प्रयोग करते हुए केन्द्रीय सरकार का यह समाधान हो गया है कि लोकहित में ऐसा करना आवश्यक है अतः वह एतद्द्वारा टिलमिल ब्लैकप्लेट पर उस समय छूट देती है जब वह टिन प्लेट के विनिर्माण के लिए भारत में आयातित की जाती है। केन्द्रीय सरकार उस पर उद्ग्रहणीय सम्पूर्ण सीमा-शुल्क से छूट देती है जो सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 (1975 का अधिनियम सं० 51) की प्रथम सूची में और द्वितीय वर्णित अधिनियम की धारा 3 के अधीन उस पर उद्ग्रहणीय अतिरिक्त शुल्क से, जो उसमें विनिर्दिष्ट है, छूट देती है।

यह अधिसूचना 30 सितम्बर, 1982 तक और इस तारीख को सम्मिलित करते हुए प्रवृत्त रहेगी।"

16. पिटीशनर की इस दलील के स्वीकार किए जाने से कि छूट अधिसूचना में वर्णित सीमा के अध्यधीन रहते हुए सम्पूर्ण सीमा-शुल्क पर प्रवृत्त रहेगी, इससे उक्त प्रथम अनुसूची के अधीन शब्द निरर्थक बन जाते हैं। ऐसे निर्वचन से जिसके परिणामस्वरूप निरर्थकता की स्थिति पैदा होती है और उससे वह उद्देश्य विफल हो जाता है जिसे प्राप्त करने की वांछा की जाती है, बचा जाना चाहिए। अतः हमारा यह मत है कि पिटीशनर एक सीमित विस्तार तक की छूट के लिए हकदार हैं जो आक्षेपित अधिसूचना के अन्तर्गत आती है और जो छूट सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 की प्रथम अनुसूची में वर्णित दरों के सम्बन्ध में है। वे अधिनियम की धारा 3 के अधीन अतिरिक्त उद्ग्रहण का संदाय करने के लिए या वित्त अधिनियम के उपबन्ध के अधीन सहायक शुल्क का संदाय करने के लिए दायी हैं।

17. मद्रास उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ द्वारा **श्री आयनार स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को राजस्व विभाग के काउंसेल ने प्रोद्धृत किया है। बिल्कुल वैसी ही अधिसूचना मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा कायम रखी गई है। न्यायपीठ ने निम्नानुसार अभिनिर्धारित किया था :—

"सीमा-शुल्क विभाग के विद्वान् काउन्सेल श्री के० एन० बालासुब्रामणियम् ने यह कहा है कि छूट के लिए अधिसूचनाओं को तैयार करने में केन्द्रीय सरकार ने हमेशा ही यह पद्धति अपनाई है कि वह उन विशिष्टियों का विशेष ध्यान रखती है कि शुल्क का प्रकार प्रमित रूप से क्या है जिसके सम्बन्ध में छूट मंजूर की जा रही है। विभाग द्वारा

[1] 1982 का रिट पिटीशन सं० 7325—1983 आई० सी० आर० 199 डी.

दिए गए प्रतिशपथ-पत्र में कुछ दृष्टांत स्वरूप उदाहरण दिए गए हैं जिससे यह पद्धति ज्ञात होती है। हमें इस बात से कोई आश्चर्य नहीं है कि यह पूर्वावधानी अधिसूचना के शब्दों में बरती गई है जो इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की सीमा-शुल्कों से सम्बन्धित हैं। यह सच है कि इस मामले में अधिसूचना में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है या कुछ दर्शित नहीं किया गया है कि कौन सी आधारभूत शुल्क छूट की विषय-वस्तु है और न उसमें अभिव्यक्त रूप से छूट के व्याप्ति क्षेत्र से अतिरिक्त शुल्क अभिनिर्धारित की गई है। किन्तु टैरिफ अधिनियम की प्रथम अनुसूची के बारे में अधिसूचना में स्पष्ट निर्देश से केवल यह तात्पर्य है कि क्या उससे यह विवक्षित है कि उसके अन्तर्गत आधारभूत मूल्यानुसार शुल्क से दी गई छूट है और उसके अन्तर्गत प्रतिरोधी शुल्क नहीं आता है। यह ऐसा मामला है जहां हमें...सिद्धान्त को लागू करना ही चाहिए।" "एक्सप्रेशियो यूनियस ऐस्ट एक्सक्लूसियो आल्टेरियस।"

18. दिल्ली उच्च न्यायालय ने 1982 की सिविल रिट सं० 2117 में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है :—

"विधि में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जिससे सरकार सीमा-शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25(1) के अधीन अनुतोष देने से किसी भी प्रकार से विवर्जित की जा सके और ऐसा अनुतोष केवल एक प्रकार की शुल्क तक ही सीमित रहे। केन्द्रीय सरकार ने बुद्धिमत्ता से 70% मूल्यानुसार से अधिक सीमा-शुल्क के उद्ग्रहण से मंजूरी देना उचित समझा और ऐसी छूट जो सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम, 1975 के अधीन उद्ग्रहणीय थी, के सम्बन्ध में ही उसे सीमित रखा। वह इस छूट को विभिन्न नियमों के अधीन उद्गृहीत सभी प्रकार की सीमा-शुल्कों तक विस्तारित कर सकती थी। सरकार ने ऐसा करना ठीक नहीं समझा। केवल इस कारण से ही कि सहायक शुल्क सीमा-शुल्क से सम्बन्धित हो सकती है जिस तथ्य को प्रत्यर्थियों ने स्वीकार नहीं किया है और जिसकी हम फिलहाल उपधारण करते हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलेगा कि जब सीमा-शुल्क टैरिफ अधिनियम 1975 के अधीन प्रभार्य सीमा-शुल्क की रकम के संदाय के बारे में छूट मंजूर की जाती है तो सहायक सीमा-शुल्क के संदाय से छूट अपने आप ही मिल जाएगी।"

19. परिणामस्वरूप, हम विद्वान् एकल न्यायाधीश के विनिश्चय की पुष्टि करते हैं और रिट पिटीशन को खारिज करते हैं। किन्तु मामले की परिस्थितियों में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं करते हैं।

20. तथापि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह निदेश दिया है कि पिटीशनर अतिशेष रकम का 50% तारीख 23-3-1983 से एक मास के भीतर संदाय करेंगे। शेष रकम पिटीशनर इस न्यायालय में इन अपीलों में 50% अतिशेष के लिए बैंक की गारंटी देकर करेंगे। यह वर्णित किया गया है कि बैंक की गारंटियां दे दी गई हैं। पिटीशनरों के काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि सभी पिटीशनरों का कुल दायित्व कुछ करोड़ रुपए होगा और उनके लिए एकमुश्त इतनी रकम का संदाय करने के लिए निधि प्राप्त करना मुश्किल होगा और वे यह प्रार्थना करते हैं कि उन्हें उनके इस दायित्व को उन्मोचन करने के लिए और समय दिया जाए। मामले की परिस्थितियों में और न्याय के हित में यह निदेश दिया जाता है कि सभी रिट अपीलों में पारित किए गए अन्तरिम आदेशों के अनुसरण में दी गई बैंक की गारंटियां आज से अगले तीन मास तक चालू बनी रहेंगी और पिटीशनर शेष रकम का 50% आज से 6 सप्ताह के भीतर संदाय करेंगे और बाकी बची हुई शेष रकम इसके पश्चात् 6 सप्ताह के भीतर संदत्त की जाएगी और इन शर्तों में से किसी शर्त का व्यतिक्रम करने पर विभाग को यह स्वतन्त्रता होगी कि वह बैंकों से आवश्यक मांग करेगा जिसके अन्तर्गत बैंक गारंटियों को प्रवृत्त करना भी है और सम्पूर्ण बकाया रकम वसूल करने के लिए कार्यवाही करेगा।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : केरल—56

कुन्हावडुल्ला बनाम भारत संघ और अन्य

(Kunhabdulla *Vs.* Union of India & Others)

तारीख 12 अक्तूबर, 1983

[कार्यकारी मु० न्या० के० भास्करन]

संविधान, अनुच्छेद 226—उच्च न्यायालय की अधिकारिता—पिटीशनर का उच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर नियोजित होना—जिस अधिकारी के अधीन पिटीशनर कार्य कर रहा था तथा जिस अधिकारी ने आक्षेपित आदेश पारित किया था, वे सब उच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर थे किन्तु जब पिटीशनर को आक्षेपित आदेश तामील किया गया उस

समय पिटीशनर उच्च न्यायालय की अधिकारिता के भीतर निवास कर रहा था—रिट पिटीशन चलने योग्य है।

2. रेल सेवा (आचरण) नियम 1966, नियम 3(1) और 19(1)—कर्मचारी द्वारा समाचार-पत्र के सम्पादक को पत्र लिखना तथा ऐसे पत्र का सरकारी मंजूरी प्राप्त किए बिना प्रकाशित किया जाना—यदि पत्र लेखक कौन था, यह साबित नहीं होता है और पत्र में गलत कथन होना साबित नहीं होता है तो कर्मचारी का सेवा से हटाए जाने का आदेश अवैध है और अभिखण्डित किए जाने योग्य है।

पिटीशनर दक्षिण रेलवे, मद्रास के मद्रास प्रभाग में सहायक स्टेशन मास्टर था। केन्द्रीय प्रबंधक दक्षिण रेलवे, मद्रास ने एक आदेश पारित करके उसे सेवा से हटा दिया। पिटीशनर के विरुद्ध यह आरोप है कि उसने गम्भीर अवचार किया था और उसका आचरण एक रेल कर्मचारी के आचरण के विपरीत था क्योंकि उसने एक समाचार-पत्र के सम्पादक को एक पत्र भेजा था जिसमें रेल प्रशासन के प्रमुख अधिकारी की आलोचना की गई थी और ऐसा सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी अभिप्राप्त किए बिना किया गया था जिससे रेल सेवा (आचरण) नियम, 1966 के कुछ नियमों का अतिक्रमण हुआ है। इस रिट पिटीशन में मुख्य दलीलें इस प्रकार हैं : (1) प्रदर्श पी० 1 को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थी सं० 4 महा प्रबन्धक नियुक्ति प्राधिकारी था न कि द्वितीय प्रत्यर्थी और इसलिए केवल वह ही आनुषंगिक कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए या शास्ति पत्र जारी करने के लिए जो प्रदर्श पी० 13 की प्रकृति का है, आनुषंगिक कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए सक्षम था। समाचार-पत्र के सम्पादक को लिखे गए पत्र के बारे में पिटीशनर का किसी प्रकार का सम्बन्ध होना साबित नहीं किया गया है। उक्त परिस्थितियों में पिटीशनर को अपने समर्थन में साक्ष्य पेश करने का अवसर नहीं दिया गया तथा जांच अधिकारी के निष्कर्ष स्वीकार्य साक्ष्य से समर्थित नहीं थे। पिटीशनर जिस संघ का सदस्य था वह केवल एक रजिस्ट्रीकृत ट्रेड यूनियन थी जिसे सुने जाने का अधिकार नहीं था। सरकार की ओर से यह कहा गया है कि जांच कर्तव्य निष्ठा से की गई थी और विहित प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है। उच्च न्यायालय की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर कोई वाद हेतुक उद्‌भूत नहीं हुआ, अतः रिट पिटीशन चलने योग्य नहीं है और पिटीशनर किसी अनुतोष के लिए हकदार नहीं है। रेलवे की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह आक्षेप किया कि पिटीशनर उच्च न्यायालय की अधिकारिता के बाहर सहायक स्टेशन मास्टर की हैसियत में नियोजित था। अतः उच्च न्यायालय को यह मामला ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया ।

मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए रिट पिटीशन ग्रहण करने के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय की अधिकारिता प्रभावित नहीं होती है और प्रदर्श पी० 13 पर आक्षेप नहीं किया जा सकता जो पिटीशनर को डाक से प्राप्त हुआ था जब वह उच्च न्यायालय की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर निवास कर रहा था । अतः इस रिट पिटीशन के चलने के सम्बन्ध में प्रारम्भिक आक्षेप इस आधार पर नामंजूर किया जाता है कि उच्च न्यायालय को इस रिट पिटीशन को ग्रहण करने की कोई राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं है । (पैरा 6)

पिटीशनर ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि उसके मूल अधिकारों का अतिलंघन हुआ है और इसी कारण उसने ऐसे अधिकार के प्रवृत किए जाने के लिए प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है । प्रस्तुत अपील को आनुकल्पिक उपचार के कारण जिसे पिटीशनर प्रभावी और कारगर नहीं समझता था, पिटीशनर उच्च न्यायालय में आवेदन करने के अधिकार से वंचित नहीं होगा । (पैरा 7)

जानबूझकर या बिना सोचे-विचारे किए गए मिथ्या कथनों के सबूत के अभाव में लोक महत्त्व के विवाद्यकों के बारे में बोलने के उसके अधिकार के कारण पिटीशनर की पदच्युति नहीं की जा सकती । प्रस्तुत मामले की परिस्थितियों में उसकी पदच्युति से वाक्स्वातंत्र्य के उसके सांविधानिक अधिकार का अतिक्रमण हुआ है । पिटीशनर द्वारा अभिव्यक्त किया गया मत किसी विशिष्ट अधिकारी या प्राधिकारी के विरुद्ध व्यक्त नहीं किया गया है । पिटीशनर का आशय रेल प्रशासन की छवि को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने का नहीं था । प्रदर्श पी० 5 के पैरा 1 में यह बतलाया गया है कि हाल के महीने में रेल दुर्घटनाओं में एकाएक काफी वृद्धि हुई है और आगे उसमें यह कहा गया है कि रेल मंत्री और रेल बोर्ड के सभापति उन दुर्घटनाओं का दोष मानव असफलता और अभित्रास सम्बन्धी कार्यवाहियों पर लगा रहे हैं । उसके पैरा 2 में इस बात पर जोर दिया गया है कि समय की पाबन्दी महत्त्वपूर्ण है किन्तु ऐसा सुरक्षा को खतरे में डालकर नहीं किया जाना चाहिए और यह बतलाया गया कि लोको रनिंग स्टाफ पर इस बात के लिए जोर देना उचित नहीं है कि वे समुचित विश्राम किए बिना अतिकाल पर कार्य करें । अंतिम पैरा में जो कुछ बतलाया गया है, वह ट्रैक और पुलों को अच्छी हालत में बनाए रखने के काम में लगे निम्नतर श्रेणियों के दस कर्मकारों की मृत्यु से सम्बन्धित है । उक्त पैरा को सम्पूर्ण रूप से पढ़ने और समझने पर किसी भी दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पादक को लिखे गए पत्र का उद्देश्य रेल प्रशासन का ध्यान इस ओर आकृष्ट

करना था कि वह दुर्घटनाओं के बार-बार घटित होने को रोकने के लिए सुरक्षा सम्बन्धी अध्युपाय करने की आवश्यकता समझे और साथ ही वह यह समझे कि रेल कर्मकारों के विरुद्ध दमनकारी अध्युपायों का किस प्रकार प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। इस सदर्भ में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि दुर्घटनाओं का बार-बार घटित होना, राष्ट्रीय विचार-विमर्श का विषय बन गया था और उस सम्बन्ध में संसद् में भी विचार-विमर्श हुआ था। संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रत्याभूत वाक्स्वातंत्र्य के सांविधानिक अधिकार का उदार निर्वचन करते हुए न्यायालय का यह मत है कि पिटीशनर को आचरण नियमों के नियम 3(1)(i), 3(1)(iii) और 19(1) के अधीन आरोप के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। (पैरा 8)

		पैरा
[1982]	1982 लेबर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज 1361 : उमा-शंकर चटर्जी **बनाम** भारत संघ (Umasanker Chatterjee *Vs.* Union of India);	6
[1976]	1976 के० एल० टी० 673 : सहायक सुरक्षा अधिकारी पोथान्नूर **बनाम** कलिंग काउन्डर (Asstt. Security Officer, Pothannur *Vs.* Kulinga Counder);	6
	20 लायर्स एडीशन 2 डी० एस० 11 (1968 के लेबर एण्ड इंडस्ट्रियल केसिज पृष्ठ 1372 पर उद्धृत : पिकरिंग **बनाम** बोर्ड आफ एजूकेशन (Pickering *Vs.* Board of Education)	8

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक अधिकारिता : 1982 की आरम्भिक पिटीशन सं० 7200.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री के० रामकुमार, डी० सतीश चंद्रन, वर्गीश माइलाथ और सी० पी० रवीन्द्रनाथ

प्रत्यर्थियों की ओर से ... केन्द्रीय सरकार का अधिवक्ता

का० मु० न्या० के० भास्करन :

पिटीशनर दक्षिण रेलवे, मद्रास के मद्रास प्रभाग में अम्बूर रेलवे स्टेशन पर सहायक स्टेशन मास्टर था। उक्त रेलवे का प्रधान चतुर्थ प्रत्यर्थी था। केन्द्रीय प्रबन्धक दक्षिण रेलवे, मद्रास ने यह आदेश दिया कि पिटीशनर को प्रदर्श

पी० 13 के द्वारा सेवा से हटा दिया जाए। द्वितीय प्रत्यर्थी ने तारीख 26-8-1982 का शास्ति पत्र प्रदर्श सं० पी० 13 जारी किया। उक्त पत्र द्वितीय प्रत्यर्थी प्रभागीय प्रचालन अधीक्षक दक्षिण रेलवे, मद्रास द्वारा जारी किया गया था। रिट पिटीशन प्रदर्श पी० 13 को अभिखण्डित किए जाने के लिए किया गया है और साथ ही यह निवेदन किया गया है कि मैन्डामस का रिट जारी किया जाए और साथ ही प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाए कि वे पिटीशनर को सेवा के सभी फ़ायदे देते हुए बहाल करें।

2. पिटीशनर अपना प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात् चतुर्थ प्रत्यर्थी द्वारा उसके तारीख 2-1-1964 के आदेश द्वारा सहायक स्टेशन मास्टर के पद पर नियुक्त किया गया था जिसकी एक सही प्रतिलिपि प्रदर्श पी० 1 है। सुसंगत समय पर पिटीशनर अखिल भारतीय स्टेशन मास्टरों का संगम, दक्षिणी क्षेत्र के लिए सचिव (वित्त) निर्वाचित किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 3 में उस उद्देश्य का वर्णन है जिसके लिए उक्त संगम पी० 2 और पी० 3 स्थापित किए गए थे। संगम की केन्द्रीय समिति की कार्यवाहियों के उद्धरण से मुझे यह ज्ञात होता है कि लखनऊ में 3 और 4 मार्च, 1981 को बैठक हुई थी। प्रदर्श पी० 4 रेल दुर्घटनाओं के बारे में कथन के सम्बन्ध में किए गए विवाद से सम्बन्धित है। वह रेलवे दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में 18-8-81 को राज्य सभा में किए गए विचार-विमर्श का उद्धरण है। प्रदर्श पी० 5 उस पत्र का उद्धरण है जो इंडियन एक्सप्रेस में तारीख 4-8-79 को प्रकाशित किया गया था और प्रदर्श पी० 6 बड़ी शास्ति के लिए आरोप पत्र तारीख 10/14-9-1981 को द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा पिटीशनर को जारी किया गया आरोप-पत्र है जिसमें सारतः यह कहा गया है कि पिटीशनर ने गम्भीर अवचार किया था और उसका आचरण एक रेल कर्मचारी के आचरण के विपरीत है क्योंकि उसने इंडियन एक्सप्रेस के सम्पादक को एक पत्र भेजा था (जो 4-8-1981 को इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित किया गया था) जिसमें आक्षेपणीय सामग्री थी और रेल प्रशासन के प्रमुख की आलोचना की जा रही थी। यह कार्य श्री पी० के० अब्दुल्ल के कहने पर किया जा रहा था और जो सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी अभिप्राप्त किए बिना किया गया था जिससे रेल सेवा (आचरण) नियम 1966 (जिसे इसके पश्चात् 'नियम' कहा गया है) और तारीख 24-9-1981 को एक पत्र में, जिसकी एक सही प्रतिलिपि प्रदर्श पी० 7 है, पिटीशनर ने कतिपय आक्षेप किए हैं और कतिपय स्पष्टीकरण चाहे हैं। इसके द्वारा साक्षियों के बुलाए जाने और दस्तावेजों के अभिलेख पर लिखे जाने की मांग की गई है और प्रभावशाली रक्षा कथन तैयार करने के प्रयोजन के लिए ऐसे दस्तावेजों तक पहुंचने की इजाजत के लिए प्रार्थना की गई है।

प्रदर्श पी० 8 तारीख 19-12-1981 के एक पत्र के उत्तर की प्रति है और उसे द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा पिटीशनरों के अभ्यावेदन पर (प्रदर्श पी० 7) भेजा गया था। उसमें द्वितीय प्रत्यर्थी ने यह वर्णित किया था कि यह पिटीशनर का काम था कि वह उन साक्षियों की हाजिरी सुनिश्चित करता जिनकी जांच में परीक्षा की जानी थी। इस बीच तारीख 17/19-12-81 के आदेशों के अधीन द्वितीय प्रत्यर्थी ने एक सही प्रतिलिपि भेजी जो प्रदर्श पी० 9 है। श्री एच० लक्ष्मणन ए० टी० एस०/एम० ए० एस० जांच अधिकारी नियुक्त किया जाना था और उससे यह अपेक्षा की गई थी कि वह पिटीशनरों के विरुद्ध आरोप की जांच करे। इसके पश्चात् पिटीशनर ने एक पत्र 5-1-1982 को भेजा जिसकी एक सही प्रतिलिपि प्रदर्श पी० 10 है जो श्री मोहिन्दर सिंह गोयल तत्कालीन अध्यक्ष, रेलवे बोर्ड के पास यह प्रार्थना करते हुए भेजी गई थी कि वह अनुशासनिक कार्यवाहियों में एक शपथपत्र फाइल करे और जांच कार्यवाहियों में उसने अपने असली आक्षेपों को लेखबद्ध करते हुए सम्पादक को लिखे गए पत्र के प्रति निर्देश किया जो इण्डियन एक्सप्रेस में प्रकाशित हुआ। (देखिए प्रदर्श पी० 5) प्रदर्श पी० 10(क) उस पत्र की प्रतिलिपि है जो 5-1-1982 को लिखा गया था और वह पत्र पिटीशनर ने सम्पादक, इंडियन एक्सप्रेस मद्रास को सम्बोधित किया था जिसमें उनसे यह प्रार्थना की गई थी कि वे एक साक्षी के तौर पर डी० ए० आर० जांच पूरी करें। प्रदर्श पी० 11 जांच की कार्यवाहियों की एक प्रतिलिपि है जो 6-4-1982 को लिखा गया था। प्रदर्श पी० 12 प्रतिरक्षा कथन की एक प्रति है जिसे पिटीशनर ने प्रस्तुत किया था। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है शास्ति पत्र तारीख 26-8-1982 की एक प्रति है जिस पर इस रिट पिटीशन में आक्षेप किया गया है और वह प्रदर्श पी० 13 है।

3. इस रिट पिटीशन में मुख्य दलीलें इस प्रकार हैं—(1) प्रदर्श पी० 1 को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थी सं० 4 महाप्रबन्धक नियुक्ति प्राधिकारी था न कि द्वितीय प्रत्यर्थी और इसलिए केवल वह ही अनुशासनिक कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए या शास्ति-पत्र जारी करने के लिए, जो प्रदर्श पी० 13 की प्रकृति का है, अनुशासनिक कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए सक्षम था। (2) पिटीशनर द्वारा इण्डियन एक्सप्रेस के सम्पादक को भेजे गए पत्र से उसमें अभिकथित पत्र की शिनाख्त होती है और अन्तर्वस्तुओं के बारे में ज्ञात होता है, इण्डियन एक्सप्रेस के प्रदर्श पी० 5 के बारे में यह कहा गया है कि वह पुनः दोहराना मात्र ही थी किन्तु यह बात साबित नहीं की गई है। (3) प्रदर्श पी० 6 प्रभार ज्ञापन है जो रेल सेवक (अनुशासन और अपील) नियम, 1968 (डी एण्ड ए रूल्स) की धारा 9(6) (i) में अन्तर्विष्ट नियम की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है और यह कि प्रदर्श पी० 7

द्वारा चाहे गए स्पष्टीकरण नहीं दिए गए थे। (4) प्रदर्श पी० 5 में केवल ऐसे विषय ही अन्तर्वलित थे जो लोकहित के हों और जिन पर राष्ट्रीय स्तर पर वाद-विवाद चल रहा हो और इसलिए प्रदर्श पी० 5 में ऐसी कोई प्रतिकूल आलोचना नहीं है जिससे ऐसे आरोप के बारे में माना जा सके। (5) जांच इसलिए दूषित थी क्योंकि उसमें डी० एण्ड ए० रूल्स के सुसंगत उपबन्ध तथा प्रभार अस्पष्ट थे और साक्षियों की हाजिरी उपाप्त नहीं की गई थी। जांच करने में विलम्ब हुआ था। दस्तावेजें पेश नहीं की गई थीं। पिटीशनर को इस बात की इजाजत नहीं दी गई थी कि वह प्रतिरक्षा का द्वितीय कथन प्रस्तुत करता। अतः प्रतिरक्षा के समर्थन में साक्ष्य पेश करने के पहले प्रशासनिक प्राधिकारी द्वारा जांच पूरी किए जाने पर पिटीशनर से इस सम्बन्ध में पूछताछ नहीं की गई और न ही उसे स्पष्ट करने का कोई अवसर दिया जाए। उक्त परिस्थितियों में उसे अपने समर्थन में साक्ष्य पेश करने का अवसर नहीं दिया गया था और जांच अधिकारी के निष्कर्ष स्वीकार्य साक्ष्य से समर्थित नहीं थे।

4. तारीख 20-4-1983 के जवाबी शपथपत्र में द्वितीय प्रत्यर्थी के तारीख 11-3-1983 के प्रतिशपथ-पत्र में पिटीशनर ने रिट पिटीशन में अपने दृष्टिकोण को दुहराया और उसने प्रतिशपथ-पत्र में किए गए सभी तात्त्विक अभिकथनों पर संविवाद किया।

5. प्रतिशपथ-पत्र में द्वितीय प्रत्यर्थी ने अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा है कि पिटीशनर दक्षिण रेलवे, मद्रास प्रभाग मद्रास के प्रभागीय कार्मिक अधिकारी के आदेश सं० एन०/पी० 563/एल०/ओ० ए०एस०एन० तारीख 25-3-1963 द्वारा परिवीक्षाधीन सहायक स्टेशन मास्टर के तौर पर नियुक्त किया गया था और उसे यह निदेश दिया गया था कि वह प्रशिक्षण के लिए 4-1-1963 को सैंट्रल ट्रेनिंग पूल, त्रिपुरापल्ली पहुंच जाए। आल इण्डिया स्टेशन मास्टर्स एसोसिऐशन मान्यताप्राप्त संघ नहीं था। किन्तु वह केवल एक रजिस्ट्रीकृत ट्रेड यूनियन थी जिसे सुने जाने का कोई अधिकार नहीं था। पिटीशनर जब पंचाकुप्पन में सहायक मास्टर के तौर पर कार्य कर रहा था, उस समय भी दण्डित किया गया था क्योंकि उसने रेल सुरक्षा के सम्बन्ध में 30/31-7-1975 की रात्रि को अपराध किया था। रेल सुरक्षा के सम्बन्ध में समय-समय पर कई उच्च शक्ति प्राप्त समितियां नियुक्त की जाती रही हैं, अतः एक रेल सेवक के तौर पर पिटीशनर से यह आशा की गई थी कि वह प्रेस को संसूचित करने के पहले विभाग से अनुज्ञा प्राप्त करता और उसका यह कर्तव्य था कि वह सरकारी नीतियों की आलोचना करते हुए कोई भी कथन प्रेस को नहीं देता। प्रदर्श पी० 5 द्वारा आचरण नियमों के नियम 3(i), 3(iii), 8, 9 और 19(i) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों का

उल्लंघन किया गया है । जांच कर्तव्यनिष्ठा से की गई थी और उसमें इस सम्बन्ध में विहित की गई प्रक्रिया का अनुसरण किया गया था। इस न्यायालय की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर कोई वाद हेतुक उद्भूत नहीं हुआ और इसलिए रिट पिटीशन चलने योग्य नहीं थी और पिटीशनर किसी अनुतोष के लिए हकदार नहीं था। तारीख 17-6-1983 के प्रत्युत्तर में द्वितीय प्रत्यर्थी ने वही मत दुहराया जो उसने अपने प्रतिशपथ-पत्र में व्यक्त किया था।

6. रेलवे के विद्वान् काउन्सेल ने रिट पिटीशन के चलने के सम्बन्ध में यह दलील देते हुए एक प्रारम्भिक आक्षेप किया कि वाद हेतुक का कोई भी भाग इस न्यायालय की राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता में उद्भूत नहीं हुआ। उसके मतानुसार पिटीशनर इस न्यायालय की अधिकारिता के बाहर सहायक स्टेशन मास्टर के तौर पर नियोजित था। जिन अधिकारियों के अधीन वह नियोजित था और जिस अधिकारी ने आक्षेपित आदेश पारित किया, वे सब इस न्यायालय की अधिकारिता के बाहर थे। यह भी निवेदन किया गया कि पिटीशनर की सेवा-समाप्ति का आदेश 27-8-1982 से प्रभावी हुआ था जब सेवा-समाप्ति का आदेश कार्यालय के नोटिस बोर्ड पर लगाया गया था। पिटीशनर उसी कार्यालय में कार्यरत था। आदेश की तामील सीधे पिटीशनर पर नहीं की जा सकी क्योंकि वह अपने निवास-स्थान और कार्यालय से भी अनुपस्थित था। इस रिट पिटीशन के पैरा 8 में दी गई दलीलों पर विचार करने पर प्रतिरक्षा कथन यह पेश किया गया है कि पिटीशनर 26 से 28 तारीख तक छुट्टी पर था और इस कालावधि के दौरान वह अपने घर गया था जो बडगारा में मायन्नूर में है। उक्त स्थान इस न्यायालय की अधिकारिता के अन्तर्गत आता है। चूंकि वह वहां जाकर बीमार पड़ गया, अतः उसने दस दिन की छुट्टी बढ़ाने के लिए प्रार्थना की जो बाद में उसे मंजूर भी कर दी गई। मायन्नूर में अपने निवास के दौरान उसे आक्षेपित संसूचना प्रदर्श पी० 13 प्राप्त हुई और उसके कारण ही उसे यह ज्ञात हुआ कि प्रत्यर्थियों ने उसके विरुद्ध सेवा-समाप्ति का आदेश पारित कर दिया है। प्रत्यर्थियों ने इस न्यायालय द्वारा सहायक सुरक्षा अधिकारी **पोथान्नूर बनाम कलिंग काउन्डर**[1] वाले मामले में सम्प्रकाशित विनिश्चय का अवलम्ब लिया है। उक्त मामले में इस न्यायालय के समक्ष लिखित अपील में प्रत्यर्थी द्वारा दी गई एकमात्र दलील, जो अधिकारिता के समर्थन में थी, यह थी कि प्रथम अपीलार्थी के सम्बन्ध में यह माना जाना चाहिए कि वह केरल राज्य के भीतर कार्य कर रहा है। यद्यपि उसके कार्यालय राज्य के बाहर अवस्थित था क्योंकि उसकी अधिकारिता केरल राज्य के भीतर कई क्षेत्रों तक फैली हुई थी। उसी निर्णय में मु० न्या० गोविन्द नायर

---

[1] 1976 के० एल० टी० 673.

ने यह मत भी व्यक्त किया था कि यदि प्रथम अपीलार्थी ने केरल राज्य के भीतर कोई ऐसा कार्य किया है जिससे राज्य के भीतर कृत्य करने वाले व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ा है तो इस न्यायालय को अधिकारिता प्राप्त होगी। पिटीशनर के काउन्सेल द्वारा यह दलील दी गई कि इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ का ऊपर वर्णित विनिश्चय प्रभेदित किया जा सकता है क्योंकि उस मामले में दी गई एकमात्र दलील यह थी कि कर्मकारों के सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि वे इस न्यायालय की क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर कार्य कर रहे थे क्योंकि उन अधिकारियों की अधिकारिता, जिनके अधीन वे कार्य कर रहे थे, केरल राज्य के कुछ भागों तक फैली हुई थी किन्तु यह नहीं कि वाद हेतुक का कोई भाग केरल राज्य के भीतर उद्भूत हुआ था। जैसा कि कलकत्ता उच्च न्यायालय ने उमाशंकर चटर्जी बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में अभिनिर्धारित किया है, वह निम्नानुसार है:—

> "जब पदच्युति या सेवा-समाप्ति का कोई आदेश तामील के लिए बाहर भेजा जाता है तो वह सम्बन्धित प्राधिकारी पर प्रभावी हो जाता है किन्तु जहां तक सरकार के सेवकों का सम्बन्ध है, वह उस समय ही प्रभावी होता है जब सरकारी सेवक को या तो मौखिक संसूचना द्वारा या उस पर वास्तव में तामील करवा के उसे उस तथ्य से अवगत कराया जाता है।"

यह मान लेने पर कि साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् इस प्रकार का अवधारण करना सम्भव होता कि मामले के तथ्यों के आधार पर सेवा-समाप्ति का आदेश 27-8-1982 से प्रभावी हुआ था, जब प्राधिकारियों का यह प्रयत्न कि वे पिटीशनर पर वाद हेतुक की तामील करवा दें, असफल हो गया क्योंकि वह अपने निवास-स्थान पर नहीं मिला और सूचना रेलवे परिसर में सूचना बोर्ड पर चिपका दी गई तो यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनर का यह पक्षकथन कि उसे पदच्युति के आदेश की जानकारी थी और प्रदर्श पी० 13 मूल आदेश की प्राप्ति पर ही, जिस पर इस रिट पिटीशन में आक्षेप किया गया है, उसे सेवा से हटाए जाने की जानकारी हुई, गलत है। यह प्रश्न कि क्या सुसंगत नियमों को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर अनुज्ञा प्राप्त किए बिना अधिकारिता से उस समय बाहर जा सकता था जब वह 26-8-1982 से 28-8-1982 तक आकस्मिक छुट्टी पर था, उद्भूत हो सकता है। इन प्रश्नों पर समुचित कार्यवाहियों में विनिश्चय किया जा सकता है। तथापि इससे रिट पिटीशन ग्रहण करने के सम्बन्ध में इस न्यायालय की अधिकारिता प्रभावित नहीं होगी जिससे प्रदर्श पी० 13 पर

---

[1] 1982 लेबर एण्ड इन्डस्ट्रियल केसिज 1361.

नि० प० 1984 : गुजरात—1

मूलजी भाई अजरम भाई और एक अन्य बनाम यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कं० लि० और अन्य

(Mulji Bhai Ajaram Bhai and another *Vs.* United India Insurance Co. Ltd. and others)

तारीख 21 अप्रैल, 1982

[न्या० ए० एम० अहमदी]

मोटरयान अधिनियम, 1939—धारा 110-ख—प्रतिकर अधिनिर्णीत किया जाना—प्रतिकर की रकम वापस प्राप्त करने के लिए आवेदन—प्रतिकर की रकम का दुर्विनियोजन—उच्च न्यायालय द्वारा अधिकरण को इस सम्बन्ध में मार्गदर्शक सिद्धान्तों का बतलाया जाना जिससे कि प्रतिकर की रकम का दुर्विनियोजन न हो सके।

प्रस्तुत मामले में मोटरयान अधिनियम, 1939 की धारा 110-ख के अधीन आवेदन के मामले में मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण ने दुर्घटना से ग्रस्त बालकों के माता-पिता को प्रतिकर का अधिनिर्णय किए जाने की तारीख से तब तक 6% प्रतिवर्ष ब्याज की दर से राशि दिए जाने का अधिनिर्णय किया जब तक अधिनिर्णीत राशि का संदाय नहीं कर दिया जाता है। दावेदार की ओर से हाजिर होते हुए विद्वान् अधिवक्ता ने यह बतलाया कि उक्त आदेश के अनुसरण में ब्याज और आनुपातिक खर्चे सहित 146 रुपए की राशि दावा अधिकरण में जमा कर दी गई है। मूल दावेदारों की ओर से यह प्रार्थना की गई कि दावा अधिकरण में जमा की गई उक्त राशि को वापस प्राप्त करने की उन्हें अनुमति दे दी जाए। मूल आवेदक गरीब व्यक्ति है और पढ़ा लिखा भी नहीं है। इसलिए यह अनुमान लगाना युक्तियुक्त है कि अपने जीवनकाल में उन्हें किसी भी समय इतनी बड़ी रकम से सम्बन्धित कोई संव्यवहार करने का कभी अवसर नहीं मिला। अतः यह कहा गया है कि दावा अधिकरण अधिनिर्णीत रकम का इस प्रकार विनिधान करवाये जिससे उक्त रकम यों ही बरबाद न हो जाए या आवेदक उस रकम से हाथ न धो बैठे। दावा अधिकरण द्वारा प्रस्तुत मामले में सबसे महत्त्वपूर्ण बात ऐसे दावेदारों के हित का संरक्षण करना है जिससे कि प्रतिकर के तौर पर अधिनिर्णीत रकम का प्रयोजन पूरा हो जाए और दुर्घटना से होने वाली परेशानी से हुई हानि की प्रतिपूर्ति का उद्देश्य पूरा हो सके।

अभिनिर्धारित—आवेदन नामंजूर किया गया।

एकमुश्त प्रतिकर ऐसे दावेदारों को संदत्त किया जाता है, जो या तो दुर्घटना के शिकार हैं या समुचित गुणक लागू करके उनके विधिक प्रतिनिधियों को इस बात की व्यवस्था करने के लिए प्रतिकर संदत्त किया जाता है कि वे उसके या उनके भविष्य के लिए व्यवस्था करेंगे। दूसरे शब्दों में प्रतिकर की रकम को कई वर्षों में फैलाने के बजाए जिसमें प्राक्कलित भविष्य की जीवनावधि को ध्यान में रखा जाए; सुविधा की दृष्टि से एकमुश्त रकम के संदाय करने का आदेश किया जाता है। यदि प्रतिकर धन पूर्ण रूप से या उसका सारभूत भाग दावेदारों को संदत्त कर दिया जाता है जो अपने जीवनकाल में अपने जीवन में वित्तीय अनुशासन के अभाव के कारण उक्त राशि को यों ही व्यर्थ नष्ट कर दें और यदि एक बार यह रकम इधर-उधर खर्च कर दी जाती है जिस बात के होने की पूरी सम्भावना है तो वह सामाजिक—आर्थिक उद्देश्य, जो प्रतिकर अधिनिर्णीत करके प्राप्त किए जाने का आशय रखा जाता है, पूर्ण रूप से विफल हो जाएगा। मामले में दावा अधिकरण के लिए यह नितान्त आज्ञापक बात है कि वह ऐसे दावेदारों को संरक्षण प्रदान करें, भले ही वे बाधक हों और उन्हें यह निदेश करें कि वे उन्हें अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम का एकमुश्त ही विनिधान कर दें। (पैरा 3)

प्रस्तुत मामले में दावा अधिकरण को यह निदेश करने के बजाए कि वह निक्षिप्त रकम आवेदकों को संदाय करें, दावा अधिकरण को यह निदेश दिया जा सकता है कि वे किसी अनुसूचित बैंक में 61 मास से कम न होने वाली लम्बी अवधि के लिए ब्याज सहित 14,000 रुपए की सम्पूर्ण रकम का नियत निक्षेप में विनिधान कर दें और यह व्यवस्था करें कि उक्त निक्षेप पर ब्याज प्रतिमास बैंक द्वारा आवेदकों को संदत्त कर दिया जाना चाहिए। (पैरा 4)

अप्राप्तवयों के मामलों में दावा अधिकरण को हमेशा ही यह आदेश करना चाहिए कि अप्राप्तवय को लम्बी अवधि के लिए नियत निक्षेप की रकम का विनिधान उस समय तक के लिए कर देना चाहिए जब तक कि अवयस्क वयस्कता की स्थिति में नहीं हो जाता है। (i) संरक्षक या वाद-मित्र द्वारा किए गए व्यय वापस करने की मंजूरी दी जानी चाहिए। (ii) निरक्षर दावेदारों की दशा में दावा अधिकरण को ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु यदि किसी जंगम संपत्ति या स्थावर संपत्ति जैसे कृषिक उपकरण, रिक्शा आदि को खरीदने के लिए रकम जिससे कि वे आजीविका अर्जित कर सकें, अधिकरण यह बात सुनिश्चित करने के पश्चात् ऐसी प्रार्थना पर विचार कर सकता है कि ऐसे प्रयोजन के लिए रकम वास्तव में खर्च की जानी चाहिए और मानक धन वापस लेने के लिए कोई चाल नहीं है। (iii) अर्ध-शिक्षित व्यक्तियों के मामलों में अधिकरण को मामूली तौर पर ऊपर वर्णित (i) में वर्णित की गई

प्रक्रिया का सहारा लेना चाहिए जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता है कि लिखित में वर्णित किए जाने वाले कारणों से संपूर्ण या निजी रकम जिसकी विद्यमान कारबार को वढ़ाने के लिए अपेक्षा है या किसी संपत्ति को क्रय करने के लिए अपेक्षा है जैसा कि ऊपर वर्णित (ii) में वर्णित है जिससे कि आजीविका चल सके। उस मामले में अधिकरण को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि रकम उस प्रयोजन के लिए विनिहित की जाए जिसके लिए उसकी मांग की गई है और वह रकम संदत्त की गई है। (i) शिक्षित व्यक्तियों के मामलें में भी अधिकरण उसी प्रक्रिया का अनुसरण कर सकता है जैसी कि वह ऊपर (i) में वर्णित है और ऐसा (ii) और (iii) को ध्यान में रखते हुए छूट देने के अधीन है। यदि दावेदार की आयु उसकी वित्तीय पृष्ठभूमि और समाज में उसके स्तर, जिस स्तर का दावेदार है, और अन्य ऐसी बहुत-सी बातों के संबंध में अधिकरण दावेदार के वृहत्तर हित के लिए और यह बात सुनिश्चित करने के लिए कि वह पिटीशनर को अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक समझता है। (v) विधवाओं की दशा में दावा अधिकरण को चाहिए कि वह ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करे। (vi) वैयक्तिक क्षतियों के मामलों में यदि और इलाज जरूरी है तो दावा अधिकरण का इस संबंध में समाधान हो जाने पर, जो लिखित में अभिलिखित किया जाएगा, ऐसी रकम को वापस देने की अनुज्ञा दे सकता है जो ऐसे इलाज के लिए खर्च करने के लिए जरूरी है। (vii) ऐसे सभी मामलों में जिनमें लंबी अवधि के लिए नियतकालिक जमा विनिधान इस शर्त पर होना चाहिए कि बैंक किसी भी अन्य रकम पर कोई उधार या अग्रिम की अनुज्ञा नहीं दे सकता और विनिहित रकम पर ब्याज सीधे ही यथा-स्थिति दावेदार या उसके संरक्षक को प्रतिमास संदत्त किया जाएगा। (viii) सभी मामलों में अधिकरण को चाहिए कि वह आपात की स्थिति में दावेदारों को धन वापस लेने के लिए आवेदन करने की स्वतन्त्रता दे दे। ऐसी परिस्थिति को पूरा करने के लिए यदि अधिनिर्णीत रकम सारभूत है तो दावा अधिकरण उसे एक से अधिक नियतकालिक निक्षेप में विनिहित कर सकता है जिससे कि यदि आवश्यकता पड़े तो ऐसी नियतकालिक निक्षेप रसीद समाप्त की जा सके। (पैरा 6)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 का सिविल आवेदन सं० 1286.

1980 की प्रथम अपील सं० 775 में मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण द्वारा दिए गए निदेश के विरुद्ध आवेदन।

आवेदकों की ओर से ... श्री नरेन्द्र एस० देसाई

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री एम० आई० पटेल

एकमुश्त प्रतिकर ऐसे दावेदारों को संदत्त किया जाता है जो या तो दुर्घटना के शिकार हैं या समुचित गुणक लागू करके उनके विधिक प्रतिनिधियों को इस बात की व्यवस्था करने के लिए प्रतिकर संदत्त किया जाता है कि वे उसके या उनके भविष्य के लिए व्यवस्था करेंगे। दूसरे शब्दों में प्रतिकर की रकम को कई वर्षों में फैलाने के बजाए जिसमें प्राक्कलित भविष्य की जीवनावधि को ध्यान में रखा जाए, सुविधा की दृष्टि से एकमुश्त रकम के संदाय करने का आदेश किया जाता है। यदि प्रतिकर धन पूर्ण रूप से या उसका सारभूत भाग दावेदारों को संदत्त कर दिया जाता है जो अपने जीवनकाल में अपने जीवन में वित्तीय अनुशासन के अभाव के कारण उक्त राशि को यों ही व्यर्थ नष्ट कर दें और यदि एक बार यह रकम इधर-उधर खर्च कर दी जाती है जिस बात के होने की पूरी सम्भावना है तो वह सामाजिक—आर्थिक उद्देश्य, जो प्रतिकर अधिनिर्णीत करके प्राप्त किए जाने का आशय रखा जाता है, पूर्ण रूप से विफल हो जाएगा। मामले में दावा अधिकरण के लिए यह नितान्त आज्ञापक बात है कि वह ऐसे दावेदारों को संरक्षण प्रदान करें, भले ही वे बाधक हों और उन्हें यह निदेश करें कि वे उन्हें अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम का एकमुश्त ही विनिधान कर दें। (पैरा 3)

प्रस्तुत मामले में दावा अधिकरण को यह निदेश करने के बजाए कि वह निक्षिप्त रकम आवेदकों को संदाय करें, दावा अधिकरण को यह निदेश दिया जा सकता है कि वे किसी अनुसूचित बैंक में 61 मास से कम न होने वाली लम्बी अवधि के लिए ब्याज सहित 14,000 रुपए की सम्पूर्ण रकम का नियत निक्षेप में विनिधान कर दें और यह व्यवस्था करें कि उक्त निक्षेप पर ब्याज प्रतिमास बैंक द्वारा आवेदकों को संदत्त कर दिया जाना चाहिए। (पैरा 4)

अप्राप्तवयों के मामलों में दावा अधिकरण को हमेशा ही यह आदेश करना चाहिए कि अप्राप्तवय को लम्बी अवधि के लिए नियत निक्षेप की रकम का विनिधान उस समय तक के लिए कर देना चाहिए जब तक कि अवयस्क वयस्कता की स्थिति में नहीं हो जाता है। (i) संरक्षक या वाद-मित्र द्वारा किए गए व्यय वापस करने की मंजूरी दी जानी चाहिए। (ii) निरक्षर दावेदारों की दशा में दावा अधिकरण को ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु यदि किसी जंगम संपत्ति या स्थावर संपत्ति जैसे कृषिक उपकरण, रिक्शा आदि को खरीदने के लिए रकम जिससे कि वे आजीविका अर्जित कर सकें, अधिकरण यह बात सुनिश्चित करने के पश्चात् ऐसी प्रार्थना पर विचार कर सकता है कि ऐसे प्रयोजन के लिए रकम वास्तव में खर्च की जानी चाहिए और मानक धन वापस लेने के लिए कोई चाल नहीं है। (iii) अर्ध-शिक्षित व्यक्तियों के मामलों में अधिकरण को मामूली तौर पर ऊपर वर्णित (i) में वर्णित की गई

प्रक्रिया का सहारा लेना चाहिए जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता है कि लिखित में वर्णित किए जाने वाले कारणों से संपूर्ण या निजी रकम जिसकी विद्यमान कारबार को बढ़ाने के लिए अपेक्षा है या किसी संपत्ति को क्रय करने के लिए अपेक्षा है जैसा कि ऊपर वर्णित (ii) में वर्णित है जिससे कि आजीविका चल सके। उस मामले में अधिकरण को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि रकम उस प्रयोजन के लिए विनिहित की जाए जिसके लिए उसकी मांग की गई है और वह रकम संदत्त की गई है। (i) शिक्षित व्यक्तियों के मामलें में भी अधिकरण उसी प्रक्रिया का अनुसरण कर सकता है जैसी कि वह ऊपर (i) में वर्णित है और ऐसा (ii) और (iii) को ध्यान में रखते हुए छूट देने के अधीन है। यदि दावेदार की आयु उसकी वित्तीय पृष्ठभूमि और समाज में उसके स्तर, जिस स्तर का दावेदार है, और अन्य ऐसी बहुत-सी बातों के संबंध में अधिकरण दावेदार के वृहत्तर हित के लिए और यह बात सुनिश्चित करने के लिए कि वह पिटीशनर को अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक समझता है। (v) विधवाओं की दशा में दावा अधिकरण को चाहिए कि वह ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करे। (vi) वैयक्तिक क्षतियों के मामलों में यदि और इलाज जरूरी है तो दावा अधिकरण का इस संबंध में समाधान हो जाने पर, जो लिखित में अभिलिखित किया जाएगा, ऐसी रकम को वापस देने की अनुज्ञा दे सकता है जो ऐसे इलाज के लिए खर्च करने के लिए जरूरी है। (vii) ऐसे सभी मामलों में जिनमें लंबी अवधि के लिए नियतकालिक जमा विनिधान इस शर्त पर होना चाहिए कि बैंक किसी भी अन्य रकम पर कोई उधार या अग्रिम की अनुज्ञा नहीं दे सकता और विनिहित रकम पर ब्याज सीधे ही यथा-स्थिति दावेदार या उसके संरक्षक को प्रतिमास संदत्त किया जाएगा। (viii) सभी मामलों में अधिकरण को चाहिए कि वह आपात की स्थिति में दावेदारों को धन वापस लेने के लिए आवेदन करने की स्वतन्त्रता दे दे। ऐसी परिस्थिति को पूरा करने के लिए यदि अधिनिर्णीत रकम सारभूत है तो दावा अधिकरण उसे एक से अधिक नियतकालिक निक्षेप में विनिहित कर सकता है जिससे कि यदि आवश्यकता पड़े तो ऐसी नियतकालिक निक्षेप रसीद समाप्त की जा सके। (पैरा 6)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 का सिविल आवेदन सं० 1286.

1980 की प्रथम अपील सं० 775 में मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण द्वारा दिए गए निदेश के विरुद्ध आवेदन।

आवेदकों की ओर से ... **श्री नरेन्द्र एस० देसाई**

प्रत्यर्थियों की ओर से ... **श्री एम० आई० पटेल**

न्यायालय का निर्णय न्या० ए० एम० अहमदी ने दिया।

न्या० ए० एम० अहमदी :

1978 के मोटर दुर्घटना दावा आवेदन सं० 453 में नाडियाड स्थित दावा अधिकरण द्वारा अधिनिर्णीत 14,000 रुपए की राशि आनुपातिक खर्चे सहित और दावा आवेदन प्रतिकर का अधिनिर्णय किए जाने की तारीख से तब तक 6% प्रतिवर्ष ब्याज की दर से राशि दुर्घटना से ग्रस्त बालकों के माता-पिता को दिए जाने का अधिनिर्णय किया जब तक कि अधिनिर्णीत राशि का संदाय नहीं कर दिया जाता है। दावा अधिकरण ने आगे यह निदेश दिया कि राशि दावेदारों के बीच समान रूप से विभाजित की जानी चाहिए। दावा अधिकरण द्वारा 1980 की प्रथम अपील सं० 775 में दिए गए उक्त अधिनिर्णय के विरुद्ध यह अपील की गई है और यह सुनवाई के लिए ग्रहण कर ली गई है। सिविल आवेदन किए जाने पर उस अपील में अंतःकालीन रोक इस शर्त के आधार पर मंजूर की गई थी कि अपीलार्थीगण, दावा अधिकरण द्वारा अधिनिर्णीत संपूर्ण रकम अधिकरण के पास उक्त आदेश किए जाने के 4 सप्ताह के भीतर जमा कर दें। श्री एन० एस० देसाई ने हमें यह बतलाया कि मूल दावेदार की ओर से हाजिर होते हुए विद्वान् अधिवक्ता ने यह बतलाया है कि उक्त आदेश के अनुसरण में ब्याज और आनुपातिक खर्चे सहित 14,000 रुपए की राशि दावा अधिकरण में जमा कर दी गई है। अतः मूल दावेदारों की ओर से यह सिविल आवेदन पेश करते हुए उसने यह प्रार्थना की है कि दावा अधिकरण में जमा की गई उक्त राशि को वापस प्राप्त करने की अनुमति दे दी जाए।

2. इस सिविल आवेदन में यह वर्णित किया गया है कि आवेदक और मूल दावेदार गरीब व्यक्ति हैं और उन्हें धन की आवश्यकता है तथा उनकी आवश्यकता विस्तार से नहीं बतलाई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि आवेदक यह जानता है कि अपना नाम किस प्रकार लिखा जाए। किन्तु जहां तक आवेदक सं० 2 का सम्बन्ध है, उसने अपने अगूठे का निशान लगाया है जो किसी व्यक्ति द्वारा भी प्रमाणित नहीं किया गया है। दोनों आवेदक हरिजन हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे निरक्षर हैं। यह स्वीकार किया गया है कि वे गरीब व्यक्ति हैं और इसलिए यह अनुमान लगाना युक्तियुक्त है कि उन्होंने अपने जीवनकाल के दौरान किसी भी समय ब्याज और खर्चे सहित 14,000 रुपए की बड़ी रकम से सम्बन्धित कोई सव्यवहार कभी नहीं किया है। अतः वर्तमान आवेदकों से किसी वित्तीय अनुशासन की आशा करना बहुत अधिक आशा करने के बराबर होगा। हमारा यह विचार है कि दावा अधिकरण ने कोई ऐसा उपबन्ध किया होता जिससे उन्हें अधिनिर्णीत रकम का विनिधान किया जा सकता जिससे

उक्त रकम यों ही बर्बाद न हो जाए या आवेदक उस रकम से हाथ न धो बैठें। वर्तमान मामले के समान मामलों में दावा अधिकरण द्वारा विचार की जाने वाली बात में सबसे महत्त्वपूर्ण बात ऐसे दावेदारों के हित का संरक्षण करना है जिससे कि प्रतिकर के तौर पर अधिनिर्णीत रकम का प्रयोजन पूरा हो जाए और दुर्घटना से होने वाली परेशानी से हुई हानि की प्रतिपूर्ति का उद्देश्य पूरा हो सके। यदि अधिकरण ऐसे दावेदारों का संरक्षण करने में असफल होता है और यदि उन्हें अधिनिर्णीत की गई रकम व्यर्थ खर्च कर दी जाती है तो प्रतिकर अधिनिर्णीत करने का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। ऐसे आवेदकों को संरक्षण करने के तरीकों में से एक तरीका यह है कि ऐसे आवेदकों को अधिनिर्णीत रकम का विनिधान करने का उन्हें निदेश दिया जाए जिससे विनिधान से उन्हें लगातार आय मिलती रहे और मूलधन यथावत् बना रहे।

3. इस बात पर विचार करते समय हमें बहुत दुःख है कि दावा अधिकरण यह अनुभव करते हैं कि दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को या उसके विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिकर अधिनिर्णीत करना ही पर्याप्त नहीं है। किन्तु उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि अधिनिर्णीत रकम व्यर्थ खर्च न कर दी जाए। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि एकमुश्त प्रतिकर ऐसे दावेदारों को संदत्त किया जाता है जो या तो दुर्घटना के शिकार हैं या समुचित गुणक लागू करके उनके विधिक प्रतिनिधियों को इस बात की व्यवस्था करने के लिए प्रतिकर संदत्त किया जाता है कि वे उसके या उनके भविष्य के लिए व्यवस्था करेंगे। दूसरे शब्दों में प्रतिकर की रकम को कई वर्षों में फैलाने के बजाए जिसमें प्राक्कलित भविष्य की जीवनावधि को ध्यान में रखा जाए, सुविधा की दृष्टि से एकमुश्त रकम के संदाय करने का आदेश किया जाता है। यदि प्रतिकर धन पूर्ण रूप से या उसका सारभूत भाग दावेदारों को संदत्त कर दिया जाता है जिन्होंने अपने जीवनकाल में कभी भी इतनी बड़ी रकम खर्च नहीं की है तो इस बात का खतरा है कि वे अपने जीवन में वित्तीय अनुशासन के अभाव के कारण उक्त राशि को यों ही व्यर्थ नष्ट कर दें। यदि एक बार यह रकम इधर-उधर खर्च कर दी जाती है जिस बात के होने की पूरी संभावना है तो वह सामाजिक, आर्थिक उद्देश्य जो प्रतिकर अधिनिर्णीत करके प्राप्त किए जाने का आशय रखा जाता है, पूर्ण रूप से विफल हो जाएगा। अतः हमारा यह मत है कि ऐसे मामलों में दावा अधिकरण के लिए यह नितांत आवश्यक बात है कि वह ऐसे दावेदारों को संरक्षण प्रदान करें, भले ही वे वयस्क हों और उन्हें यह निदेश करें कि वे उन्हें अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम का एकमुश्त ही विनिधान कर दें। अतः हम श्री देसाई की इस दलील से प्रभावित नहीं हैं कि चूंकि दूसरे खंड न्यायपीठ ने

दूसरी अपील में जो अधिनिर्णीत किए गए प्रतिकर के सम्बन्ध में उद्‌भूत हुई थी, यह निदेश दिया कि 50% रकम बिना प्रतिभूति के संदत्त की जाएगी और शेष 50% अधिकरण को समाधानप्रद रूप से प्रतिभूति देकर दी जाएगी। हमें भी इस आवेदन में ऐसा ही आदेश करना चाहिए। किए जाने वाले अंतरिम स्वरूप का आदेश प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है किन्तु हमारा विचार है कि अधिकांशतः यदि दावा अधिकरण दावेदारों के हित को ध्यान में रखते हैं और दावेदारों को अधिनिर्णीत किए गए प्रतिकर में से सारभूत रकम किसी अनुसूचित बैंक में लम्बी अवधि की नियत कालावधि के लिए जमा करते हैं तो अधिकरण दावेदारों की सेवा कर रहे होंगे। उक्त दावेदारों में से बहुत से इतनी बड़ी रकम अपने जीवनकाल में नहीं प्राप्त कर सके होंगे और वे इस बात का विनिश्चय करने में भी असमर्थ होंगे कि वे किस प्रकार उन्हें अधिनिर्णीत किए गए धन का उपयोग कर सकते हैं। हमारा यह विचार है कि यदि दावा अधिकरण द्वारा यह बात ध्यान में रखी जाए तो दावेदार कुछ सुखद स्थिति में होंगे क्योंकि उन्हें अपने विनिधान से नियत समय पर लगातार आमदनी प्राप्त होती रहेगी और मूलधन यथावत् सुरक्षित बना रहेगा।

4. अतः हमारी यह राय है कि प्रस्तुत मामले में भी दावा अधिकरण को यह निदेश करने के बजाए कि वे निक्षिप्त रकम आवेदकों को संदाय करे, दावा अधिकरण को यह निदेश दिया जा सकता है कि वे किसी अनुसूचित बैंक में 61 मास से कम न होने वाली लम्बी अवधि के लिए ब्याज सहित 14,000 रुपए की संपूर्ण रकम को नियत निक्षेप में विनिधान कर दें और यह व्यवस्था करें कि उक्त निक्षेप पर ब्याज प्रतिमास बैंक द्वारा आवेदकों को संदत्त कर दिया जाना चाहिए। दावा अधिकरण अपने द्वारा किए गए प्रभाजन के आदेश के अनुसार विनिधान करने के लिए स्वतंत्र होगा। आवेदकों को अधिनिर्णीत खर्चे की रकम उनके द्वारा प्रतिभूति दिए बिना ही उन्हें संदत्त कर दी जाए।

5. दावा अधिकरण लम्बी अवधि के लिए नियत निक्षेपों में उक्त रकम का विनिधान करते समय यह बात भी सावधानी से देखेगा कि मूल पूंजी यथावत् बनी रहती है जिससे कि दावा अधिकरण से स्पष्ट मंजूरी अभिप्राप्त किए बिना बैंक आवेदकों को उक्त नियत निक्षेप पर कोई उधार या अग्रिम दिए जाने की अनुज्ञा न दे। नियत निक्षेप रकम जारी करते समय बैंक को रसीद के मुख्य पृष्ठ पर यह पृष्ठांकन करना चाहिए कि उक्त रसीद के आधार पर कोई उधार या अग्रिम मंजूर नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि इस निमित्त अधिकरण का कोई अभिव्यक्त आदेश न हो। बैंक के अभिलेखों में भी इसी प्रकार का एक टिप्पण किया जाना चाहिए जिससे कि दूसरी रसीद प्राप्त करके उधार या अग्रिम

अभिप्राप्त करने की संभावना को पूर्ण रूप से समाप्त किया जा सके। तीन वर्ष की कालावधि के बीतने पर दावा अधिकरण इस बात पर विचार करेगा कि क्या निक्षेप और बढ़ाया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया जाना चाहिए तो वह कितनी कालावधि के लिए किया जाना चाहिए।

6. इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि आये दिन विभिन्न प्रवर्गों के दावेदारों को हजारों रुपए प्रतिकर के तौर पर संदत्त किया जाता है, हमारा विचार है कि हम इस निर्णय को समाप्त करने के पहले कुछ मोटी रूप-रेखा दे दें जिन्हें मोटरयान अधिनियम, 1939 के अधीन उद्भूत होने वाले दावों के आवेदनों का निपटारा करते समय दावा अधिकरण उनका अनुपालन कर सकें। ऐसा करने से प्रतिकर के धन के दुर्विनियोजन से सम्बन्धित शिकायतें समाप्त हो जाएंगी।

(i) अप्राप्तवयों के मामलों में दावा अधिकरण को हमेशा ही यह आदेश करना चाहिए कि अप्राप्तवय को लम्बी अवधि के लिए नियत निक्षेप की रकम का विनिधान उस समय तक के लिए कर देना चाहिए जब तक कि अवयस्क वयस्कता की स्थिति में नहीं हो जाता है। संरक्षक या वाद-मित्र द्वारा किए गए व्यय वापस करने की मंजूरी दी जानी चाहिए।

(ii) निरक्षर दावेदारों की दशा में दावा अधिकरण को ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु यदि किसी जंगम संपत्ति या स्थावर संपत्ति जैसे कृषिक उपकरण, रिक्शा आदि को खरीदने के लिए रकम जिससे कि वे आजीविका अर्जित कर सकें, अधिकरण यह बात सुनिश्चित करने के पश्चात् ऐसी प्रार्थना पर विचार कर सकता है कि ऐसे प्रयोजन के लिए रकम वास्तव में खर्च की जानी चाहिए और मानक धन वापस लेने के लिए कोई चाल नहीं है।

(iii) अर्ध शिक्षित व्यक्तियों के मामलों में अधिकरण को मामूली तौर पर ऊपर वर्णित (i) में वर्णित की गई प्रक्रिया का सहारा लेना चाहिए जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता है कि लिखित में वर्णित किए जाने वाले कारणों से संपूर्ण या निजी रकम किसी विद्यमान कारबार को बढ़ाने के लिए अपेक्षित है या किसी संपत्ति को क्रय करने के लिए अपेक्षित है जैसा कि ऊपर वर्णित (ii) में वर्णित है जिससे कि आजीविका चल सके। उस मामले में अधिकरण को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि रकम उस प्रयोजन के लिए विनिहित की जाए जिसके लिए उसकी मांग की गई है और वह रकम संदत्त की गई है।

(iv) शिक्षित व्यक्तियों के मामले में भी अधिकरण उसी प्रक्रिया का अनुसरण कर सकता है जैसी कि वह ऊपर (i) में वर्णित है और ऐसा (ii) और (iii) को ध्यान में रखते हुए छूट देने के अधीन है। यदि दावेदार की आयु, उसकी वित्तीय पृष्ठभूमि और समाज में उसके स्तर जिस स्तर का दावेदार है और अन्य ऐसी बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में अधिकरण दावेदार के बृहत्तर हित के लिए और यह बात सुनिश्चित करने के लिए कि वह पिटीशनर को अधिनिर्णीत प्रतिकर की रकम की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक समझता है।

(v) विधवाओं की दशा में दावा अधिकरण को चाहिए कि वह ऊपर (i) में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करे।

(vi) वैयक्तिक क्षतियों के मामलों में यदि और इलाज जरूरी है तो दावा अधिकरण का इस सम्बन्ध में समाधान हो जाने पर जो लिखित में अभिलिखित किया जाएगा, ऐसी रकम को वापस देने की अनुज्ञा दे सकता है जो ऐसे इलाज के लिए खर्च करने के लिए जरूरी है।

(vii) ऐसे सभी मामलों में जिनमें लम्बी अवधि के लिए नियतकालिक जमा विनिधान इस शर्त पर होना चाहिए कि बैंक किसी भी अन्य रकम पर कोई उधार या अग्रिम की अनुज्ञा नहीं दे सकता और विनिहित रकम पर ब्याज सीधे ही यथा-स्थिति दावेदार या उसके संरक्षक को प्रतिमास संदत्त किया जाएगा।

(viii) सभी मामलों में अधिकरण को चाहिए कि वह आपात की स्थिति में दावेदारों को धन वापस लेने के लिए आवेदन करने की स्वतंत्रता दे दे। ऐसी परिस्थिति को पूरा करने के लिए यदि अधिनिर्णीत रकम सारभूत है तो दावा अधिकरण उसे एक से अधिक नियतकालिक निक्षेप में विनिहित कर सकता है जिससे कि यदि आवश्यकता पड़े तो ऐसी नियतकालिक एक निक्षेप रसीद समाप्त की जा सके।

7. ये मार्गदर्शक सिद्धांत सुविस्तृत नहीं हैं किन्तु केवल दृष्टांत स्वरूप हैं।

8. इस आदेश की एक प्रति माननीय मु० न्या० के समक्ष रखी जाए जिससे कि वह यह निदेश दे सकें कि इस परिपत्र को सभी दावा अधिकरणों के समक्ष पेश किया जाए।

मि० आवेदन नामंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : गुजरात—9

मेहसाना जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक लिमिटेड और अन्य
बनाम रजिस्ट्रार, सहकारी सोसाइटी और अन्य

(Mehsana Distt. Central Co-operative Bank Ltd. and others *Vs.* The Registrar, Co-operative Societies and others)

तारीख 13 जून, 1983

[न्या० एस० बी० मजमूदार]

1. गुजरात को-आपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1962—धारा 160 (1982 के अधिनियम सं० 23 द्वारा यथा संशोधित)—रजिस्ट्रार द्वारा निदेशक के पद भरने के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले उम्मीदवारों के नामांकन पत्रों की निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में संवीक्षा किए जाने के समय उपस्थित रहने के लिए किसी प्रेक्षक की प्रतिनियुक्ति का निदेश धारा 160 के उपबंधों से पूरी तरह असम्बद्ध है—अतः ऐसा आदेश अकृत और शून्य है तथा अभिखण्डित किया जा सकेगा।

2. गुजरात को-आपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1962—धारा 88 (1982 के अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित) तथा धारा 89—सहकारी बैंक के प्रबन्धक से बैंक के कार्यकलाप के सम्बन्ध में कतिपय जानकारी मांगने की शक्ति किसी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति के अन्तर्गत आती है अर्थात् जानकारी मांगने के लिए आदेश एवं पत्र जारी करने के लिए सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण उसकी एक पुरोभाव्य शर्त है—अतः लेखाबहियों के निरीक्षण से अलग रहकर जानकारी मांगने के लिए दिया गया आदेश अवैध और अधिकारातीत होने के आधार पर अपास्त किया जा सकेगा।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 के साथ पठित अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में किए गए प्रस्तुत रिट पिटीशन में पिटीशनर बैंक ने प्रत्यर्थी-रजिस्ट्रार द्वारा जारी किए गए आदेशों को इस आधार पर चुनौती दी है कि चूंकि प्रत्यर्थी को गुजरात को-आपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1962 के अधीन आक्षेपित आदेश जारी करने की कोई शक्ति या प्राधिकार नहीं है और वे असद्भावपूर्वक जारी किए गए हैं अतः वे पूरी तरह अधिनियम के उपबंधों से असम्बद्ध हैं तथा अधिकारातीत और शून्य हैं।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

जहां तक गुजरात कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1962 की धारा 160 के अधीन रजिस्ट्रार द्वारा दिए गए आदेश का सम्बन्ध है वह इस प्रकार है कि रजिस्ट्रार द्वारा उस समय, जब बैंक के निदेशक बोर्ड की रिक्तियों को भरने के लिए उम्मीदवारों के नामांकनपत्रों की संवीक्षा की जाएगी, बैंक के निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए एक प्रेक्षक प्रतिनियुक्त किया जाएगा। 1982 के गुजरात अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित धारा 160 का परिशीलन करने से यह दर्शित होता है कि रजिस्ट्रार स्वयमेव या अन्यथा अधिनियम के अधीन काम करने वाली सोसाइटियों को कतिपय निदेश जारी कर सकता है। ये निदेश ऐसी स्थिति में जारी किए जा सकते हैं जहां रजिस्ट्रार का लोकहित में यह समाधान हो जाता है कि ऐसे निदेश जारी किए जाने के लिए या राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित या चलाए गए सहकारी उत्पादन और अन्य विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए या सहकारी क्रियाकलापों के संयोजन और समेकन के लिए, जैसे विपणन और प्रत्यय या साधारणतः सोसाइटी के कारबार का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के लिए या सोसाइटी के काम-काज का सोसाइटी के सदस्यों के हित के लिए या उसके निक्षेपकर्ताओं या लेनदारों के हित के लिए अपायकर रीति में संचालन किए जाने को रोकने के लिए अपेक्षित हैं। केवल उपर्युक्त परिस्थितियों में ही रजिस्ट्रार ऐसें निदेश जारी कर सकता है। निदेशक-बोर्ड के अधिवेशन में की जाने वाली नामांकनपत्रों की संवीक्षा के समय उपस्थित रहने के लिए किसी प्रेक्षक को नामनिर्देशित किए जाने को या तो लोकहित में या सहकारी उत्पादन का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए या उक्त धारा में यथाअनुध्यात किसी अन्य उद्देश्य को प्रभावी करने के प्रयोजन के लिए निदेश नहीं कहा जा सकता। परिणामतः आक्षेपित आदेश अधिनियम की धारा 160 के उपबंधों से पूरी तरह असम्बद्ध है। उपधारा (1) और उपधारा (3) के संयुक्त परिशीलन से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि रजिस्ट्रार को ऐसी प्रकृति का निदेश जारी करने की शक्ति है जिनका सम्बन्धित सोसाइटी द्वारा अनुपालन किया जाना अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में, सम्बन्धित सोसाइटी से धारा 160(1) में अनुध्यात परिस्थितियों में रजिस्ट्रार द्वारा सम्बन्धित निदेशों में उल्लिखित कतिपय विनिर्दिष्ट कार्य करने या न करने की अपेक्षा की जा सकती है। अतः सम्बन्धित निदेशों का अनुपालन ऐसी सम्बन्धित सोसाइटी द्वारा किया जाना चाहिए जिसे ऐसे निदेश प्राप्त होते हैं। केवल इसी प्रकार के निदेश धारा 160(1) में अनुध्यात हैं। निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए किसी प्रेक्षक की प्रतिनियुक्ति को अधिक से अधिक रजिस्ट्रार द्वारा एक प्रेक्षक को प्रतिनियुक्त किए जाने के बारे में बैंक को सूचना देना माना जा सकता है। ऐसी

कोई भी सूचना धारा 160(1) के उपबंधों के अधीन रजिस्ट्रार द्वारा जारी नहीं की जा सकती है क्योंकि ऐसी सूचना को किसी भी कल्पना के आधार पर सोसाइटी के लिए ऐसा निदेश नहीं माना जा सकता जिसका सोसाइटी को पालन करना आवश्यक हो। अतः यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इन दोनों ही आधारों पर कि आक्षेपित आदेश धारा 160(1) की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता क्योंकि धारा 160(1) के अधीन शक्तियों का प्रयोग किए जाने की किसी भी पुरोभाव्य शर्त का अनुपालन नहीं किया गया है और साथ ही इस अतिरिक्त आधार पर भी कि आदेश द्वारा धारा 160(1) में यथाअपेक्षित बैंक को कोई निदेश जारी नहीं किया गया है, आक्षेपित आदेश धारा 160(1) से असम्बद्ध और अधिकारातीत है और इस संक्षिप्त आधार पर भी इसे अकृत और शून्य तथा अस्तित्वहीन घोषित किया जाना चाहिए। (पैरा 8)

1982 के गुजरात अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित धारा 88 के अनुशीलन मात्र से यह दर्शित होता है कि रजिस्ट्रार या इस निमित्त उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति को किसी भी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने का अधिकार होगा और ऐसी लेखाबहियों, लेखाओं, दस्तावेजों, प्रतिभूतियों, नकद और अन्य सम्पत्तियों तक, जो सोसाइटी की हों या उसकी अभिरक्षा में हों, अबाध पहुंच होगी। यही अधिनियम की धारा 88 की उपधारा (1)(क) में अधिकथित किया गया है। धारा 88 की इन दोनों ही उपधारा (2) और (3) से यह उपदर्शित होता है कि लेखाबहियों के निरीक्षण की शक्ति के साथ-साथ सम्बन्धित प्राधिकारियों अर्थात् सहकारी वित्तीय बैंक और साथ ही केन्द्रीय सोसाइटी को आवश्यक सूचना मांगने और अपेक्षा करने की भी शक्ति दी गई है। इसी प्रकार धारा 88(1)(क) और (ख) के अन्तर्गत जानकारी मांगने की शक्ति किसी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति में अन्तर्वलित है। इस दलील के साथ सहमत होना सम्भव नहीं है कि धारा 88(1)(ख) उन आकस्मिक स्थितियों से अलग, जिनमें रजिस्ट्रार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा सम्बन्धित सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण किया जाता है, किसी भी सोसाइटी से जानकारी मांगने की शक्ति प्रदान करती है। अतः लेखाबहियों और अन्य सुसंगत दस्तावेजों का निरीक्षण सम्बन्धित सोसाइटी के साथ-साथ रजिस्ट्रार को प्रदत्त मुख्य शक्ति है और इस शक्ति के अनुसरण में और उसके प्रयोग के दौरान यदि सम्बन्धित संव्यवहार और सोसाइटी के काम-काज के बारे में कोई जानकारी मांगने की आवश्यकता उत्पन्न होती है तो रजिस्ट्रार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति सम्बन्धित सोसाइटी से धारा 88(1)(ख) के अनुसार उक्त जानकारी देने की अपेक्षा करने के लिए हकदार है। धारा 88 की इस उपधारा

के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि धारा 88(1)(ख) के अधीन सुसंगत जानकारी की अपेक्षा करने की शक्ति रजिस्ट्रार द्वारा या उसके द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति द्वारा सोसाइटी की सम्बन्धित लेखाबहियों का निरीक्षण करने के अधिकार के प्रयोग को देखते हुए प्रदान की गई है जैसा कि धारा 88(1) में उपबंध किया गया है और वह शून्य में या उससे अलग रहकर प्रदान नहीं की गई है। धारा 88 से यह भी उपदर्शित होता है कि धारा 88 के अधीन मुख्य शक्ति सोसाइटी की सुसंगत लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति है और इसलिए जानकारी मांगने की शक्ति निरीक्षण की उक्त शक्ति से उद्भूत होती है और वह रजिस्ट्रार या उसके प्राधिकृत व्यक्ति में निरीक्षण की शक्ति से अलग निहित नहीं है। आक्षेपित आदेश एवं पत्र से किसी भी प्रकार यह दर्शित नहीं होता कि वह बैंक की लेखाबहियों का निरीक्षण करने के दौरान जारी किया गया है। आक्षेपित आदेश से यह प्रतीत होता है कि वह स्वतन्त्र रूप से जारी किया गया है और वह धारा 88(1)(क) में अनुध्यात ऐसा निरीक्षण करने के दौरान जारी नहीं किया गया है। इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि आक्षेपित पत्र एवं आदेश अधिनियम की धारा 88(1)(ख) के साथ पठित धारा 88(1)(क) के अन्तर्गत नहीं आता और इसलिए ऐसा आदेश जारी किए जाने की पुरोभाव्य शर्त का अभाव है। अतः आक्षेपित आदेश अधिनियम की धारा 88 के उपबंधों से असम्बद्ध होने के आधार पर अभिखण्डित और अपास्त किया जाता है। अतः वह अकृत और शून्य है। (पैरा 10)

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का विशेष सिविल आवेदन सं० 3674.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से ... श्री के० जी० वखारिया

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री एम० ए० बुखारी, भाई शंकर कांग और गिरधारी लाल

न्या० एस० बी० मजमूदार :

भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 के साथ पठित अनुच्छेद 226 के अधीन किए गए इस पिटीशन में पिटीशनरों ने, जो कि क्रमशः मेहसाना जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक और उसके अध्यक्ष हैं, क्रमशः सहकारी सोसाइटी गुजरात राज्य के रजिस्ट्रार, प्रत्यर्थी सं० 1 और साथ ही उप-रजिस्ट्रार (सहकारी सोसाइटी) प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा जारी किए गए दो पत्र एवं आदेश,

उपाबंध ए और बी, को चुनौती दी है। पिटीशनरों ने यह दलील दी है कि सम्बन्धित प्रत्यर्थियों को, जिन्होंने गुजरात कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट, 1961 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) के सुसंगत उपबंधों के अधीन कानूनी शक्तियों का प्रयोग किया है, आक्षेपित आदेश जारी करने की कोई शक्ति या प्राधिकार नहीं है। उन्होंने आगे यह और दलील दी कि उक्त आदेश असद्भावपूर्वक जारी किए गए हैं।

2. पिटीशनरों के उपर्युक्त परिवाद का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके कुछ सुसंगत तथ्यों पर ध्यान दिया जाए। पिटीशनर सं० 1 एक केन्द्रीय सहकारी बैंक है। पिटीशनर सं० 2 उक्त बैंक का निर्वाचित अध्यक्ष है। पिटीशनर सं० 1 इस राज्य में एक प्रमुख जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक है जिसका लगभग 40 करोड़ रुपये का निक्षेप है। पिटीशनर बैंक की उपविधियों के अनुसार निदेशक बोर्ड में चार निदेशकों के स्थान रिक्त हुए जिन्हें बहुउद्देशीय सहकारी सोसाइटी और सेवा सहकारी सोसाइटी से सम्बन्धित कलोल प्रभाग के रूप में ज्ञात निर्वाचन क्षेत्र से बारी-बारी से सेवा निवृत्त होना था और अलग-अलग सदस्यों के निर्वाचन क्षेत्र से एक निदेशक का पद भी रिक्त हुआ। उपर्युक्त रिक्तियां होने के कारण प्रथम पिटीशनर बैंक ने इन रिक्त स्थानों को उक्त अधिनियम और नियमों के उपबंधों के अनुसार भरने के लिए एक निर्वाचन कार्यक्रम घोषित किया। पिटीशनरों का पक्षकथन यह है कि प्रथम प्रत्यर्थी ने प्रत्यर्थी सं० 2 गुजरात राज्य और मेहसाना जिले में कांग्रेस (आई) के अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं के आदेश पर प्रथम प्रत्यर्थी ने यह पाया कि उपाबंध 'ए' पर दिया गया आक्षेपित आदेश निदेशक बोर्ड के उस अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए प्रत्यर्थी सं० 1 के प्रतिनिधि के रूप में श्री एम० बी० व्यास को प्रतिनियुक्त करते हुए जारी किया गया है जिसमें उपर्युक्त रिक्तियों को भरने के प्रयोजन के लिए नामांकन पत्रों की संवीक्षा की जानी थी। यह आदेश उपाबंध 'ए' पर है और वह तारीख 7-3-82 का आदेश है। यह आदेश उक्त अधिनियम की धारा 160 द्वारा प्रथम प्रत्यर्थी में निहित शक्तियों के अधीन जारी किया गया तात्पर्यित है। द्वितीय आक्षेपित पत्र एवं आदेश तारीख 31-8-82 का है, उपाबंध 'बी', जिसके अन्तर्गत यहां प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा पिटीशनर बैंक से कतिपय जानकारी मांगी गई है। जहां तक उपाबंध 'ए' पर दिए गए पत्र का सम्बन्ध है, पिटीशनर बैंक ने प्रेक्षक को उपस्थित रहने के लिए अनुज्ञात किया था क्योंकि उनके अनुसार उन्हें कुछ भी छिपाना नहीं था। किन्तु जहां तक उपाबंध 'बी' पर दिए गए आदेश का सम्बन्ध है, इस आदेश को कार्यान्वित किए जा सकने से पहले उन्होंने प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया और उपाबंध 'बी' पर दिए गए आदेश के

क्रियान्वयन के विरुद्ध अन्तरिम अनुतोष अभिप्राप्त कर लिया। इस पिटीशन के ग्रहण किए जाने के लम्बित रहने के दौरान इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए नोटिस के अनुसरण में सम्बन्धित प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 ने अपने-अपने उत्तर शपथपत्र फाइल किए और तत्पश्चात् पिटीशन अंतिम सुनवाई के लिए ग्रहण कर लिया गया और पिटीशन के लम्बित रहने के दौरान अन्तरिम अनुतोष चलते रहने का आदेश कर दिया। इस पिटीशन की अंतिम सुनवाई आज मेरे समक्ष की जा रही है।

3. पिटीशनरों के विद्वान् अधिवक्ता श्री के० जी० वखारिया ने अपने पिटीशन के समर्थन में निम्नलिखित दलीलें दी हैं :—

1. यह कि आक्षेपित आदेश द्वितीय प्रत्यर्थी के अधिकारियों द्वारा असद्भावपूर्वक और अन्तरस्थ हेतु से पारित किए गए हैं जिन्होंने अधिनियम के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग किया है और जिन्होंने ये आदेश मेहसाना जिले में कांग्रेस (आई) के कार्यकर्ताओं के राजनैतिक दबाव में आकर पारित किए हैं जिन्हें कांग्रेस (आई) की सरकार में, जो कि वर्तमान में गुजरात राज्य का शासन चला रही है, प्रमुख स्थान प्राप्त है।

2. अन्यथा भी, आक्षेपित आदेश उक्त अधिनियम के उपबंधों से असम्बद्ध हैं और वे पूरी तरह अधिकारातीत और शून्य हैं।

4. से 7. ... ...

8. अब इसके पश्चात् मैं श्री वखारिया द्वारा अपने पिटीशन के समर्थन में दी गई दूसरी दलील पर विचार करता हूं। जहां तक इस दलील का सम्बन्ध है पिटीशनरों का आधार ठोस है। जैसा कि अब देखा जाएगा यह दलील स्वीकार किए जाने योग्य है। जहां तक उपाबंध 'ए' पर दिए गए आदेश का सम्बन्ध है वह इस प्रकार है कि प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा उस समय, जब पिटीशनर बैंक के निदेशक बोर्ड की रिक्तियों को भरने के लिए उम्मीदवारों के नामांकनपत्रों की संवीक्षा की जाएगी, पिटीशनर सं० 1 बैंक के निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए एक प्रेक्षक प्रतिनियुक्त किया जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेपित आदेश उक्त अधिनियम की धारा 160 के अधीन पारित किया गया है। 1982 के गुजरात अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित धारा 160 का परिशीलन करने से यह दर्शित होता है कि रजिस्ट्रार स्वयमेव या अन्यथा अधिनियम के अधीन काम करने वाली सोसाइटियों को कतिपय निदेश जारी कर सकता है। ये निदेश ऐसी

स्थिति में जारी किए जा सकते हैं जहां रजिस्ट्रार का लोकहित में यह समाधान हो जाता है कि ऐसे निदेश जारी किए जाने के लिए या राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित या चलाए गए सहकारी उत्पादन और अन्य विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए या सहकारी क्रियाकलापों के संयोजन और समेकन के लिए जैसे विपणन और प्रत्यय या साधारणतः सोसाइटी के कारबार का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के लिए या सोसाइटी के काम-काज का सोसाइटी के सदस्यों के हित के लिए या उसके निक्षेपकर्ताओं या लेनदारों के हित के लिए अपायकर रीति में संचालन किए जाने को रोकने के लिए अपेक्षित हैं। केवल उपर्युक्त परिस्थितियों में ही रजिट्रार ऐसे निदेश जारी कर सकता है। प्रस्तुत मामले में उपर्युक्त शर्तों में से कोई भी शर्त पूरी नहीं हुई। निदेशक-बोर्ड के अधिवेशन में की जाने वाली नामांकनपत्रों की संवीक्षा के समय उपस्थित रहने के लिए किसी प्रेक्षक को नामनिर्देशित किए जाने को या तो लोकहित में या सहकारी उत्पादन का उचित कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए या उक्त धारा में यथाअनुध्यात किसी अन्य उद्देश्यों को प्रभावी करने के प्रयोजन के लिए निदेश नहीं कहा जा सकता। परिणामतः उपाबंध 'ए' पर दिया गया आदेश अधिनियम की धारा 160 के उपबंधों से पूरी तरह असम्बद्ध है। अन्यथा भी उक्त आदेश में एक और कमी है जिसके कारण वह अधिनियम की धारा 160(1) के उपबंधों के बाहर हो जाता है। वह कमी यह है कि उपर्युक्त उपबंधों के अधीन प्रथम प्रत्यर्थी सोसाइटी को ऐसे निदेश जारी कर सकता है जिनका सम्बन्धित सोसाइटी द्वारा अनुपालन किया जाना अपेक्षित है। धारा 160 की उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया है कि रजिस्ट्रार स्वप्रेरणा से या अन्यथा उपधारा (1) के अधीन जारी किए गए किसी भी निदेश को उपान्तरित या रद्द कर सकता है और ऐसे निदेशों को उपान्तरित या रद्द करते समय वह ऐसी शर्तें अधिरोपित कर सकता है जो वह ठीक समझें। उपधारा (3) में यह उपबंध किया गया है कि जहां रजिस्ट्रार का यह समाधान हो जाता है कि यथास्थिति समिति या सोसाइटी का साधारण निकाय, जिसका कर्तव्य यथाउपर्युक्त जारी किए गए या उपान्तरित किए गए किसी भी निदेश का अनुपालन करना होता है, ऐसे निदेशों का अनुपालन करने में बिना किसी युक्तियुक्त या पर्याप्त कारण के असफल हो गया है तो रजिस्ट्रार यथास्थिति धारा 81 की उपधारा (1) के अधीन या धारा 107 की उपधारा (1) के अधीन स्वयं को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। उपधारा (1) और उपधारा (3) के संयुक्त परिशीलन से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि रजिस्ट्रार को ऐसी प्रकृति का निदेश जारी करने की शक्ति है जिनका सम्बन्धित सोसाइटी द्वारा अनुपालन किया जाना अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में,

सम्बन्धित सोसाइटी से धारा 160(1) में अनुध्यात परिस्थितियों में रजिस्ट्रार द्वारा सम्बन्धित निदेशों में उल्लिखित कतिपय विनिर्दिष्ट कार्य करने या न करने की अपेक्षा की जा सकती है। अतः सम्बन्धित निदेशों का अनुपालन ऐसी सम्बन्धित सोसाइटी द्वारा किया जाना चाहिए जिसे ऐसे निदेश प्राप्त होते हैं। केवल इसी प्रकार के निदेश धारा 160(1) में अनुध्यात हैं। प्रस्तुत मामले में उपाबंध 'ए' पर दिए गए आदेश से यह दर्शित होता है कि पिटीशनर बैंक को ऐसे कोई भी निदेश जारी नहीं किए गए हैं। उससे केवल यह उपदर्शित होता है कि निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में, जहां नामांकनपत्रों की संवीक्षा की जानी थी, प्रथम प्रत्यर्थी के प्रतिनिधि श्री व्यास को एक प्रेक्षक के रूप में वहां उपस्थित रहना था। इसको प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा पिटीशनर बैंक को दिया गया ऐसा निदेश नहीं कहा जा सकता जिसका स्वयं पिटीशनर बैंक द्वारा अनुपालन किया जाना अपेक्षित हो। निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए किसी प्रेक्षक की प्रतिनियुक्ति को अधिक से अधिक प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा एक प्रेक्षक को प्रतिनियुक्त किए जाने के बारे में पिटीशनर बैंक को सूचना देना माना जा सकता है। ऐसी कोई भी सूचना धारा 160(1) के उपबंधों के अधीन प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा जारी नहीं की जा सकती है क्योंकि ऐसी सूचना को किसी भी कल्पना के आधार पर सोसाइटी के लिए ऐसा निदेश नहीं माना जा सकता जिसका सोसाइटी को पालन करना आवश्यक हो। मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में एक प्रेक्षक के रूप में अपने प्रतिनिधि को प्रतिनियुक्त किए जाने के बारे में प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा सूचना दिए जाने के बारे में पिटीशनर बैंक द्वारा किस निदेश का अनुपालन किया जाना आवश्यक है। अतः यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इन दोनों ही आधारों पर कि आक्षेपित आदेश धारा 160(1) की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता क्योंकि धारा 160(1) के अधीन शक्तियों का प्रयोग किए जाने की किसी भी पुरोभाव्य शर्त का प्रस्तुत मामले में अनुपालन नहीं किया गया है और साथ ही इस अतिरिक्त आधार पर भी कि आदेश द्वारा धारा 160(1) में यथाअपेक्षित पिटीशनर बैंक को कोई निदेश जारी नहीं किया गया है, उपाबंध 'ए' पर दिया गया आक्षेपित आदेश धारा 160(1) से असम्बद्ध और अधिकारातीत है और इस संक्षिप्त आधार पर भी इसे अकृत और शून्य तथा अस्तित्वहीन घोषित किया जाना चाहिए। यह सही है कि पिटीशनर सं० 1 बैंक ने स्वेच्छा से प्रेक्षक को उस समय उपस्थित रहने के लिए अनुज्ञात किया है जब निदेशक बोर्ड के अधिवेशन में नामांकनपत्रों की संवीक्षा की जानी थी। किन्तु यह बात न तो यहां पाई जाती है और न उस आदेश में ही पाई जाती है। अतः पिटीशनर उपाबंध 'ए' पर दिए गए आक्षेपित आदेश की अविधिमान्यता

के बारे में उपर्युक्त घोषणा पाने के हकदार हैं। इस निमित्त पिटीशनरों को कोई और अनुतोष प्रदान नहीं किया जा सकता क्योंकि आक्षेपित आदेश पहले ही कार्यान्वित किया जा चुका है।

9. तत्पश्चात् मैं उपाबंध 'बी' पर दिए गए आदेश की वैधता पर विचार करता हूं। प्रथमतः उपाबंध 'बी' पर दिए गए उक्त आदेश को देखने मात्र से यह दर्शित होता है कि वह प्रत्यर्थी सं० 3 के हस्ताक्षर से पिटीशनर बैंक के प्रबन्धक को जारी किया गया है। इस पत्र की विषयवस्तु से यह दर्शित होता है कि पिटीशनर बैंक से कतिपय आवश्यक जानकारी मांगी गई है और इस पत्र के प्रथम पैरा से यह दर्शित होता है कि यह प्रार्थना पिटीशनर बैंक के प्रबन्धक से पिटीशनर बैंक के काम-काज के सम्बन्ध में कतिपय जानकारी देने के लिए की गई है। परिणामतः यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इस पत्र में पिटीशनर बैंक के लिए कोई भी आदेश अन्तर्विष्ट नहीं है। यह केवल तृतीय प्रत्यर्थी से, जो कि अधिनियम के अधीन शक्तियों का प्रयोग करने वाला एक अधिकारी है, कतिपय जानकारी देने के लिए एक अनुरोध पत्र है। पिटीशनर की ओर से श्री वखारिया ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि यदि उपाबंध 'बी' पर दिए गए आक्षेपित आदेश को एक अनुरोधपत्र माना जाता है तो उसे उसके बारे में कोई भी शिकायत नहीं होगी क्योंकि अधिनियम के अधीन कार्य करने वाले अधिकारी को पिटीशनर सं० 1 जैसी सम्बन्धित बैंकों को, जो कि उक्त अधिनियम के अन्तर्गत कार्य कर रही हैं, अनुरोधपत्र जारी करने की शक्ति है। इस पत्र के अनुशीलन मात्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह एक आदेश नहीं है बल्कि एक अनुरोध है और परिणामतः उक्त अनुरोध पत्र के सम्बन्ध में कोई और आदेश पारित किए जाने का प्रश्न नहीं उठता।

10. तथापि उत्तर शपथपत्र में प्रत्यर्थी सं० 3 ने यह पक्षाधार लिया है कि उसने अधिनियम की धारा 88 के अधीन उपाबंध 'बी' पर दिया गया आदेश जारी किया है। उपाबंध 'बी' पर दिए गए अनुरोधपत्र की स्पष्ट भाषा के होते हुए भी प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा लिए गए उपर्युक्त विवादग्रस्त पक्षाधार के कारण मेरे लिए उपाबंध 'बी' पर दिए गए आक्षेपित आदेश के समर्थन में पत्र सं० 3 द्वारा लिए गए उक्त पक्षाधार की परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। 1982 के गुजरात अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित धारा 88 के अनुशीलन मात्र से यह दर्शित होता है कि रजिस्ट्रार या इस निमित्त उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति को किसी भी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने का अधिकार होगा और ऐसी लेखाबहियों, लेखाओं, दस्तावेजों, प्रतिभूतियों, नकद और अन्य सम्पत्तियों तक, जो सोसाइटी की हों या उसकी अभिरक्षा में हों, अबाध पहुंच

होगी। यही अधिनियम की धारा 88 की उपधारा (1)(क) में अधिकथित किया गया है। धारा 88(1) के उपखण्ड (ख) में यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो तत्समय सोसाइटी का कोई अधिकारी या कर्मचारी है या था और सोसाइटी का प्रत्येक सदस्य और भूतपूर्व सदस्य सोसाइटी के ऐसे संव्यवहारों और काम-काज के बारे में ऐसी जानकारी देगा जो रजिस्ट्रार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति अपेक्षा करे। धारा 88 की उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया है कि उसके द्वारा वित्त पोषित सम्बन्धित सोसाइटी के साथ-साथ सहकारी वित्तीय बैंक द्वारा ऐसी ही शक्ति का प्रयोग किया जा सकेगा। धारा 88 की उपधारा (3) के अन्तर्गत ऐसी ही शक्ति सम्बन्धित सोसाइटी के साथ-साथ, जो उक्त सोसाइटी का सदस्य है; केन्द्रीय सोसाइटी को भी प्रदान की गई है। धारा 88 की इन दोनों ही उपधारा (2) और (3) से यह उपदर्शित होता है कि लेखाबहियों के निरीक्षण की शक्ति के साथ-साथ सम्बन्धित प्राधिकारियों अर्थात् सहकारी वित्तीय बैंक और साथ ही केन्द्रीय सोसाइटी को आवश्यक सूचना मांगने और अपेक्षा करने की भी शक्ति दी गई है। इसी प्रकार धारा 88(1) (क) और (ख) के अन्तर्गत जानकारी मांगने की शक्ति किसी सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति में अन्तर्वलित है। अतः प्रत्यर्थियों की ओर से श्री बुखारी की इस दलील के साथ सहमत होना सम्भव नहीं है कि धारा 88(1)(ख) उन आकस्मिक स्थितियों से अलग, जिनमें रजिस्ट्रार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा सम्बन्धित सोसाइटी की लेखाबहियों का निरीक्षण किया जाता है, किसी भी सोसाइटी से जानकारी मांगने की शक्ति प्रदान करती है। 1982 के गुजरात अधिनियम सं० 23 द्वारा यथासंशोधित धारा 88 के पार्श्व टिप्पण से भी यह दर्शित होता है कि इस धारा में रजिस्ट्रार या वित्तीय बैंक या केन्द्रीय बैंक द्वारा लेखाबहियों का निरीक्षण करना अनुध्यात है। अतः लेखाबहियों और अन्य सुसंगत दस्तावेजों का निरीक्षण सम्बन्धित सोसाइटी के साथ-साथ रजिस्ट्रार को प्रदत्त मुख्य शक्ति है और इस शक्ति के अनुसरण में और उसके प्रयोग के दौरान यदि सम्बन्धित संव्यवहार और सोसाइटी के काम-काज के बारे में कोई जानकारी मांगने की आवश्यकता उत्पन्न होती है तो रजिस्ट्रार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति सम्बन्धित सोसाइटी से धारा 88(1)(ख) के अनुसार उक्त जानकारी देने की अपेक्षा करने के लिए हकदार है। यह बात भी तर्क के अनुसार ठीक बैठती है क्योंकि अन्यथा और यदि जैसी कि श्री बुखारी द्वारा दलील दी गई है, धारा 88(1) के उपखण्ड (ख) का लेखाबहियों आदि के निरीक्षण से असम्बद्ध कोई स्वतन्त्र शक्ति प्रदान करने का अर्थ लगाया जाता है तो रजिस्ट्रार द्वारा इस प्रकार की जाने वाली जांच को धारा 88 की उपधारा (1)(ख) के अधीन

प्राधिकृत किया जा सकता है। संक्षेप में इसी कारण धारा 88 की इस उपधारा के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि धारा 88(1)(ख) के अधीन सुसंगत जानकारी की अपेक्षा करने की शक्ति रजिस्ट्रार द्वारा या उसके द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति द्वारा सोसाइटी की सम्बन्धित लेखाबहियों का निरीक्षण करने के अधिकार के प्रयोग को देखते हुए प्रदान की गई है जैसा कि धारा 88(1) में उपबंध किया गया है और वह शून्य में या उससे अलग रहकर प्रदान नहीं की गई है। धारा 89(1) में यह उपबंध किया गया है कि जहां धारा 84 के अधीन किसी लेखापरीक्षा के दौरान या धारा 86 के अधीन किसी जांच या धारा 87 या धारा 88 के अधीन किसी निरीक्षण के दौरान रजिस्ट्रार की जानकारी में यह बात लाई जाती है कि सोसाइटी के किसी वैतनिक अधिकारी या सेवक ने सोसाइटी के सम्बन्ध में कोई दुर्विनियोग या न्यास भंग या कोई अन्य अपराध किया है या अन्यथा उसके लिए उत्तरदायी है तो रजिस्ट्रार, यदि उसकी राय में ऐसे वैतनिक अधिकारी या सेवक के विरुद्ध प्रथमदृष्टया साक्ष्य मौजूद है और यदि ऐसे अधिकारी या सेवक का निलम्बन सोसाइटी के हित में आवश्यक है तो, उस मामले के अन्वेषण के लम्बित रहने के दौरान और निपटारा होने तक सोसाइटी की समिति को ऐसे वैतनिक अधिकारी या सेवक को निलम्बनाधीन रखने के लिए निदेश दे सकेगा। उक्त धारा से यह भी उपदर्शित होता है कि धारा 88 के अधीन मुख्य शक्ति सोसाइटी की सुसंगत लेखाबहियों का निरीक्षण करने की शक्ति है और इसलिए जानकारी मांगने की शक्ति निरीक्षण की उक्त शक्ति से उद्भूत होती है और वह रजिस्ट्रार या उसके प्राधिकृत व्यक्ति में निरीक्षण की शक्ति से अलग निहित नहीं है। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना रुचिपूर्ण होगा कि अधिनियम के अधीन कार्य करने वाली किसी सोसाइटी के कतिपय कार्य या कार्य लोपों को कानून द्वारा अपराध माना गया है। धारा 147(1) में इस प्रकार उपबंध किया गया है:—

> *"(1) इस अधिनियम के अधीन यह एक अपराध होगा यदि...
>
> (i) सोसाइटी का कोई अधिकारी या सदस्य, जिसके पास कोई जानकारी, लेखाबहियां और अभिलेख हैं और जो धारा 80, 81, 84, 86, 87, 99 और 108 के अधीन राज्य

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है:

> "(1) It shall be an offence under this Act if...
>
> (i) any officer or member of a society who is in possession of information, books and records,

सरकार या रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त या प्राधिकृत किसी व्यक्ति को ऐसी जानकारी देने या लेखाबहियां और कागजपत्रों आदि को पेश करने या उसे सहायता देने में असफल रहता है।"

धारा 148 के अधीन धारा 147 में प्रगणित अपराधों के लिए अनेक दण्ड उपबन्धित हैं। यह उल्लेखनीय है कि धारा 88 के अधीन रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त या प्राधिकृत किसी व्यक्ति को जानकारी देने या सम्बन्धित लेखाबहियों को पेश करने के लिए दिए गए किसी निदेश का अनुपालन या कोई सहायता न देना अपराध नहीं माना गया है। किन्तु इसके बावजूद प्रत्यर्थियों द्वारा धारा 88 का अवलम्ब लिया जा सकता है बशर्ते सम्बन्धित सोसाइटी की लेखाबहियों के निरीक्षण के दौरान कतिपय जानकारी दी जाना अपेक्षित हो। जहां तक प्रस्तुत मामले के तथ्यों का सम्बन्ध है, उपाबंध 'बी' पर दिए गए आदेश एवं पत्र से किसी भी प्रकार यह दर्शित नहीं होता कि वह पिटीशनर बैंक की लेखाबहियों का निरीक्षण करने के दौरान, जैसाकि सम्बन्धित प्रत्यर्थियों द्वारा किया गया है, जारी किया गया है। उपाबंध 'बी' पर दिए गए आदेश से यह प्रतीत होता है कि वह स्वतंत्र रूप से जारी किया गया है और वह धारा 88(1)(क) में अनुध्यात ऐसा निरीक्षण करने के दौरान जारी नहीं किया गया है। यह सही है कि श्री शुक्ल, प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल किए गए उत्तर शपथपत्र में यह बताने का प्रयास किया गया है कि पिटीशनर बैंक का निरीक्षण करना और इस बात का पता लगाना आवश्यक समझा गया है कि क्या अतिरिक्त कार्यवाही किए जाने के लिए कोई आधार है और पिटीशनर बैंक का निरीक्षण करने के दौरान उसने बैंक के अध्यक्ष और प्रबन्ध तन्त्र से आवश्यक अभिलेख प्रदान करने के लिए निवेदन किया था। तथापि उपाबंध 'बी' पर दिए गए आक्षेपित पत्र से प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा तत्पश्चात् अपने उत्तर शपथपत्र में लिया गया पक्षाधार झूठा साबित होता है। पत्र की विषयवस्तु से कहीं भी यह दर्शित नहीं होता कि वह प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा, जहां तक पिटीशनर बैंक का सम्बन्ध है, लेखाबहियों के किए गए किसी निरीक्षण के अनुसरण में जारी किया गया है और ऐसे निरीक्षण के अनुसरण में उक्त पत्र जारी किया गया है। इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उपाबंध 'बी' पर दिया गया आक्षेपित पत्र एवं आदेश अधिनियम

---

fails to furnish such information or produce books and papers or give assistance to a person appointed or authorised by the State Government or the Registrar under sections 80, 81, 84, 86, 87, 99 or 108."

की धारा 88(1)(ख) के साथ पठित धारा 88(1)(क) के अन्तर्गत नहीं आता और इसलिए ऐसा आदेश जारी किए जाने की पुरोभाव्य शर्त का प्रस्तुत मामले के तथ्यों के आधार पर अभाव है। मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए उपाबंध 'बी' पर दिया गया आक्षेपित आदेश उसे अधिनियम की धारा 88 के उपबंधों से असम्बद्ध मानते हुए अभिखण्डित किया जाता है और अपास्त किया जाता है, अतः वह अकृत और शून्य है।

प्रमोद रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : गुजरात—21

केतन शिव कुमार त्रिवेदी बनाम गुजरात हायर सैकेण्डरी एजूकेशन बोर्ड, गांधीनगर

(Ketan Shiv Kumar Trivedi *Vs.* Gujarat Higher Secondary Education Board, Gandhinagar)

तारीख 28 जून, 1983

[न्या० एस० बी० मजमूदार]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति—परीक्षा भवन में किसी अन्य छात्र की उत्तर-पुस्तिका से प्रश्नों के उत्तरों की नकल करने के अवचार के आधार पर जारी किए गए हेतुक दर्शित करने के नोटिस में उस छात्र के नाम का उल्लेख न किए जाने मात्र से नोटिस दूषित नहीं होगा—अतः इस आधार पर छात्र समुचित अनुतोष प्राप्त करने के लिए हकदार नहीं होगा।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति—परीक्षा में नकल करने का आरोप—परीक्षा समिति द्वारा नकल करने वाले छात्र को व्यक्तिगत सुनवाई के अवसर पर उस परीक्षक और भवन प्रबन्धक (बिल्डिंग कण्डक्टर) की रिपोर्ट, जिसका जांच समिति द्वारा अवलम्ब लिया गया है, न दिखाए जाने से नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण होता है—अतः ऐसे छात्र के विरुद्ध पारित आक्षेपित आदेश अकृत और शून्य है।

केतन शिव कुमार त्रिवेदी ब० गु० हा० सै० ए० बोर्ड (न्या० मजमूदार)

पिटीशनर ने, जो कि प्रत्यर्थी बोर्ड द्वारा ली गई बारहवीं स्टेण्डर्ड की परीक्षा में बैठा है, प्रत्यर्थी बोर्ड द्वारा अपने विरुद्ध पारित उस आदेश के विरुद्ध, जिसके द्वारा परीक्षा में नकल करने के आरोप के आधार पर उसका परीक्षाफल रद्द कर दिया गया और उसे एक साल के लिए परीक्षा में बैठने से प्रतिषिद्ध कर दिया गया, उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

संक्षेप में पिटीशनर ने यह दलील दी है कि हेतुक दर्शित करने का नोटिस अस्पष्ट और भ्रामक है और परिणामतः सभी पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां अकृत और शून्य हैं, उसके विरुद्ध की गई जांच नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध किए जाने के कारण दूषित है, आक्षेपित आदेश किसी भी विधिक साक्ष्य पर आधारित नहीं है और पूरी तरह असंगत है तथा आक्षेपित आदेश सकारण आदेश नहीं है, अतः अपास्त किए जाने योग्य है।

अभिनिर्धारित—तदनुसार आदेश किया गया।

हेतुक दर्शित करने का नोटिस मुद्रित प्ररूप में है और उसमें यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि संबंधित छात्र द्वारा किए गए अभिकथित अवचार के व्यौरे इस प्रकार हैं और तत्पश्चात् अवचार के व्यौरे दिए गए हैं। बोर्ड का यह पक्षकथन नहीं है कि संबंधित छात्र को स्वयं परीक्षा के समय ही रंगे हाथों पकड़ा गया है। परिणामतः हेतुक दर्शित करने के नोटिस के पूर्वतर भाग को यथा-उल्लिखित अवचार के व्यौरे के साथ पढ़ा जाना चाहिए। जहां तक व्यौरों का सम्बन्ध है, संबंधित छात्र को यह सूचित किया गया है कि उसके विरुद्ध आरोप यह है कि भौतिकी के प्रश्नपत्र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने एक अन्य छात्र की उत्तर-पुस्तिका से कतिपय प्रश्नों की नकल की है। अतः सम्बन्धित छात्र को स्पष्टतः नकल के आरोप के बारे में सूचित किया गया है। यह सही है कि दूसरे छात्र का नाम नहीं बताया गया है। किन्तु जांच और व्यक्तिगत सुनवाई के प्रक्रम पर यह प्रतीत होता है कि इस बात को उसकी जानकारी में ला दिया गया था। अन्यथा भी उस छात्र के नाम का उल्लेख न किए जाने से, जिससे संबंधित छात्र ने कुछ उत्तरों की नकल की है, स्वतः नोटिस दूषित नहीं होगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि हेतुक दर्शित करने के नोटिस में सम्बन्धित छात्र को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप के मुख्य अनिवार्य तत्वों के बारे में सूचित नहीं किया गया है। सम्बन्धित छात्र के अभिकथित अवचार के सभी आवश्यक व्यौरे उसे हेतुक दर्शित करने के नोटिस द्वारा सूचित कर दिए गए हैं। अतः सम्बन्धित छात्र की पहली दलील कायम नहीं रखी जा सकती है और उसे अस्वीकार किया जाता है। (पैरा 5 और 6)

ऐसा प्रतीत होता है कि बोर्ड ने सम्बन्धित छात्र की अनुपस्थिति में कतिपय सामग्री एकत्रित की है अर्थात् परीक्षक की रिपोर्ट और भवन प्रबन्धक (बिल्डिंग कण्डक्टर) की रिपोर्ट, जिसे कक्षा की उस समय की, जब सम्बन्धित छात्र भौतिकी के प्रश्नपत्र में बैठा था, बैठने की व्यवस्था की सही स्थिति देखने के लिए मंगाया गया है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि परीक्षक और भवन प्रबन्धक की रिपोर्ट पर सम्बन्धित छात्र के विरुद्ध आक्षेपित आदेश पारित किए जाने के पूर्व परीक्षा समिति द्वारा विचार किया गया है। स्पष्टतः यह कहा गया है कि इन रिपोर्टों की प्रतियां सम्बन्धित छात्र को नहीं दिखाई गईं। अतः यह स्पष्ट है कि परीक्षा समिति ने सम्बन्धित छात्र के विरुद्ध आक्षेपित दण्डादेश पारित करते समय उसको उन आरोपों की बावत स्पष्टीकरण देने या उक्त रिपोर्टों के विरुद्ध मामले में अपना कोई बयान देने के लिए अवसर दिए बिना उसकी अनुपस्थिति में एकत्रित की गई सामग्री पर विचार किया है। इससे आक्षेपित दण्डादेश में एक घातक कमी आ गई और यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि सम्बन्धित छात्र को इस मामले में अपना कोई बयान देने के लिए और उसके विरुद्ध लगाए गए अवचार के आरोप का सामना करने के लिए कोई समुचित अवचार नहीं दिया गया। परीक्षक और भवन प्रबन्धक की रिपोर्टें सम्बन्धित छात्र को उस समय नहीं दिखाई गईं जब उसे व्यक्तिगत सुनवाई के लिए बुलाया गया था। परिणामतः यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि आक्षेपित दण्डादेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों और निष्पक्ष जांच के भंग के कारण दूषित हैं। (पैरा 7, 8 और 9)

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का विशेष सिविल आवेदन सं० 1314.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री जे० आर० नाणावटी और वाई० एन० ओझा

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री जे० ए० शैलत

न्या० एस० बी० मजमूदार :

पिटीशनर ने, जो कि प्रत्यर्थी बोर्ड द्वारा तारीख 2 नवम्बर, 1982 से लेकर 9 नवम्बर, 1982 तक जामनगर केन्द्र पर ली गई बारहवीं स्टैण्डर्ड (साइंस स्ट्रीम) परीक्षा में बैठा है, प्रत्यर्थी बोर्ड द्वारा तारीख 7 मार्च, 1983 को उसके विरुद्ध पारित शास्ति के आदेश से, जो कि पिटीशन के उपाबंध 'सी' पर है, और जिसके अनुसरण में नवम्बर, 1982 की उसकी परीक्षा का परिणाम रद्द कर दिया गया है और उसे 2 अप्रैल, 1984 तक बारहवीं स्टैण्डर्ड परीक्षा में बैठने

से प्रतिषिद्ध किया गया है, व्यथित होकर संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन यह पिटीशन फाइल किया है।

2. पिटीशनर के परिवाद का विवेचन करने के लिए कुछ सुसंगत तथ्यों का हवाला देना आवश्यक है। पिटीशनर जामनगर स्थित शारदा मंदिर स्कूल से बारहवीं स्टैण्डर्ड परीक्षा में बैठा है। उसकी क्रम सं० (सीट नम्बर) बी-02285 है। वह 2 नवम्बर, 1982 से 9 नवम्बर, 1982 तक साइंस समूह के सभी प्रश्नपत्रों में बैठा है। इस परीक्षा का परिणाम 30-12-1982 को घोषित कर दिया गया। तथापि जहां तक पिटीशनर का सम्बन्ध है उसका परिणाम (परीक्षाफल) घोषित नहीं किया गया और वह आरक्षित रख दिया गया। प्रत्यर्थी बोर्ड ने पिटीशनर को तारीख 10 जनवरी, 1983 को एक हेतुक दर्शित करने का नोटिस जारी किया। यह नोटिस एक मुद्रित प्ररूप में है जिसमें ये अभिकथन अन्तर्विष्ट हैं कि जब पिटीशनर 5 नवम्बर, 1982 को भौतिकी के प्रश्नपत्र में बैठा था तब उसके सम्बन्ध में यह पाया गया कि उसने उक्त परीक्षा में कतिपय अवचार किए हैं। हेतुक दर्शित करने के नोटिस में दिए गए अवचार के ब्यौरे इस प्रकार हैं कि यह बात प्रकाश में आई है कि कुछ प्रश्नों के उत्तर पिटीशनर द्वारा किसी अन्य छात्र से अर्थात् किसी अन्य छात्र की उत्तर-पुस्तिका से अक्षरशः नकल किए गए हैं। पिटीशनर ने इस हेतुक दर्शित करने के नोटिस का, जो उपाबंध 'ए' पर है, तारीख 21 जनवरी, 1983 के अपने लिखित उत्तर द्वारा, जो कि पिटीशन का उपाबंध 'बी' है उत्तर दिया है। उसने अपने विरुद्ध लगाए गए आरोप से इनकार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पश्चात् पिटीशनर को व्यक्तिगत सुनवाई का अवसर दिया गया जिसके दौरान उसने अपने इसी पक्षकथन को दोहराया कि उसने कोई भी अवचार नहीं किया है। तत्पश्चात् उपाबंध 'सी' पर दिया गया आदेश तारीख 7 मार्च, 1983 को उसके विरुद्ध पारित कर दिया गया। अतः पिटीशनर ने इस न्यायालय से समुचित अनुतोष प्राप्त करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

3. पिटीशनर की ओर से विद्वान् अधिवक्ता श्री जे० आर० नाणावटी ने अपने पिटीशन के समर्थन में निम्नलिखित दलीलें दी हैं :—

1. कि पिटीशनर को जारी किया गया हेतुक दर्शित करने का नोटिस अस्पष्ट और भ्रामक है और परिणामतः सभी पश्चात्वर्ती कार्यवाहियां अकृत और शून्य हैं।

2. प्रश्नगत जांच नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध की गई है। पिटीशनर की अनुपस्थिति में बोर्ड द्वारा जो साक्ष्य एकत्रित किया गया

है वह पिटीशनर को दिखाया नहीं गया और न उसे उनको स्पष्ट करने के लिए कोई अवसर ही दिया गया इसलिए यह जांच दूषित है अतः वह अकृत और शून्य है।

3. आक्षेपित आदेश किसी भी विधिक साक्ष्य पर आधारित नहीं है और वह पूरी तरह असंगत है और यह विश्वास करना असम्भव है कि पिटीशनर ने उस छात्र की उत्तर-पुस्तिका से, जिसकी क्रम सं० बी-02291 है, नकल की होगी जबकि पिटीशनर की क्रम सं० बी-02285 है जो कि उस स्थान से काफी दूर है जहां परीक्षा के समय कक्षा में वह दूसरा छात्र वैठा हुआ था।

4. आक्षेपित आदेश एक सकारण आदेश नहीं है। इसलिए वह अभिखण्डित और अपास्त किए जाने योग्य है।

4. प्रत्यर्थी बोर्ड ने पहले तो नोटिस के प्रक्रम पर उत्तर में कोई भी शपथपत्र फाइल नहीं किया। इन परिस्थितियों में न्या० रावणी ने पिटीशन ग्रहण करते हुए 28 मार्च, 1983 को निम्नलिखित आदेश पारित किया :—

"यद्यपि पर्याप्त समय प्रदान किया गया है किन्तु दूसरे पक्षकार ने पिटीशन में बताई गई परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए उत्तर में कोई भी शपथपत्र फाइल नहीं किया। इन परिस्थितियों में मैं न्यायादेश जारी करने के लिए बाध्य हूं। पिटीशनर कों मामले की शीघ्र सुनवाई करने के लिए न्यायालय में विशेष सिविल आवेदन करने की स्वतन्त्रता होगी।"

इस पिटीशन की अन्तिम सुनवाई के लिए निश्चित की गई तारीख पर और ग्रीष्मावकाश के बाद इस न्यायालय के पुनः खुलने पर सुनवाई की अगली तारीख लेने के लिए आवेदन किया गया। इस प्रकार अब यह अन्तिम सुनवाई के लिए मेरे समक्ष पेश किया गया है।

5. प्रत्यर्थी ने उस समय अपना उत्तर शपथपत्र फाइल किया है जब इस मामले पर मेरे समक्ष अन्तिम सुनवाई की गई। पिटीशनर ने कोई भी प्रत्युत्तर शपथपत्र फाइल करना नहीं चाहा। पक्षकारों के बीच अभिवचनों को ध्यान में रखते हुए, जैसे कि पिटीशन और उत्तर शपथपत्र में पाए जाते हैं, पिटीशनर की ओर से श्री नाणावटी द्वारा दी गई अनेक दलीलों पर विचार किया जाएगा।

6. जहां तक श्री नाणावटी की पहली दलील का सम्बन्ध है, उन्होंने मेरा ध्यान उपाबंध 'ए' पर दिया गया हेतुक दर्शित करने के नोटिस की ओर आकृष्ट

किया है और यह बताया है कि यह हेतुक दर्शित करने का नोटिस भ्रामक है। उसमें एक ही बार में यह कहा गया है कि पिटीशनर को 5 नवम्बर, 1982 को रंगे हाथों पकड़ा गया था जब वह भौतिकी के प्रश्नपत्र में बैठा था और उसके तुरन्त बाद हेतुक दर्शित करने के नोटिस में यह कहा गया है कि यह बात जानकारी में आई है अर्थात् सम्बन्धित प्राधिकारी की जानकारी में आई है कि पिटीशनर ने किसी दूसरे छात्र की उत्तर-पुस्तिका से उत्तरों की नकल की है। अतः श्री नाणावटी ने यह दलील दी है कि यह नोटिस अस्पष्ट और असंगत है और परिणामतः उसके पश्चात् की गई कार्यवाहियां अकृत और शून्य हैं। ऊपर से देखने पर श्री नाणावटी की उपर्युक्त दलील पूरी तरह न्यायोचित प्रतीत होती है। किन्तु अतिरिक्त संवीक्षा किए जाने पर यह पाया जाता है कि वह अमान्य है। स्वयं पिटीशनर ने पिटीशन में यह कहा है कि हेतुक दर्शित करने का नोटिस मुद्रित प्ररूप में है और उसमें यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि उसके द्वारा किए गए अभिकथित अवचार के ब्यौरे इस प्रकार हैं और तत्पश्चात् अवचार के ब्यौरे दिए गए हैं। प्रत्यर्थी बोर्ड का यह पक्षकथन नहीं है कि पिटीशनर को स्वयं परीक्षा के समय ही रंगे हाथों पकड़ा गया है। परिणामतः हेतुक दर्शित करने के नोटिस के पूर्वतर भाग को यथाउल्लिखित अवचार के ब्यौरे के साथ पढ़ा जाना चाहिए। जहां तक ब्यौरों का सम्बन्ध है पिटीशनर को यह सूचित किया गया है कि उसके विरुद्ध आरोप यह है कि भौतिकी के प्रश्नपत्र में, जिसमें वह 5 नवम्बर, 1982 को बैठा था, उसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने एक अन्य छात्र की उत्तर-पुस्तिका से कतिपय प्रश्नों की नकल की है। अतः पिटीशनर को स्पष्टतः नकल के आरोप के बारे में सूचित किया गया है। यह सही है कि दूसरे छात्र का नाम नहीं बताया गया है। किन्तु जांच और व्यक्तिगत सुनवाई के प्रक्रम पर यह प्रतीत होता है कि इस बात को उसकी जानकारी में ला दिया गया था क्योंकि पिटीशन के पैरा 14 में पिटीशनर ने यह कहा है कि उसको इस बात की जानकारी मिली है कि भौतिकी के एक अन्य छात्र को भी, जिसकी क्रम सं० बी-02291 है, प्रत्यर्थी बोर्ड द्वारा उसी आरोप का दोषी पाया गया है। अन्यथा भी उस छात्र के नाम का उल्लेख न किए जाने से, जिससे पिटीशनर ने कुछ उत्तरों की नकल की है, स्वतः नोटिस दूषित नहीं होगा क्योंकि पिटीशनर बोर्ड से अतिरिक्त जानकारी की मांग कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि उपाबंध 'बी' पर दिए गए अपने लिखित उत्तर में पिटीशनर ने इस आधार पर कोई भी शिकायत नहीं की है कि दूसरे छात्र की क्रम संख्या उसे सूचित नहीं की गई है और इसलिए उस पर किसी भी प्रकार से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विरुद्ध उसने गुणागुण के आधार पर अपना उत्तर दिया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि हेतुक दर्शित करने के नोटिस में पिटीशनर को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप के मुख्य अनिवार्य तत्वों

के बारे में सूचित नहीं किया गया है। पिटीशनर के अभिकथित अवचार के सभी आवश्यक ब्यौरे उसे उपाबंध 'ए' पर दिए गए हेतुक दर्शित करने के नोटिस द्वारा सूचित कर दिए गए हैं। अतः श्री नाणावटी की पहली दलील कायम नहीं रखी जा सकती है और उसे अस्वीकार किया जाता है।

7. तत्पश्चात् मैं दूसरी दलील पर विचार करता हूं, जहां तक इस दलील का सम्बन्ध है श्री नाणावटी का आधार कुछ ठोस है। श्री नाणावटी द्वारा यह दलील दी गई है कि व्यक्तिगत सुनवाई के समय पिटीशनर का ब्यान लेखबद्ध किया गया था और पिटीशनर ने अपने बचाव में यही कहा था कि उसने कोई भी अवचार नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यर्थी बोर्ड ने पिटीशनर की अनुपस्थिति में कतिपय सामग्री एकत्रित की है, अर्थात् परीक्षक की रिपोर्ट और भवन प्रबन्धक (बिल्डिग कण्डक्टर) की रिपोर्ट, जिसे कक्षा की उस समय की, जब पिटीशनर भौतिकी के प्रश्नपत्र में बैठा था, बैठने की व्यवस्था की सही स्थिति देखने के लिए मंगाया गया है। श्री नाणावटी ने यह दलील दी हैं कि सुसंगत साक्ष्य, जिस पर परीक्षा समिति ने अपना निष्कर्ष आधारित किया है, पिटीशनर से गुप्त रखा गया है और पिटीशनर को उसकी बाबत स्पष्टीकरण देने का कोई अवसर नहीं दिया गया। परिणामतः जांच समिति द्वारा निकाले गए विनिश्चय विधि की दृष्टि में दूषित हो गए। जहां तक इस दलील का सम्बन्ध है प्रत्यर्थी बोर्ड के परीक्षा सचिव द्वारा फाइल किया गया उत्तर शपथपत्र उल्लेखनीय है। इसके पैरां 5 में यह कहा गया है कि :—

> "पिटीशनर को 25 जनवरी, 1983 को परीक्षा समिति के समक्ष राजकोट में व्यक्तिगत सुनवाई के लिए बुलाया गया। पिटीशनर व्यक्तिगत रूप से वहां उपस्थित हुआ। पिटीशनर ने परीक्षा समिति के समक्ष अपना स्पष्टीकरण दिया। सभी तथ्यों और पिटीशनर के बयानों तथा उसके उत्तर पर विचार करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने तथा परीक्षक और भवन प्रबन्धक की रिपोर्ट पर भी विचार करने के पश्चात् पिटीशनर पर शास्ति अधिरोपित की जाती है।"

8. अतः यह एक स्वीकृत तथ्य है कि परीक्षक और भवन प्रबन्धक की रिपोर्टों पर पिटीशनर के विरुद्ध आक्षेपित आदेश पारित किए जाने के पूर्व परीक्षा समिति द्वारा विचार किया गया है। मैंने प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री शैलत से यह पूछा है कि क्या ये दोनों रिपोर्टें पिटीशनर को उस समय दिखा दी गई थीं जब उसे व्यक्तिगत सुनवाई के लिए बुलाया गया था। श्री शैलत ने स्पष्टतः यह

कहा कि इन रिपोर्टों की प्रतियां पिटीशनर को नहीं दिखाई गईं। अतः यह स्पष्ट है कि परीक्षा समिति ने पिटीशनर के विरुद्ध आक्षेपित दण्डादेश पारित करते समय पिटीशनर को उन आरोपों की बावत स्पष्टीकरण देने या उक्त रिपोर्टों के विरुद्ध मामले में अपना कोई बयान देने के लिए अवसर दिए बिना पिटीशनर की अनुपस्थिति में एकत्रित की गई सामग्री पर विचार किया है। इससे आक्षेपित दण्डादेश में एक घातक कमी आ गई और यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि पिटीशनर को इस मामले में अपना कोई बयान देने के लिए और उसके विरुद्ध लगाए गए अवचार के आरोप का सामना करने के लिए कोई समुचित अवचार नहीं दिया गया। उत्तर शपथपत्र के पैरा 14 में यह कहा गया कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण नहीं हुआ है और पिटीशनर को सुनवाई का पूरा अवसर दिया गया है। पिटीशनर को उसके विरुद्ध लगाए गए सभी अभिकथनों को जांच के प्रक्रम पर स्पष्ट कर दिया गया और उसे उत्तर-पुस्तिका भी दिखा दी गई। पिटीशनर को वे दस्तावेज भी दिखा दिए गए जिन पर जांच समिति द्वारा अवलम्ब लिया गया है। फिर भी उत्तर शपथपत्र के पैरा 14 में उपर्युक्त प्रकथन किए गए हैं। श्री शैलत ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि परीक्षक और भवन प्रबन्धक की रिपोर्टें पिटीशनर को उस समय नहीं दिखाई गईं जब उसे व्यक्तिगत सुनवाई के लिए बुलाया गया था। परिणामतः यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि आक्षेपित दण्डादेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों और निष्पक्ष जांच के भंग के कारण दूषित हैं। केवल इस आधार पर ही आक्षेपित आदेश अभिखण्डित और अपास्त किया जाता है।

प्रमोद

तद्नुसार आदेश किया गया।

नि० प० 1984 : गुजरात—28

चंपक वशराम बनाम धर्मसी पोला और अन्य

(Champak Vashram *Vs.* Dharamsi Pola & others)

तारीख 8 जुलाई, 1983

[न्या० एन० एच० भट्ट और न्या० जे० पी० देसाई]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, आदेश 1, नियम 10—प्रक्रिया न्याय की सेविका है, न कि स्वामिनी। प्रक्रियात्मक अनियमितता या गलती

से न्याय का सारभूत हित ध्वंस नहीं होने दिया जा सकता है, जब तक कि यह दर्शित नहीं कर दिया जाता कि इस अनियमितता के कारण अन्य पक्षकार अपरिहार्य रूप से प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया है। यदि विचारण न्यायालय में संस्थित वाद की बाबत व्यक्ति अपने तथाकथित वादमित्र की मार्फत इस गलत धारणा के अधीन वाद फाइल करता है कि अभिकथित वादी अवयस्क बना हुआ है, तो न्यायालय निश्चय ही वादी के उस गलत नाम या गलत वर्णन के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे सकता है।

आवेदक के नाम से, जो उस समय अवयस्क था, वर्ष 1971 में एक सिविल वाद फाइल किया गया। चूंकि आवेदक अवयस्क था, अतः उक्त वाद उसकी वादमित्र और मां द्वारा फाइल किया गया। प्रतिवादियों की ओर से एक आवेदन फाइल किया गया, जिसमें यह अभिकथन किया गया कि आवेदक पहले ही वयस्कता प्राप्त कर चुका था, अतः उसकी मां को उसकी ओर से वाद चलाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। आवेदक की मां द्वारा उक्त आवेदन का उत्तर फाइल किया गया। उस प्रक्रम पर यह स्पष्ट कर दिया गया कि अवयस्क तारीख 27 दिसम्बर, 1975 को वयस्कता प्राप्त करेगा। इस ताथ्यिक स्थिति को समझते हुए, प्रतिवादियों द्वारा उक्त आवेदन पर जोर नहीं दिया गया। उसके पश्चात् वर्ष 1978 में वर्तमान अपील सं० 650 उपस्थापित की गई। किन्तु यह अपील भी वादमित्र के रूप में उसकी मां द्वारा ही फाइल की गई। अपील के ज्ञापन के स्थापन के साथ ही, निर्धन व्यक्ति के रूप में अपील फाइल किए जाने और चलाए जाने के लिए अनुज्ञा हेतु एक आवेदन भी फाइल किया गया, जो मंजूर किया गया। तारीख 2 फरवरी, 1978 को वर्तमान आवेदन सं० 356/78 उपस्थापित किया गया। उसके पश्चात्, निर्धन व्यक्ति के रूप में अपील चलाए जाने की इजाजत के लिए प्रार्थना भी वर्तमान प्रत्यर्थी सं० 1-3 की ओर से इस आधार पर उठाए गए गंभीर आक्षेपों के बावजूद मंजूर की गई कि अपील भी सक्षमतापूर्वक उपस्थापित और फाइल नहीं की गई थी। विद्वान् न्यायाधीशों ने वर्तमान अपील के चलने योग्य होने के प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ दिया। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया कि आवेदन सं० 356 पर खण्ड न्यायपीठ द्वारा पारित पूर्वतर आदेश एकपक्षीय रूप से पारित किया गया था। उच्च न्यायालय ने भी यह महसूस किया कि इस सिविल आवेदन पर पारित उक्त आदेश अनस्तित्वशील माना जाना चाहिए और इसलिए यह आदेश किया गया कि उक्त आवेदन सं० 356 और उसके साथ ही अपील के चलने योग्य होने के प्रश्न की भी नए सिरे से सुनवाई और विनिश्चय किया जाना चाहिए।

अभिनिर्धारित—सिविल आवेदन मंजूर किया गया ।

हाल्सबरी कृत 'लाज आफ इंग्लैण्ड' में व्यक्त किया गया मत प्रायः सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 5 के उपबन्धों का समविषयक है। केवल इतना परिवर्धन और कर दिया गया है कि कार्यवाहियों के खारिज किए जाने के लिए न्यायालय को प्रतिवादियों के आवेदन के प्रति निर्देश किया गया है, जो उपबंध सिविल प्रक्रिया संहिता में नहीं है । किन्तु, यद्यपि ऐसा कोई उपबंध नहीं है, फिर भी उसके लिए कोई प्रतिषेध भी नहीं है और ऐसी स्थिति में स्थित प्रतिवादी निश्चय ही न्यायालय से समुचित व्यक्ति द्वारा समुचित रूप से न चलाए जाने के कारण वाद के खारिज किए जाने का अनुरोध कर सकता है। तथापि, इससे आवेदक के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है । (पैरा 8)

"प्रक्रिया न्याय की सेविका है, न कि स्वामिनी ।" प्रक्रियात्मक अनियमितता या गलती से न्याय का सारभूत हित ध्वंस नहीं होने दिया जा सकता है, जब तक कि यह दर्शित नहीं कर दिया जाता कि इस अनियमितता के कारण अन्य पक्षकार अपरिहार्य रूप से प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया है । (पैरा 9)

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 में वाद के प्रति निर्देश किया गया है, न कि अपील के प्रति, किन्तु सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 107(2) में यह उपबंध किया गया है कि अपील न्यायालय की वे ही शक्तियां होंगी और वह यथासम्भव लगभग उन्हीं कर्त्तव्यों का पालन करेगा, जो आरम्भिक अधिकारिता वाले न्यायालयों में संस्थित वादों के बारे में इस संहिता द्वारा उन्हें प्रदत्त और उन पर अधिरोपित किए गए हैं । यदि विचारण न्यायालय में संस्थित वाद की बाबत अवयस्क व्यक्ति अपने तथाकथित वादमित्र की मार्फत इस गलत धारणा के अधीन वाद फाइल करता है कि अभिकथित वादी अब भी अवयस्क बना हुआ है, तो न्यायालय निश्चय ही वादी के उस गलत नाम या गलत वर्णन के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे सकता है । (पैरा 9)

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 41 में आदेश 1, नियम 10 जैसा कोई उपबंध नहीं है और इसलिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 107(2) का अवलम्ब लेकर आदेश 1, नियम 10 के सिद्धान्त का अवलम्ब लिया जा सकता है, जब न्यायालय को उपस्थापित अपील के ऐसे गलत ज्ञापन पर विचार करना पड़ रहा हो । अपील आवेदक द्वारा फाइल की गई है किन्तु अनवधानता या अज्ञानता के कारण उसने और उसकी माता, दोनों ही, ने कदाचित् यह समझा कि पूर्वतर आवेदन (प्रदर्श-154) उनकी वैयक्तिक जानकारी

में नहीं लाया गया था, अत: पुरानी स्थिति बनी रही किन्तु मां ने निश्चय ही अपने पुत्र की ओर से कार्यवाही की। इस सम्बन्ध में कोई भी शंका नहीं थी कि कौन अपील पेश कर रहा था और किसके विरुद्ध। यह आवेदक की अपील थी, जो न्यायालय में उसकी माता के हाथों फाइल की गई थी, जो अपनी निरक्षरता के कारण विधि की इस सूक्ष्म अध्यपेक्षा को नहीं समझ सकी कि वयस्कता अभिप्राप्त कर लेने पर स्वयं अवयस्क को ही मामले के अभिलेख में सम्यक् रूप से वर्णित किया जा सकता है। यहां एक मुद्दे की अनदेखी नहीं की जा सकती है। यदि इस गलती के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे दी जाती है, जिसे सद्भाविक माना गया है, तो अन्य पक्षकार पर इससे कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका नहीं है। किसी विनिर्दिष्ट विवरण के बिना आधे मन से यह कथन किया गया कि वर्ष 1978 से वर्ष 1983 तक इस अपील के लम्बित रहने के दौरान सम्पत्ति के कुछ भागों की बाबत कुछ परिवर्तन हो गए होंगे। यह किसी व्यक्ति ने भी कथन नहीं किया है (उसके अभिलेख में होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है) कि इस स्पष्ट धारणा के कारण कि अपील अनस्तित्वशील थी, ऐसे संव्यवहार प्रतिवादियों द्वारा किए गए थे और इसलिए प्रत्यर्थी सं० 1, 2 और 3 पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है। (पैरा 10)

		पैरा
[1917]	(1917) आई० एल० आर० 40 मद्रास 743=ए० आई० आर० 1918 मद्रास 916 : षण्मुख चेट्टी **बनाम** सी० के० नारायण अय्यर (Shanmuga Chetty *Vs.* C. K. Narayana Aiyar);	9
[1894]	(1894) आई० एल० आर० 21 कलकत्ता 866 : तकी जान **बनाम** ओबैदुल्ला (Taqui Jan *Vs.* Obaidulla)	9
	से **सहमति** व्यक्त की गई।	
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1126 : श्रीमती गंगा बाई **बनाम** विजय कुमार (Smt. Ganga Bai *Vs.* Vijay Kumar);	6
[1956]	ए० आई० आर० 1956 इलाहाबाद 310 (पूर्ण न्या०) : राज बिहारी लाल **बनाम** महाबीर प्रसाद (Raj Behari Lal *Vs.* Mahabir Prasad);	9

[1940] ए० आई० आर० 1940 मुम्बई 58 : रतनचन्द बनाम जसराज कस्तूरचन्द (Ratanchand *Vs.* Jasraj Kasturchand) 7

से प्रभेद बतलाया गया ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 का सिविल आवेदन सं० 356 और 1978 की प्रथम अपील स० 650.

1971 के विशेष सिविल वाद सं० 37 में राजकोट के सिविल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध सिविल आवेदन और प्रथम अपील ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री जे० आर० नानावती

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री ए० एच० मेहता और डी० के० कोठारी

न्यायालय का निर्णय न्या० एन० एच० भट्ट ने दिया ।

न्या० भट्ट :

यह आवेदन चंपक वशराम द्वारा फाइल किया गया है, जिसमें यह प्रार्थना की गई है कि उसे अपील के संबंध में आगे कार्यवाही करने के लिए अनुज्ञात किया जाए और अपील का नामं (शीर्षक) संशोधित किए जाने की इजाज़त दी जाए जिससे कि इसके पश्चात् स्वयं अपने ही अधिकार से अपील करने वाले व्यक्ति के रूप में उसका नाम आ सके, क्योंकि उसने तारीख 27 दिसम्बर, 1975 को वयस्कता प्राप्त कर ली है । इस सिविल आवेदन में उठाए गए छोटे से मुद्दे पर जो तूफान उठ खड़ा हुआ है उसे समझने के लिए इस मुकदमे के आधारभूत तथ्यों का गहनता से अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है । हमारे मन में इस बात का बहुत दुःख है कि निर्धन वादार्थियों को निचले न्यायालयों में समुचित प्रक्रमों पर समुचित सलाह नहीं दी जाती है या उनका समुचित मार्गदर्शन नहीं किया जाता है । उन्हें सलाह देने वाले व्यक्तियों की ओर से ऐसी तत्परता और सतर्कता के अभाव के कारण ही इस प्रकार की दुःखद स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे वादार्थियों की ही हानि होती है । उन तथ्यों से, जिनका हम नीचे उल्लेख कर रहे हैं, यह बात पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाएगी ।

2. राजकोट के सिविल न्यायाधीश (एस० डी०) के न्यायालय में एक सिविल वाद फाइल किया गया, जो 1971 का विशेष सिविल वाद सं० 37 था। उक्त वाद वर्तमान आवेदक के नाम से वर्ष 1971 में फाइल किया गया था,

जो उस समय अवयस्क था और इसलिए उक्त वाद उसकी वादमित्र और मां बाई संतोक वशराम द्वारा फाइल किया गया था। यह वाद उन भूमियों के विभाजन के लिए था, जिनमें उक्त चंपक ने अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का सदस्य होने के आधार पर अपने अंश का दावा किया। छाना काला नामक एक व्यक्ति राजकोट का निवासी था, जो इन विवादग्रस्त सम्पत्तियों का स्वामी था। उक्त छाना के दो पुत्र थे, अर्थात् वशराम और पोला। वशराम की वर्ष 1944 में ही मृत्यु हो गई और उसके परिवार में उसकी विधवा बाई संतोक और दो पुत्रियां बाई रम्भा और बाई कुंवर रह गईं। उक्त बाई कुंवर और बाई रम्भा को वाद में प्रतिवादी स० 3 और 4 के रूप में पक्षकार बनाया गया और वे वर्तमान प्रथम अपील में प्रत्यर्थी सं० 4 और 5 हैं। छाना का एक और पुत्र था जिसका नाम नरसी था किन्तु उसकी मृत्यु वर्ष 1926 में ही हो गई थी। उसकी कोई संतान या पत्नी नहीं थी। इसलिए हमारे प्रयोजन के लिए, उसे अपवर्जित किया जा रहा है। मृत वशराम के भाई उक्त पोला की भी तारीख 3 अप्रैल, 1957 को मृत्यु हो गई थी। उसकी विधवा रत्नबाई जीवित है, जो हमारे समक्ष प्रत्यर्थी सं० 2 है, और पुत्र धरमसी जीवित है, जो वाद में प्रतिवादी सं० 1 था और हमारे समक्ष प्रत्यर्थी सं० 1 है तथा एक पुत्री बाई मणि जीवित है, जो वाद में प्रतिवादी सं० 2 थी और हमारे समक्ष प्रत्यर्थी सं० 3 है। इस अपील के लम्बित रहने के दौरान उसकी मृत्यु हो जाने के कारण, उसके वारिस, प्रत्यर्थी सं० 3/1 से 3/5 के नाम अभिलेख में लाए गए। बाई संतोक ने अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के सदस्य के रूप में उसके पति द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति में अपना अंश प्राप्त करने के लिए कुछ मुकदमेबाजी शुरू की थी। उस मुकदमेबाजी में जिस एकमात्र अधिकार को मान्यता प्रदान की गई थी वह उसका भरण-पोषण का अधिकार था। अब तारीख 7 अप्रैल, 1970 को बाई संतोक ने अपनी पुत्री रम्भा के अवयस्क पुत्र चंपक को अपने पुत्र के रूप में दत्तक लिया और इसका विधिक प्रभाव यह है कि चंपक को वशराम का पुत्र माना जाता है और इसलिए वह अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के सदस्य की हैसियत से वशराम द्वारा छोड़ी गई सम्पत्तियों के लिए हकदार है, जिसकी दो शाखाएं थीं, एक वशराम की और दूसरी पोला की। पुत्र दत्तक लेने के पश्चात्, 1971 का उपर्युक्त वाद सं० 37 उसकी दत्तक माता बाई संतोक द्वारा उसकी ओर से फाइल किया गया और उक्त वाद का जोरदार प्रतिवाद किया गया। उक्त वाद वर्ष 1975 के उत्तरार्द्ध तक चला। उस वाद के लम्बित रहने के दौरान, प्रतिवादियों ने तारीख 23 जुलाई, 1975 को एक आवेदन (प्रदर्श 154) दिया था, जिसमें यह अभिकथन किया गया कि अवयस्क चंपक पहले ही वयस्कता प्राप्त कर चुका था और इसलिए बाई संतोक को उसकी ओर से वाद चलाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। अपने दत्तक

पुत्र के वादमित्र के रूप में कार्य करते हुए, बाई संतोक ने उक्त आवेदन का उत्तर भी फाइल किया। उस प्रक्रम पर यह स्पष्ट कर दिया गया था कि अवयस्क चंपक तारीख 27 दिसम्बर, 1975 को वयस्कता प्राप्त करेगा। इस ताथ्यिक स्थिति को समझते हुए, प्रतिवादियों द्वारा उक्त आवेदन (प्रदर्श 154) पर जोर नहीं दिया गया। उस समय तक, साक्ष्य का अभिलेखन समाप्त हो चुका था और केवल बहस की सुनवाई और उसके पश्चात् निर्णय का सुनाया जाना शेष रह गया था। निर्णय के सुनाए जाने के समय तक यह चंपक पहले ही वयस्कता प्राप्त कर चुका था किन्तु सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 12 का अवलम्ब लेकर इस प्रकार उसका नाम अभिलेख में लाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया और विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने अपने निर्णय द्वारा उक्त वाद खारिज कर दिया। तब 1978 की वर्तमान अपील सं० 650 उपस्थापित की गई किन्तु विचित्र बात यह है कि यह अपील चंपक के वादमित्र के रूप में बाई संतोक द्वारा उपस्थापित की गई, जो, जैसा कि हमारे समक्ष स्वीकार किया गया है, पहले ही उस दिन, जब विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने निर्णय सुनाया था, और इसलिए स्पष्टतः उस दिन जब अपील उपस्थापित की गई थी, वयस्कता प्राप्त कर चुका था। अपील के ज्ञापन के उपस्थापन के साथ ही, निर्धन व्यक्ति के रूप में अपील फाइल किए जाने और चलाए जाने के लिए अनुज्ञा हेतु एक आवेदन भी फाइल किया गया और उक्त आवेदन का भी जोरदार विरोध किया गया किन्तु अन्ततः इस न्यायालय ने वह आवेदन मंजूर किया, जो अब अन्तिम हो गया है। उसके पश्चात् तारीख 2 फरवरी, 1978 को वर्तमान आवेदन सं० 356/1978 उपस्थापित किया गया। इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने तारीख 22 फरवरी, 1978 को यह आवेदन मंजूर किया था और उसके पश्चात् निर्धन व्यक्ति के रूप में अपील चलाए जाने की इजाजत के लिए प्रार्थना भी, इस आधार पर वर्तमान प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 की ओर से उठाए गए गम्भीर आक्षेपों के बावजूद मंजूर की गई कि स्वयं अपील भी सक्षमतापूर्वक उपस्थापित और फाइल नहीं की गई थी। इस न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने, जिन्होंने 1983 के सिविल आवेदन सं० 683 का विनिश्चय किया था, वर्तमान अपील के चलने योग्य होने के प्रश्न को अनुत्तरित ही छोड़ दिया। इस संबंध में उन्होंने यह मत व्यक्त किया :—

> "जहां तक प्रस्तुत अपील के चलने योग्य होने के प्रश्न का संबंध है, इससे एक और प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या अवयस्क वादी, जो वयस्क हो गया था, अपने तत्कालीन वादार्थ संरक्षक की मार्फत विधिपूर्ण रूप से अपील फाइल कर सकता था और क्या 1978 के सिविल आवेदन सं० 356 में तारीख 22 फरवरी, 1978 को इस न्यायालय के आदेश

के अनुसार अपील के ज्ञापन के संशोधन का परिसीमा की विहित अवधि के भीतर वर्तमान अपील के फाइल किए जाने पर कोई प्रभाव था। हम इस समय इन प्रश्नों के संबंध में अपनी कोई राय व्यक्त करना नहीं चाहते हैं और ये प्रश्न खुले रखे जा रहे हैं क्योंकि उन पर मुख्य अपील की अन्तिम सुनवाई के समय अधिक प्रभावी रूप से विचार किया जा सकता है।"

3. जब हमारे द्वारा अपील अन्तिम सुनवाई के लिए ली गई, तो अपील के चलने योग्य होने का प्रश्न उठाया गया और जब 1978 के इस आवेदन सं० 356 पर इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा पारित पूर्वतर आदेश उक्त दलील का उत्तर दे देने के लिए मौजूद है, तो श्री कोठारी की ओर से हाजिर होते हुए विद्वान् काउन्सेल, श्री मेहता ने यह निवेदन किया कि यह आदेश उनकी पीठ-पीछे एकपक्षीय ढंग से पारित किया गया था, अतः वह उनके लिए आबद्धकर नहीं होगा और अपील के चलने योग्य होने के बारे में दलील देने से उनका मुंह बन्द करने के लिए इस विनिश्चय का अवलम्ब नहीं लिया जा सकेगा। अभिलेख के परिशीलन से यह दर्शित होता था कि 1978 के सिविल आवेदन सं० 356 को मंजूर करने वाला यह आदेश एकपक्षीय रूप से पारित किया गया था। उक्त सिविल आवेदन पर कोई न्यायादेश जारी नहीं किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई तर्क नहीं दिए गए थे और मामले का इस प्रकार विनिश्चय किया गया है मानो कि पक्षकारों के बीच कोई वाद ही अस्तित्व में नहीं था। अतः हमने यह महसूस किया कि आदेश एकपक्षीय ढंग से और प्रत्यर्थियों के पीठ-पीछे (जैसी कि उन्होंने दलील दी है) पारित किया गया था, अतः तारीख 22 फरवरी, 1978 को इस सिविल आवेदन पर पारित उक्त आदेश अनस्तित्वशील माना जाना चाहिए और इसलिए हमने यह आदेश किया था कि 1978 के उक्त आवेदन सं० 356 और उसके साथ ही अपील के चलने योग्य होने के प्रश्न की भी हमारे द्वारा नए सिरे से सुनवाई और विनिश्चय किया जाना चाहिए क्योंकि इस मामले की पुनः सुनवाई अपील के चलने योग्य होने की बात के संबंध में प्रारम्भिक आक्षेप पर उद्भूत हुई है।

4. उपर्युक्त वर्णन से तुरन्त ही यह दर्शित हो जाएगा कि यद्यपि विचारण के प्रक्रम पर इस वादी के संरक्षक को इस तथ्य से विनिर्दिष्टतः अवगत करा दिया गया था कि अवयस्क की ओर से कार्य करने का उसका प्राधिकार तारीख 27 दिसम्बर, 1975 तक की अवधि तक ही सीमित था, ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध में कुछ भी नहीं किया गया और उसने तथा विचारण न्यायालय में उसके अधिवक्ता ने सभी बातों के संबंध में लापरवाही का दृष्टिकोण

अपनाया। समय के बीतने के साथ-साथ, इस महिला ने, जो वृद्ध और निरक्षर प्रतीत होती है, जैसा कि हम इस मामले के अभिलेख में लाए गए विभिन्न दस्तावेजों पर लगाए गए अंगूठा निशानों से देख सकते हैं, इस विधिक पहलू को अनदेखा कर दिया और अपील उपस्थापित कर दी। अपील के ज्ञापन के शीर्षक (नाम) में यह वर्णित किया गया है :—

> चंपकलाल वशराम, जो अवयस्क है, उसकी न्यायमित्र और मां संतोक वशराम द्वारा; पता :—भानु कालावाडी शेरी बेदीपाडा, राजकोट।

यह अपील तारीख 9 सितम्बर, 1976 को इस न्यायालय में उपस्थापित की गई और इसके साथ ही दो आवेदन फाइल किए गए, एक आवेदन अकिंचन रूप में अपील के चलाए जाने को अनुज्ञात करने के लिए और दूसरा आवेदन 9 दिन के विलम्ब को माफ करने के लिए; यह विलम्ब इसलिए हुआ था कि निर्धन व्यक्ति द्वारा फाइल की जाने वाली अपील का 60 दिन के भीतर फाइल किया जाना अपेक्षित है जबकि गैर-निर्धन व्यक्ति द्वारा फाइल की जाने वाली अपील 90 दिन के भीतर फाइल की जा सकती है। इस मामले में, अन्ततः न्यायालय फीस का संदाय कर दिया गया है और इसलिए परिसीमा के प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। अतः अपील के परिसीमा द्वारा वर्जित होने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता है।

5. आरम्भ में, अकिंचन रूप में अपील चलाने के लिए अनुज्ञा दे दी गई और इसी प्रकार विलम्ब के माफ किए जाने के लिए भी आवेदन मंजूर किया गया, किन्तु बाद में, प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 ने न्यायालय के समक्ष यह उपदर्शित किया कि अकिंचन रूप में अपील चलाने के लिए इजाजत का उक्त आदेश कपट द्वारा प्राप्त किया गया था, अतः न्यायालय-फीस का संदाय कर दिया गया है। यद्यपि प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 के विद्वान् अधिवक्ताओं ने हमारे समक्ष इस मुद्दे पर जोर दिया कि परिसीमा का प्रश्न फिर भी शेष रहता है। हमारी राय में, जब एक बार न्यायालय-फीस का संदाय कर दिया जाता है और वह उस दिन, जब ज्ञापन उपस्थापित किया गया था, उपस्थापित अपील के ज्ञापन पर संदत्त मान ली जाती है, तो परिसीमा का प्रश्न उद्भूत नहीं होगा।

6. श्री कोठारी की ओर से हाजिर होते हुए, श्री मेहता ने हमारे समक्ष जो गम्भीर प्रश्न बड़े जोरदार ढंग से रखा है वह यह है कि यह अपील विधि के अनुसार अपील नहीं कही जा सकती है। यह अपील ऐसे व्यक्ति द्वारा उपस्थापित की गई है, जो वाद में अन्तर्वलित ही नहीं था, क्योंकि अपील वाद के वादी जैसे

किसी व्यक्ति द्वारा नहीं, बल्कि वाद में पक्षकार द्वारा ही उपस्थापित की जा सकती है, यदि वह निर्णय से व्यथित है या ऐसे व्यक्ति द्वारा उपस्थापित की जा सकती है जो पक्षकार तो नहीं है किन्तु जो निर्णय से व्यथित है, यदि वह उस निर्णय के विरुद्ध अपील फाइल करने के लिए न्यायालय की अनुमति चाहता है और प्राप्त कर लेता है। हम विधि की कतिपय प्रतिपादनाओं को स्वीकार करते हैं, जिनके संबंध में श्री मेहता द्वारा दलील दी गई है, अर्थात् अपील व्यक्तियों के इन दो प्रवर्गों द्वारा ही फाइल की जा सकती है, न कि अन्य व्यक्तियों द्वारा, किन्तु हम उनकी इस राय से सहमत नहीं हैं कि कोई भी व्यक्ति वाद फाइल कर सकता है। केवल ऐसा व्यक्ति ही, जिसे वाद फाइल करने का अधिकार प्राप्त है, ऐसा कर सकता है। अतः उच्चतम न्यायालय के निर्णय में भिन्न संदर्भ में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्दिष्ट इस अन्तर पर इस मामले में जोर नहीं दिया जा सकता है। **श्रीमती गंगा बाई** बनाम **विजय कुमार**[1] वाले मामले में यह अधिकथित किया गया है (पृ० 1129) :—

> "सिविल प्रकृति का वाद फाइल करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अधिकार निहित है और जब तक कि वाद कानन द्वारा वर्जित न हो, कोई भी व्यक्ति, अपनी जोखिम पर, अपनी इच्छा से वाद फाइल कर सकता है। किसी भी वाद को, उसके चलने योग्य होने के लिए, विधि के किसी भी प्राधिकार की आवश्यकता नहीं है और इतना ही पर्याप्त है कि वाद किसी कानून द्वारा वर्जित नहीं है। किन्तु अपील के संबंध में स्थिति बिल्कुल ही विपरीत है। अपील का अधिकार किसी भी व्यक्ति में निहित नहीं है और इसलिए अपील को, उसके चलने योग्य होने के लिए, विधि का स्पष्ट प्राधिकार प्राप्त होना चाहिए।"

उच्चतम न्यायालय की यह विशिष्ट मताभिव्यक्ति अपील करने के अधिकार, जो कानून की सृष्टि है, और वाद फाइल करने के अधिकार के बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिए है, जो किसी व्यक्ति तक सीमित है, और जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 9 में निर्दिष्ट किया गया है, बशर्ते कि उसे वाद हेतुक और ईप्सित उपाय उपलब्ध है। यहां यह प्रश्न है : क्या यह चंपक वशराम, जिसकी ओर से और जिसके फायदे के लिए उसकी मां ने सिविल प्रक्रिया संहिता में यथा-परिभाषित प्राधिकृत अभिकर्ता हुए बिना ही अपील फाइल की थी, सभी प्रयोजनों के लिए अपील चलाने के लिए अनुज्ञात की जा सकती है या क्या उक्त

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1126.

चंपक वशराम, जो सद्भाविक गलती या विधि की अपनी अज्ञानता का अभिवचन कर रहा है, न्यायालय के समक्ष आकर उससे यह अनुरोध कर सकता है कि इस अपील के स्वयं उसके द्वारा फाइल की गई अपील के रूप में माने जाने के प्रयोजन के लिए अपील के इस ज्ञापन पर हस्ताक्षर करने के लिए उसे अनुज्ञात किया जाए। हमारी राय में, इस संबंध में कोई भी विवाद नहीं हो सकता है, यद्यपि श्री मेहता ने इस पर सहमति व्यक्त नहीं की है, कि अपील चंपक के फायदे के लिए फाइल की गई थी। चंपक ही अपीलार्थी था किन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि वह और उसकी मां, दोनों ही इस मिथ्या धारणा से ग्रस्त रहे कि मूल प्राधिकार अब भी बना हुआ था और इसलिए अपील मां द्वारा अपने पुत्र के लिए और उसकी ओर से उपस्थापित की गई। हम यह नहीं कहेंगे कि यह बात तकनीकी तौर पर सही है। बल्कि हम तो इतना तक कह सकते हैं कि विधिक रूप से यह गलत है। तथापि, हमारे विचारार्थ जो प्रश्न उद्भूत होता है वह यह है कि क्या इस प्रकार की गलती का यह दण्ड उचित रहेगा कि उसे, अपील बिल्कुल ही फाइल नहीं की गई थी—ऐसा मानने के गम्भीर परिणाम भुगतने पड़ें। प्रत्यर्थियों का निवेदन इसी आशय का है। हम इस संबंध में श्री मेहता द्वारा किए गए विभिन्न निवेदनों पर विचार करेंगे।

7. श्री मेहता के निवेदनों में बार-बार इसी बात पर जोर दिया गया है कि वादमित्र उसी दिन कार्य करना बन्द कर देता है जब मुकदमा लड़ने वाला अवयस्क वादी वयस्कता प्राप्त कर लेता है। अपने इस निवेदन के समर्थन में उन्होंने **रतनचन्द बनाम जसराज कस्तूरचन्द**[1] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय का जोरदार अवलम्ब लिया। यह खण्ड न्यायपीठ का निर्णय है और यदि उस प्रकार का कोई विनिश्चयाधार है, जिसके बारे में हमारे समक्ष जोर दिया गया है, तो वह हमारे लिए आबद्धकर होगा, क्योंकि वह राज्यों के पुनर्गठन से पहले का मुम्बई उच्च न्यायालय का निर्णय है और इसलिए वह हमारे लिए विधि है। मुम्बई उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के समक्ष प्रश्न प्रतिवादियों के खर्चों के संबंध में था। वह प्रश्न यह था कि क्या प्रतिवादियों के खर्चों की जिम्मेदारी अवयस्क पर डाली जाए या न्यायमित्र पर। इसी संदर्भ में उक्त विनिश्चयाधार अधिकथित किया गया है। उसमें यह कहा गया है :—

"जब तक वादी अवयस्क है, तब तक अभिलेख में उसका वादमित्र अवश्य ही दर्शित किया जाना चाहिए, जो खर्चों के लिए उत्तरदायी होता है; किन्तु जैसे ही अवयस्क वयस्कता अभिप्राप्त कर

---
1 ए० आई० आर० 1940 मुम्बई 58.

लेता है, वादमित्र पद-कार्य निवृत्त हो जाता है और प्रथमदृष्ट्या उसका दायित्व समाप्त हो जाता है। पूर्ववर्ती अवयस्क वादी आदेश 32, नियम 12 के अधीन इस संबंध में अपना विकल्प देने के लिए आबद्ध है कि क्या वह वाद के संबंध में कार्यवाही करेगा या नहीं। यदि वह वाद के संबंध में आगे कार्यवाही करना चाहता है, तो अभिलेख का शीर्षक उसे वयस्क वादी के रूप में दर्शित करके परिवर्तित कर दिया जाता है और तदुपरि वह वाद के आरम्भ की तारीख से खर्चों के लिए दायी हो जाता है तथा प्रतिवादी, इस कारण, बिल्कुल उसी स्थिति में आ जाता है, जिसमें वह उस दशा में होता, यदि वादी कभी भी अवयस्क नहीं होता। यदि अवयस्क वाद के संबंध में आगे कार्यवाही करना नहीं चाहता है, तो वह प्रतिवादी के खर्चों और वादमित्र के खर्चों का संदाय करने के आदेश को स्वीकार करते हुए ही ऐसा कर सकता है। यहां भी प्रतिवादी ठीक उसी स्थिति में आ जाता है, जिसमें वह उस दशा में होता, यदि वादी कभी भी अवयस्क नहीं होता…"

अतः यह निर्णय ऐसे मामले तक ही सीमित है, जिसमें प्रतिवादी के खर्चों के लिए दायित्व पर विचार किया जाना है।

8. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41, नियम 1 के प्रति निर्देश करके श्री मेहता ने यह निवेदन भी किया कि उक्त उपबंध के अधीन हर अपील अपीलार्थी या उसके प्लीडर द्वारा हस्ताक्षरित ज्ञापन के प्ररूप में फाइल की जा सकती है और न्यायालय में पेश की जा सकती है। अतः उनका निवेदन यह था कि इस न्यायालय को उपस्थापित यह ज्ञापन न तो अपीलार्थी द्वारा और न उसके अधिवक्ता द्वारा ही हस्ताक्षरित किया गया था और इसलिए भी यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उच्च न्यायालय के समक्ष अपील का कोई ज्ञापन नहीं है और इसलिए यहां भी कोई अपील नहीं है और इस आधार पर वह यह चाहते थे कि हम इस अपील को अनस्तित्वशील और इसलिए खारिज किए जाने योग्य मानें। हाल्सबरी कृत 'लाज आफ इंग्लैण्ड' (चतुर्थ संस्करण, खण्ड 24, पृ० 476) के प्रति निर्देश करते हुए, उन्होंने इस निवेदन को दोहराया कि जहां कोई शिशु, जो एकमात्र वादी है, पूर्ण वयस् प्राप्त कर लेता है, जबकि कार्यवाहियां लम्बित हैं, तो उस अवयस्क को कार्यवाहियां चालू रखने या न रखने का विकल्प देने का अधिकार प्राप्त है और यदि वह कार्यवाहियां चालू रखना चाहता है, तो वे स्वयं उसके ही नाम से की जाएंगी और वह आरम्भ से ही प्रतिवादियों के खर्चों के लिए दायी होगा। उसमें यह उल्लेख भी किया गया है कि यदि वह कार्यवाहियां समाप्त करना चाहता है, तो वह आरम्भ से ही

खर्चों का संदाय करने पर उनके खारिज किए जाने के लिए आदेश अभिप्राप्त कर सकता है या वह कोई कार्यवाही नहीं भी कर सकता है और उस स्थिति में प्रतिवादी कार्यवाहियों के खारिज किए जाने के लिए आवेदन कर सकता है किन्तु वह शिशु को उनके खर्चों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है। हाल्सबरी कृत 'लाज आफ इंग्लैण्ड' में व्यक्त किया गया यह मत प्राय: सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 5 के उपबंधों का समविषयक है। केवल इतना परिवर्धन और कर दिया गया है कि कार्यवाहियों के खारिज किए जाने के लिए न्यायालय को प्रतिवादियों के आवेदन के प्रति निर्देश किया गया है, जो उपबंध सिविल प्रक्रिया संहिता में नहीं है। किन्तु, यद्यपि ऐसा कोई उपबंध नहीं है, फिर भी उसके लिए कोई प्रतिषेध भी नहीं है और ऐसी स्थिति में स्थित प्रतिवादी निश्चय ही न्यायालय से समुचित व्यक्ति द्वारा समुचित रूप से न चलाए जाने के कारण वाद के खारिज किए जाने का अनुरोध कर सकता है। तथापि, इससे आवेदक के मार्ग में कोई बाधा नहीं आती है।

9. श्री मेहता ने स्टाम्प-शुल्क के संबंध में तीन और नजीरों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया, जिनमें स्टाम्प अधिनियम के अधीन प्राधिकारी, एक बार विशिष्ट आदेश पारित कर चुकने के पश्चात्, पद कार्य निवृत्त हो गया था और तत्पश्चात् उसके पास अपने विनिश्चय को अस्वीकृत करने या उसका पुनर्विलोकन करने के लिए कोई प्राधिकार नहीं रह गया था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह सादृश्यमूलक निर्देश अनावश्यक है, क्योंकि हमारी राय में यह पद कार्य निवृत्त होने वाले व्यक्ति का मामला नहीं है बल्कि वह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अनुसार अपील उपस्थापित करने वाले गलत व्यक्ति का मामला है। श्री मेहता ने हमारे समक्ष इस बात पर भी जोर दिया था कि वाद और अपील के बीच आधारभूत अन्तर है, और उन्होंने हमारे समक्ष **राज बिहारी लाल** बनाम **महाबीर प्रसाद**[1] वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय का अवलम्ब लिया। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अवयस्क प्रतिवादी, जिसके विरुद्ध डिक्री पारित की गई थी, विचारण न्यायालय द्वारा नियुक्त वादार्थ संरक्षक से भिन्न व्यक्ति की मार्फत अपील विधिमान्य रूप से संस्थित नहीं कर सकता था, किन्तु उस मामले में यह भी कहा गया है कि अपील न्यायालय पर्याप्त कारण दर्शित किए जाने पर, ऐसे संरक्षक को हटा कर और अपील के संस्थित किए जाने की तारीख से अवयस्क के संरक्षक के रूप में ऐसे अन्य व्यक्ति को नियुक्त करते हुए, विचारण न्यायालय द्वारा नियुक्त वादार्थ संरक्षक से भिन्न व्यक्ति द्वारा अवयस्क की ओर से अपील का

[1] ए० आई० आर० 1956 इलाहाबाद 310 (पूर्ण न्या०).

फाइल किया जाना अनुज्ञात कर सकता है। हमारी राय में, इस निर्णय का हमारे समक्ष वाली विषय-वस्तु से कोई संबंध नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां हमें इस प्रसिद्ध उक्ति का प्रत्यास्मरण करना चाहिए कि "प्रक्रिया न्याय की सेविका है, न कि स्वामिनी।" प्रक्रियात्मक अनियमितता या गलती से न्याय का सारभूत हित ध्वंस नहीं होने दिया जा सकता है, जब तक कि यह दर्शित नहीं कर दिया जाता कि इस अनियमितता के कारण अन्य पक्षकार अपरिहार्य रूप से प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया है। सिविल प्रकिया संहिता का आदेश 1, नियम 10 नीचे उद्धृत किया जा रहा है:—

> "10(1). जहां कोई वाद वादी के रूप में गलत व्यक्ति के नाम से संस्थित किया गया है, या जहां यह संदेहपूर्ण है कि क्या वह सही वादी के नाम में संस्थित किया गया है वहां यदि वाद के किसी भी प्रक्रम में न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वाद सद्भाविक भूल से संस्थित किया गया है और विवाद में के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए ऐसा करना आवश्यक है तो, वह ऐसे निबन्धनों पर, जो वह न्यायसंगत समझे, वाद के किसी भी प्रक्रम में किसी अन्य व्यक्ति को वादी के रूप में प्रतिस्थापित किए जाने या जोड़े जाने का आदेश दे सकेगा।"

स्पष्टतः विधि के ऊपर उद्धृत उपबंध में वाद के प्रति निर्देश किया गया है, न कि अपील के प्रति, किन्तु सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 107(2) में यह उपबंध किया गया है कि अपील न्यायालय की वे ही शक्तियां होंगी और वह यथासम्भव लगभग उन्हीं कर्तव्यों का पालन करेगा, जो आरम्भिक अधिकारिता वाले न्यायालयों में संस्थित वादों के बारे में इस संहिता द्वारा उन्हें प्रदत्त और उन पर अधिरोपित किए गए हैं। यदि विचारण न्यायालय में संस्थित वाद की बाबत अवयस्क व्यक्ति अपने तथाकथित वादमित्र की मार्फत इस गलत धारणा के अधीन वाद फाइल करता है कि अभिकथित वादी अब भी अवयस्क बना हुआ है, तो न्यायालय निश्चय ही वादी के उस गलत नाम या गलत वर्णन के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे सकता है। **तकी जान** बनाम **ओबेदुल्ला**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ को ऐसे ही मामले पर विचार करना पड़ा था। उस मामले में स्वयं को अवयस्क अभिकथित करने वाले व्यक्ति द्वारा वाद संस्थित किया गया था और वह वाद वादमित्र की मार्फत लाया गया था। बाद में यह पाया गया कि वादी वाद के संस्थित किए जाने की तारीख को वस्तुतः अवयस्क नहीं था और यह अनुरोध किया गया कि न्यायालय को वाद खारिज

[1] (1894) आई० एल० आर० 21 कलकत्ता 866.

कर देना चाहिए। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए उक्त अनुरोध अस्वीकार कर दिया कि न्यायालय वाद खारिज करने के लिए आबद्ध नहीं था क्योंकि प्रतिवादी को, उसके खर्चों का संदाय करके, पूर्णतः क्षतिपूर्ति की जा सकती थी। उच्च न्यायालय ने यह सुझाव दिया कि ऐसी स्थिति में प्रतिवादी के लिए समुचित उपाय वादपत्र को फाइल से हटाने या संशोधित कराने के लिए आवेदन करना था, किन्तु यदि वादी द्वारा यह अनुरोध भी स्वीकार नहीं किया जाता है, तब भी न्यायालय को मामला खारिज नहीं करना चाहिए बल्कि वादमित्र के नाम को अधिशेष समझना चाहिए और वाद को चलते रहने देना चाहिए। इस मामले का **षण्मुख चेट्टी** बनाम **सी० के० नारायण अय्यर**[1] वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा अनुसरण किया गया। उस मामले में वादी को वादपत्र में अवयस्क के रूप में वर्णित किया गया था किन्तु वह न्यायालय के समक्ष उसके वादमित्र द्वारा वादपत्र फाइल किए जाने से लगभग चार दिन पूर्व ही वस्तुतः वयस्कता अभिप्राप्त कर चुका था। अवयस्कता के अभिकथित रूप से चालू रहने के बारे में सद्भाविक विश्वास पाया गया और मद्रास उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने यह विनिर्णय किया कि ऐसा वाद खारिज नहीं किया जाना चाहिए बल्कि वादपत्र, वादमित्र की मार्फत वाद फाइल करने वाले अवयस्क के रूप में वादी के वर्णन को काटकर आवश्यक संशोधन करने और वादपत्र में अन्य पारिणामिक परिवर्तन करने के पश्चात् वादपत्र पेश किए जाने के लिए वापस कर दिया जाना चाहिए।

10. श्री मेहता ने यह दलील दी कि सिविल वाद से संबंधित उपबंध अपील के ज्ञापन के पेश किए जाने को लागू नहीं हो सकता है, जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41, नियम 1, 2 और 3 में व्यापक उपबंध किया गया है। श्री मेहता द्वारा किए गए इस निवेदन से सहमत होना कठिन है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 में आदेश 1, नियम 10 जैसा कोई उपबंध नहीं है और इसलिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 107(2) का अवलम्ब लेकर आदेश 1, नियम 10 के सिद्धान्त का अवलम्ब लिया जा सकता है, जब न्यायालय को उपस्थापित अपील के ऐसे गलत ज्ञापन पर विचार करना पड़ रहा हो। हम इस बात को फिर दोहरा रहे हैं कि अपील चंपक वशराम द्वारा फाइल की गई है किन्तु अनवधानता या अज्ञानता के कारण चंपक और उसकी माता, दोनों ही, ने कदाचित् यह समझा कि पूर्वतर आवेदन (प्रदर्श 154) उनकी वैयक्तिक जानकारी में नहीं लाया गया था, अतः पुरानी स्थिति बनी रही, किन्तु मां ने निश्चय ही अपने पुत्र की ओर से कार्यवाही की। इस संबंध में कोई

[1] (1917) आई० एल० आर० 40 मद्रास 743=ए० आई० आर० 1918 मद्रास 916.

भी शंका नहीं थी कि कौन अपील उपस्थापित कर रहा था और किसके विरुद्ध । यह चंपक की अपील थी, जो न्यायालय में उसकी माता के हाथों फाइल की गई थी, जो अपनी निरक्षरता के कारण विधि की इस सूक्ष्म अध्यपेक्षा को नहीं समझ सकी कि वयस्कता अभिप्राप्त कर लेने पर स्वयं अवयस्क को ही मामले के अभिलेख में सम्यक् रूप से वर्णित किया जा सकता है । यहां हम एक मुद्दे की अनदेखी नहीं कर सकते हैं । यदि हम इस गलती के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे देते हैं, जिसे हमने सद्भाविक माना है, तो अन्य पक्षकार पर इससे कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका नहीं है । किसी विनिर्दिष्ट विवरण के बिना, आधे मन से यह कथन किया गया कि वर्ष 1978 से वर्ष 1983 तक इस अपील के लम्बित रहने के दौरान सम्पत्ति के कुछ भागों की बाबत कुछ परिवर्तन हो गए होंगे । यह किसी व्यक्ति ने भी कथन नहीं किया है (उसके अभिलेख में होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है) कि इस स्पष्ट धारणा के कारण कि अपील अनस्तित्वशील थी, ऐसे संव्यवहार प्रतिवादियों द्वारा किए गए थे और इसलिए प्रत्यर्थी सं० 1, 2 और 3 पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है ।

11. मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, हम 1978 के सिविल आवेदन सं० 356 को मंजूर करने में कोई कठिनाई नहीं देखते और तदनुसार हम अपील के ज्ञापन में वादी के वर्णन के शुद्ध किए जाने के लिए अनुज्ञा दे रहे हैं । तदनुसार सिविल आवेदन मंजूर किया जाता है किन्तु इस निदेश के साथ कि आवेदक चंपक वशराम एक सैट में प्रतिवादी-प्रत्यर्थी सं० 1, 2 और 3 को इस सिविल आवेदन के खर्चे के रूप में 100 रुपये का संदाय करेगा ।

12. अब हम मुख्य प्रथम अपील पर आते हैं । इस मामले में दोनों ही पक्षकारों ने अपने-अपने अभिकथनों में पर्याप्त उपान्तरण किए हैं । विवाद की जड़ें काफी गहरी प्रतीत होती हैं और जब तक कि नए सिरे से विचारण आरम्भ नहीं होता है, पक्षकारों को विधि के अनुसार न्याय नहीं दिया जा सकता है । 1978 के सिविल आवेदन सं० 356 में हमारे आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने के श्री डी० एल० कोठारी के अधिकार को अविकल रखते हुए, उन्होंने इस बात पर अपनी सहमति व्यक्त की है कि अपील मंजूर की जानी चाहिए और मामला विचारण न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया जाना चाहिए । श्री जे० आर० नानावती की सहमति से, सम्पूर्ण मामला विद्वान् विचारण न्यायाधीश को वापस भेजा जा रहा है, जो दोनों पक्षकारों को हमारे द्वारा मंजूर किए गए सिविल आवेदन के अनुसार अपने-अपने अभिकथनों को संशोधित कराने की अनुज्ञा देंगे और उसके पश्चात् पक्षकारों को नए मुद्दों पर साक्ष्य देने की अनुज्ञा देंगे और उसके पश्चात् सभी मुद्दों पर, जिनमें दत्तक ग्रहण का

प्रश्न भी सम्मिलित है, मामले का नए सिरे से विनिश्चय करेंगे। अतः तकनीकी रूप में यह कहा जा सकता है कि अपील और प्रत्याक्षेप दोनों ही मंजूर किए जा रहे हैं किन्तु खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है। उन मुद्दों पर, जिन पर साक्ष्य पहले ही दिया जा चुका है, यह बात स्पष्ट की जाती है कि पक्षकारों को तब तक अतिरिक्त साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, जब तक कि वह ऐसे अतिरिक्त साक्ष्य के लिए कोई मामला साबित न करें।

13. परिणामतः प्रथम अपील और प्रत्याक्षेप मंजूर किए जाते हैं। खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है। सम्पूर्ण मामला विधि के अनुसार विनिश्चय के लिए विचारण न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया जा रहा है।

14. श्री डी० एल० कोठारी के अनुरोध पर, आज से 6 सप्ताह की अवधि तक विचारण न्यायालय के समक्ष आगे की कार्यवाहियां आरम्भ नहीं की जाएंगी क्योंकि उनका यह कहना है कि वह 1978 के सिविल आवेदन सं० 356 पर हमारे आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में समावेदन करना चाहते हैं। तथापि, यदि हमारे द्वारा या उच्चतम न्यायालय द्वारा आगे रोक मंजूर नहीं की जाती है, तो 1971 का यह सम्पूर्ण वाद विचारण न्यायालय द्वारा अनिवार्यतः विचारार्थ ग्रहण किया जाएगा और वह दिन-प्रतिदिन मामले की सुनवाई करके यथाशीघ्र उसका विनिश्चय करेगा।

प्रत्यर्थी सं० 1, जो न्यायालय में उपस्थित है और जिसकी शनाख्त श्री डी० एल० कोठारी द्वारा की गई है, इस न्यायालय के समक्ष यह वचनबंध कर रहा है कि वह 6 सप्ताह की इस अवधि के दौरान, यदि वह इस सम्पत्ति की बाबत किसी व्यक्ति के साथ कोई दस्तावेज निष्पादित करता है, उस दस्तावेज में इस तथ्य का अनिवार्यतः उल्लेख करेगा कि पक्षकारों के बीच यह विशिष्ट मुकदमेबाजी न्यायालय में लम्बित है। यदि कोई दस्तावेज इस प्रकार निष्पादित किया जाता है, तो राजकोट स्थित अपीलार्थी के विद्वान् अधिवक्ता को उसकी संसूचना दी जाएगी। उक्त वचनबंध आज से एक सप्ताह के भीतर फाइल किया जाएगा। तदनुसार आदेश पारित किया जाता है।

न० सिविल आवेदन मंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : गुजरात—45

आर० आर० चौहान और अन्य ब० गुजरात राज्य और अन्य

(R. R. Chauhan and others *Vs.* The State of Gujarat and others)

तारीख 11 अगस्त, 1983

[न्या० एन० एच० भट्ट और न्या० एस० ए० शाह]

गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन) नियमावली, 1977 तथा आठवां संशोधन, 1978 सपठित गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963, धारा 206—पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित करके पिटीशनरों को विभिन्न काडरों/ग्रुपों में विकल्प के आधार पर आबंटित किया जाना—उक्त नियमावली से पिटीशनरों की सेवा की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि प्रोन्नति के भावी अवसर सेवा की शर्तें नहीं हैं—अतः यह नियमावली अधिनियम की धारा 206 के प्रतिकूल नहीं है।

गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन) नियमावली, 1977 तथा आठवां संशोधन, 1978 सपठित गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963, धारा 206—पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित करके पिटीशनरों को विभिन्न काडरों/ग्रुपों में विकल्प के आधार पर आबंटित किया जाना—विधानमंडल को नियमावली विरचित करके राज्य सेवाओं को पुनर्गठित करने की प्रशासनिक शक्ति है और उक्त नियमावली में कोई मनमानापन नहीं है—अतः उक्त नियमावली राज्य विधानमण्डल की शक्तियों के अधीन होने के कारण विधिमान्य अधिनियमितियां हैं।

गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963 राज्य में 1 अप्रैल, 1963 से प्रवर्तित हुआ। 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 294 के पिटीशनर यह दावा करते हैं कि उन्हें पंचायत अधिनियम की धारा 206 के उपबंधों के अधीन पंचायत सेवाओं में आबंटित किया गया है। इस आबंटन से पूर्व ये सभी गुजरात राज्य के राजस्व विभाग में कार्य कर रहे थे। पंचायत सेवा में इनके आवंटन के पश्चात् इन्हें राजस्व शाखा में नियुक्त किया गया था। सन् 1967 में, पंचायत अधिनियम की धारा 323 के अधीन शक्तियों के प्रयोग में गुजरात राज्य ने गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) नियमावली, 1967 विरचित की। इस नियमावली के अधीन पंचायत सेवा को विभिन्न शाखाओं में पुनर्गठित किया गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ष 1968-69 तक अव्वलकारकुन के उच्च काडर में नियुक्ति के लिए कोई लिपिक अर्हरित नहीं थे। 28 अप्रैल, 1969 का एक परिपत्र राज्य सरकार द्वारा जारी किया गया था और इस आशय के निदेश जारी किए गए थे कि जब तक अव्वलकारकुन के पद पर प्रोन्नति के लिए अर्हरित लिपिक उपलब्ध न हों तब तक उन लिपिकों को अनंतिम रूप से शुद्धतः तदर्थ आधार पर अस्थाई व्यवस्था के रूप में अव्वलकारकुन नियुक्त किया जाए, जिन लिपिकों ने अन्तःसेवा विभागीय परीक्षा पास कर ली है, जिन्होंने स्थानीय शासन का डिप्लोमा प्राप्त कर लिया है या जो लेखा लिपिक के रूप में नियुक्त किये जाने के लिए अर्हरित हो गये हैं। इस परिपत्र के कारण पिटीशनरों को अनंतिम रूप से अव्वलकारकुन के रूप में पदोन्नत किया गया है।

सन् 1977 में भर्ती नियमावली, 1967 में सरकार द्वारा संशोधन किया गया। इस नियमावली के उपबंधों के अधीन पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित किया गया था और इन्हें दो काडरों अर्थात् लिपिकीय काडर (ग्रुप) और लेखा काडर (ग्रुप) में विभाजित किया गया था। इसके अतिरिक्त, लिपिकीय काडर में पदों को तीन और ग्रुपों (ग्रुप 1, ग्रुप 2 और ग्रुप 3) में विभाजित किया गया था; जबकि लेखा काडर में पदों को चार ग्रुपों (ग्रुप 1, ग्रुप 2, ग्रुप 3 और ग्रुप 4) में विभाजित किया गया था। उच्चतर ग्रुपों में पदोन्नति निम्नतर ग्रुपों के पात्र उम्मीदवारों में से की जाती थी।

पिटीशनरों की ओर से यह निवेदन किया गया कि (1) पिटीशनरों को या तो लिपिकीय काडर या लेखा काडर के बारे में विकल्प देने के लिए कहा गया है। अतः पदोन्नति के अवसर बहुत कम हो जाएंगे और ये अवसर केवल एक ग्रुप (काडर) में ही उपलब्ध होंगे, (2) उन्होंने यह और कहा कि संबंधित काडर में कुछ और नये पद शामिल किये गये हैं जिसके परिणामस्वरूप इन पदों के कुछ और धारक भी आगे पदोन्नति के लिए पात्र हो जाएंगे और इस प्रकार से उच्चतर काडर में पिटीशनरों की पदोन्नति के अवसर और भी कम हो जाएंगे, (3) यह कि संबंधित काडर में पिटीशनरों का आबंटन इसीलिए मनमाना और अन्यायपूर्ण होगा क्योंकि नियमावली द्वारा कोई मार्गदर्शन विहित नहीं किया गया है। अतः चूंकि नई नियमावली पंचायत अधिनियम, 1963 की धारा 206 के अधीन गारंटीकृत अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है अतः यह नियमावली स्पष्ट रूप से राज्य सरकार की शक्तियों से बाह्य है और इसलिए इसे अभिखण्डित कर दिया जाना चाहिए।

पिटीशनों के इस ग्रुप में पिटीशनरों ने अधिकारियों द्वारा पारित आदेशों को और 1977 की नियमावली की शक्तियों को इस आधार पर चुनौती दी है

कि उक्त नियमावली में उनकी सेवा की शर्तों में प्रोन्नति के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए परिवर्तन किया गया है और इसीलिए यह नियमावली गुजरात पंचायत अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'पंचायत अधिनियम' कहा गया है) की धारा 206 में अंतर्विष्ट उपबंधों के प्रतिकूल हैं और इसीलिए अभिखण्डित किये जाने योग्य हैं।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किये गये।

बहुत दिन पहले ही उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में अनेक निर्णयों में यह मत व्यक्त किया है कि पदोन्नति के अवसर सेवा की शर्त नहीं हैं और एक सक्षम विधायी प्राधिकरण को (भावी) पदोन्नति के अवसरों को प्रभावित करने वाले नियम अधिनियमित करने की पर्याप्त शक्ति है। गुजरात पंचायत सेवा नियमावली के द्वितीय और आठवें संशोधन को देखने से यह प्रतीत होता है कि पदोन्नति के और अधिक अवसर उपलब्ध हो गये हैं और पिटीशनर, यदि वे पात्र हैं तो, उच्चतर काडर में प्रत्येक पद पर और पदोन्नति के लिए हकदार होंगे। विधि की यह स्थिति अब भली-भांति तय हो चुकी है कि सरकार को उतने काडर सृजित करने की पर्याप्त शक्तियां हैं जितने वह सृजित करना चाहे। (पैरा 8, 10 और 11)

प्रस्तुत मामले में सरकार ने सेवाओं को पुनर्गठित किया है और ऐसे दो काडर सृजित किये हैं जो वैज्ञानिक भी हैं और तर्कसंगत भी तथा यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनरों के किसी भी अधिकार का अतिक्रमण हुआ है। इसके प्रतिकूल, तत्संबंधी शाखा में पदोन्नति पाने के बजाय अब सभी पिटीशनर दो काडरों में अर्थात् इनके अपने काडर में, जिसमें उन्होंने अपना विकल्प दिया है या जिसके बारे में वे एतत्पश्चात् विकल्प देते हैं, अनेक पदों के लिए हकदार होंगे। सेवा को पुनर्गठित करने की सरकार को प्रशासनिक शक्तियां हैं और यदि सरकार ने तत्संबंधी काडर में इन नये पदों को शामिल कर लिया है तो इसके बारे में कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। (पैरा 12 और 13)

नियमावली के आठवें संशोधन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि संबंधित सामान्य काडर में सरकार द्वारा नियुक्ति अपनी मर्जी के अनुसार नहीं की जानी है और पिटीशनरों को सामान्य काडरों में से किसी भी एक काडर के बारे में विकल्प देने की छूट है। यदि किसी काडर विशेष में आवेदकों की संख्या अधिक है, तो उनका आबंटन उन सिद्धांतों के अनुसार समिति द्वारा किया जायेगा जो (सिद्धांत) इन संशोधित नियमों में अधिकथित किये गये हैं। इस तथ्य के प्रति ध्यान रखते हुए कि पिटीशनरों को विकल्प का अवसर दिया गया है, और यदि किसी काडर

विशेष में आवेदकों की संख्या अधिक है तो एक स्वतन्त्र समिति नियमावली में अधिकथित सिद्धान्तों के अनुसार आबंटन आदेश करने के लिए नियुक्त की जायेगी, मनमानेपन की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दिया गया है। अतः नियमावली का द्वितीय और आठवां संशोधन शक्त्याधीन है; ये विधिमान्य अधिनियमितियां हैं और जैसी कि प्रार्थना की गई है, इन्हें अभिखण्डित नहीं किया जा सकता। (पैरा 15 और 16)

		पैरा
[1977]	1977 (2) एस० एल० आर० पी० 505 : श्री एस० डी० शर्मा और अन्य **बनाम** गुजरात राज्य और अन्य (S. D. Sharma and others *Vs.* The State of Gujarat & others);	11
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 259 : आर० एस० देवधर **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (R. S. Deodhar *Vs.* State of Maharashtra);	8
[1965]	1965 की सिविल अपील सं० 2281 जिसका विनिश्चय 25 जनवरी, 1967 को किया गया था (उच्चतम न्यायालय) : मैसूर राज्य **बनाम** जी० बी० पुरोहित (State of Mysore *Vs.* G. B. Purohit)	8

अनुसरित किये गये।

आरंभिक रिट अधिकारिता : 1978 का रिट आवेदन संख्या 294.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन, जिसके साथ 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 2117, 1854, 1765, 911 और 1980 के विशेष सिविल आवेदन सं० 379 की भी सुनवाई की गई।

(1) 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 294 में :

पिटीशनरों की ओर से ... श्रीमती के० ए० मेहता

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

(2) 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 1765 में :

पिटीशनरों की ओर से ... श्री एम० आर० आनन्द

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री० के० एम० रावल

प्रत्यर्थी सं० 2 और 3 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

(3) 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 1854 में :

पिटीशनरों की ओर से ... श्री एम० आर० आनन्द

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

(4) 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 2177 में :

पिटीशनरों की ओर से ... श्री पी० एस० पटेल

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

(5) 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 911 में :

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री के० एम० रावल और डी० डी० दवे

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्लीडर

(6) 1980 के विशेष सिविल आवेदन सं० 379 में :

पिटीशनरों की ओर से ... श्री एम० आर० आनन्द

प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी प्ली[illegible]

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० ए० शाह [illegible] दिया ।

न्या० शाह :

पिटीशनों के इस ग्रुप में पिटीशनरों ने अधिकारियों द्वारा पारित आदेशों को और गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन)

नियमावली, 1977 [गुजरात पंचायत्स सर्विसिस (क्लासिफिकेशन एण्ड रिक्रूयटमेंट्स) (सेकिण्ड अमैंडमेंट) रूल्स, 1977] की शक्तियों को इस आधार पर चुनौती दी है कि उक्त नियमावली में उनकी सेवा की शर्तों में उनकी प्रोन्नति के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए परिवर्तन किया गया है और इसीलिए यह नियमावली गुजरात पंचायत अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात् "पंचायत अधिनियम" कहा गया है) की धारा 206 में अंतर्विष्ट उपबंधों के प्रतिकूल है और इसीलिए अभिखण्डित किये जाने योग्य हैं। पिटीशनों के इस ग्रुप में पूर्वोक्त नियमावली की शक्तियों के और अन्य परिपत्रों के लागू किये जाने के बारे में सामान्य प्रश्न उठाये गये हैं और इनका निपटारा इसी सामान्य निर्णय से किया जा रहा है।

2. इससे पूर्व कि हम इन पिटीशनरों की सामान्य दलीलों पर विचार करें, कुछ तथ्यों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। गुजरात पंचायत अधिनियम, 1963 इस राज्य में 1 अप्रैल, 1963 से प्रवर्तित हुआ। 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 294 के पिटीशनर यह दावा करते हैं कि उन्हें पंचायत अधिनियम की धारा 206 के उपबंधों के अधीन पंचायत सेवाओं में आबंटित किया गया है। इस आबंटन से पूर्व ये सभी पिटीशनर गुजरात राज्य के राजस्व विभाग में कार्य कर रहे थे। पंचायत सेवा में इनके आबंटन के पश्चात् इन्हें राजस्व शाखा में बड़ौदा जिला पंचायत में लिपिक के रूप में नियुक्त किया गया था। सन् 1967 में, पंचायत अधिनियम की धारा 323 के अधीन शक्तियों के प्रयोग में गुजरात राज्य ने गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) नियमावली, 1967 विरचित की (जिसे इसमें इसके पश्चात् भर्ती नियमावली, 1967 कहा गया था)। इस नियमावली के अधीन पंचायत सेवा को विभिन्न शाखाओं उदाहरणार्थ कृषि, लोकनिर्माण, चिकित्सा, पशुपालन, लोक स्वास्थ्य, राजस्व और ग्रामीण विकास आदि विभिन्न शाखाओं में पुनर्गठित किया गया था।

3. ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनरों को सरकारी परिपत्रों के अनुसरण में तत्कालीन व्यवस्था के रूप में शुद्धतः तदर्थ रूप में सन् 1968-69 में अव्वलकारकुन के पद पर पदोन्नत किया गया था। ऐसा एक परिपत्र उपाबंध-ए पर प्रोद्धृत किया गया है। इस प्रक्रम पर अव्वलकारकुन के पद पर प्रोन्नति से संबंधित कानूनी उपबंधों को प्रोद्धृत करना आवश्यक है। 1967 की भर्ती नियमावली का नियम 2 इस प्रकार है :—

* "2. अव्वलकारकुन :—

"अव्वलकारकुनों के पदों पर नियुक्ति (क) सरकार द्वारा अनुमोदित स्कीम के अनुसरण में गुजरात पंचायत सेवा चयन बोर्ड द्वारा आयोजित एक प्रतियोगी परीक्षा के परिणामस्वरूप सीधे चयन द्वारा अथवा (ख) जिले में काम करने वाले पंचायत सेवा की राजस्व शाखा के उन लिपिकों में से पदोन्नति द्वारा, जिन्होंने राजस्व अर्हक परीक्षा पास कर ली है, उनमें से उक्त परीक्षा पास करने की तारीख के अनुसार और यदि तारीखें एक जैसी हैं तो परीक्षा में प्राप्त रैंक के अनुसार, और यदि रैंक भी एक जैसी ही है तो सेवा अवधि में वरिष्ठता द्वारा की जायेगी।"

4. ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ष 1968-69 तक अव्वलकारकुन के उच्च काडर में नियुक्ति के लिए कोई लिपिक अर्हरित नहीं था। 28 अप्रैल, 1969 का एक परिपत्र जो, इस पिटीशन का उपाबंध-ए है, राज्य सरकार द्वारा जारी किया गया था जो ऊपर उल्लिखित स्थिति को स्पष्ट करता है और इस आशय के निदेश जारी किये गये थे कि जब तक अव्वलकारकुन के पद पर प्रोन्नति के लिए अर्हरित लिपिक उपलब्ध न हों तब तक उन लिपिकों को अनंतिम रूप से शुद्धतः तदर्थ आधार पर अस्थाई व्यवस्था के रूप में अव्वलकारकुन नियुक्त किया जाए, जिन लिपिकों ने अन्तःसेवा विभागीय परीक्षा पास कर ली है, जिन्होंने स्थानीय

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"2. Avalkarkuns :—

Appointment to the posts of Avalkarkuns shall be made (a) by direct selection on the result of a competitive examination held by the Gujarat Panchayat Service Selection Board in accordance with the scheme approved by the Government or (b) by promotion from amongst the clerks of the Revenue Branch of Panchayat Service working in the District who have passed Revenue qualifying Examination according to the date of passing the said examination and if the dates are the same, then, according to the rank obtained in the Examination and if the rank also happens to be the same then by seniority of length of service."

शासन का डिप्लोमा प्राप्त कर लिया है या जो लेखा लिपिक के रूप में नियुक्त किये जाने के लिए अर्हरित हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार के 20 अगस्त, 1968 के पूर्ववर्ती परिपत्र और इस परिपत्र के कारण पिटीशनरों को अनन्तिम रूप से अव्वलकारकुन के रूप में पदोन्नत किया गया है।

5. सन् 1977 में भर्ती नियमावली, 1967 में सरकार द्वारा और संशोधन किया गया जिसे गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन) नियमावली, 1967 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'संशोधित नियमावली' कहा गया है)। इस नियमावली के उपबंधों के अधीन पंचायत सेवाओं को पुनर्गठित किया गया था और इन्हें दो काडरों अर्थात् लिपिकीय काडर (ग्रुप) और लेखा काडर (ग्रुप) में विभाजित किया गया था। इसके अतिरिक्त, लिपिकीय काडर में पदों को तीन और ग्रुपों (ग्रुप 1, ग्रुप 2 और ग्रुप 3) में विभाजित किया गया था : जबकि लेखा काडर में पदों को चार ग्रुपों (ग्रुप 1, ग्रुप 2, ग्रुप 3 और ग्रुप 4) में विभाजित किया गया था। उच्चतर ग्रुपों में पदोन्नति निम्नतर ग्रुपों में पात्र उम्मीदवारों में से की जाती थी।

6. 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 294 में पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाली विद्वान् अधिवक्ता श्रीमती मेहता ने हमें संशोधित नियमावली के विभिन्न उपबंधों का पारायण कराया है और यह निवेदन किया कि (1) पिटीशनरों को या तो लिपिकीय काडर या लेखा काडर के बारे में विकल्प देने के लिए कहा गया है। अतः पदोन्नति के अवसर बहुत कम हो जाएंगे और यह अवसर केवल एक ग्रुप (काडर) में ही उपलब्ध होगा; (2) उन्होंने यह और कहा कि संबंधित काडर में कुछ और नये पद शामिल किये गये हैं जिसके परिणामस्वरूप इन पदों के कुछ और धारक भी आगे पदोन्नति के लिए पात्र हो जाएंगे और इस प्रकार से उच्चतर काडर में पिटीशनरों की पदोन्नति के अवसर और भी कम हो जाएंगे; (3) यह कि संबंधित काडर में पिटीशनरों का आबंटन इसीलिए मनमाना और अन्यायपूर्ण होगा क्योंकि नियमावली द्वारा कोई मार्गदर्शन विहित नहीं किया गया है। अतः श्रीमती मेहता यह कहती हैं कि चूंकि नई नियमावली पंचायत अधिनियम की धारा 206 के अधीन गारंटीकृत अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है अतः यह नियमावली स्पष्ट रूप से राज्य सरकार की शक्तियों से बाह्य है और इसलिए इसे अभिखण्डित कर दिया जाना चाहिए।

7. अन्य पिटीशनों में पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेलों ने भी श्रीमती मेहता द्वारा दी गई दलीलों और किये गये निवेदनों को

ही अपनाया है और चूंकि हमने उन सभी दलीलों को पहले ही उद्धृत कर दिया है जो संबंधित पिटीशनरों द्वारा दी गई हैं, अतः हम इन सब पर एक साथ ही विचार करेंगे।

8. अब हम श्रीमती मेहता द्वारा दी गई दलीलों पर एक-एक करके विचार करेंगे। सर्वप्रथम श्रीमती मेहता की दलील यह है कि संशोधित नियमावली के अधिनियमित किये जाने से पिटीशनरों के प्रोन्नति संबंधी अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस दलील में कोई वजन नहीं है क्योंकि बहुत दिन पहले ही **मैसूर राज्य ब० जी० बी० पुरोहित**[1] के विनिश्चय में ही यह तय हो चुका है, जिसकी पुष्टि **आर० एस० देवधर ब० महाराष्ट्र राज्य**[2] में उच्चतम न्यायालय के पश्चात्वर्ती विनिश्चय द्वारा की जा चुकी है जिसमें उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त किया है कि पदोन्नति के अवसर सेवा की शर्त नहीं हैं और एक सक्षम विधायी प्राधिकरण को पदोन्नति के अवसरों को प्रभावित करने वाले नियम अधिनियमित करने की पर्याप्त शक्ति है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय के पैरा 12 में निम्नलिखित मत व्यक्त किये गये हैं :—

> "मैसूर राज्य **बनाम** जी० बी० पुरोहित (1965 की सिविल अपील सं० 2281, जिसका विनिश्चय 25 जनवरी, 1967 को किया गया) में इस न्यायालय के विनिश्चय द्वारा अब यह भली-भांति तय किया जा चुका है कि यद्यपि पदोन्नति के लिए विचार किये जाने का अधिकार सेवा (की एक शर्त) है किन्तु पदोन्नति के मात्र भावी अवसर कोई सेवा की शर्तें नहीं हैं। ऐसा नियम, जो पदोन्नति के अवसरों को मात्र प्रभावित करता है, सेवा की शर्त में फेरफार करने वाला नियम नहीं माना जा सकता। पुरोहित के मामले में सफाई निरीक्षकों की जिलावार वरिष्ठता राज्यवार वरिष्ठता में परिवर्तित कर दी गई थी और इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी वरिष्ठता की दृष्टि से और नीचे चले गये थे तथा बहुत ही कनिष्ठ हो गये थे। यह दलील दी गई थी कि इस बात से उनकी पदोन्नति के उन अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था जो अवसर धारा 115 की उपधारा (7) के परन्तुक के अधीन सुनिश्चित थे। इस दलील को नकार दिया गया था और तत्कालीन न्या० वांचू ने इस न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त

---

[1] 1965 की सिविल अपील सं० 2281 जिसका विनिश्चय 25 जनवरी, 1967 को किया गया था (उच्चतम न्यायालय)।
[2] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 259.

किया : 'प्रत्यर्थियों की ओर से यह कहा गया है कि चूंकि उनकी पदोन्नति के अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है इसलिए उनकी सेवा की शर्तों में उनके लिए अहितकर परिवर्तन हुआ है' । हमें इस दलील में कोई बल प्रतीत नहीं होता क्योंकि पदोन्नति के अवसर सेवा की शर्तें नहीं हैं । अतः यह स्पष्ट है कि न तो 30 जुलाई, 1959 के नियम और न संविभागवार जिला कलक्टर के पदों पर पदोन्नति करने की प्रक्रिया पिटीशनरों की सेवा की शर्तों में उनके लिए अहितकर परिवर्तन करती है । तद्नुसार धारा 115 की उपधारा (7) का परन्तुक लागू नहीं होता और 30 जुलाई, 1959 के नियमों को अविधिमान्य कहकर इन पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि ये नियम उक्त परन्तुक का पालन नहीं करते ।"

9. धारा 115(7) के परन्तुक में यह कहा गया था कि सेवा की शर्तों को केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना परिवर्तित नहीं किया जा सकता और उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ मुद्दा यह था कि क्या आक्षेपित नियम उस पिटीशन के पिटीशनरों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हुए उनकी सेवा की शर्तों में परिवर्तन करते थे ?

10. श्रीमती मेहता की यह दलील या यह निवेदन नहीं है कि पिटीशनरों को पदोन्नति के अवसर उपलब्ध नहीं हैं । उन्हें या तो लिपिकीय काडर में या लेखा काडर में आबंटित किया जाना है । इसके प्रतिकूल, नियमावली को देखने से यह प्रतीत होता है कि पदोन्नति के और अधिक अवसर उपलब्ध हो गये हैं और पिटीशनर, यदि वे पात्र हैं तो, उच्चतर काडर में प्रत्येक पद पर और पदोन्नति के लिए हकदार होंगे ।

11. विधि की यह स्थिति अब भली-भांति तय हो चुकी है कि सरकार को उतने काडर सृजित करने की पर्याप्त शक्तियां हैं जितने वह सृजित करना चाहे । **श्री एस० डी० शर्मा और अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और अन्य**[1] के मामले में इस उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने, जिसमें मु० न्या० एस० ओबुल रेड्डी और मेरे विद्वान् बन्धु न्या० एन० एच० भट्ट थे, निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

"प्रारंभ में ही हम यह उल्लेख कर दें कि सरकार का यह विशेषाधिकार है कि वह राज्य में सुकर और कार्यकुशल प्रशासन के लिए इतनी सेवाएं सृजित कर सकती है जितनी राज्य में सुकर और कार्य-

---

[1] 1977 (2) एस० एल० आर० पी० 505.

कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक हों। गुजरात राज्य ने गुजरात प्रशासनिक सेवा गठित करने का एक नीति संबंधी विनिश्चय किया है और सरकार ने केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति भी प्राप्त कर ली है। इसके पश्चात् ही प्रशासनिक सेवा को पृथक विधान द्वारा गठित किया गया है। सरकार द्वारा यह नीति संबंधी विनिश्चय किया गया है और नीति संबंधी ऐसे विनिश्चय की विधिमान्यता को भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।"

12. प्रस्तुत मामले में सरकार ने सेवाओं को पुनर्गठित किया है और ऐसे दो काडर सृजित किये हैं जो वैज्ञानिक भी हैं और तर्कसंगत भी तथा यह नहीं कहा जा सकता कि पिटीशनरों के किसी भी अधिकार का अतिक्रमण हुआ है। इसके प्रतिकूल, तत्संबंधी शाखा में पदोन्नति पाने के बजाय अब सभी पिटीशनर दो काडरों में अर्थात् इनके अपने काडर में जिसमें उन्होंने अपना विकल्प दिया है या जिसके बारे में वे एतत्पश्चात् विकल्प देते हैं, अनेक पदों के लिए हकदार होंगे।

13. श्रीमती* मेहता की तीसरी दलील यह है कि कम्प्यूटर, टाईपिस्ट आदि के अनेक नये पदों को शामिल कर लिया गया है। इस दलील में भी ऊपर उल्लिखित आधार के कारण कोई बल नहीं है अर्थात् यह कि सेवा को पुनर्गठित करने की सरकार को प्रशासनिक शक्तियां हैं और यदि सरकार ने तत्संबंधी काडर में इन नए पदों को शामिल कर लिया है तो इसके बारे में कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता।

14. श्रीमती मेहता की इस दलील में भी कोई बल नहीं है कि यह नियमावली अन्यायपूर्ण है और आबंटन के बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं लिया गया है। पिटीशनरों के साथ कोई मनमाना बर्ताव नहीं किया गया है। अधिनियमित किए जाने के पश्चात् दूसरी संशोधित नियमावली को गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (आठवां संशोधन) नियमावली, 1978 द्वारा और आगे संशोधित किया गया है। इस नियमावली का नियम 3 श्रीमती मेहता की दलीलों का संपूर्ण उत्तर है, जिसका सारवान भाग नीचे उद्धृत किया जा सकता है :—

*"3. सामान्य लिपिकीय काडर और सामान्य लेखा काडर में आबंटन के प्रयोजनों के लिए नीचे सारणी में विनिर्दिष्ट पंचायत सेवकों

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"3. For the purposes of allotment to the common clerical cadre and the common accounts cadre the

को या तो सामान्य लिपिकीय काडर में या सामान्य लेखा काडर में आबंटन के लिए विकल्प का प्रयोग करने का नोटिस दिया जाएगा। ऐसा विकल्प उस तारीख से तीन मास की अवधि के भीतर प्रयोग में लाया जाएगा जिस तारीख को नोटिस की तामील की जाती है। ऐसे नोटिस की प्रत्येक ऐसे सेवक पर व्यक्तिगत रूप से तामील की जाएगी। यदि उन सेवकों की संख्या किसी संबंधित काडर में उपलब्ध पदों की संख्या से अधिक होती है, जो उस विशिष्ट काडर के लिए विकल्प देते हैं तो ऐसे सेवकों का आबंटन निम्नलिखित विषयों पर विचार करने के पश्चात् एक समिति अंतिम रूप से तय करेगी अर्थात् :—

(क) सेवक द्वारा की गई सेवा की अवधि और सेवा के दौरान प्राप्त कार्य का अनुभव;

(ख) सेवक की शैक्षणिक अर्हताएं;

(ग) किसी काडर विशेष में आबंटन के लिए सेवक की उपयुक्तता का अवधारण मौखिक परीक्षा आयोजित करके किया जाएगा।"

Panchayat Servants specified in the Table below shall be given notice for exercising option for allotment either in the common clerical cadre or in the common accounts cadre. Such option shall be exercised within a period of three months from the date on which the notice is served. Such notice shall be served on such servant individually. If the number of servants who not for a particular cadre exceeds the number of posts available in that cadre, the Committee shall finalise the allotment of such servants taking into consideration the following matters, namely :—

(a) length of service rendered by the servant and the experience of work he has gained during the service.

(b) educational qualifications of the servants.

(c) suitability of the servant for allotment in the particular cadre which shall be determined by holding oral test."

15. नियमावली के पूर्वोक्त आठवें संशोधन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि संबंधित सामान्य काडर में नियुक्ति सरकार द्वारा अपनी मर्जी के अनुसार नहीं की जानी है और पिटीशनरों को सामान्य काडरों में से किसी भी एक काडर के बारे में विकल्प देने की छूट है। यदि किसी काडर विशेष में आवेदकों की संख्या अधिक है तो उनका आबंटन उन सिद्धांतों के अनुसार समिति द्वारा किया जायेगा जो (सिद्धांत) इन संशोधित नियमों में अधिकथित किए गए हैं। श्रीमती मेहता यह बताने में असफल रही हैं कि क्या इन तीनों सिद्धांतों में से कोई सिद्धांत, जो इन नियमों में अधिनियमित किए गए हैं, असंबद्ध या अतार्किक है। इस तथ्य के प्रति ध्यान रखते हुए कि पिटीशनरों को विकल्प का अवसर दिया गया है, और यदि किसी काडर विशेष में आवेदकों की संख्या अधिक है तो एक स्वतंत्र समिति नियमावली में अधिकथित सिद्धांतों के अनुसार आबंटन आदेश करने के लिए नियुक्त की जाएगी, मनमानेपन की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दिया गया है। ऐसी परिस्थितियों में श्रीमती मेहता हमें यह नहीं बता सकीं कि आठवीं संशोधित नियमावली किस प्रकार से आपत्तिजनक है।

16. पूर्वोक्त दृष्टि से मामले को देखते हुए श्रीमती मेहता या पिटीशनरों का और कोई काउन्सेल यह दर्शाने में असमर्थ रहा था कि नियमावली का द्वितीय संशोधन या आठवां संशोधन उन पिटीशनरों की सेवा की शर्तों के प्रतिकूल किस प्रकार है जो पंचायत अधिनियम की धारा 206 के अधीन सुरक्षित हैं। अतः हम यह निर्धारित करते हैं कि नियमावली का द्वितीय और आठवां संशोधन शाक्त्याधीन है; ये विधिमान्य अधिनियमितियां हैं और जैसी कि प्रार्थना की गई है, इन्हें अभिखण्डित नहीं किया जा सकता।

17. श्रीमती मेहता ने जब यह महसूस किया कि नियमावली शक्तिबाह्य नहीं है तो उन्होंने उन आदेशों पर आक्षेप किया जो उपाबंध-डी में जिला विकास प्राधिकारी द्वारा पारित किए गए हैं, जिनके द्वारा कुछ पिटीशनरों को निम्नतर काडर में वापस भेज दिया गया है। श्रीमती मेहता की दलील यह थी कि जब विकल्प का प्रयोग नहीं किया जाता और लिपिकीय ग्रुप या लेखा ग्रुप के संबंधित काडर में आबंटन नहीं किया जाता है और इस प्रकार से स्थिति स्पष्ट रूप से अभिनिश्चित नहीं की जाती तब तक प्रत्यर्थी पिटीशनरों को अव्वलकारकुन के उनके पदों से निम्नतर स्थाई पदों पर प्रतिवर्तित नहीं कर सकते। हम श्रीमती मेहता की इस व्यापक दलील को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अव्वलकारकुन के उच्चतर पदों पर पदोन्नति लिपिकों को 1967 की कानूनी भर्ती नियमावली के अधीन केवल तभी दी जा सकती है यदि उन्होंने राजस्व अर्हक परीक्षा पास कर ली हो और यह स्वीकृत स्थिति है कि पिटीशनरों

ने राजस्व अर्हरक परीक्षा पास नहीं की है और इसलिए पिटीशनर अधिकारतः 1967 की भर्ती नियमावली के नियम 2 के उपबंधों के अधीन अव्वलकारकुन के पद पर बने रहने के हकदार नहीं हैं।

18. जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि पिटीशनरों को अस्थाई व्यवस्था के रूप में उनकी वरिष्ठता के आधार पर, अर्हरित लिपिक न मिलने के कारण, पदोन्नत किया गया है। अब चूंकि यह पाया गया है कि पिटीशनर 1967 की नियमावली के तत्संबंधी अधीनस्थ काडर में वरिष्ठ नहीं थी। इसलिए कनिष्ठ पिटीशनरों को तत्संबंधी काडर के दूसरे वरिष्ठ कर्मचारियों के अधिकारों को न्यून करते हुए अव्वलकारकुन के रूप में बने रहने नहीं दिया जा सकता। यह स्वीकृत स्थिति है कि पिटीशनरों को अस्थाई व्यवस्था के रूप में पदोन्नत किया गया था, अतः यदि तत्संबंधी काडर में पिटीशनरों से वरिष्ठ कोई कर्मचारी उपलब्ध है तो उक्त कनिष्ठ कर्मचारी को बनाए रखना और तदर्थ आधार पर भी पदोन्नति देना निश्चित रूप से विभेदकारी होगा और तत्संबंधी काडरों में वरिष्ठ कर्मचारियों को तब तक पिटीशनर के स्थान पर पदोन्नति मांगने का अधिकार है जब तक संशोधित नियमावली के उपबंधों के अधीन अंतिम वरिष्ठता विनिश्चित नहीं कर दी जाती, जिसके विनिश्चय में पूर्वोक्त स्थिति के अनुसार अभी कुछ और समय लगेगा। उस समय तक पंचायतों का सक्षम प्राधिकारी पिटीशनरों को प्रतिवर्तित करके भी पदोन्नतियों में पुनः व्यवस्था करने का हकदार होगा, यदि पिटीशनर अन्य दावेदारों से कनिष्ठ पाये जाते हैं। अन्यथा, वरिष्ठ कर्मचारियों के अधिकारों को न्यून करते हुए किसी कनिष्ठ कर्मचारी को उच्च पद पर बनाए रखना स्पष्ट रूप से विभेदकारी और अवैध होगा।

19. चूंकि हमारे समक्ष पिटीशनरों की अथवा अधीनस्थ काडर में अन्य व्यक्तियों की वरिष्ठता जानने की कोई सामग्री नहीं है इसलिए हमारे लिए कोई राय व्यक्त करना संभव नहीं है। अतः उन विचारों को ध्यान में रखते हुए जो हमने इस निर्णय में व्यक्त किए हैं पदोन्नति या अवनति के प्रश्न का विनिश्चय करना सक्षम प्राधिकारी का ही कार्य है। यद्यपि इन पिटीशनों में अनेक आनुषंगी मुद्दे उठाए गए हैं फिर भी पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले अधिवक्ताओं ने न तो हमारे समक्ष उन पर बल दिया है और न उनके बारे में कोई दलील ही दी है। अतः हमने अपने मत केवल उन्हीं मुद्दों तक ही सीमित रखे हैं जो हमारे समक्ष उठाए गए हैं और जिन पर बहस हुई है।

20. संशोधित नियमावली, मई 1977 में प्रवृत्त हुई और तब से लेकर आज तक पर्याप्त समय व्यतीत हो गया है। वे प्राधिकारी, जिन्हें इस संशोधित

नियमावली को कार्यान्वित करने का भार सौंपा गया था अब तुरंत इस कार्य को उठाएंगे और प्रत्येक ऐसे कर्मचारी को विकल्प प्रयोग करने का अवसर देंगे (यदि ऐसा अवसर पहले नहीं दिया गया है) जो इस नियमावली के अधीन ऐसे विकल्प के लिए हकदार है। यह विकल्प व्यक्तिगत नोटिस की तामील करके दिया जाएगा और प्राधिकारी आठवीं संशोधित नियमावली के उपबंधों का अनुसरण करते हुए उनके संबंधित दावों का विनिश्चय यथासंभव शीघ्र करेंगे—अधिमानतः आज से लेकर 6 महीने की अवधि के भीतर ऐसा करेंगे ताकि संबंधित कर्मचारियों को उनकी वरिष्ठता और पदोन्नति के अवसरों की स्पष्ट स्थिति का ज्ञान हो जाए।

21. परिणामतः आक्षेपित नियमावली अर्थात् गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (द्वितीय संशोधन) नियमावली, 1977 और गुजरात पंचायत सेवा (वर्गीकरण और भर्ती) (आठवां संशोधन) नियमावली, 1978 शाक्त्याधीन हैं। अतः पिटीशन नामंजूर किए जाते हैं। हमारे द्वारा इसके बारे में व्यक्त किए गए मत के अधीन रहते हुए अंतरिम अनुतोष समाप्त किया जाता है। खर्चों के बारे में कोई भी मत न देते हुए न्यायादेश खारिज किया जाता है।

पिटीशन खारिज किए गए।

शर्मा

नि० प० 1984 : गुजरात—59

बेनसन एनाक सैमुअल, अहमदाबाद इत्यादि बनाम गुजरात राज्य और अन्य

(Benson Enock Semual, Ahmedabad and etc. *Vs.* State of Gujarat and others)

तारीख 1 सितम्बर, 1983

[न्या० बी० के० मेहता और न्या० एस० ए० शाह]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 30(1) सपठित मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स, 1949 रूल 106(2) अनुसूची 'च' के खण्ड 1(2), 5, 13, 15, 24, 27 और 30 (गुजरात अमैण्डमेन्ट रूल्स, 1978 द्वारा यथा-संशोधित)—

उक्त अनुच्छेद 30(1) के अधीन अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा भाषा या धर्म के आधार पर अपनी रुचि की शैक्षणिक संस्थाओं को स्थापित करना तथा उनका प्रशासन करने के अधिकार का आत्यंतिक होना—चूंकि राज्य सरकार द्वारा विरचित उक्त नियम अल्पसंख्यक वर्ग के उक्त अधिकार को छीनता है तथा उसे कम करता है अत: ये नियम संविधान के उक्त अनुच्छेद 30(1) के अतिक्रमणकारी होने के कारण अवैध और शून्य हैं।

ये पिटीशन अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय द्वारा स्थापित और चलाए जाने वाले विद्यालयों के प्रबंधतंत्र ने किए हैं। इन विद्यालयों के प्रबंधतंत्र ने अपने विद्यालयों में देसाई वेतन आयोग द्वारा अध्यापकों के वेतन और भत्तों के संबंध में की गई सिफारिशों को लागू नहीं किया जिसके कारण राज्य सरकार ने परिपत्र जारी करके इन विद्यालयों की मान्यता को समाप्त कर दिया। इससे व्यथित होकर पिटीशनरों ने पिटीशन फाइल करते हुए यह निवेदन किया कि मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स, 1949 का नियम 106(2), जहां तक कि इसमें पिटीशनरों पर यह बाध्यता अधिरोपित की गई है कि वे यह वचन दें कि उनके द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में अध्यापकों की सेवा की शर्तें और निबंधन वही होंगे जो अनुसूची 'च' में विनिर्दिष्ट हैं, तथा नियम 109(2), जो कि मान्यता को वापस लेने की बाबत हैं, संविधान के अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा उनकी रुचि के शैक्षांक संस्थान स्थापित करने और उनका प्रशासन करने के मूल अधिकार के अतिक्रमणकारी हैं। अत: इन्हें असंवैधानिक घोषित किया जाए। इस संबंध में उन्होंने निम्नलिखित दलीलें दीं :—

(1) गुजरात अमैन्डमेन्ट रूल्स, 1978 द्वारा संशोधित अनुसूची (च) में विहित नियम जिनमें, प्राइवेट विद्यालयों के अध्यापकों की सेवा की शर्तें, वेतन और भत्ते, अनुशासन और आचरण तथा सेवा-निवृत्ति लाभ शामिल करना भी सम्मिलित है, मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन ऐक्ट के अधिकारातीत हैं।

(2) उपर्युक्त संशोधित नियम और अनुसूची 'च' में के उपबंधों का प्राइमरी शिक्षा के मानक, प्रोन्नति, विकास और विस्तार के साथ कोई संबंध न होने के कारण ये संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन अनुज्ञेय युक्तियुक्त निर्बन्धन नहीं कहे जा सकते। अतः उपर्युक्त विनियम के अधीन प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए जारी किया गया आक्षेपित परिपत्र विधि की दृष्टि से अवैध और शून्य है।

(3) उक्त नियम 106 उन विद्यालयों पर लागू नहीं होता जो इस संशोधन के प्रवृत्त होने से पहले ही मान्यताप्राप्त थे और जब विद्यालय को अनुमोदित विद्यालय के रूप में मान्यता प्रदान कर दी जाती है तब इस मान्यता को केवल नियम 109(2) के अधीन ही वापस लिया जा सकता है इससे पूर्व नहीं।

(4) उक्त नियम 109(2) के अधीन सक्षम प्राधिकारी को मान्यता वापस लेने के संबंध में अनियंत्रित और असीमित शक्ति प्रदान की गई है क्योंकि प्रबंधतंत्र को इसके विरुद्ध अपील करने का कोई कानूनी अधिकार नहीं है अतः यह भारत के सविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है।

प्रस्तुत मामले में मुख्य रूप से विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या सरकार ऐसे नियम विरचित कर सकती है जो अल्पसंख्यक वर्गों के अपनी रुचि के प्राइवेट विद्यालय स्थापित करने और उनकी व्यवस्था करने के अधिकार को छीनते हों या अल्पीकृत करते हों और क्या इन्हें सविधान के अधिकारातीत घोषित किया जा सकता है?

अभिनिर्धारित—पिटीशन भागतः मंजूर किए गए।

सिद्धान्ततः और साथ ही साथ प्राधिकार पूर्ण रूप से यह भली-भांति सिद्ध हो चुका है कि सभी अल्पसंख्यक वर्गों की, चाहे वे भाषा पर आधारित हों या धर्म पर, अनुच्छेद 30(1) के अधीन अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने और उनका प्रशासन करने का आत्यंतिक अधिकार होने के कारण अनुच्छेद 30(1) के अधीन अधिकार का सारतः अतिक्रमण करने वाली कोई भी विधि या कार्यपालक निदेश अतिक्रमण की सीमा तक शून्य होगा किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य दक्ष शिक्षण, अनुशासन, स्वास्थ्य, सफाई, नैतिकता, लोक व्यवस्था और इसी प्रकार की बातों के वास्तविक हित में निर्बन्धन अधिरोपित नहीं कर सकता। ऐसे विनियमों का उस अधिकार के सार पर निर्बन्धन के रूप में अर्थान्वयन कभी भी नहीं किया जा सकता जो इस अनुच्छेद के अधीन प्रत्याभूत हो, क्योंकि ये उन विषयों में, जो वास्तव में शिक्षा से संबंधित हैं, संस्थाओं के उचित कार्यकरण को सुनिश्चित करने के लिए परिकल्पित हैं। ऐसे विनियम के लिए यह आवश्यक है कि वह इन दो कसौटियों को अवश्य पूरा करे—युक्तियुक्तता की कसौटी को और इस कसौटी को कि यह संस्था के शैक्षणिक स्वरूप को विनियमित करता है और यह संस्था के शैक्षणिक ढांचे को अल्पसंख्यक वर्गों या दूसरे अन्य व्यक्तियों को जो कि इसको चलाते हैं, सुचारू रूप से चलाने में सहायता करता है। (पैरा 8)

यह भी भली-भांति सिद्ध हो चुका है कि अनुच्छेद 30 उन विद्यालयों पर लागू होता है जो कि अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित किए गए हैं चाहे वे संविधान से पूर्व या उसके पश्चात् स्थापित किए गए हों, चाहे उनकी शिक्षा की प्रकृति कैसी भी हो या उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थी अल्पसंख्यक वर्गों से भिन्न किसी भी वर्ग के क्यों न हों। यह एक ऐसा आत्यंतिक अधिकार है जिसको किसी भी विधि या कार्यपालक निदेश द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है तो यह प्रयत्न उस सीमा तक शून्य होगा जहां तक कि यह अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है। (पैरा 9)

अनुसूची (च) के खण्ड 1(2) में यह उपबंधित है कि विद्यालय में नियुक्त किए जाने के लिए अध्यापकों के चयन हेतु गठित चयन समिति में प्रशासनिक अधिकारी का एक प्रतिनिधि, विद्यालय का प्रधानाध्यापक और निकाय या समिति के प्रबंध-निकाय का एक प्रतिनिधि होगा। यह ऐसा उपबंध है जो अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था के प्रबंधतंत्र के अधिकारों पर गहरा आघात पहुंचाता है क्योंकि चयन समिति में प्रबंधतन्त्र का केवल एक ही प्रतिनिधि होगा। इसके परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था के प्रबन्धतन्त्र पूरी तरह से उस दशा में असहाय हो जाएंगे जहां पर संबंधित विद्यालय का प्रधानाध्यापक प्रशासनिक अधिकारी के साथ सहमति प्रकट करता है, और अधिकतर मामलों में इस आकस्मिकता से इनकार नहीं किया जा सकता। खण्ड 5 जो किसी न्यास या विद्यालय के प्रबन्ध निकाय को किसी शिक्षा सत्र के दौरान किसी कक्षा या समस्त विद्यालय को बन्द करने, इस प्रकार कक्षा या विद्यालय को बन्द करने के आशय की प्रस्तावित तिथि से छः मास पूर्व प्रशासनिक अधिकारी को ऐसा करने के अपने आशय की लिखित सूचना दिए बिना बन्द करने से प्रतिषिद्ध करता है, ऐसा उपबंध है जो प्रबंधतन्त्र के अधिकार को समाप्त करता है क्योंकि वास्तव में यह अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वह सूचना की अवधि के भीतर विद्यालय खुला रखे जिसके कारण उस पर काफी वित्तीय बोझ पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त यह विद्यालय स्थापित करने के अधिकार का, जिसमें बन्द करने का अधिकार भी सम्मिलित है, हनन करता है। खण्ड 13(1) प्राइवेट विद्यालयों के प्रबन्धतन्त्र को इस बात के लिए प्रतिषिद्ध करता है कि वह किसी भी स्थायी, प्रशिक्षित अध्यापक की सेवाओं का पर्यवसान शास्ति के अतिरिक्त प्रशासन अधिकारी की पूर्व अनुमति के बिना नहीं करेगा। जैसा कि उच्चतम न्यायालय के अनेक विनिश्चयों में अभिनिर्धारित किया गया है यह अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करता है। खण्ड 13(2) को भी, जो ऐसे अध्यापक की सेवाओं का पर्यवसान प्रशासन अधिकारी की अनुमति से और प्रतिकर देकर करने के लिए

प्रबन्धतन्त्र को सक्षम बनाता है, विधिमान्य घोषित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह खण्ड (1) के साथ जटिल रूप से जुड़ा हुआ है, अतः इसे मुख्य अधिनियमिति से पृथक् नहीं किया जा सकता। खण्ड 13(2) उस अध्यापक को, जिसकी सेवाओं का इस प्रकार पर्यवसान किया जाता है, खण्ड में विनिर्दिष्ट सेवा की अवधि के अनुसार भत्तों सहित 12 मास के वेतन के रूप में प्रतिकर प्राप्त करने के लिए हकदार बनाता है। यह उपबन्ध प्रबन्धतन्त्र के अपनी रुचि की संस्था का प्रबन्ध करने के अधिकार का अतिक्रमण करता है। उक्त खण्ड यह अपेक्षा करता है कि सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व एक जांच समिति गठित की जाए। इस प्रकार की समिति में प्रबन्धतन्त्र का एक, प्रतिनिधि विद्यालय का मुख्याध्यापक और अध्यापकों का प्रतिनिधि होगा। यह भी स्पष्ट रूप से प्रबन्धतन्त्र के अधिकार में हस्तक्षेप करता है। इसी प्रकार खण्ड 15 भी, जिसमें स्थायी प्रशिक्षित अध्यापक से भिन्न, जिसके बारे में खण्ड 13 में उपबन्ध किया गया है, किसी स्थायी कर्मचारी की सेवाओं का पर्यवसान करने से पूर्व जांच किए जाने का उपबन्ध किया गया प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को कम करता है। यह बात उल्लेखनीय है कि सेवा का पर्यवसान करने का यह अधिकार शास्ति के रूप में नहीं है। इसके लिए 16 से 19 तक के खण्डों में विभिन्न उपबन्ध किए गए हैं। किसी स्थायी कर्मचारी की सेवा का पर्यवसान करने की शक्ति बिना कोई कारण बताए प्रबन्धतन्त्र के अधिकार का अभिन्न भाग है जो सर्वसाधारण में और निजी सैक्टर में तथा सभी सेवा नियमावलियों में, चाहे वे कानूनी हों या न हों, मान्यताप्राप्त है और इस अधिकार का पालन निस्संदेह रूप से नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों और ऋजुता के अधीन रहते हुए प्रधानाध्यापकों द्वारा किया जा रहा है। आक्षेपित खण्ड जहां तक कि, इसमें आरोपपत्र विरचित करने और प्रतिरक्षा करने के अधिकार का उपबन्ध किया गया है, यह प्रबन्धतन्त्र के अधिकार का सारवान् रूप से ह्रास करता है उस विस्तार तक जहां तक कि वह पर्यवसान की शक्ति को नियंत्रित करता है वहां तक इसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि यह अल्पसंख्यक वर्ग-संस्था के प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को समाप्त करता है। खण्ड 24, जो कर्मचारी को निलम्बन के आदेश या शास्ति के अधिरोपण के आदेश के विरुद्ध प्रशासनिक अधिकारी के समक्ष अपील करने का अधिकार विनिहित करता है तथा खण्ड 27, जिसमें अपील प्राधिकारी का शक्तियों को विनिर्दिष्ट किया गया है और जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ शास्ति अपास्त करना या उसे कम करना भी सम्मिलित है, एक ऐसी शक्ति है जो प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को समाप्त करती है क्योंकि अपील प्राधिकारी किसी प्रकार का ऐसा आदेश पारित कर सकता है जिसमें शास्ति-आदेश को उलटना या अपास्त करना भी सम्मिलित है तथा खण्ड 24, जो बहाल

किए जाने का आदेश पारित करने वाले प्राधिकारी को निलम्बनाधीन अवधि के लिए वेतन और भत्तों की बाबत और उस अवधि को किस रूप में माना जाए इस बारे में स्पष्ट रूप से प्रबन्धतन्त्र के अधिकार का विनाशक है और इस तरह या संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है। इसी प्रकार खण्ड 30, जो कर्मचारी को प्रशासनिक अधिकारी या जिले के शिक्षा अधिकारी के समक्ष ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील करने का अधिकार प्रदान करता है जिसमें उसे उच्चतर पद पर प्रोन्नत किए जाने से इनकार किया गया हो या उसे समय-वेतनमान में दक्षतारोध पार करने को उसकी अयोग्यता के आधार पर दक्षता-रोध पर ही रोक दिया गया हो या उसे शास्ति से भिन्न किसी अन्य आधार पर निम्नतर सेवा या पद पर प्रतिवर्तित कर दिया हो, पुनः एक ऐसा उपबन्ध है जो प्रबन्धतन्त्र के अधिकार को समाप्त करता है और चूंकि अपील प्राधिकारी की शक्ति असीमित और अनिर्बन्धित है अतः यह प्रबन्धतन्त्र के अधिकार का विनाशक है। उपर्युक्त अनुसूची (च) के उपबन्ध स्पष्ट रूप से अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं का प्रबन्ध करने के अधिकार पर अनाधिकार रूप से हस्तक्षेप करते हैं और जहां तक नियम 106(2) के अधीन दिए जाने वाला वचन अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था के प्रबन्धतन्त्र को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे मान्यताप्राप्त करने की शर्तों के रूप में इन उपबन्धों का पालन करें वहां तक यह उपबन्ध स्पष्ट रूप से संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है और वे इस सीमा तक अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं के मामलों को लागू नहीं होंगे। (पैरा 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23)

चूंकि, नई अनुसूची (च) के अन्य उपबन्ध, जिनमें अल्प बातों के साथ-साथ वेतनमान, छुट्टी, सेवा निवृत्ति लाभ, आचरण और अनुशासनिक कार्यवाहियां विहित हैं, व्यवस्थापन सम्बन्धी सदुपाय स्वरूप के हैं, अतः इनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्रबन्धतन्त्र के अधिकार का अल्पीकरण करने वाले हैं अतः इन उपबन्धों के पालन के लिए दिए गए वचन के सम्बन्ध में अनुच्छेद 30 का प्रतिषेधात्मक आदेश लागू नहीं होता अतः इन्हें संविधान के अधिकारातीत नहीं कहा जा सकता। (पैरा 23)

परिणामस्वरूप यह पिटीशन भागतः यह घोषणा करते हुए स्वीकार किए जाते हैं कि मुंबई प्राइमरी एजूकेशन (गुजरात अमेंडमेट) रूल्स, 1978 द्वारा यथा-प्रतिस्थापित मुंबई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स की अनुसूची 'च' के खण्ड 1(2), 5, 13, 15, 24, 27 और 30 के उपबन्ध अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं को लागू नहीं होंगे क्योंकि वे संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करते हैं और उस

नि० प० 1984 : गोहाटी—1

पराग साइकिया और एक अन्य बनाम बिशु राम बोरा और अन्य

(Parag Saikia and another *Vs.* Bishu Ram Bora and others)

तारीख 7 मई, 1983

[न्या० बी० एल० हंसारिया और न्या० डा० टी० एन० सिंह]

संविधान, 1950 अनुच्छेद 226 और 227—उच्च न्यायालय की अधीक्षण और अन्तर्निहित—शक्ति उच्च प्रशासनिक अधिकारियों से बना अधिकरण उच्च न्यायालय का अधीनस्थ होता है और वह अनुच्छेद 227 के अधीन अधीक्षण की शक्ति के अधीन होता है—अन्याय से परेशान किसी व्यक्ति द्वारा समावेदन करने पर उच्च न्यायालय मामले को वापस करने का मार्ग अपनाए बिना अंतिम अनुतोष मंजूर कर सकता है ताकि पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय किया जा सके—न्याय की पूर्ति के लिए अनुतोष उपयुक्त रूप से परिवर्तित किया जा सकता है—बिल्कुल तकनोकी और संकीर्ण प्रक्रियात्मक आधारों पर अनुतोष देने से इन्कार नहीं किया जाना चाहिए ।

बोर्ड के आक्षेपित निर्णय के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि पिटीशनर असम एक्साइज रूल्स, 1945 के नियम 223(2) के अधीन अधिमान के लिए हकदार है जबकि प्रत्यर्थी 1 और 2 हकदार नहीं हैं। किन्तु पिटीशनरों को निम्नलिखित कारणों से देशी शराब की दुकान दिए जाने के लिए उपयुक्त नहीं पाया गया—(1) पिटीशनरों में से एक पिटीशनर पराग बेनामीदार है ; (2) प्रश्नगत भागीदारी मिथ्या है; (3) पिटीशनर वित्तीय दृष्टि से दुकान चलाने के लिए समर्थ नहीं है। पिटीशनर के मामले को इस प्रकार बोर्ड ने अन्यायपूर्ण रूप से रद्द कर दिया था । अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पिटीशनर किस अनुतोष के लिए हकदार हैं जो उन्हें इस कार्यवाही में दिया जा सकता है। क्या इस मामले को बोर्ड के समक्ष वापस कर दिया जाए क्योंकि इस कार्यवाही को करते समय उच्च न्यायालय इस प्रकार का कोई सकारात्मक निदेश नहीं दे सकता कि दुकान पिटीशनरों को दे दी जाए क्योंकि यह कृत्य दुकान चलाने के लिए प्राधिकृत प्राधिकारी का है न कि उच्च न्यायालय का। प्रस्तुत मामले में राजस्व बोर्ड ने अपने निर्णय में उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए कुछ मतों पर आक्षेप किया है और उनकी अवज्ञा की है जिससे न्याय प्रशासन की पद्धति को गहरा धक्का लगा है। यद्यपि बोर्ड का नेतृत्व उच्च प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किया जा रहा है किन्तु फिर भी वह एक

अधिकरण है अतः उच्च न्यायालय के अधीनस्थ है। प्रस्तुत मामले में उच्च न्यायालय की संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 में वर्णित शक्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

रिट जारी करने की शक्ति प्राप्त न्यायालय अभिलेख पर की सामग्रियों का पुनर्मूल्यांकन करके तथ्य के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालकर अपना मत प्रतिस्थापित नहीं कर सकता किन्तु वह निश्चित रूप से ही कुछ तथ्यात्मक निष्कर्षों पर आधारित आदेश को अपास्त कर सकता है। यदि वे निष्कर्ष विसंगत और बाह्य सामग्रियों पर आधारित हैं या इस प्रकार के हैं जिनके आधार पर कोई भी युक्तिमान व्यक्ति वैसा निष्कर्ष नहीं निकालता या यदि निष्कर्ष विधि के पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण निर्वचन पर आधारित हैं। (पैरा 6)

हाल के कुछ विनिश्चयों से न्यायालय को यह विश्वास हो गया है कि इस न्यायालय को किसी भी अवसर का मुकाबला करने की शक्ति है जब अन्याय से परेशान कोई व्यक्ति इस न्यायालय का आवाह्न करता है। यह असाधारण आरक्षित शक्ति इसलिए दी गई है जिससे कि मामले को वापस करने का मार्ग अपनाए बिना अंतिम अनुतोष मंजूर किया जा सके। अधिकरण अपने विवेकाधिकार से जो कुछ कर सकता है वैसा ही उच्च-न्यायालय भी अनुच्छेद 226 के अधीन कर सकता है, यदि तथ्यों से ऐसा करना आवश्यक हो। (पैरा 14)

यद्यपि मामूली तौर पर उच्च न्यायालय सरशियोरेराई कार्यवाही में अभिखण्डित किए गए आदेश के स्थान पर स्वयं अपने आदेश को प्रतिस्थापित नहीं करता है फिर भी उसे ऐसे अतिरिक्त आदेश पारित करने की शक्ति है जैसा कि मामले में न्याय करने के लिए आवश्यक हो। यह बतलाया गया कि ऐसा करते समय उच्च न्यायालय पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय करने की दृष्टि से जैसे आदेश करना हो, उन्हें पारित करने के लिए अपनी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करता है। न्यायालय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इंग्लिश लॉ में रिटों के पिछले इतिहास को भी देखे और न ही उन पेचीदगियों का बन्धन अनुभव करे जो एक समय इंग्लैंड में रिटों के सम्बन्ध में प्रचलित थीं। (पैरा 15)

पूर्ण न्याय करने के लिए कोई निदेश देने में उच्च न्यायालय को किसी प्रकार की अड़चन का अनुभव नहीं हो रहा है जिससे कि पिटीशनरों के पक्ष में दुकान दी जा सके। चूंकि यह निदेश तय करने वाले प्राधिकारी को प्रदत्त

कानूनी बाध्यता को प्रवर्तन करने के लिए निदेश देने की शक्ति प्रदान करता है और ऐसा निदेश देने के लिए उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन सक्षम है। (पैरा 16)

अनुच्छेद 32 द्वारा किसी विशिष्ट मामले की आवश्यकताओं के अनुसार रिट विरचित करने की हालत में बहुत व्यापक विवेकाधिकार दिया गया है और कोई आवेदन केवल इस आधार पर ही नामंजूर नहीं किया जा सकता कि उचित रिट या निदेश की प्रार्थना नहीं की गई है। अनुच्छेद 32 की बाबत जो कुछ कहा गया है, वह स्वबल से अनुच्छेद 226 को लागू होता है क्योंकि जहां तक रिटों के विरचित किए जाने का सम्बन्ध है, अनुच्छेदों की भाषा एक-सी ही है। अनुतोष न्याय की पूर्ति के लिए उपयुक्त रूप से परिवर्तित किया जा सकता है और अनुतोष देने से बिल्कुल तकनीकी और संकीर्ण प्रक्रियात्मक आधारों पर इन्कार नहीं किया जाना चाहिए। (पैरा 17)

		पैरा
[1983]	1983 (1) जी० एल० आर० 318 : जयन्त कुमार दास दास **बनाम** राजस्व बोर्ड, असम (Jayanta Kumar Das *Vs.* Board of Revenue Assam);	4
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1653 : बी० आर० रामभद्रिया **बनाम** सचिव (B. R. Ramabhadriah *Vs.* Secretary);	17
[1980]	आई० एल० आर० 1980 गोहाटी 99 : राजकुमार दिलीप नारायण सिन्हा **बनाम** असम राजस्व बोर्ड (RajkumarDilip Na rayan Sinha *Vs.* Board of Revenue, Assam);	10
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 656 : ग्रिन्डलेज बैंक लिमिटेड **बनाम** आई० टी० ओ० (Grindlays Bank Limited *Vs.* I. T. O.);	15
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1524 : मुकुन्द बोरे वनाम वंशीधर (Mukund Bore *Vs.* Banshidhar);	6
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1896 : गुजरात स्टील ट्यूब्स **बनाम** उसकी मजदूर सभा (Gujarat Steel Tubes *Vs.* Its Mazdoor Sabha);	14

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1628 : रमन बनाम इन्टरनेशनल एयरपोर्ट अथारिटी (Raman *Vs.* International Airport Authority); 6

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1060 : जिला रजिस्ट्रार **बनाम** एम० बी० कोयाकुट्टा (District Registrar *Vs.* M. B. Koyyakutta); 15

[1977] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 237 : हरियाणा राज्य **बनाम** हरियाणा सहकारी परिवहन लिमिटेड (State of Haryana *Vs.* Haryana Cooperative Transport Limited); 17

[1970] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1401 : हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड **बनाम** ए० के० राय (Hindustan Steel Limited *Vs.* A. K. Roy); 6

[1969] 1969 (3) एस० सी० सी० 489 : टी० वी० सिंह **बनाम** राज्य (T. V. Singh *Vs.* State); 13

[1966] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 81 : द्वारकानाथ **बनाम** आई० टी० ओ० (Dwarkanath *Vs.* I.T.O.); 15

[1965] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 111 : प्रेम सागर **बनाम** एस० वी० आयल कम्पनी (Prem Sagar *Vs.* S. V. Oil Co.); 13

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 477 : सैयद याकूब **बनाम** राधाकृष्णन (Syed Yakub *Vs.* Radhakirshnan); 6

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1161 : सत्य नारायण **बनाम** जिला इंजीनियर (Satya Narayan *Vs.* District Engineer); 17

[1954] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 440 : बासप्पा **बनाम** नागप्पा (Basappa *Vs.* Nagappa); 15

[1952] ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 192 : वीरप्पा बनाम रमन और रमन (Veerappa *Vs.* Raman & Raman); 13

[1951] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 41 : चरणजीत लाल बनाम भारत संघ (Charanjit Lal *Vs.* Union of india) 17

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 का सिविल रूल सं० 1292.

असम राजस्व बोर्ड के निर्णय के विरुद्ध पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री के० सी० दास, जे० दास और डा० एम० के० स्वामी

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री जे० पी० भट्टाचार्य, जी० के० ताल्लुकदार, ए० के० बोर्डोलोई और पी० राय, सरकारी अधिकता, असम

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० एल० हंसारिया ने दिया।

न्या० हंसारिया :

हमने विद्वान् असम राजस्व बोर्ड (जिसे इसमें आगे बोर्ड कहा गया है) के आक्षेपित निर्णय को पढ़ा है जिससे हमें बहुत अधिक मानसिक आघात लगा है और कष्ट हुआ है क्योंकि जो कुछ बाद में स्पष्ट किया जाएगा उससे यह स्पष्ट है कि बोर्ड के निर्णय से इस देश में न्याय प्रशासन की पद्धति को बहुत गहरा धक्का लगा है। उक्त पद्धति भारत की जनता की कई पीढ़ियों द्वारा बहुत अधिक प्रयत्न से बनाई गई है। कुछ व्यक्तियों की यह राय है कि उक्त पद्धति के द्वारा काम करने के ढंग को बाहर से उतना खतरा नहीं है जितना कि अन्दर से है, जैसा कि इस मामले में बहुत कष्टप्रद ढंग से ज्ञात होता है। यद्यपि बोर्ड का नेतृत्व उच्च प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किया जा रहा है। किन्तु फिर भी वह एक अधिकरण है जो इस न्यायालय के अधीनस्थ है और वह संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन अधीक्षण की शक्ति के अधीन है। यदि ऐसा है तो उसने, अपनी बुद्धि के अनुसार इस न्यायालय की एक न्यायपीठ ज़िसके पींठासीन कार्यकारी मुख्य न्यायधिपति (तत्कालीन) थे और उन्होंने 1982 के सिविल रूल 215 में कुछ निदेश दिए थे, उक्त निदेशों की अवज्ञा करके उनके न्यायौचित्य पर भी बोर्ड ने प्रश्न उठा दिया है। उक्त रूल में विचाराधीन विषय बोर्ड को निपटाए जाने के लिए वापस भेज दिया गया

था। यह वर्णित किया जा सकता है कि ऊपर वर्णित सिविल रूल में प्रस्तुत मामले के पिटीशनरों ने ही इस न्यायालय में उस समय आवेदन किया था जब उनकी अपील बोर्ड द्वारा खारिज कर दी गई थी और इस न्यायालय ने उक्त खारिजी के आदेश को अपास्त करते हुए मामले को निर्णय में "अभिव्यक्त किए गए मत को ध्यान में रखते हुए" बोर्ड द्वारा मामले को नए सिरे से निपटाने के लिए वापस भेज दिया था।

2. उक्त निर्णय के ऊपर वर्णित पहलुओं पर प्रकाश डालने के पहले हम यह बात अभिलेख पर वर्णित कर देना चाहते हैं कि 1982 के सिविल रूल सं० 215 में इस न्यायालय के निर्णय को अंतिमता की प्रास्थिति प्राप्त हो गई है क्योंकि 1982 की अपील (सिविल) सं० 11816 में उक्त निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत दिए जाने के लिए की गई प्रार्थना को प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 ने 7-1-1983 को वापस ले लिया जैसा कि भारत के उच्चतम न्यायालय के रजिस्ट्रार के ज्ञापन सं० 6585/82/सेक्शन4-ए तारीख 1-2-1983 से स्पष्ट होता है। यदि वह वापस भी न किया गया होता, तब भी विधि के अधीन बोर्ड को इस न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत को ध्यान में रखते हुए वापस किए गए उक्त मामले को विनिश्चय करने के सिवाय कोई अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं था। किन्तु बोर्ड ने ऐसा नहीं किया। किन्तु विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में उसने इस न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत के विपरीत विचार व्यक्त किए। अधीनस्थ अधिकरण द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रयत्न न्याय प्रशासन के लिए, जो कि इस देश के नागरिकों को ज्ञात है, गम्भीर खतरे से भरा हुआ है और ऐसी प्रवृत्ति के प्रति सभी सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। मुख्य प्रश्न पर विचार करने के पहले हम प्रारम्भिक रूप से एक मत और व्यक्त करना चाहेंगे और वह यह है कि हम इस न्यायालय के ऊपर वर्णित निर्णय का पुनर्विलोकन करने के लिए नहीं बैठे हैं और इस कारण हमारी अधिकारिता उक्त निर्णय के सही होने या अन्यथा के प्रश्न की परीक्षा करना नहीं है जैसा कि पूर्ववर्ती सिविल रूल में मत व्यक्त किया गया है। अतः उक्त सिविल रूल में दिए गए विनिश्चय का सभी सम्बन्धित पक्षों को पालन करना होगा और हमारी सक्षमता के भीतर जो बात है, वह केवल यह देखना है कि क्या बोर्ड ने भी ऐसा किया है या नहीं।

3. यह कि बोर्ड ने ऐसा नहीं किया है, यह बात आक्षेपित निर्णय को देखने से ही बहुत स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है जिसमें यह मत प्रारम्भ में ही व्यक्त किया गया है कि निर्णय का प्ररूप और उसकी अन्तर्वस्तु (जिससे अभिप्रेत है

इस न्यायालय का निर्णय) जो कुछ भी है, उसके सम्बन्ध में हम कुछ सामान्य मत व्यक्त करना आवश्यक समझते हैं……।" हमें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्ववर्ती निर्णय के प्ररूप और उसकी अन्तर्वस्तु में क्या गलत है जिसके सम्बन्ध में पूर्ण आदर सहित हमसे विचार करने के लिए निवेदन किया गया है और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किए गए विभिन्न विनिश्चयों के प्रति जो कुछ अधिकथित किया गया है कि क्या चीज विधि बाह्य या विसंगत है जिस पर बोर्ड ने विचार किया है जबकि वह पूर्ववर्ती मामले का निपटारा कर रहा था। अब हमें यह बात दर्शित करनी है कि बोर्ड ने आक्षेपित निर्णय में किस प्रकार सभी न्यायिक सौम्यता और अनुशासन को ताक पर रख दिया है। एक मुद्दा जिस पर पहले इस न्यायालय के समक्ष अवलम्ब लिया गया है, वह उपायुक्त शिवसागर द्वारा भेजी गई रिपोर्ट का अवलम्ब लिया जाना है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पिटीशनर बेनामीदार थे या किसी अन्य व्यक्ति के बनामा थें। उक्त रिपोर्ट के कुछ अंश को उद्धृत करना उपयुक्त होगा जो इस प्रकार है :—

> "जोरहाट शहर देशी स्प्रिट दुकान सं० 1 (जिस दुकान से हमारा सम्बन्ध है) से तात्पर्य संयुक्त पट्टेदार से है। 21-8-1981 को निविदा प्रस्तुत करने के तत्काल पश्चात् इस प्रभाव की गोपनीय जानकारी प्राप्त हुई कि श्री पराग साइकिया (मामले में पिटीशनरों में से एक) डिब्रूगढ़ जिले के एक प्रख्यात व्यापारी के निजी नियोजन में हैं जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह महत्त्वपूर्ण देशी स्प्रिट की दुकानों का बेनामदार है और श्री साइकिया वर्ष के अधिकांश समय गोहाटी में रहता है और नियोजक की सभी परिलब्धियों का उपयोग कर रहा है। गोपनीय जानकारी में यह भी उपदर्शित किया गया कि डिब्रूगढ़ जिले का उक्त बेनामदार पराग साइकिया के माध्यम से जोरहाट उपखण्ड में महत्त्वपूर्ण दुकानों को हथियाने का प्रयत्न कर रहा था। सलाहकार बोर्ड में इस विषय पर चर्चा हुई जिसने संयुक्त अपीलार्थी की निविदा नामंजूर कर दी।"

यह ज्ञात होने पर कि बोर्ड ने ऐसी किसी रिपोर्ट का अवलम्ब लिया है जिसमें अंतर्विष्ट अभिकथनों का पराग साइकिया ने बहुत जोरदार ढंग से प्रत्याख्यान किया है, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि "चूंकि इस रिपोर्ट में उस व्यक्ति के बारे में विशेष रूप से कोई वर्णन नहीं किया गया है जो बेनामदार के तौर पर अंतर्वलित हो सकता है। अतः ऐसी रिपोर्ट पर बोर्ड को विचार नहीं करना था।" इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि रिपोर्ट बहुत संक्षिप्त

है और वह अस्पष्ट मानी गई है। अब यह देखिए कि बोर्ड के विद्वान् सभापति और सदस्यों में से एक विद्वान् सदस्य ने उस रिपोर्ट के सम्बन्ध में क्या कहा है। उनका कहना है "ये विशिष्टियां रिपोर्ट को सम्यक् महत्त्व देने के लिऐ पर्याप्त हैं और हम उसकी केवल इस कारण से ही उपेक्षा नहीं करेंगे कि अपीलार्थी उसे संक्षिप्त रिपोर्ट के तौर पर वर्णित करके उसकी उपेक्षा करने का निवेदन कर रहा है" (पैरा 7.5)। निस्संदेह बोर्ड के प्रति न्याय करते हुए यह कहा जा सकता है कि बोर्ड ने यह समझा कि उसमें पर्याप्त विशिष्टियां अंतर्विष्ट हैं क्योंकि उसके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय तस्करों का अधिक व्यापक तौर पर प्रचार है और वे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों और अन्य विद्वानों की तुलना में अधिक व्यापक तौर पर जाने जाते हैं। बोर्ड ने आगे यह मत व्यक्त किया है कि "जिले में शराब के महत्त्वपूर्ण मह़ालदार उसी स्थान पर रहने वाले प्रसिद्ध विश्वविद्यालय प्राचार्यों की तुलना में अधिक व्यापक तौर पर जाने जाते हैं। ऐसे बड़े महालदारों बहुत अधिक नहीं हैं। यदि यह बात इतनी स्पष्ट थी तो यह बात पराग को क्य नहीं वतलाई गई जिससे कि वह इसका प्रभावशाली ढंग से खण्डन कर सकने में समर्थ हो जाता। क्या ऐसा करना किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय करना है? क्या इस प्रकार का कार्य न्यायिक ऋजुता के सिद्धांत के विपरीत नहीं है जो भी स्थिति हो, जब इस न्यायालय ने बोर्ड को यह निदेश दिया था कि वह अस्पष्ट रिपोर्ट पर कोई विचार न करे तो बोर्ड के पास इस निदेश का अनुसरण करने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था और बोर्ड ने उक्त निदेश की अवज्ञा की है। यदि ऊपर वर्णित बातें यह साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं जो हमने प्रारम्भिक पैराग्राफ में वर्णित की हैं तो हम दूसरे उदाहरण देते हैं। अपने पहले निर्णय में बोर्ड ने यह अभिनिर्धारित किया था कि इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है कि क्या पिटीशनरों के नातेदार, जिन्होंने आवश्यक वित्त देने का आश्वासन दिया था, यह जानते थे कि अपीलार्थी किसी अन्य व्यक्ति के साथ संयुक्त रूप से दुकान चलाएगा। इस न्यायालय ने बोर्ड के इस मत को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वित्त लगाने वाले व्यक्तियों को यह ज्ञात था कि प्रश्नगत दुकान दो पट्टेदार वाली दुकान थी जो किसी अन्य संयुक्त पट्टेदार के साथ दी जानी थी। अतः बोर्ड द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि वित्त लगाने वालों ने वित्त देने के लिए सहमति व्यक्त न की होती यदि उन्हें यह ज्ञात होता कि दुकान भागीदारी में रखी जानी है। इस न्यायालय ने बोर्ड के इस तर्क को बाल की खाल निकालने वाला और न टिकने वाला माना। बोर्ड ने इस मत को "चौंकाने वाला" कहा (पैरा 7.11)। यह मत व्यक्त करने के पहले बोर्ड को अपनी सीमाएं समझा लेनी चाहिए थीं और इस न्यायालय के माननीय मुख्य न्यायाधिपति

ने जो कुछ कहा था, उसके प्रति सम्यक् आदर दिखाना चाहिए था। अब इस तरीके को देखिए कि बोर्ड ने ऊपर वर्णित मत को केवल चौंकाने वाला मत क्यों माना था। इसका कारण यह है कि प्रफुल्ल (दूसरा पिटीशनर या इस सम्बन्ध में पराग) को वित्त देने वाले व्यक्तियों में से कोई भी यह नहीं जानता था कि किस दुकान के लिए वे निविदा प्रस्तुत करने वाले थे क्योंकि उन्होंने अपने शपथपत्रों में केवल यह वर्णित किया था कि प्रफुल्ल/पराग जोरहाट उपखण्ड देशी शराब की दुकानों को दिए जाने के लिए निविदाएं प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें यह ज्ञात नहीं है कि बोर्ड ने यह मत क्यों व्यक्त किया क्योंकि तीन व्यक्तियों द्वारा, जिन्होंने प्रफुल्ल को वित्त देने का आश्वासन दिया था। फाइल किए गए शपथपत्रों में यह बात स्पष्ट रूप से वर्णित की है कि प्रफुल्ल एक अन्य भागीदार श्री पराग साइकिया के साथ जोरहाट देशी शराब दुकान सं० 1 वर्ष 1981-84 के दिए जाने के लिए संयुक्त निविदाकर्ता है। यह शपथपत्र बोर्ड के अभिलेख के पृष्ठ 96, 99 और 102 पर हैं। यद्यपि ये शपथपत्र 20-11-1982 को फाइल किए गए थे किन्तु बोर्ड को तारीख 3-12-1982 को सुनाए गए अपने निर्णय में ऊपर वर्णित मत नहीं अपनाना चाहिए था।

4. इस दुखद प्रसंग को समाप्त करने के पहले हम यह बतलाए बिना नहीं रह सकते कि इस न्यायालय ने व्यक्त किए गए अपने एक मत में यह कहा है कि बोर्ड किसी बात पर ध्यान नहीं दे सका था। बोर्ड ने इसके प्रत्युत्तर में यह कहा कि स्वयं इस न्यायालय ने ही किसी अन्य बात पर (देखिए पैरा 6) "पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दिया था।" हम इस निर्णय को और अधिक बोझिल बनाना और ऐसे ही मतों से जो बोर्ड ने अपने विनिश्चय में बहुत अधिक संख्या में व्यक्त किए हैं, इस निर्णय को दूषित करना नहीं चाहते हैं। फिलहाल हम इस बात को यह कहते हुए समाप्त करते हैं कि यदि यह पाया जाता है कि बोर्ड ऐसी प्रवृत्ति पर कायम रहता है (जो अपमानजनक के सिवाय और कुछ नहीं है) तो इस न्यायालय को कोई अप्रिय कदम उठाना होगा जिससे कि वह अपनी मर्यादा कायम रख सके और न्याय की भव्यता को भी कायम रख सके। हमें उक्त मत व्यक्त करने के लिए विवश होना पड़ा क्योंकि इस न्यायालय ने **जयन्त कुमार दास** बनाम **राजस्व बोर्ड, असम**[1] वाले मामले में यह निष्कर्ष निकाला कि बोर्ड ने इस न्यायालय की विशेष न्यायपीठ द्वारा दिए गए विनिश्चय के करीब-करीब बिल्कुल ही विपरीत एक मामले का विनिश्चय किया जिससे इस न्यायालय को बोर्ड को यह स्मरण कराना पड़ा कि बोर्ड को अपनी इस गतिविधि पर

---

[1] 1983 (1) जी० एल० आर० 318.

अनुशासन रखना होगा। निस्संदेह बोर्ड के प्रस्तुत विनिश्चय के पश्चात् ही उक्त निर्णय दिया गया था, अतः हम केवल यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में बोर्ड ऐसा कोई अवसर नहीं आने देगा जिससे कि उसके व्यवहार और टिप्पणों पर किसी प्रकार की कार्यवाही करनी पड़े। इस विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाते हुए, जो बोर्ड ने अपनाया है, हमारा विचार है कि वास्तव में उसने इस भावना को उद्दीपित किया है (यद्यपि ऐसा न्यायसंगत रूप से बिल्कुल नहीं किया गया है) कि उस मामले में इस न्यायालय ने अनावश्यक दखल दिया है और अपना पहला निर्णय देते समय बोर्ड को डराने का प्रयत्न किया है। यह बात बोर्ड के निर्णय के पैरा 4.4 से बहुत ही स्पष्ट हो जाती है जहां उसने यह कहा है कि बोर्ड द्वारा दिए गए तथ्य के निष्कर्ष हमेशा उसके अपने निष्कर्ष हैं और वे उसके निष्कर्ष होने भी चाहिएं और इस पद्धति से किसी मामले पर किसी विशिष्ट निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए ज़रा-सा भी आदेश नहीं दिया जा सकता। इस न्यायालय के पहले निर्णय में अंतर्विष्ट मतों को इस भावना से ही देखा गया था, उनसे अब यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जानी चाहिए कि 1982 के सिविल रूल सं० 215 में इस न्यायालय ने केवल अपनी सांविधानिक बाध्यता का ही निर्वहन किया है और कुछ और रिपोर्टों को विधिबाह्य या विसंगत ठहराया है जैसा कि उसने उचित समझा। यह अधिकथित करने के पश्चात् उसने बोर्ड को कोई भी विनिश्चय करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र छोड़ दिया और बोर्ड वैयक्तिक और वित्तीय उपयुक्तता के सम्बन्ध में विचार करने के लिए स्वतंत्र था। वह मामले की सुसंगत सामग्री के आधार पर निविदाकर्ताओं की उपयुक्तता पर विचार करने के लिए स्वतंत्र था। चूंकि इस न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि पिटीशनर की वित्तीय उपयुक्तता की सवीक्षा आशयित वित्तदाताओं की पास-बुकों के असलीपन की परीक्षा किए बिना तय की गई थी और बोर्ड ने भी प्रत्यर्थियों की उपयुक्तता के प्रश्न पर विचार नहीं किया था, अतः उसने इस वैयक्तिक कसौटी पर परखने के लिए मामले को वापस कर दिया था। साथ ही यह भी अपेक्षा की थी कि मामले पर वित्तीय सुस्थिरता के आधार पर विचार किया जाए कि निविदाकर्ताओं में से उस प्रयोजन के लिए सबसे उपयुक्त कौन थे। यदि कोई सामग्री उच्चतर न्यायालय द्वारा विसंगत या विधि बाह्य मानी जाती है और तत्पश्चात् मामला विसंगत और विधिबाह्य सामग्रियों की अपेक्षा करके उचित विनिश्चय के लिए वापस भेजा जाता है तो अधीनस्थ न्यायालय द्वारा उसे दखलअंदाजी करना या डराना नहीं कहा जा सकता। जैसा कि **जयन्त कुमार दास**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है "अधीनस्थ

---

[1] 1983 (1) जी० एल० आर० 318.

न्यायालय को यदि उसके निष्कर्ष उच्चतर न्यायालय द्वारा अपास्त कर दिए जाते हैं, उच्चतर न्यायालय के निष्कर्ष के अनुरूप कार्य करना होता है।"

5. अब हम बोर्ड के ऊपर वर्णित आचरण को किसी भी प्रकार से प्रभावित किए बिना इस मामले के सार तत्व पर विचार करते हैं। आक्षेपित निर्णय के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि पिटीशनर असम एक्साइज रूल्स, 1945 जिन्हें इसमें आगे 'रूल' कहा गया है, के नियम 223(2) के अधीन अधिमान के लिए हकदार हैं जबकि प्रत्यर्थी 1 और 2 हकदार नहीं हैं, उन्हें निम्नलिखित कारणों से देशी शराब की दुकान दिए जाने के लिए उपयुक्त नहीं पाया गया। (i) पिटीशनरों में से एक पिटीशनर पराग बेनामीदार है; (ii) प्रश्नगत भागीदारी मिथ्या है, और (iii) पिटीशनर वित्तीय दृष्टि से दुकान चलाने के लिए समर्थ नहीं है।

6. अब हमें इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि क्या बोर्ड के ये निष्कर्ष विधि के सुदृढ़ सिद्धांतों और सुसंगत सामग्रियों पर आधारित हैं। निष्कर्षों की पराक्षा करने की कार्यवाही करते समय यह कहा जा सकता है कि हम इस बात के प्रति जागरूक हैं कि हम अपील प्राधिकारी नहीं हैं और इस न्यायालय की शक्ति सीमित है। इस मामले की परीक्षा करते समय भी पहले इस न्यायालय ने अपनी यह जागरूकता दर्शाई है कि सर्टिंशियोरेराई कार्यवाही में निष्कर्ष में कब परिवर्तन किया जा सकता है। उस समय **सैयद याकूब** बनाम **राधाकृष्णन**[1], **हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड** बनाम **ए० के० राय**[2], **पैरी एण्ड कम्पनी** बनाम **पी० सी० पाल**[3] और **रमन** बनाम **इंटरनेशनल एयरपोर्ट अथारिटी**[4] वाले मामलों के प्रति निर्देश करने के अलावा न्यायालय के कुछ विनिश्चयों के प्रति भी निर्देश किया गया था। **मुकन्द बोरे** बनाम **वंशीधर**[5] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा सुनाए गए विनिश्चय को भी ध्यान में रखा गया है। सर्वोच्च न्यायालय के इन निर्णयों से इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं बचता है कि रिट जारी करने की शक्ति प्राप्त न्यायालय अभिलेख पर की सामग्रियों का पुनर्मूल्यांकन करके तथ्य के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालकर अपना मत प्रतिस्थापित नहीं कर सकता, किन्तु वह निश्चित रूप से ही कुछ तथ्यात्मक निष्कर्षों पर

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 477.
[2] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1401.
[3] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1334.
[4] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1628.
[5] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1524.

आधारित आदेश को अपास्त कर सकता है। यदि वे निष्कर्ष विसंगत और बाह्य सामग्रियों पर आधारित हैं या इस प्रकार के हैं जिनके आधार पर कोई भी युक्तिमान व्यक्ति वैसा निष्कर्ष नहीं निकालता या यदि निष्कर्ष विधि के पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण निर्वचन पर आधारित है। हमारे मतानुसार इसके अलावा वरिष्ठ या उच्चतर प्राधिकरी द्वारा दिए गए निदेश की अवज्ञा करते हुए निकाला गया निष्कर्ष पूर्ण रूप से अधिकारिता बाह्य होगा और उससे अधिकारिता से परे कार्य करना स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा।

7. उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए निकाले गए निष्कर्षों की परीक्षा की जा सकती है। पिटीशनर पराग बेनामीदार अभिनिर्धारित किया गया है (क) क्योंकि उपायुक्त की ऊपर वर्णित रिपोर्ट में यह बात वर्णित है, (ख) विभिन्न मुकदमों में वह न्यायालय के आसपास घूमते हुए पाया गया, और (ग) दोनों भागीदारों ने बहुत अधिक संख्या में दुकानों के लिए निविदायें प्रस्तुत की हैं। प्रथम तथ्य पर बोर्ड पूर्ववर्ती विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए, जिसमें उससे ऐसा न करने के लिए कहा गया था उक्त बातों पर विचार नहीं कर सकता था। श्री भट्टाचार्जी ने, जो प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से न्यायालय में हाजिर हुआ, यह निवेदन किया कि ऊपर वर्णित रिपोर्ट के अलावा विद्वान् बोर्ड के समक्ष मेलेंगदेशी स्प्रिट दुकान के लिए पराग द्वारा फाइल की गई अपील में एक दूसरी रिपोर्ट भी थी जो आक्षेपित निर्णय के पैरा 7.4 में उद्धत की गई है। उस रिपोर्ट में यह कहा गया है कि पराग डिब्रूगढ़ स्थित एक प्रसिद्ध व्यापारी के नियोजन में था जो गुप्त रूप से देशी स्प्रिट की दुकानों के लिए वित्त उपलब्ध करता है। आगे यह वर्णित किया गया है कि अपीलार्थी (अर्थात् पराग) में कठिन और लगातार रूप से श्रम करने के गुणों का अभाव है। इस प्रकार यह रिपोर्ट उस रिपोर्ट से बेहतर नहीं है जिस पर इस न्यायालय ने पहले विचार किया है। यदि वह रिपोर्ट अस्पष्ट है जैसा कि अभिनिर्धारित किया गया है तो यह रिपोर्ट उससे बहतर नहीं है। इसके अलावा मेलेंग वाले मामले में अपील में रिपोर्ट का अवलम्ब लेने के लिए एक दूसरा आक्षेप भी किया गया है क्योंकि पिटीशनरों के सामने उस रिपोर्ट के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछे गए थे और इस सम्बन्ध में पराग को अपनी बात कहने का कोई अवसर नहीं दिया गया था। इस प्रकार तीन कारणों में से, जिनके आधार पर पराग बेनामीदार अभिनिर्धारित किया गया, एक यह है जो पूर्ण रूप से अस्तित्व में न रहने वाला माना जाना चाहिए क्योंकि इस न्यायालय ने बोर्ड से यह कहा था कि वह उपायुक्त की रिपोर्ट पर विचार न करे।

8. जहां तक न्यायालयों के गलियारों में पराग के घूमने-फिरने का

सम्बन्ध है और खर्चीले मुकदमों में शामिल बने रहने का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में एक-सा मत व्यक्त करते हुए विद्वान् बोर्ड ने प्रत्यर्थी 1 और 2 को अनुमति देते हुए, जो उच्चतम न्यायालय तक गए थे, यह अनुभव करने का अवसर दिया कि उनके गले के आसपास बेनामी का जो फन्दा लगा हुआ है, वे अनुभव कर सकें। किन्तु यह बात नहीं पाई गई। पिटीशनरों द्वारा दुकानों के लिए दी गई बहुत-सी निविदाओं पर (प्रथम तथ्य) इस न्यायालय ने पहले विचार किया था और इस कार्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी युक्तियुक्त रूप से कहा जा सकता है, वह यह है कि पिटीशनर इस बात के लिए इच्छुक थे कि उन्हें एक या दूसरी दुकान मिल जाए। इससे अधिक कुछ कहना कठिन होगा। इस प्रकार बेनामी के सम्बन्ध में अस्तित्व में रहने वाली सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है और परिवर्तनशील कसौटी अपनाई गई है, वह स्वीकार नहीं की जा सकती। दूसरे कारण पर विचार करने के पहले हम यह कह सकते हैं कि एक शिक्षित अनियोजित युवक के तौर पर पराग को स्वीकार करके विद्वान् बोर्ड ने भी इस सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को पूर्ण रूप से विसंगत बना दिया है कि वह बेनामीदार के प्राइवेट नियोजन में है। बोर्ड का उक्त निष्कर्ष पूर्ण रूप से असंगत है।

9. भागीदारी मुख्यतः इस कारण से मिथ्या मानी गई है कि प्रफुल्ल (पिटीशनर सं० 2) गोलाघाट का निवासी पाया गया है न कि जोरहाट का। चूंकि रिहाइश से सम्बन्धित निष्कर्ष अभिलेख पर के साक्ष्य का मूल्यांकन किए जाने पर निकाला गया है अतः हम इस बात से सहमत होंगे कि रिट न्यायालय के तौर पर कार्यवाही करते हुए हम उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या बोर्ड को इस बात की छूट थी कि वह 1982 के सिविल रूल सं० 215 में जो कुछ वर्णित किया गया है, उसे देखते हुए इस कारण से उसके बनावटी होने के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालता। जहां यह मत व्यक्त किया गया है कि अन्य बातों के साथ-साथ "यह अनुमान करने पर भी कि प्रफुल्ल गोलाघाट का स्थायी निवासी है जो करीब 30 मील दूरी पर है, जोरहाट में भागीदारी का कारबार करना कठिन नहीं होगा।" यह बात दोहरा दी जाए कि प्रस्तुत कार्यवाही में ऊपर वर्णित नियम में व्यक्त किए गए मत के सही होने या अन्यथा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, हमें केवल यह देखना है कि क्या बोर्ड ने वहां व्यक्त किए गए मतों को ध्यान में रखते हुए कार्य किया है और इस सम्बन्ध में उत्तर नकारात्मक होगा। यह बात अभिलेख पर वर्णित की जी सकती है कि यद्यपि पहले विद्वान् बोर्ड ने यह सोचा था कि पिटीशनरों के बीच आयु में 7 वर्ष का अन्तर उनके

बीच आवश्यक "सहयोग और सामंजस्य" को बनाए रखने के मार्ग में बाधक होगा। (देखिए उसके प्रथम निर्णय का पैरा 7.1.6) इस समय जो मत अपनाया गया है, वह यह है कि "यौवन और अनुभव के सहयोग से भागीदारी कारबार में एक अतिरिक्त स्रोत उपलब्ध हो सकेगा।" किन्तु पराग द्वारा की गई यह "स्वीकृति" कि वह भागीदारी के कई कारबार में असफल हो चुका है और एक अवसर पर उसने अपने भागीदार का अधित्यजन कर दिया है जिससे बोर्ड यह सूचना के लिए विवश हुआ कि प्रफुल्ल की भागीदारी में पराग के साथ सम्मिलित होने में "किसी विशेष प्रकार का आकर्षण" नहीं हो सकता। पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल श्री दास के मतानुसार ऐसी कोई स्वीकृति नहीं थी। (श्री भट्टाचार्जी इस दलील का खण्डन करने में असमर्थ हैं) और एक पूर्ववर्ती अवसर पर अधित्यजन, जब वह विद्वान् बोर्ड के समक्ष स्वयं उपस्थित था विश्वासघात का कार्य था जो दूसरे पक्ष द्वारा किया गया था। जो भी स्थिति हो इस बात का विनिश्चय प्रफुल्ल को करना है कि क्या वह भागीदारी करने के लिए एक उपयुक्त व्यक्ति है। वह इस संघर्ष के दौरान पराग के साथ सुख-दुख में रहा है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति में "विशेष आकर्षण" पूर्ण रूप से व्यक्तिनिष्ठ बात होती है। किसी व्यक्ति को 'क' में कोई भी बात आकर्षित करने की न हो जबकि कोई अन्य व्यक्ति 'ग' के लिए अपना जीवन तक न्यौछावार करने को तैयार हो सकता है। मानव जीवन के ये रहस्य सभी को ज्ञात है और उनका कोई स्पष्टीकरण नहीं है। इस प्रकार इस मुकदमे में बोर्ड द्वारा दिया गया पहला कारण बोर्ड उचित रूप से नहीं दे सकता था। दूसरा कारण अर्थात् (पहले असफल होने के सम्बन्ध में पराग की स्वीकृति) अस्तित्व में नहीं है और तीसरा कारण (पराग में विशेष आकर्षण का अभाव) ऐसी बातों पर विचार करके निकाला गया है जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः हम इस निष्कर्ष को कायम नहीं रख सकते।

10. तीसरा और अंतिम तथ्य, जिसको ध्यान में रखते हुए विद्वान् बोर्ड ने पिटीशनरों के अधिमानी दावे को रद्द कर दिया था, वह यह है कि वे प्रश्नगत दुकान को चलाने के लिए युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित आवश्यक वित्त इकट्ठा करने में समर्थ नहीं थे। यद्यपि दो पिटीशनरों ने आठ व्यक्तियों से सहायता प्राप्त की थी और बचन दी गई कुल वित्तीय सहायता करीब 74,000 रुपये हुई (77,758 रुपये की राशि में से हाथ में रहने वाले नगद 35,000 रुपये का सहारा नहीं दिया गया)। आक्षेपित निर्णय में यह कहा गया है कि "कामकाज पूंजी की बहुत अधिक कमी होगी"। यह दृष्टिकोण विशेष रूप से नियम 346 के कारण अपनाया गया जैसा कि वह तारीख 1-9-1981 की अधिसूचना द्वारा

अंतःस्थापित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम, नियम 296 के साथ इस न्यायालय के विशेष न्यायपीठ की तारीख 1-4-1980 के विनिश्चय के पश्चात् संशोधित किया गया था। देखिए **राजकुमार दिलीप नारायण सिन्हा बनाम असम राजस्व बोर्ड**[1]। उस विशेष न्यायपीठ ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया था कि क्या किसी शिक्षित अनियोजित नवयुवक की वित्तीय हैसियत आबकारी दुकान दिए जाने के प्रयोजन के लिए अत्यावश्यक है। यदि ऐसा है तो इसका निर्णय किस प्रकार किया जाना चाहिए और किस कसौटी पर, इस न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि पट्टेदार अक्सर अपने स्टाक को बढ़ाकर दिखाते हैं जिससे अनियोजित नवयुवक उस समय परेशानी में पड़ जाते हैं जब वे दुकान का कब्जा लेते हैं। चूंकि यह अनुभव किया गया कि इस तरकीब से अनियोजित नवयुवकों को उन साधनों की ओर देखना पड़ता है जो उन्होंने उस समय वर्णित किए थे, जब उन्होंने निविदाएं दी थीं। अतः इस न्यायालय ने ऊपर वर्णित विनिश्चय में इस पहलू पर प्रकाश डाला है। यह अनुभव किया गया कि प्रतिभूति निक्षेप का पांच गुना ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में जिसकी कुछ हैसियत और मान्यता है, निविदा दिए जाने के प्रक्रम पर विचार किए जाते समय उसकी वित्तीय हैसियत को ध्यान में रखा जाना चाहिए जब तक कि बोर्ड कोई अन्य सूत्र विकसित नहीं कर लेती है। न्यायपीठ में बैठने वाले विद्वान् न्यायाधीशों में से एक न्यायाधीश (न्या० लाहिरी) ने यह मत व्यक्त किया कि पांच गुना मानदण्ड कम किया जाना चाहिए।

11. इस पृष्ठभूमि में हम ऊपर वर्णित दो नियमों में नियम बनाने वाले प्रधिकारी द्वारा किए गए परिवर्तनों पर विचार करते हैं। नियम 296 में पहले यह वर्णित किया गया है कि प्रत्येक अनुज्ञप्तिधारी प्रत्येक ग्राहक के मादक द्रव्य की मांग पूरी करेगा और कलक्टर द्वारा नियत न्यूनतम मात्रा से ऐसे मादक द्रव्य के स्टाक को कम नहीं होने देगा। कलक्टर औसत दैनिक खपत को ध्यान में रखते हुए न्यूनतम मात्रा नियत करेगा। साथ ही वह समीपतम भांडागार से स्टाक की पुनः पूर्ति करने में लगने वाले समय को भी ध्यान में रखेगा। "कलक्टर द्वारा नियत न्यूनतम" शब्दों के स्थान पर नए नियम में "6 दिन की औसत खपत का न्यूनतम" वर्णित है। इस प्रकार अब नियम में न्यूनतम मात्रा नियत करने का अधिकार कलक्टर पर निर्भर नहीं है। किन्तु नियम में ही न्यूनतम अपेक्षा वर्णित की गई है। यह ध्यान देने योग्य समुचित बात है कि न्यूनतम समय को देखते हुए, जिसके भीतर समीपतम भांडागार से स्टाक की पुनः

---

[1] आई० एल० आर० 1980 गोहाटी 99.

पूर्ति किया जाना आवश्यक होगा, ध्यान में रखकर यह व्यवस्था की गई है। तथापि अब नया नियम 346 है जिसको ध्यान में रखते हुए विद्वान् बोर्ड ने ऊपर वर्णित मत व्यक्त किया है । अतः पुराने नियम 346 को पहले पढ़ना उपयुक्त होगा और तब संशोधित पाठ को उद्धृत करना होगा। पुराना नियम इस प्रकार है :—

*"346. **एक विक्रेता द्वारा दूसरे विक्रेता को विक्रय**—कोई व्यक्ति जो अनुज्ञप्ति प्राप्त विक्रेता रहा है, अपनी अनुज्ञप्ति के समाप्त होने पर और कलक्टर से मंजूरी लेकर किसी मादक पदार्थ को, जो वह अपनी अनुज्ञप्ति की शर्तों के अधीन उसका विक्रय करने के लिए प्राधिकृत है, और जिस पर उसका कब्जा विधितः रहा है, दूसरे अनुज्ञप्ति प्राप्त विक्रेता को थोक में बेचेगा। परन्तु यह कि मादक पदार्थ उपयोग के लिए उपयुक्त है और देशी शराब की दवा में वह फुटकर विक्रय के लिए नियत शक्ति की सीमा के भीतर है :

परन्तु यह कि मादक पदार्थ उपयोग के लिए उपयुक्त है और देशी शराब की दशा में वह फुटकर विक्रय के लिए नियत शक्ति की सीमा के भीतर है :

परन्तु यह और कि यदि कलक्टर यह समझता है कि मादक द्रव्य या उसका कोई भाग उपयोग के लिए अनुपयुक्त है, या उसमें अन्यथा क्षय हो गया है जिससे वह विक्रय योग्य नहीं रहा है, तो वह उसे नष्ट

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"346. *Sale by one vendor to another vendor*—A person who has been a linccnced vendor may, on the expiration of his licence, and with the sanction of the Collector sell wholesa le to another licensed vendor any intoxicant which he is authorised under the conditions of his licence to sell and of which he has been lawfully in possession :

Provided that the intoxicant is fit for use and, in the case of country spirit, that it is within the limits of strength fixed for retail sale :

Provided further that, if the Collector considers that the intoxicant or any part thereof is unfit for use or has otherwise deteriorated so as to be unsaleable, he shall cause the same to be destroyed without any

करवाएगा और पूर्ववर्ती अनुज्ञप्त विक्रेता द्वारा किसी प्रतिकर का दावा नहीं किया जा सकेगा।

इसके बजाय हम नया नियम 346 इस प्रकार पाते हैं :—

*"346. **एक विक्रेता द्वारा दूसरे विक्रेता को विक्रय**—कोई व्यक्ति जो अनुज्ञप्त विक्रेता रहा है, अपनी अनुज्ञप्ति के समाप्त होने पर और कलक्टर की मंजूरी से उत्तरवर्ती विक्रेता को विहित न्यूनतम स्टाक से जिसे रखने के लिए वह अनुज्ञप्ति की शर्तों के अधीन प्राधिकृत था और जिस पर वह विधिपूर्वक काबिज रहा है, अधिक न होने वाले स्टाक को थोक रूप से बेचेगा :

परन्तु यह कि कलक्टर को यह शक्ति होगी कि वह देशी स्पिरिट (लिकर) के ऐसे स्टाक का व्ययन कर दे जिसे विक्रेता ग्रहण नहीं करता है :

परन्तु यह और कि यदि कलक्टर यह समझता है कि मादक द्रव्य या उसका कोई भाग उपयोग के लिए अनुपयुक्त है, या जो अन्यथा क्षय-ग्रस्त हो गया है जिससे वह विक्रय योग्य नहीं रहा है तो वह उसे नष्ट करवाएगा और पूर्ववर्ती अनुज्ञप्त विक्रेता द्वारा किसी प्रतिकर का दावा नहीं किया जा सकेगा।"

---

compensation being claimable by the former licensed vendor."

*"346. *Sale by one vendor to another vendor*—A person who has been a licensed vendor may on expiration of his licence and with the sanction of the Collector, sell wholesale to succeeding vendor only intoxicant not exceeding 15 days' saleable stock over the prescribed minimum of which he is authorised under the conditions of his licence to sell and of which he has been lawfully in possession :

Provided that the Collector shall have the power to dispose of any stock of Country spirit not taken over by the vendor :

Provided further that, if the Collector considers that the intoxicant or any part thereof is unfit for use or has otherwise deteriorated so as to be unsaleable, he shall cause the same to be destroyed without any compensation being claimable by the former licensed vendor."

इस प्रकार अब एक कानूनी सीमा नियत की गई है जिसके परे वर्तमान पट्टेदार अन्तर्गामी अनुज्ञप्तिधारी को अपना स्टाक नहीं बेच सकता। इसके अलावा नियम 346 समर्थ बनाने वाला उपबन्ध है और उसमें पक्षकारों के विवेक पर कार्य करना छोड़ दिया गया है। ध्यान देने योग्य अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि परन्तुक में जो जोड़ा गया था, यह वर्णित है कि यदि देशी शराब के किस स्टाक को विक्रेता स्वीकार नहीं करता है तो कलक्टर को यह शक्ति होगी कि वह उसका व्ययन कर दे। इस प्रकार इस संबंध में संदेह करने के लिए कोई बात नहीं है कि नियम बनाने वाले प्राधिकारी ने आवश्यक वित्त के उपबन्ध को और अधिक कठोर बनाने के स्थान पर यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुज्ञप्तिधारी को 6 दिनों के अपेक्षित न्यूनतम भाग को अपने स्टाक में रखना होगा और इसके परे उससे विद्यमान अनुज्ञप्तिधारी के किसी स्टाक को क्रय करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। तथापि विद्वान् बोर्ड ने आवश्यक वित्त संगणित किया जैसे कि निविदाकर्ताओं के पास अपना धन हो जो 21 दिन की जरूरत का स्टाक खरीदने के लिए आवश्यक होगा। चूंकि आबकारी अधीक्षक ने यह प्रमाणित किया कि दुकान की दैनिक खपत करीब 4,000 रुपये थी, अतः बोर्ड ने यह अभिनिर्धारित किया कि आवश्यक न्यूनतम रकम "एक लाख रुपये से कम नहीं होगी" यदि 21 दिन के स्टाक के अलावा प्रतिभूति निक्षेप 6,000 रुपये हो और बोतलों आदि की कीमत को भी ध्यान में रखा जाए। इसके विपरीत श्री दास ने यह दलील दी है कि भले ही 4,000 रुपये की रकम जैसा कि आबकारी अधीक्षक ने बतलाया है, स्वीकार कर ली जाती है जो उनके मतानुसार सही नहीं है जैसा उन्होंने विद्वान् बोर्ड के समक्ष विवाद किया था तो न्यूनतम आवश्यक निधि करीब 40,000 रुपये के बराबर होगी जिसमें 6 दिन का न्यूनतम स्टाक भी सम्मिलित होगा और प्रतिभूति निक्षेप और बोतलों का मूल्य भी सम्मिलित होगा। इस प्रकार निधि की बिल्कुल भी कमी नहीं होगी। काउन्सेल के मतानुसार विद्वान् बोर्ड ने पिटीशनरों द्वारा आश्वस्त किए गए वित्त के स्रोत या इसकी उपलब्धता के बारे में कोई संदेह नहीं व्यक्त किया, जैसा कि पिटीशनरों ने आश्वासन दिया था, जो 40,000 रुपये से अधिक की राशि आता है।

12. यह स्पष्ट है कि श्री दास की दलील स्वीकार किए जाने योग्य है क्योंकि नये नियम 346 का विद्वान् बोर्ड द्वारा पूर्णतः भ्रमयुक्त निर्वचन किया गया है। हम यह वर्णित कर दें कि एक पूर्ववर्ती निर्णय में यह बतलाया गया था कि नियम 346 में संशोधन किया गया था और ऐसा अधिनियम की स्कीम और नियमों को ध्यान में रखकर किया गया था जिससे कि नियम 223(2) के अधीन सूचीबद्ध व्यक्तियों को वंचित न किया जाए क्योंकि बहिर्गामी पट्टेदारों द्वारा

छोड़े गए सम्पूर्ण स्टाक को क्रय करने के लिए हम पर जोर दिया गया है। यह बात पुनः कहे जाने योग्य है कि 15 दिन के स्टाक को क्रय करना, जिसके प्रति संशोधित नियम में निर्देश किया गया है, अंतर्गामी अनुज्ञप्तिधारी के लिए अनिवार्य नहीं है। किन्तु वह अपने विवेकाधिकार ऐसा करे और ऐसा न करने पर कलक्टर को इस बात के लिए प्राधिकृत किया गया है कि वह स्टाक का व्ययन करे। ऊपर वर्णित विशेष न्यायपीठ के विनिश्चय में जो कुछ कहा गया है, उसे ध्यान में रखते हुए विद्वान् बोर्ड द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण और निर्वचन कायम नहीं रखा जा सकता।

13. ऊपर वर्णित विचार-विमर्श का परिणाम यह है कि पिटीशनर के मामले को विद्वान् बोर्ड ने अन्यायपूर्ण रूप से रद्द कर दिया था। अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पिटीशनर किस अनुतोष के लिए हकदार हैं जो उन्हें इस कार्यवाही में दिया जा सकता है। श्री भट्टाचार्जी के मतानुसार हम अधिक से अधिक यह कर सकते हैं कि हम मामले को विद्वान् बोर्ड के समक्ष वापस कर दें। क्योंकि इस कार्यवाही को करते समय यह न्यायालय इस प्रकार का कोई सकारात्मक निदेश नहीं दे सकता कि दुकान पिटीशनरों को दे दी जाए क्योंकि यह कृत्य तय करने वाले प्राधिकारी का हैं जो यह न्यायालय नहीं है। इस सम्बन्ध में **वीरप्पा बनाम रमन और रमन**[1] वाले मामले में इस विचारधारा के प्रति निर्देश किया गया था। **प्रेम सागर** बनाम **एस० वी० आयल कम्पनी**[2] और **टी० वी० सिंह** बनाम **राज्य**[3]।

14. हमने मामले के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर सम्यक् रूप से विचार किया है जिस प्रश्न से हम परेशान हैं, वह यह है कि पिटीशनरों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक दौड़ने और परेशान होने के लिए छोड़ दिया जाए या क्या यह बात इस न्यायालय की सक्षमता के भीतर है कि वह कुछ अनुतोषों को यदि वे उसके पात्र हैं, दिए जाने का निदेश दे सकता है। पक्षकारों के प्रति पूर्ण न्याय करने की दृष्टि से हमने इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया कि इस सम्बन्ध में इस न्यायालय पर कौन-कौन से बन्धन लगे हुए हैं। हाल के कुछ विनिश्चयों से हमें यह विश्वास हो गया है कि इस न्यायालय को किसी भी अवसर का मुकाबला करने की शक्ति है "जब अन्याय से परेशान कोई व्यक्ति इस न्यायालय का आवाह्न करता है, जैसा कि न्या० कृष्ण अय्यर ने **गुजरात स्टील ट्यूब्स बनाम उसकी मजदूर सभा**[4] वाले मामले में वर्णित किया है। पैरा 146 में यह मत

[1] ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 192:
[2] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 111.
[3] 1969 (3) एस० सी० सी० 489.
[4] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1896.

व्यक्त किया गया है कि यह असाधारण आरक्षित शक्ति इसलिए दी गई है जिससे कि मामले को वापस करने का मार्ग अपनाए बिना अंतिम अनुतोष मंजूर किया जा सके। अधिकरण अपने विवेकाधिकार से जो कुछ कर सकता है वैसा ही उच्च न्यायालय भी अनुच्छेद 226 के अधीन कर सकता है, यदि तथ्यों से ऐसा करना आवश्यक हो। उस मामले में उच्च न्यायालय ने मध्यस्थ के अधिनिर्णय को अपास्त करने के पश्चात्, जिसमें कर्मकार की सेवा समाप्त किए जाने के आदेश को कायम रखा गया था, यह आदेश दिया कि मामले को मध्यस्थ के पास वापस भेजे जाने के बजाय कर्मकार को यथापूर्व स्थिति में कर दिया जाए। इस सम्बन्ध में आदेश के उस भाग पर आक्षेप करते हुए यह दलील दी गई कि उच्च न्यायालय को ऐसा करने की शक्ति नहीं थी। उच्चतम न्यायालय इस बात से सहमत नहीं हुआ।

15. हम लाभप्रद रूप से एक दूसरे मामले अर्थात् **जिला रजिस्ट्रार** बनाम **एम० बी० कोयाकुट्टा**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय के प्रति निर्देश करते हैं। उस मामले में उसकी विचित्र परिस्थितियों में उच्च न्यायालय ने एक सकारात्मक निदेश जारी किया था जिसमें सरकार से यह अपेक्षा की थी कि वह प्रत्यर्थी को उच्च श्रेणी में प्रोन्नति के लिए पात्र माने। इस निदेश पर आक्षेप किया गया था। तथापि उच्चतम न्यायालय ने उसे इस प्रकार कायम रखा था जैसे कि सम्बन्धित व्यक्ति ने प्रोन्नति के लिए आवश्यक मानदण्ड पूरा कर दिया था। यह भी बतलाया गया था **ग्रिन्डलेज बैंक लिमिटेड** बनाम **आई० टी० ओ०**[2] वाले मामले में यद्यपि मामूली तोर पर उच्च न्यायालय सरशियोरेराई कार्यवाही में अभिखंडित किए गए आदेश के स्थान पर स्वयं अपने आदेश को प्रतिस्थापित नहीं करता है फिर भी उसे ऐसे अतिरिक्त आदेश पारित करने की शक्ति है जैसा कि मामले में न्याय करने के लिए आवश्यक हो। यह बतलाया गया कि ऐसा करते समय उच्च न्यायालय पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय करने की दृष्टि से जैसे आदेश करना हो, उन्हें पारित करने के लिए अपनी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करता है। इस सम्बन्ध में हम **बासप्पा** बनाम **नागप्पा**[3] और **द्वारकानाथ** बनाम **आई० टी० ओ०**[4] वाले मामलों के प्रति निर्देश करते हैं। जहां अनुच्छेद 226 में उपर्युक्त व्यापक

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1060.
[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 656.
[3] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 440.
[4] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 81.

भाषा के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जिसमें सरशियोरेराई की प्रकृति के रिट जारी करने की शक्ति का वर्णन किया गया है और साथ ही निदेश और आदेश जारी करने की शक्ति का वर्णन किया गया है। यह मत व्यक्त किया गया था कि न्यायालय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इंग्लिश लॉ में इन रिटों के पिछले इतिहास को भी देखे। और न ही उन पेचीदगियों का बन्धन अनुभव करे जो एक समय इंग्लैंड में इन रिटों के सम्बन्ध में प्रचलित थीं।

16. यह ऐसा मामला है जहां विद्वान् बोर्ड के निष्कर्ष के अनुसार भी पिटीशनर कानूनी अधिमान के लिए नियमों के नियम 223(2) के अधीन हकदार हैं। जहां प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 इस अधिमान का दावा नहीं कर सकते क्योंकि उनमें से एक की आयु 35 वर्ष से अधिक है जिसके कारण उनका मामला ऊपर वर्णित नियम के टिप्पण को ध्यान में रखते हुए इस उपबन्ध से बाहर हो जाएगा (देखिए निर्णय का पैरा 5)। तथापि पिटीशनरों को दुकान नहीं दी गई है और ऐसा नियम 208(3) में अधिकथित किसी निरर्हरता के कारण नहीं किया गया है। अतः यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि उन्होंने कठोर "वैयक्तिक परीक्षा" पास कर ली है जो एक कसौटी है जिस पर उपयुक्तता अवधारित की जाएगी। उनका मामला ऊपर वर्णित तीन कारणों से रद्द किया गया जिनमें से कोई भी इस न्यायालय द्वारा संवीक्षा किए जाने के लिए उचित नहीं पाया गया। और वह उपलब्ध परिक्षेत्र के भीतर भी नहीं पाया गया जिसके आधार पर तथ्य के निष्कर्ष के सही होने की परीक्षा की गई थी। ऐसी स्थिति में हमारा यह विचार नहीं है कि यह मामला पुनः भेजे जाने के लिए उपयुक्त है क्योंकि प्रतिविरोध करने वाले दोनों पक्षकारों के बीच में केवल पिटीशनर ही कानूनी अधिमान के हकदार हैं। यदि ऐसा होता तो प्रत्यर्थी 1 और 2 अधिमानी व्यवहार किए जाने के प्रवर्ग में आते तो यह एक भिन्न मामला होता। क्योंकि उस दशा में तुलनात्मक उपयुक्तता के आधार पर चयन का प्रश्न उद्‌भूत हो गया होता जिसका विनिश्चय करने के लिए यह न्यायालय सक्षम नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है। अतः पूर्ण न्याय करने के लिए कोई निदेश देने में हमें किसी प्रकार की अड़चन का अनुभव नहीं हो रहा है जिससे कि पिटीशनरों के पक्ष में दुकान दी जा सके। चूंकि यह निदेश तय करने वाले प्राधिकारी को प्रदत्त कानूनी बाध्यता को प्रवर्तन करने के लिए निदेश देने की शक्ति प्रदान करता है और ऐसा निदेश देने के लिए यह न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन सक्षम है।

17. यह निदेश देते हुए हमारी दृष्टि से यह तथ्य ओझल नहीं हुआ है कि इस पिटीशन में जिस प्रकार यह फाइल किया गया है, पिटीशनरों की ओर से

यह प्रार्थना नहीं की गई थी कि उनके पक्ष में दुकान दिए जाने का निदेश जारी किया जाए। यद्यपि इस प्रकार की दलील श्री दास ने दी थी। इस सम्बन्ध में किसी विशिष्ट प्रार्थना के अभाव में हमने यह उचित नहीं समझा कि पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय करने की दृष्टि से इस अनुतोष से इनकार किया जाए क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकार निर्णय दिए हैं। **चरणजीत लाल** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में यह वर्णित किया गया है कि अनुच्छेद 32 द्वारा किसी विशिष्ट मामले की आवश्यकताओं के अनुसार रिट विरचित करने की हालत में बहुत व्यापक विवेकाधिकार दिया गया है। और कोई आवेदन केवल इस आधार पर ही नामंजूर नहीं किया जा सकता कि उचित रिट या निदेश की प्रार्थना नहीं की गई है। हमें इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है कि इस बारे में अनुच्छेद 32 की बाबत जो कुछ कहा गया है, वह स्वबल से अनुच्छेद 226 को लागू होता है। क्योंकि जहां तक रिटों के विरचित किए जाने का सम्बन्ध है, अनुच्छेदों की भाषा एक-सी ही हैं। **सत्य नारायण** बनाम **जिला इंजीनियर**[2] वाले मामले में समुचित अनुतोष मंजूर किया गया था क्योंकि पिटीशन में "अन्य अनुतोष" मंजूर किए जाने की प्रार्थना की गई थी (देखिए पैरा 11)। इसी प्रकार प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ने आदेश को अभिखंडित करने के अलावा यह प्रार्थना की थी कि अतिरिक्त या अन्य आदेश पारित किए जाएं "जैसा कि उचित और उपयुक्त समझा जाए।" **हरियाणा राज्य** बनाम **हरियाणा सहकारी परिवहन लिमिटेड**[3] वाले मामले में केवल यह तथ्य कि अधिकारपृच्छा के रिट के लिए मांग करते हुए पिटीशनर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में मांग नहीं की थी। अतः यह बात उस प्रश्न पर विचार करने के लिए पर्याप्त नहीं मानी गई क्योंकि नियुक्ति पर आक्षेप करने के लिए आवश्यक तथ्य पिटीशन में स्पष्ट रूप से वर्णित थे। यह कहा गया है कि पिटीशनर ने न्यायालय से इस प्रकार के अन्य उपयुक्त रिट, आदेश या निदेश (सरर्शियोरेराई के रिट के अलावा जो उपयुक्त समझा जाए) जारी करने के लिए, जैसा कि न्यायालय उचित और उपयुक्त समझे, निवेदन किया था। यह भी मत व्यक्त किया गया था कि किसी सूत्र का उपयोग करने का कोई जादू नहीं था। **बी० आर० रामभद्रिया** बनाम **सचिव**[4] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने पुनः यह वर्णित किया कि अनुतोष न्याय की पूर्ति के लिए उपयुक्त रूप से परिवर्तित किया जा सकता है और

---

1 ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 41.

2 ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1161.

3 ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 237.

4 ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1653.

अनुतोष देने से बिल्कुल तकनीकी और संकीर्ण प्रक्रियात्मक आधारों पर इंकार नहीं किया जाना चाहिए।

18. तथापि चूंकि बेनामी का अभिकथन किया गया है और चूंकि नियम 211 में यह अपेक्षित है कि बेनामी संव्यवहार अनुज्ञात नहीं किया जाएगा अतः हम यह स्पष्ट करते हैं कि यदि और जांच किए जाने पर यह पाया जाता है कि पिटीशनर किसी अन्य व्यक्ति के बेनामीदार हैं तो दुकान तय करने वाले प्राधिकारी को अनुज्ञप्ति रद्द करने का अधिकार होगा। यह कहना आवश्यक नहीं है कि जांच नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अनुसार की जानी होगी। हम एक अन्य मत भी व्यक्त करते हैं क्योंकि हमें यह बताया गया है कि दो अन्य निविदाकर्ताओं द्वारा अर्थात् दया राम और प्रवीण कुमार द्वारा पेश किया गया एक पिटीशन इस न्यायालय के समक्ष लम्बित है और वह सिविल रूल 1163/82 की विषयवस्तु है और यह कि आदेश जो हमने पारित किया है, वह उस सिविल रूल के विनिश्चय के अधीन होगा और उक्त सिविल रूल में वर्तमान पिटीशनर प्रत्यर्थियों के तौर पर पहले ही पक्षकार बनाए जा चुके हैं।

19. परिणामस्वरूप यह पिटीशन मंजूर किया जाता है। आक्षेपित निर्णय और आदेश अपास्त किए जाते हैं और प्रत्यर्थी सं० 5 को यह निदेश दिया जाता है कि वह शेष कालावधि के लिए अर्थात् 31 मार्च, 1984 तक के लिए ऊपर वर्णित मतों के अधीन पिटीशनरों के पक्ष में दुकान आबंटित कर दे।

20. मामले पर विचार-विमर्श समाप्त करने के पहले हम यह मत व्यक्त करना चाहेंगे कि विद्वान् बोर्ड ने उपान्तिम पैरा में यह वर्णित करते हुए कि यद्यपि उसने पहले की गई परीक्षा में यह निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थी अनुपयुक्त थे। किन्तु उसने यह मत व्यक्त किया कि और परीक्षा करने से यह ज्ञात हुआ कि "अपीलार्थी भागीदारी" ऐसी नहीं है जिसे आबकारी की दुकानों को आबंटित करने के लिए चुना जा सके। यह बात आदेश-पत्रक में भी दुहराई गई है। क्या हम यह कह सकते हैं कि संयत न्यायिक निर्णयों में इस प्रकार की टिप्पणी की जाने की आशा नहीं की जाती है। यह मत और उच्च खर्चे दिए जाने के कारण श्री दास को यह दलील देनी पड़ी कि विद्वान् बोर्ड ने बदला लेने की भावना से अपील खारिज कर दी थी और उसके मतानुसार पिटीशनर का एकमात्र दोष यह था कि वे उसके पहले इस न्यायालय में आवेदन कर चुके थे जिसके कारण विद्वान् बोर्ड ने पिटीशनरों के विरुद्ध अप्रिय मत व्यक्त किया और ऐसा उसने दो बार किया तथा जले पर नमक छिड़कने के समय यह सोचा गया कि प्रस्तुत मामला खर्चा दिए जाने के लिए असाधारण मामला है और उसे "निदर्शनात्मक"

बनाने के लिए खर्च 1,000 रुपये नियत किया क्योंकि यह अनुभव किया गया कि ऐसा करने के लिए इस मामले से अधिक उपयुक्त कोई और मामला नहीं हो सकता।

न्या० टी० एन० सिंह :

मैं सहमत हूं।

पिटीशन मंजूर किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : गोहाटी—24

मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र और एक अन्य बनाम सी० ललथनपारा और अन्य

(The Union Territory of Mizoram and another *Vs.* C. Lalthanpara & others)

तारीख 19 मई, 1983

[न्या० के० लाहिरी और न्या० एस० एम० अली]

लुसाई हिल्स आटोनामस डिस्ट्रिक्ट (एडमिनिस्ट्रेशन आंफ जस्टिस) रूल्स, 1953 नियम 23(1)(बी)—उक्त नियमों के अधीन गठित जिला परिषद् (काउन्सिल) न्यायालय की अधिकारिता—जिला काउन्सिल न्यायालय प्रकृत व्यक्तियों के बीच जो, अनुसूचित जनजाति के हों, मामले का विचारण कर सकते हैं—जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे मामलों का विचारण नहीं कर सकता जिनमें से एक पक्षकार अनुसूचित जनजाति का न हो—राज्य प्रकृत व्यक्ति नहीं है—जिला काउन्सिल न्यायालय को राज्य के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है।

प्रस्तुत मामले में अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय विधितः ऐसे वाद का विचारण करने के लिए सक्षम था जिसमें सरकार का वादगत सम्पत्ति में सारभूत हित हो और क्या न्यायालय ऐसी कोई डिक्री या आदेश पारित कर सका जो वास्तव में मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध पारित डिक्री और आदेश था और जिसे पार्टी प्रतिवादी के तौर पर

नहीं जोड़ा गया था जबकि यह स्वीकार किया गया है कि सरकार का उस अधिकार का सद्भावी दावा करने का हक था। सरकार का उक्त वादगत सम्पत्ति में हक और हित था जिसके कारण उसे कार्यवाही का प्रतिवाद करना चाहिए था। क्या न्यायालय को अपने आदेश को प्रभावी करने के लिए आदेश पारित करने के पश्चात् मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र को कोई आदेश करने या निदेश देने की अधिकारिता है और क्या अधिकारिता मिजोरम के संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध है। क्या निर्णय और डिक्री के अनुसार मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र पर कार्य करना आबद्धकर है या उक्त निर्णय और डिक्री का पालन करने के लिए वह बाध्य है।

प्रत्यर्थी ने मिजोरम सरकार के विरुद्ध वादी के तौर पर कार्यवाही फाइल की और यह दावा किया कि वह वादगत भूमि का स्वामी था और वह ग्राम काउन्सिल की अधिकारिता के अन्तर्गत आता है। वादी ने वादगत भूमि के स्वामित्व का दावा किया जिस पर सरकार ने उसकी अनुपस्थिति में एक भवन बनवा दिया है। वादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन सूचना में मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र को पक्षकार प्रत्यर्थी नहीं बनाया। वाद अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय में संस्थित किया गया। पत्रकारों की ओर मे सरकार को पक्षकार न बनाने के संबंध में आपत्ति की गई किन्तु पीठासीन अधिकारी ने आक्षेप पर विचार करने से इनकार कर दिया और डिक्री और निर्णय घोषित कर दिया। मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र की ओर से प्रस्तुत आवेदन उपयुक्त रिट जारी किए जाने के लिए किया गया है और यह निवेदन किया गया है कि अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय को मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध किसी मामले पर विचार करने की अधिकारिता नहीं थी।

मिजोरम राज्य के विद्वान् स्थायी काउन्सेल ने यह दलील दी कि वाद अवैध है क्योंकि आवश्यक पक्षकारों को पक्षकार नहीं बनाया गया है। दूसरी दलील यह दी गई कि अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय को नियमों के नियम 23(1)(बी) द्वारा अधिरोपित वर्जन को ध्यान में रखते हुए मिजोरम सरकार की सम्पत्ति के बारे में किसी अनुयोजन का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। तद्नुसार विद्वान् काउन्सेल ने निवेदन किया कि कार्यवाहियों को अभिखण्डित किया जाना चाहिए या अपास्त किया जाना चाहिए और उन्हें विधि-विरुद्ध और शून्य घोषित किया जाए।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

नियमों की स्कीम से यह ज्ञात होता है कि जिला काउन्सेल न्यायालय

प्रकृत व्यक्ति के मामलों का विचारण करने के लिए सशक्त किए गए हैं जो व्यक्ति अनुसूचित जनजाति के हैं और उन्हें राज्य और/या सरकार जैसे किसी न्यायिक या विधिक व्यक्ति के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया है। (पैरा 9)

भारत गणराज्य में राज्य भी कानून से आबद्ध है जब तक कि वह अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित न कर दिया गया हो। "व्यक्ति" शब्द की परिभाषा के अंतर्गत राज्य आता है। वह वाद चला सकता है और उसके विरुद्ध वाद चलाया जा सकता है। किन्तु क्या नियमों के नियम 23(1)(बी) में ऐसे विधिक या न्यायिक व्यक्ति को सम्मिलित करना सम्भव है जो अनुसूचित जनजाति का व्यक्ति हो। राज्य अनुसूचित जनजाति के गुण या लक्षणों को अर्जित नहीं कर सकता। कम से कम भारत गणराज्य में कोई राज्य या संघ राज्य क्षेत्र यह दावा नहीं कर सकता कि वह "अनुसूचित जनजाति" का है। कोई भी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र जनजाति या गैर जनजाति के होने का दावा नहीं कर सकता। इसी प्रकार मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र और या उसका प्रशासक ऐसे व्यक्ति के तौर पर दावा नहीं कर सकता जो अनुसूचित जनजाति का हो। कोई भी राज्य या सरकार अपने आप ही यह दावा नहीं कर सकती कि वह अनुसूचित जनजाति की है। मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र अनुसूचित जनजाति का व्यक्ति नहीं है। इस प्रकार जिला काउन्सिल न्यायालय को संघ राज्य-क्षेत्र के द्वारा या उसके विरुद्ध फाइल किए गए किसी वाद का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। अनुसूचित जनजाति के न होने वाले व्यक्ति के विरुद्ध वादों का विचारण जिला काउन्सिल की अधिकारिता से अपवर्जित किया गया है। अतः ऐसे अनुयोजनों का विचारण मामूली न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है जो अनुयोजनों का विचारण करने के लिए गठित किए गए हैं। (पैरा 10)

राज्य प्रकृत व्यक्ति नहीं है और यह कि नियमों के नियम 23(1)(बी) के अंतर्गत अनुसूचित जनजाति का प्रकृत व्यक्ति ही सम्मिलित है। यह कि राज्य विधिक या न्यायिक व्यक्ति है जो वाद चला सकता है या जिस पर वाद चलाया जा सकता है किन्तु उन्हें "अनुसूचित जनजाति" के व्यक्ति के तौर पर नहीं कहा जा सकता और यह कि जिला काउन्सिल न्यायालय प्रकृत व्यक्तियों के बीच जो सब अनुसूचित जनजातियों के हों, मामले का विचारण कर सकते हैं तथा जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे मामलों का विचारण नहीं कर सकते जिनमें से एक पक्षकार अनुसूचित जनजाति का न हो। (पैरा 11)

अपर जिला काउन्सिल बोर्ड को मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं थी। आक्षेपित निर्णय,

आदेश और बाद वाले आदेश अवैध हैं और इसलिए वे अपास्त किए जाते हैं। (पैरा 12)

		पैरा
[1973]	ए० आई० आर० 1973 असम लॉ रिपोर्ट्स 372 : नार्थ कछार हिल्स डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल (सचिव कार्यकारी समिति) **बनाम** नैंथिंग अमर और एक अन्य [North Cachar Hills District Council (Secretary, Executive Committee) *Vs.* Neithank Amar and another];	10
[1972]	1972 क्रिमिनल लॉ जर्नल 68 : नीरा सिंह मूमिन **बनाम** जैंगनो मारक (Nira Singh Momin *Vs.* Jengno Marak);	10
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 360 (364) : भारत संघ **बनाम** जुब्बी (Union of India *Vs.* Jubbi);	10
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 997 : पश्चिम बंगाल राज्य **बनाम** कलकत्ता कारपोरेशन (State of West Bengal *Vs.* Corporation of Calcutta);	10
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 669 : पंजाब राज्य **बनाम** ओ० जी० सो० सिन्डिकेट (State of Punjab *Vs.* O. G. C. Syndicate);	10
[1961]	ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 221 : बिहार राज्य **बनाम** सोनावती (The State of Bihar *Vs.* Sonabati);	10
[1956]	ए० आई० आर० 1956 असम 85 : पी० सी० विश्वास **बनाम** भारत संघ (P. C. Biswas *Vs.* Union of India)	10

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 का सिविल रूल सं० 173.

एजल के अधीनस्थ जिला काउंसिल न्यायालय के विद्वान् मजिस्ट्रेट द्वारा 23 सितम्बर, 1977 को पारित निर्णय के विरुद्ध पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री के० के० बैज बरुआ, वरिष्ठ स्थायी काउंसेल, मिजोरम

प्रत्यर्थियों की ओर से ... कोई हाजिर नहीं हुआ

न्यायालय का निर्णय न्या० के० लाहिरी ने दिया।

न्या० लाहिरी :

क्या अधीनस्थ जिला परिषद (काउंसिल) न्यायालय या अपर जिला परिषद् (काउंसिल) न्यायालय जो लुसाई हिल्स आटोनामस डिस्ट्रिक्ट (एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस) रूल्स 1953, संक्षेप में 'नियम' के अधीन गठित न्यायालय उक्त नियमों के नियम 23(1)(बी) में अंतर्विष्ट प्रतिबंधों को ध्यान में रखते हुए मिजोरम संघ राज्य-क्षेत्र के विरुद्ध किसी वाद या कार्यवाही का विचारण कर सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रश्न ये हैं कि क्या अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय विधितः ऐसे वाद का विचारण करने के लिए सक्षम था जिसमें सरकार का वादगत संपत्ति में सारभूत हित हो और क्या न्यायालय ऐसी कोई डिक्री या आदेश पारित कर सके जो वास्तव में मिजोरम संघ राज्य-क्षेत्र के विरुद्ध पारित डिक्री और आदेश था और जिसमें उसे पार्टी प्रतिवादी के तौर पर नहीं जोड़ा गया था जबकि यह स्वीकार किया गया है कि सरकार का उस अधिकार का सद्भावी दावा करने का हक था। सरकार का उक्त वादगत संपत्ति में हक और हित था जिसके कारण उसे इस कार्यवाही का प्रतिवाद करना चाहिए था हमें इस बात पर भी विचार करना है कि क्या न्यायालय को अपने आदेश को प्रभावी करने के लिए आदेश पारित करने के पश्चात् मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र को कोई आदेश करने या निदेश देने की अधिकारिता है और क्या 1977 के प्रकीर्ण मामला सं० 6 में पारित निर्णय और डिक्री के अनुसार मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र पर कार्य करना आबद्धकर है या उक्त निर्णय और डिक्री का पालन करने के लिए वह बाध्य है।

2. सी० ललथनपारा प्रत्यर्थी सं० 1 ने कानपुई ग्राम काउंसेल और सचिव, उद्योग विभाग, मिजोरम सरकार के विरुद्ध वादी के तौर पर कार्यवाही फाइल की है और यह दावा किया है कि वह वादगत भूमि का स्वामी था और वह ग्राम परिषद् की अधिकारिता के अन्तर्गत आता है। वादी ने वादगत भूमि के स्वामित्व का दावा किया और यह प्राख्यान किया कि उसकी अनुपस्थिति में और उसकी पीठ-पीछे ग्राम परिषद् ने अवैध रूप से हाउस साइट परमिट मिजोरम सरकार को एक बुनाई सेवा केन्द्र का निर्माण करने के लिए आबंटित कर दिया था।

उसने यह प्रकथन किया कि अनुज्ञापत्र प्राप्त करते के पश्चात् सरकार ने उस पर एक भवन बनवाया। पिटीशनर मिजोरम से दूर था और जब वह वापस आया तब उसे यह ज्ञात हुआ कि सरकार के अधिकारियों ने उसकी भूमि पर भवन का निर्माण कर दिया है और उस भवन पर उनका कब्जा है। इसके पश्चात् उसने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन मिजोरम संघ राज्य-क्षेत्र और उद्योग विभाग मिजोरम सरकार के सचिव तथा साथ ही अध्यक्ष ग्राम काउन्सिल कानपुई को एक सूचना तामील करवाई तथापि वादी ने मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र को पक्षकार प्रत्यर्थी नहीं बनाया। किन्तु उसके सचिव को सहप्रतिवादियों में से एक सहप्रतिवादी के तौर पर सम्मिलित किया। जो लोप किया गया है वह स्पष्ट रूप से ही महत्वपूर्ण है। क्या ऐसा करने का प्रयत्न नियमों के नियम 23(1) (बी) में अन्तर्विष्ट वर्जन से छुटकारा पाने के लिए वादी द्वारा किया गया था। वाद अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय एजल संस्थित में किया गया था। वाद के पक्षकारों ने वह आपत्ति की कि अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय को राज्य और/या सरकार की संपत्ति के संबंध में कोई कार्यवाही करने की अधिकारिता नहीं थी, तथापि विद्वान पीठासीन अधिकारी ने आक्षेप पर विचार करने से इनकार कर दिया और 1977 के प्रकीर्ण मामला सं० 6 में तारीख 23-9-1977 को डिक्री और निर्णय परिदत्त कर दिया। विद्वान् अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय ने परवाने जारी किए जिसके द्वारा सचिव, उद्योग विभाग, मिजोरम सरकार और उद्योग विभाग मिजोरम सरकार के अवर सचिव को इस बात के लिए बाध्य किया जाये कि वे न्यायालय के निर्णय और आदेश के निबन्धनों का अनुपालन करते हुए भवन को नष्ट कर दें अन्यथा भवन नष्ट कर दिया जाएगा और सामग्री भवन नष्ट करने के खर्चों को पूरा करने के लिए बेच दी जाएगी। मिजोरम सरकार के सचिव ने एक अपील की किन्तु परिसीमा द्वारा वर्जित होने के कारण वह खारिज कर दी गई।

3. मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र और अन्य की ओर से संविधान के अनुच्छेद 226 सपठित अनुच्छेद 227 के अधीन यह आवेदन उपयुक्त रिट जारी किए जाने के लिए किया गया है जिसमें यह प्रार्थना की गई है कि विद्वान् अधीनस्थ जिला परिषद् न्यायालय को मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध/और/या मिजोरम सरकार की किसी संपत्ति के सम्बन्ध में किसी मामले पर विचार करने की अधिकारिता नहीं थी। सुनवाई के समय मिजोरम की ओर से स्थायी काउंसेल श्री बैज बरुआ ने यह निवेदन किया कि उक्त आवेदन पर गोहाटी हाई कोर्ट (जूरिस्डिक्शन ओवर डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल कोर्ट् स) आर्डर, 1954 के खण्ड 3 और 6 के अधीन कार्यवाही की जाए। खण्ड 3 के अधीन यह न्यायालय जिला परिषद्

(काउन्सिल) न्यायालयों के विनिश्चय या अन्तिम आदेश के विरुद्ध किसी सिविल वाद में आवेदन को ग्रहण कर सकता है। सिविल वाद में जहां वाद एक हजार रुपये से अधिक मूल्य का हो, वहां ऐसा आवेदन ग्रहण किया जा सकता है। खण्ड 6 के अधीन यह न्यायालय आवेदन किए जाने पर या अन्यथा किसी सिविल या आपराधिक मामले में, जो स्वायत्त जिला में किसी न्यायालय में विनिश्चित किया गया हो या लंबित हो, कार्यवाहियों की मांग कर सकता है। ऐसा स्वायत्त जिला संविधान की छठी अनुसूची के पैराग्राफ 4 के उपपैराग्राफ (1) और (2) के उपबन्धों के अधीन गठित किया जाता है। संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों पर जिला काउन्सिल न्यायालयों द्वारा कार्यवाही की जा सकती है।

4. श्री बैज बरूआ मिजोरम राज्य के विद्वान् स्थायी काउन्सेल ने दो मुद्दे पेश किए। प्रथम यह कि विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि वाद अवैध है क्योंकि आवश्यक पक्षकारों को पक्षकार नहीं बनाया गया है अर्थात् मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र और या मिजोरम का प्रशासक जहां वाद की विषय-वस्तु के बारे में मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र का वाद-सम्पत्ति में सारभूत अधिकार और हित था। द्वितीयतः विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय को नियमों के नियम 23(1)(बी) द्वारा अधिरोपित वर्जन को ध्यान में रखते हुए मिजोरम सरकार की सम्पत्ति के बारे में किसी अनुयोजन का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। तद्नुसार विद्वान् काउन्सेल ने निवेदन किया है कि कार्यवाहियों को अभिखंडित किया जाना चाहिए या अपास्त किया जाना चाहिए और विधि-विरुद्ध और शून्य घोषित किया जाए।

5. बिना किसी संकोच के हम यह मत व्यक्त करते हैं कि निर्णय और आदेश अवैध हैं और निष्पादनीय नहीं है क्योंकि आक्षेपित निर्णय और डिक्री निश्चित रूप से ही मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध पारित किए गए हैं और उसे वाद में पक्षकार नहीं बनाया गया है। यह स्वीकार किया गया है कि वाद सम्पत्ति के सम्बन्ध में मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र का वाद का प्रतिविरोध करने का सारभूत अधिकार था क्योंकि उसने उस भवन को निर्मित किया था जिसके गिराए जाने का आदेश किया गया है। संघ राज्य क्षेत्र को सह-प्रतिवादी न बनाए जाने से आक्षेपित निर्णय और डिक्री को अवैध घोषित किया ही जाना चाहिए। तथापि इस उत्तर का महत्त्व बहुत कम है, यदि हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय को मिजोरम सरकार की सम्पत्ति के विरुद्ध किसी अनुयोजन का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। अतः अब हमें सारभूत प्रश्न का निपटारा करने की कार्यवाही करनी चाहिए।

6. पिटीशनरों की दलील को समझने के लिए हमें यह बात स्मरण करनी है कि मिजोरम भूतपूर्व असम राज्य में एक जिला था जहां न्याय प्रशासन को नियमों का एक संवर्ग लागू होता था जो रूल्स फार दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस, 1937 संक्षेप में "उक्त नियम" कहे जाते हैं। उसके कुछ उपबन्ध समय-समय पर किए गए कतिपय उपान्तरणों के अधीन अब भी मिजोरम में प्रवृत्त हैं। उक्त नियम के उपबंधों के अधीन ऐसे स्वरूप के वाद और मामले अनन्य रूप से उपायुक्त या अपर उपायुक्त द्वारा ही विचारणीय थे। उक्त नियमों के अधीन गठित अन्य प्राधिकरण वर्तमान स्वरूप के वादों को अधिनिर्णीत करने के लिए अक्षम थे। लुसाई हिल्स आटोनामस डिस्ट्रिक्ट (एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस) रूल्स, 1953 के अधीन न्यायालय गठित किए गए हैं जो ऐसे मामलों के सम्बन्ध में सिविल वादों का विचारण कर सकते हैं जो उन्हें विनिर्दिष्ट रूप से सौंपे गए हैं। 'नियम' संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 4 के उप-पैरा 4 के अधीन बनाए गए हैं। उक्त अनुसूची के द्वारा जिला काउन्सिल न्यायालयों सहित अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालयों को भी कुछ विनिर्दिष्ट वादों का विचारण करने के लिए शक्ति और अधिकारिता प्रदत्त की गई है। यह स्वीकार किया गया है कि वर्तमान प्रकृति के वाद ग्राम काउन्सिल न्यायालयों द्वारा विरचित नहीं किए जा सकते क्योंकि वे केवल ऐसे मामलों का विचार कर सकते हैं जो ग्राम के व्याप्ति क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं या जो जनजातियों की विधियों और रूढ़ियों के अंतर्गत आते हैं। अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय या अपर जिला काउन्सिल न्यायालय या न्यायालयों को सभी वादों या मामलों में आरम्भिक अधिकारिता होती है। नियम 23 में बहुत से प्रतिबन्ध और निर्बन्धन अंतर्विष्ट हैं। तथापि हमारा सम्बन्ध केवल नियम 23 (1) (बी) में वर्णित निर्बन्धनों तक ही है। उक्त नियम को हम नीचे उद्धृत करते हैं :—

> "23. (1) कोई अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय या अपर अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय वादों और मामलों का विचारण नहीं करेगा।
>
> (क) × × ×
>
> (ख) जिसमें पक्षकारों में से एक पक्षकार ऐसा व्यक्ति है जो अनुसूचित जनजाति का नहीं हैं।

(जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)

7. यह देखा जा सकता है कि जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे वादों का विचारण करने के लिए अक्षम है जिनमें एक पक्षकार ऐसा व्यक्ति है जो अनुसूचित

जनजाति का नहीं है। नियमों के अधीन गठित न्यायालय ऐसे वादों का विचारण करने के लिए सशक्त किए गए हैं जिनमें वाद के सभी पक्षकार अनुसूचित जनजाति के हैं। नियमों की स्कीम और उद्देश्य इन उपबन्धों के अनुरूप हैं जो छठवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट हैं। उद्देश्य यह है कि स्थानीय न्यायिक अधिकारियों को मिजोरम की जनजातियों के मामलों का विचारण मिजोरम में न्याय की क्रियात्मक सफलता प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। नियमों का प्रभाव यह है कि जिला काउन्सिल न्यायालय वादों का विचारण कर सकते हैं जब सभी पक्षकार अनुसूचित जनजाति के हों। तथापि न्यायालय ऐसे अनुयोजन या मामले का विचारण करने के लिए अक्षम हैं जिसमें वादकारियों में से एक अनुसूचित जनजाति का न हो। ऐसे मामले, जिनमें एक पक्षकार अनुसूचित जनजाति का न हो, रूल्स फार दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस, 1937 के अधीन विचारित किए जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता है।

8. अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र व्यक्ति है जो अनुसूचित जनजाति का है। यदि सभी वादकारी अनुसूचित जनजाति के होते हैं तो निस्संदेह जिला काउन्सिल न्यायालय अनुयोजन का विचारण कर सकते हैं और कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता। तथापि यदि वादकारियों में से एक ऐसा व्यक्ति है जो अनुसूचित जनजाति का नहीं है तो जिला काउन्सिल न्यायालय वाद ग्रहण नहीं कर सकते। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि "व्यक्ति" शब्द के साथ कुछ विशेषताएं जुड़ी हुई हैं अर्थात् "अनुसूचित जनजाति का" शब्द। अतः "उस व्यक्ति" शब्द में अपेक्षित गुण या लक्षण होना चाहिए। "उस व्यक्ति" में ऐसी सामर्थ्य या शक्ति होनी चाहिए कि वह अनुसूचित जनजाति के विशेष लक्षणों को विरासत में प्राप्त कर सके या उन्हें अर्जित कर सके। उक्त नियम सीधे-सीधे मिजो निवासियों के लिए बनाए गए हैं और उनका अर्थान्वयन सीधे ढंग से किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति मुख्यतः मानव होता है और उसके व्यक्तित्व में ऐसे लक्षणों का होना माना ही जाएगा जो मानव में होते हैं अर्थात् सोचने, बोलने और रुचि के अनुसार पसंद करने की शक्ति। केवल "प्रकृत व्यक्ति" ही किसी-विशिष्ट जनजाति द्वारा आदिवासी के तौर पर माना और स्वीकार किया जा सकता है। कोई भी जनजाति या दल "मानव से अन्य" किसी जीवधारी को जनजाति या कुल, वंश का होने के तौर पर अनुज्ञात नहीं कर सकते। साधारण तौर से कहा जाए तो केवल "मानव ही अनुसूचित जनजाति का सदस्य हो सकता है।" यह स्वीकार करना कठिन है कि कोई "गैर मानव" अनुसूचित जनजाति का हो सकता है। केवल मानव ही या तो ऐसे गुण विरासत में प्राप्त

कर सकता है या उन्हें अर्जित कर सकता है जो जनजाति के विशेष लक्षण हैं। मानव प्रकृत व्यक्ति होता है और केवल प्रकृत व्यक्ति ही जनजाति के लक्षणों को विरासत में प्राप्त कर सकते हैं या अर्जित कर सकते हैं। इन परिस्थितियों के अधीन हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि विधिक या न्यायिक व्यक्ति ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता जो "अनुसूचित जनजाति का हो" और तदनुसार अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे किसी वाद या अनुयोजन को स्वीकार नहीं कर सकते जो मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र जैसे किसी न्यायिक या विधिक व्यक्ति के विरुद्ध फाइल किया गया हो। इस प्रकार आक्षेपित निर्णय और आदेश ऐसे न्यायालय द्वारा पारित किए गए थे जो ऐसा वाद ग्रहण नहीं कर सकता था या उसका विचारण नहीं कर सकता था जिस वाद में किसी न्यायिक व्यक्ति के अधिकार, हक और कब्जे के प्रश्न अंतर्वलित हों अर्थात् मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र।

9. तथापि राज्य या संघ राज्य क्षेत्र "व्यक्ति" हो सकता है "प्रकृत व्यक्ति" के अलावा विधिक या न्यायिक व्यक्ति भी हो सकते हैं। विधिक या न्यायिक व्यक्ति जीवधारी (सत्ता) हैं। वे वास्तविक या काल्पनिक हो सकते हैं जिन्हें विधिक तर्क के प्रयोजन के लिए मानव की कोटि का माना जाता है। नियमों की स्कीम से यह ज्ञात होता है कि जिला काउन्सिल न्यायालय प्रकृत व्यक्ति के मामलों का विचारण करने के लिए सशक्त किए गए हैं जो व्यक्ति अनुसूचित जनजाति के हैं और उन्हें राज्य और/या सरकार जैसे किसी न्यायिक या विधिक व्यक्ति के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया है।

10. हमारे संविधान के अधीन राज्य न्यायिक व्यक्तित्व के तौर पर वाद चला सकता है या उसके विरुद्ध वाद चलाया जा सकता है। देखिए **पंजाब राज्य** बनाम **ओ० जी० सी० सिंडीकेट**[1], **पी० सी० विश्वास** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 229 और विधि के अन्य उपबन्धों के अधीन यथाविहित परिसीमाओं के अधीन राज्य का संविदात्मक दायित्व वैसा ही है जैसा कि संविदा की मामूली अवधि के अधीन किसी व्यक्ति का होता है। **पश्चिम बंगाल राज्य बनाम कलकत्ता कारपोरेशन**[3] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि भारत गणराज्य में राज्य भी कानून से आबद्ध है जब तक कि वह अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित न कर दिया गया हो। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि "व्यक्ति" शब्द अपने आप में ही अधिनियम के व्याप्ति-क्षेत्र से राज्य को अपवर्जित

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 669.
[2] ए० आई० आर० 1956 असम 85.
[3] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 997.

करने के लिए निश्चायक नहीं है। "व्यक्ति" शब्द के अंतर्गत राज्य आता है जो दायित्व को उपगत करने के लिए अभियोजित किया जा सकता है। ऐसा ही मत उच्चतम न्यायालय ने **भारत संघ** बनाम **जुब्बी**[1] और **बिहार राज्य** बनाम **सोनावती**[2] में अपनाया था। इस प्रकार "व्यक्ति" शब्द की परिभाषा के अंतर्गत राज्य आता है। वह वाद चला सकता है और उसके विरुद्ध वाद चलाया जा सकता है। किन्तु क्या नियमों के नियम 23(1)(बी) में ऐसे विधिक या न्यायिक व्यक्ति को सम्मिलित करना सम्भव है जो अनुसूचित जनजाति का व्यक्ति हो। राज्य अनुसूचित जनजाति के गुण या लक्षणों को अर्जित नहीं कर सकता। कम से कम भारत गणराज्य में कोई राज्य या संघ राज्य-क्षेत्र यह दावा नहीं कर सकता कि वह "अनुसूचित जनजाति" का है। कोई भी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र जनजाति या गैर जनजाति के होने का दावा नहीं कर सकता। इसी प्रकार मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र और या उसका प्रशासक ऐसे व्यक्ति के तौर पर दावा नहीं कर सकता जो अनुसूचित जनजाति का हो। संविधान और विधि में ऐसी कोई बात नहीं है कि केवल जनजाति का व्यक्ति ही मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र में निर्वाचित किया जा सकता है और वह सरकार बना सकता है। सरकार या राज्य अनन्य रूप से अनुसूचित जनजाति के व्यक्तियों से मिलकर नहीं बनता है। जहां किसी राज्य और या सरकार के घटक केवल अनुसूचित जनजातियों से मिलकर बने हैं वहां घटक अनुसूचित जनजातियों के लक्षणों को उस समय त्याग देते हैं जब वे मिश्रित स्वरूप पर विचार करते हैं। कोई भी राज्य या सरकार अपने आप ही यह दावा नहीं कर सकती कि वह अनुसूचित जनजाति की है। ऐसा ही एक मामला इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के समक्ष आया। देखिए **नार्थकछार हिल्स डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल (सचिव कार्यकारिणी समिति)** बनाम **नैथांग अमर और एक अन्य**[3]। विवादास्पद प्रश्न यह थे कि क्या जिला काउन्सिल न्यायालय को ऐसा न्यायालय माना जा सकता है जो अनुसूचित जनजाति का है और जिला काउन्सिल न्यायालयों को ऐसे वाद का विचार करने की अधिकारिता थी जो जिला काउन्सिल के विरुद्ध हो। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि जिला काउन्सिल किसी अनुसूचित जनजाति की नहीं है और जिला काउन्सिल न्यायालय को जिला काउन्सिल द्वारा या उसके विरुद्ध किसी वाद का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। हम उक्त मत से सादर सहमत हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र अनुसूचित जनजाति का व्यक्ति नहीं है। इस प्रकार जिला काउन्सिल न्यायालय को संघ राज्य

---

1 ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 360 (364).
2 ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 221.
3 ए० आई० आर० 1973 असम लॉ रिपोर्ट्स 312.

क्षेत्र के द्वारा या उसके विरुद्ध फाइल किए गए किसी वाद का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी। अब प्रश्न यह है कि इस अनुयोजन का विचारण कौन-सा न्यायालय करेगा। इस प्रश्न का उत्तर **नीरा सिंह मोमिन** बनाम **जैंगनो मारक**[1] वाले मामले में दिया गया है जहां इस न्यायालय की एक पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुयोजन की प्रकृति और उसक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जिला न्यायालयों को मामले का विचारण करने की अधिकारिता नहीं थी और उसने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्य में स्थित अन्य न्यायालय उसका विचारण करने के लिए सक्षम होंगे। मिजोरम में वादों का विचारण और विनिर्दिष्ट प्रकार के मामलों का विचारण करने की शक्ति अन्य न्यायालयों को अपवर्जित करते हुए जिला काउन्सिल न्यायालयों को प्रदत्त की गई है। तथापि जब जिला काउन्सिल न्यायालय किसी मामले का विचारण नहीं कर सकते या वे उसका विचारण करने के लिए प्राधिकृत नहीं किए जाते तो किसी निश्चयात्मक समादेश के अभाव में मामूली न्यायालय अनुयोजन का विचारण करने के लिए सक्षम होगा। अनुसूचित जनजाति के न होने वाले व्यक्ति के विरुद्ध वादों का विचारण जिला काउन्सिलकी अधिकारिता से अपवर्जित किया गया है। अतः ऐसे अनुयोजनों का विचारण मामूली न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है जो अनुयोजनों का विचारण करने के लिए गाठित किए गए हैं। इस प्रकार हमने यह अभिनिर्धारित किया कि जब जिला काउन्सिल न्यायालय प्रस्तुत अनुयोजन का विचारण करने के लिए सक्षम नहीं है तो मामले का विचारण अनन्य रूप से ऐसे न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है जो एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस रूल्स, 1937 के नियमों के अधीन गठित हैं।

11. ऊपर वर्णित बहस के परिणामस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राज्य प्रकृत व्यक्ति नहीं है और यह कि नियमों के नियम 23(1)(बी) के अंतर्गत अनुसूचित जनजाति का प्रकृत व्यक्ति ही सम्मिलित है। यह कि राज्य विधिक या न्यायिक व्यक्ति है जो वाद चला सकता है या जिस पर वाद चलाया जा सकता है किन्तु उन्हें "अनुसूचित जनजाति" के व्यक्ति के तौर पर नहीं कहा जा सकता और यह कि जिला काउन्सिल न्यायालय प्रकृत व्यक्तियों के बीच जो सब अनुसूचित जनजातियों के हों, मामले का विचारण कर सकते हैं तथा जिला काउन्सिल न्यायालय ऐसे मामलों का विचारण नहीं कर सकते जिनमें से एक पक्षकार अनुसूचित जनजाति का न हो।

12. परिणामस्वरूप हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अपर जिला

[1] 1972 क्रिमिनल लॉ जर्नल 68.

काउन्सिल बोर्ड को मिजोरम संघ राज्य क्षेत्र के विरुद्ध अनुयोजन का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं थी। आक्षेपित निर्णय, आदेश और बाद वाले आदेश अवैध हैं और इसलिए वे अपास्त किए जाते हैं। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वाद का विचारण अनन्य रूप से उपायुक्त द्वारा और/या अपर उपायुक्त एजल द्वारा एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस रूल्स, 1937 के नियमों के अधीन किया जाए। आक्षेपित निर्णय, आदेश, डिक्री और प्रकीर्ण मामले से उद्‌भूत होने वाले बाद के आदेशों को अपास्त करने के पश्चात् हम अधीनस्थ जिला काउन्सिल न्यायालय एजल को यह निदेश देते हैं कि वह वादपत्र वादी को वापस लौटा दे जिससे कि वह समुचित न्यायालय में पेश किया जा सके। पिटीशन स्वीकार किया जाता है, तथापि खर्चे के बारे में हम कोई आदेश नहीं करते हैं।

पिटीशन मंजूर किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : गोहाटी—36

नन्द लाल कैडिया बनाम जसवंत सिंह और एक अन्य

(Nandalal Kedia *Vs.* Jaswant Singh and another.)

तारीख 3 जून, 1983

[न्या० के० लाहिरी और न्या० टी० सी० दास]

असम मोटर एक्सीडेंट क्लेम्स ट्राइब्यूनल रूल्स, 1960 नियम 5 और 6—अनुयोजन खारिज करने की अधिकरण की शक्ति—डाक सेवा के माध्यम से सूचना तामील न की जा सकने पर अधिकरण का यह कर्त्तव्य है कि वह आदेशिक तामीलकर्ता द्वारा सूचना तामील करवाता—ऐसी स्थिति में अधिकरण को अनुयोजन संक्षिप्ततः खारिज करने की अधिकारिता नहीं है। खारिजी का आक्षेपित आदेश अविधिमान्य है।

अपीलार्थी दावेदार ने विद्वान् अधिकरण के समक्ष अपना दावा पिटीशन फाइल किया। विरोधी पक्षकार को सूचनाएं तामील करने के लिए आवश्यक कदम उठाए गए तथा ट्रक के स्वामी/चालक तथा साथ ही बीमाकर्ता मैसर्स नैशनल इन्श्योरेंस कम्पनी लिमिटेड नवगांव असम को सूचनाएं तामील करवाई

गईं । उसने विरोधी पक्षकारों को समन करने के लिए डाक प्रभार संदत्त किए । आदेशिकाएं विरोधी पक्षकारों को रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भेजी गईं किन्तु प्रेषिती डाकघर के चपरासी को ज्ञात नहीं था । अतः सूचनाएं समय पर तामील नहीं की जा सकीं । विद्वान् अधिकरण ने पिटीशनर को यह निदेश दिया कि वह विरोधी पक्षकार सं० 1 पर दस दिन के भीतर सूचना तामील करने के लिए आवश्यक कदम उठाए और तारीख 6-7-1981 सुनवाई के लिए नियत की । 6 जुलाई, 1981 को दावेदार गैरहाजिर था और उसके द्वारा विरोधी पक्षकार सं० 1 को समन करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया था । अतः विद्वान् अधिकरण ने दावे के मामले को खारिज कर दिया । विरोधी पक्षकार सं० 2 हाजिर हुआ था और उसने यह प्राख्यान किया कि वह केवल उसी सीमा तक प्रतिकर का संदाय करने के लिए दायी है जो सीमा मोटरयान अधिनियम, 1940 की धारा 96 के अधीन आती है । उसने दावे का विभिन्न आधारों पर प्रतिविरोध किया । दावा संबंधित मामला खारिज कर दिया गया । इस अधिनिर्णय के विरुद्ध दावेदार ने प्रस्तुत अपील की है । इस मामले में मुख्य प्रश्न यह है कि मोटर दुर्घटना प्रतिकर के जो मामले अधिकरण के समक्ष आते हैं उन्हें संक्षिप्त प्रतिकर अपनाकर कार्यवाहियों को शुरू में ही समाप्त कर दिया जाता है और मामलों को खारिज कर दिया जाता है और मोटर दुर्घटनाओं के शिकार व्यक्तियों को सोच-समझकर न्याय दिलाने के लिए सावधानी से कार्यवाही नहीं की जाती है ।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई ।

विवरणी मामूली तौर पर विवरणियों को प्रमाणित करने वाले अधिकारी द्वारा प्रमाणित नहीं की गई थी अर्थात् नाजिर और अन्य आदेशिक तामीलकर्ताओं के द्वारा । विवरणी पर डाकपाल के डाकिये द्वारा केवल एक टिप्पण किया गया था जो अधिकरण को संसूचित किया गया था । यह स्वीकार किया गया है कि समन न्यायालय के तामीलकर्ता अधिकारियों द्वारा तामील नहीं किए गए थे और तामील किए जाने की रीति और समय के बारे में उस पर कोई पृष्ठांकन नहीं है और न ही वह इस रीति में तामील किया गया था जो सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन अपेक्षित था । आदेश 9, नियम 5 लागू नहीं होता है । असम मोटर एक्सीडैंट क्लेम ट्रायब्यूनल रूल्स के नियम 6 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए अधिकरण का यह कर्त्तव्य था कि वह संहिता के अधीन आदेशिका तामीलकर्ता द्वारा सूचना की तामील करवाता । विशेष रूप से उस समय जब विरोधी पक्षकार सं० 1 पर डाक सेवा के माध्यम से तामील नहीं की जा सकी थी । परिणामस्वरूप, न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि विद्वान्

अधिकरण को अनुयोजन संक्षिप्ततः खारिज करने की अधिकारिता नहीं थी और आक्षेपित आदेश अविधिमान्य है और अपास्त किए जाने के लिए दायी है। (पैरा 5 और 6)

किसी व्यक्ति के वाद को खारिज करने की शक्ति कानून द्वारा स्पष्ट रूप से और विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त की जानी चाहिए। जब तक कि कोई मामला स्पष्ट रूप से शक्ति के व्याप्ति क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है, तब तक अधिकरण अनुयोजन को खारिज करने के लिए सक्षम नहीं है। खारिज करने की शक्ति प्रबल, दाण्डिक और घातक अस्त्र है, जिसका प्रयोग उस समय ही किया जाना चाहिए जब अधिकरण को ऐसी शक्ति अभिव्यक्त रूप से और असंदिग्ध रूप से प्रदत्त की गई हो। (पैरा 7)

		पैरा
[1978]	ए० आई० आर० 1978 गोहाटी 9 : हाजी अली निवास **बनाम** राधेश्याम कोटोवाल (Hazi Ali Newas *Vs.* Radheshyam Khatowal);	7
[1972]	ए० आई० आर० 1972 गोहाटी 35 : शमसुल हुदा **बनाम** मैसर्स लन्दन एण्ड लंकाशायर इन्श्योरेंस कम्पनी लिमिटेड (Shamsul Huda *Vs.* M/s. London and Lancashire Insurance Co. Ltd.);	7
[1971]	1971 (2) एल० एण्ड आई० केसिज 1005 : एसोसिएटिड इन्डस्ट्रीज असम **बनाम** जदू मनी भांजो [Associated Industries (Assam) *Vs.* Jadumoni Bhanjo];	7
[1965]	ए० आई० आर० 1965 असम एण्ड नागालैंड 80 : वर्कमैन आफ सोतई टी एस्टेट वाला मामला (In Workmen of Sotai Tea Estate)	7

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1981 की प्रकीर्ण अपील सं० (एफ) 53.

1981 के मोटर दुर्घटना दावा मामला सं० 8-क में गोहाटी के मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के सदस्य द्वारा तारीख 6-7-81 को पारित आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री एस० एस० शर्मा और डी० के० भतरा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री ए० के० चौधरी

न्यायालय का निर्णय न्या० के० लाहिरी ने दिया ।

न्या० लाहिरी :

न्याय की प्रक्रिया को अक्सर अधिकरण बीच में ही काट देते हैं जिससे पक्षकारों को बहुत अधिक परेशानी होती है । इस साधारण प्रक्रिया के द्वारा मोटर दुर्घटना प्रतिकर के जो मामले अधिकरण के समक्ष आते हैं, उन्हें संक्षिप्त तरीके अपनाकर कार्यवाहियां को शुरू में ही समाप्त कर दिया जाता है और मामलों को खारिज कर दिया जाता है, जिनमें और मोटर दुर्घटनाओं के शिकार व्यक्तियों को सोच-समझकर न्याय दिलाने के लिए सावधानी से कार्यवाही नहीं की जाती है ।

2. अपीलार्थी दावेदार ने विद्वान् अधिकरण के समक्ष अपना दावा पिटीशन फाइल किया । विरोधी पक्षकार को सूचनाएं तामील करने के लिए आवश्यक कदम उठाए गये तथा ट्रक के स्वामी/चालक तथा साथ ही बीमाकर्त्ता मैसर्स नैशनल इन्श्योरेंस कम्पनी लिमिटेड नवगांव असम को सूचनाएं तामील करवाई गईं । उसने विरोधी पक्षकारों को समन करने के लिए डाक प्रभार संदत्त किए । आदेशिकाएं विरोधी पक्षकारों को रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भेजी गई थीं । 4-4-1981 को विरोधी पक्षकार सं० 2 बीमा कम्पनी का न्यायालय में प्रतिनिधित्व हुआ और उसने उल्लिखित कथन फाइल करने के लिए और समय दिए जाने की प्रार्थना की । तथापि विरोधी पक्षकार सं० 1 पर तामील के सम्बन्ध में रिपोर्ट यह थी कि प्रेषिती डाकघर के चपरासी को ज्ञात नहीं था । विद्वान् अधिकरण ने मामला 3-6-1981 के लिए रखा और निम्नलिखित आदेश पारित किया :—

> "3-6-1981 तारीख नियत की जाती है। विरोधी पक्षकार सं० 1 को बुलाया जाए और उस तारीख को बीमा कम्पनी और विरोधी पक्षकार सं० 1 लिखित कथन फाइल करेंगे ।

(जोर देने के लिए रेखांकन किया गया है)

इससे यह ज्ञात होता है कि विद्वान् अधिकरण ने सूचना तामील कराने की बाध्यता अपने ऊपर ही ले ली जो असम मोटर एक्सीडेंट क्लेम्स ट्रायब्युनल रूल्स "संक्षेप में नियम", 1960 के नियम 6 के उपबन्धों के अनुरूप है । 3-6-1981

को विरोधी पक्षकार सं० 2 ने लिखित कथन फाइल किया। विद्वान् अधिकरण ने पिटीशनर को यह निदेश दिया कि वह विरोधी पक्षकार सं० 1 पर दस दिन के भीतर सूचना तामील करने के लिए आवश्यक कदम उठाए और 6-7-1981 तारीख नियत की। दूसरा सम्बन्धित मामला इस मामले के साथ जोड़ दिया गया जिसकी सुनवाई भी उसी तारीख को होनी चाहिए थी। 6 जुलाई, 1981 को जो तारीख विरोधी पक्षकार सं० 1 के लिए, हाजिरी हेतु नियत की गई थी, न कि सुनवाई के लिए, दावेदार गैर हाजिर था और उसके द्वारा विरोधी पत्रकार सं० 1 को समन करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया था। अतः विद्वान् अधिकरण ने दावे के मामले को खारिज कर दिया, एक बात निश्चित है कि प्रस्तुत मामले में विरोधी पक्षकार सं० 2 हाजिर हुआ था और उसने यह प्राख्यान किया कि वह केवल उसी सीमा तक प्रतिकर का संदाय करने के लिए दायी है जो सीमा मोटरयान अधिनियम, 1940 की धारा 96 के अधीन आती है। उसने दावे का विभिन्न आधारों पर प्रतिविरोध किया दावेसे सम्बन्धित मामला खारिज कर दिया गया। "अतः अधिनिर्णय नहीं" दिए जाने का यह मामला बन गया। अर्थात् प्रतिकर मंजूर न किए जाने की बाबत अधिनिर्णय दिया गया। इस अधिनिर्णय के विरुद्ध दावेदार ने यह अपील की है।

3. असम मोटर एक्सीडैंट क्लेम्स ट्रायब्युनल रूल्स के उपबन्धों द्वारा नियम 5 के अधीन आवेदन को संक्षिप्त रूप से खारिज करने के लिए सशक्त किया गया है यदि कार्यवाही आगे चालू रखने के लिए पर्याप्त आधार न हों। प्रस्तुत मामले में खारिजी इस प्रकार की नहीं है। जहां तक सूचना की तामील किए जाने का सम्बन्ध है इस संम्बन्ध में नियम 6 प्रमुख नियम है जो इस प्रकार है :—

*"6. अन्तर्वलित पक्षकारों को सूचना—यदि आवेदन नियम 5 के अधीन खारिज नहीं कर दिया जाता है। तो दावा अधिकरण दुर्घटनाग्रस्त मोटरयान के स्वामी को और उसके बीमाकर्ता को सूचना के साथ आवेदन की एक प्रति भेजेगा, सूचना में वह तारीख वर्णित होगी जिस तारीख को वह आवेदन की सुनवाई करेगा और वह पक्षकारों से यह

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"6. Notice to parties involved—If the application is not dismissed under Rule 5, the Claims Tribunal shall send to the owner of the motor vehicle involved in the accident and its insurer/a copy of the application together with a notice of the date on which it will hear

नि० प० 1984 : जम्मू-कश्मीर—1

भारतीय जीवन बीमा निगम बनाम श्रीमती इकबाल कौर और अन्य
(Life Insurance Corporation of India *Vs.* Smt. Iqbal Kaur and others)

तारीख 24 जून, 1983

[मु० न्या० मुफ्ती बहाउद्दीन फारूकी और न्या० आई० के० कोतवाल]

1. जम्मू-कश्मीर सिविल प्रोसीजर कोड, सम्वत् 1977—धारा 20 और 21 सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 20 और 21—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वाद लाने का स्थान—बीमा धन के लिए वाद उस न्यायालय में लाया जाएगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु होती है।

2. जम्मू-कश्मीर स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, सम्वत् 1977—धारा 42 सपठित जम्मू-कश्मीर कोर्ट फीस ऐक्ट, सम्वत् 1977, धारा 7 (iv) (सी) तथा विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 धारा 34 और न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, धारा 7 (iv) (ग)—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वादी को जीवन बीमा निगम के विरुद्ध इस घोषणा के लिए नहीं कि वह बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर बीमा धन पाने का हकदार है वरन् बीमा धन की वसूली के लिए वाद फाइल करना चाहिए—जहां घोषणात्मक अनुतोष और आज्ञापक व्यादेश के अनुतोष को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक दूसरे से स्वतंत्र माना गया है वहां आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा धन की वसूली के अनुतोष का स्थानापन्न नहीं माना जाएगा—अतः बीमा धन की वसूली के लिए वाद पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संदाय करना आवश्यक होगा।

3. जम्मू-कश्मीर कोर्ट फीस ऐक्ट, सम्वत् 1977—धारा 7 (iv) (सी) सपठित जम्मू-कश्मीर स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, सम्वत् 1977, धारा 42 तथा विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 धारा 34 और न्यायालय फीस अधिनियम, 1870, धारा 7 (iv) (ग)—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—वादी को जीवन बीमा निगम के विरुद्ध इस घोषणा के लिए नहीं कि वह बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर बीमा धन पाने का हकदार है वरन् बीमा धन की वसूली के लिए वाद फाइल करना चाहिए—जहां

घोषणात्मक अनुतोष और आज्ञापक व्यादेश के अनुतोष को परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक-दूसरे से स्वतन्त्र माना गया है वहां आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा धन की वसूली के अनुतोष का स्थानापन्न नहीं माना जाएगा—अतः बीमा धन की वसूली के लिए वाद पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस का संदाय करना आवश्यक होगा।

4. जम्मू-कश्मीर लिमिटेशन ऐक्ट, सम्वत् 1995—धारा 10, 9 तथा अनुच्छेद 57 और 145 सपठित जम्मू-कश्मीर ट्रस्ट्स ऐक्ट, सम्वत् 1977, धारा 6—जीवन बीमा निगम के विरुद्ध बीमा धन की वसूली हेतु वाद—बीमाकृत व्यक्तियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति द्वारा बीमा धन की वसूली के लिए वाद उस बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु के तीन वर्ष के अन्दर फाइल किया जाना चाहिए—यदि उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु भी उक्त तीन वर्ष की अवधि के भीतर ही हो जाती है तो भी उसके वारिस उसी तीन वर्ष की अवधि के भीतर वाद फाइल करने के लिए बाध्य हैं—ऐसे मामलों में वादियों की अवयस्कता भी अप्रासंगिक होगी—अतः तीन वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया वाद स्पष्टतः कालवर्जित है।

प्रत्यर्थी के पति ने अपने और अपनी पत्नी के नाम में एक संयुक्त बीमा पालिसी ली थी जिसके निबन्धनों के अनुसार किसी एक बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु की दशा में उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति अपीलार्थी निगम से बीमा पालिसी की रकम लेने का हकदार होगा। पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति ने अपीलार्थी निगम से बीमा की रकम लेने का दावा किया किन्तु उसके दावे को उसके जीवनकाल में न तो मंजूर किया गया और न खारिज किया गया। इसी बीच पति की भी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद प्रत्यर्थी ही एकमात्र वारिस और विधिक प्रतिनिधि है जो अपीलार्थी निगम से दावा करने के हकदार है। प्रत्यर्थी द्वारा किए गए दावे को अपीलार्थी निगम ने स्वीकार तो कर लिया किन्तु कोई भी संदाय नहीं किया। अतः प्रत्यर्थी ने इस घोषणा के लिए वाद फाइल किया कि वह बीमा पालिसी की रकम 10% प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित प्राप्त करने की हकदार है और साथ ही आज्ञापक व्यादेश के पारिणामिक अनुतोष का भी दावा किया। प्रत्यर्थी निगम ने इस वाद का इन आधारों पर विरोध किया कि मृतक को निगम से कोई भी रकम शोध्य नहीं है, जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालयों को वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है, वाद अपने मौजूदा रूप में चलने योग्य नहीं है, वाद सही व्यक्ति के विरुद्ध फाइल नहीं किया गया है और वाद कालवर्जित है। विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी

के वाद को डिक्री कर दिया। अतः विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी निगम ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत अपील फाइल की है।

अपीलार्थी की ओर से संक्षेप में यह दलील दी गई है कि विचारण न्यायालय को वाद ग्रहण करने और वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है, वाद अपने मौजूदा रूप में चलने योग्य नहीं है और वह कालवर्जित है।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

जम्मू-कश्मीर सिविल प्रोसीजर कोड, सम्वत् 1977 की धारा 20 के स्पष्टीकरण II के अनुसार खंड (क) और (ख) के प्रयोजनों के लिए एक निगम के बारे में यह समझा जाएगा कि वह अपना कारबार उस स्थान पर भी करता है जहां पर उसका कोई अधीनस्थ कार्यालय हो और निगम के विरुद्ध कोई वाद ऐसे स्थान पर स्थित न्यायालय में संस्थित किया जा सकेगा, बशर्ते फाइल करने के लिए वाद हेतुक पूर्णतः या भागतः उस न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर उद्भूत हुआ हो। वाद हेतुक से ऐसा प्रत्येक तथ्य अभिप्रेत है जो वादी को उसका विरोध किए जाने पर निर्णय को अपने हक में कराने के अधिकार का समर्थन करने के लिए साबित करना आवश्यक होगा। दूसरे शब्दों में इससे अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत वे सभी तथ्य आते हैं जो वादी के लिए अपने वाद में सफलता प्राप्त करने के लिए साबित करना आवश्यक हैं। बीमा धन के लिए वाद उस न्यायालय में होगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु होती है, क्योंकि उसकी मृत्यु निस्संदेह इस प्रकार के वाद के लिए वाद हेतुक का एक भाग है। (पैरा 7, 8, और 9)

स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट की धारा 42 में यह उपबंधित है कि वादी किसी विधिक हैसियत का या किसी सम्पत्ति के बारे में किसी अधिकार का हकदार होने की, यदि प्रतिवादी उसकी ऐसी हैसियत या ऐसे अधिकार के हक का प्रत्याख्यान (इनकार) करता है तो, घोषणा के लिए निवेदन कर सकता है और इस धारा के परन्तुक में आगे यह अधिकथित किया गया है कि न्यायालय वहां ऐसी घोषणा करने से मना कर देगा जहां कि वादी हक की घोषणा मात्र के अतिरिक्त कोई अनुतोष मांगने के योग्य होते हुए भी वैसा करने में लोप करे। इस धारा का उद्देश्य स्पष्ट रूप से वादी के हक पर, जहां उस पर कोई आक्षेप किया गया है, प्रतिकूल आक्षेपों के विरुद्ध एक स्थायी बचाव व्यवस्था का उपबन्ध करना और विद्यमान वाद हेतुक को दूर करते हुए और आगे

मुकदमेबाजी को रोकना है। उसके अधिकार को खतरा वास्तविक होना चाहिए न कि काल्पनिक। चाही गई घोषणा स्पष्टतः अनावश्यक थी। यह मान कर भी कि प्रत्यर्थी इस प्रकार की घोषणा की मांग कर सकते थे, किन्तु अब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या वे अपना वाद कोर्ट फीस ऐक्ट की धारा 7(iv)(सी) की परिधि में ला सकते थे। खण्ड (सी) के लागू होने से पहले यह दर्शित करना था कि वाद में दावाकृत मुख्य अनुतोष घोषणा है और पारिणामिक अनुतोष प्रत्यक्ष रूप से उससे पैदा होता है जिसका इससे अलग रह कर दावा नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में यह दर्शित करना चाहिए कि पारिणामिक अनुतोष के रूप में दावाकृत अनुतोष के लिए वाद तब तक नहीं लाया जा सकेगा जब तक कि उसमें घोषणा का अनुतोष भी न चाहा गया हो। किसी वाद को खण्ड (सी) की परिधि के अन्तर्गत लाने के लिए किसी अधिकार का सबूत नहीं वरन् उसकी घोषणा की मांग करना अनिवार्य होना चाहिए। जहां घोषणा करना वाद में दावाकृत पारिणामिक अनुतोष मंजूर किए जाने की सिर्फ आनुषंगिक हो वहां वह खण्ड (सी) के अन्दर नहीं आएगा। इसको उदाहरण देकर इस प्रकार स्पष्ट किया का सकता है कि जहां पर वादी वादग्रस्त सम्पत्ति के कब्जे के लिए उसके मालिक के रूप में दावा करता है वहां उसके लिए इस घोषणा की मांग करना कि वह सम्पत्ति का स्वामी है और उसके कब्जे के लिए सिर्फ पारिणामिक अनुतोष के द्वारा दावा करना आवश्यक नहीं होगा। वह मात्र कब्जे के लिए एक वाद फाइल कर सकता है और कब्जे की डिक्री प्राप्त करने के लिए यदि प्रतिवादियों ने उससे इनकार किया है तो अपने स्वामित्व को सिद्ध कर सकेगा। दूसरे तरफ जहां वादी वादग्रस्त सम्पत्ति का कब्जा लेना चाहता है जिस पर प्रतिवादी ने उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किए गए विक्रय-विलेख के आधार पर कब्जा कर लिया है जिसके माध्यम से वादी सम्पत्ति का दावा करता है और जिसे वादी कपट या अनुचित प्रभाव से दूषित होने का अभिकथन करता है, वहां पर वह मात्र कब्जे के लिए वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता और उसे केवल पारिणामिक अनुतोष के रूप में उसके कब्जे का दावा करते हुए इस आशय की घोषणा मांगनी होगी कि उस आधार पर विक्रय-विलेख शून्य है क्योंकि जब तक विक्रय-विलेख उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता रहेगा वह वादग्रस्त सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने का हकदार नहीं होगा और उसे न्यायालय की डिक्री के द्वारा विक्रय-विलेख से छुटकारा प्राप्त करना होगा। इसके अतिरिक्त यह तथ्य कि क्या अधिकार की घोषणा मुख्य अनुतोष है, वादपत्र में किए गए केवल प्रकथनों से नहीं, जो अपेक्षित न्यायालय फीस संदाय से बचने के लिए कलात्मक रूप से लिखे गए हैं बल्कि दावे के सार से स्पष्ट प्रतीत होना चाहिए। (पैरा 14 और 15)

इन तथ्यों के अलावा कि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थियों के मृतक की सम्पदा के लिए उसके वारिसों के रूप में दावा करने के अधिकार का कभी विरोध नहीं किया, जिसका सिर्फ इस वाद में लिखित कथन में विवाद किया गया है, फिर भी प्रत्यर्थियों द्वारा मात्र 20,000 रु० की वसूली के लिए वाद किया जा सकता था और किया जाना चाहिए था। क्योंकि यह घोषणा कि वे मृतक की सम्पदा को उत्तराधिकार में पाने के अधिकारी हैं, उपर्युक्त रकम की वसूली के मुख्य अनुतोष के लिए अनिवार्य न होकर केवल आनुषंगिक होगी। यह बात वहां पर भी सत्य होगी जहां पर घोषणा और आज्ञापक व्यादेश के दोनों अनुतोषों को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक-दूसरे से स्वतंत्र माना जाता है क्योंकि उस मामले में भी आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा रकम की वसूली के अनुतोष के लिए एक उचित स्थानापन्न नहीं होगा, जिसका प्रत्यर्थी दावाकृत धनराशि पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस अदा करके दावा कर सकते थे। वाद में इस आशय का एक विवाद्यक उठाया जा सकता था और प्रार्थित डिक्री प्राप्त करने के लिए प्रत्यर्थियों द्वारा इसके संबंध में साक्ष्य प्रस्तुत करके इस तथ्य को साबित किया जा सकता था। न्यायालय को यह विश्वास हो गया है कि वाद का यह स्वरूप न्यायालय फीस अधिनियम की धारा 7(iv) के अर्थान्तर्गत 20,000 रुपए पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस के संदाय से बचने के लिए प्रत्यर्थियों की तरफ से किया गया एक बेढंगा प्रयास है जिसकी आलोचना की जानी चाहिए। (पैरा 16)

यदि यह मान लिया जाए कि धन जंगम सम्पत्ति में आता है तो भी वादपत्र में किए गए प्रकथनों पर प्रस्तुत वाद को लिमिटेशन ऐक्ट का अनुच्छेद 145 लागू नहीं होता। जिस निक्षेप के बारे में इस धारा में दिया गया है, वह सौंपे जाने की प्रकृति का है, जो जमाकर्ता द्वारा निक्षेपधारी के पास इस विनिर्दिष्ट बोध के साथ जमा किया जाता है कि निक्षिप्त सम्पत्ति निक्षेपधारी द्वारा उसे यथासम्भव नकद वापस कर दी जाएगी और इसका स्वामित्व हमेशा जमाकर्ता का ही बना रहता है। इस अर्थ में यह एक ऐसा न्यास नहीं है जिसके बारे में ट्रस्ट्स ऐक्ट की धारा 6 या लिमिटेशन ऐक्ट की धारा 10 में उपबंध किया गया है जहां पर न्यास संपत्ति का स्वामित्व न्यासी में निहित होता है। इसलिए इस अनुच्छेद के अर्थ में प्रतिवादी से जो भी वसूल किया जाना है वह वादी द्वारा आरम्भ में जमा किया जाना चाहिए था जो इस बोध पर किया जाना था कि वह उसे वापस कर दिया जाएगा। निक्षेप में वह राशि सम्मिलित नहीं हो सकती जिसे वादी ने वास्तव में प्रतिवादी के पास जमा नहीं किया है। बल्कि जो संविदा के निबन्धनों के अधीन प्रतिवादी से उसे शोध्य हुआ है। प्रस्तुत

मामले के तथ्यों पर इन कसौटियों को लागू करने पर यह अभिनिर्धारित करना असम्भव है कि प्रत्यर्थियों द्वारा अपने वाद में जिसका दावा किया गया है वह अपीलार्थी के पास किया गया निक्षेप था। बीमा की संविदा के अधीन 20,000 रुपये की यह रकम मृतक के हक में उसकी पत्नी की मृत्यु पर देय हुई है जो उसके द्वारा अपीलार्थी के पास वास्तव में जमा नहीं की गई थी। अपीलार्थी इस रकम को एक उपनिहिती के रूप में नहीं रखे हुए था और न मृतक ने उसके पास यह रकम किसी ऋण की प्रतिभूति के रूप में या संविदा के सम्यक् पालन के लिए या सुरक्षित अभिरक्षा के लिए जमा की थी। प्रस्तुत वाद किसी भी तर्क द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन नहीं आता। यह विधिपूर्ण रूप से स्थिर है कि धारा 10 को लागू करने से पहले वादी को अभिव्यक्त न्यास का बनाया जाना साबित करना चाहिए और यह साबित करना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए बनाया गया है। यह धारा न तो किसी विवक्षित, परिणामी या आन्वयिक न्यास को लागू होती है और न विधि के प्रवर्तन द्वारा सर्जित न्यास को लागू होती है। (पैरा 19, 20 और 21)

ट्रस्ट्स ऐक्ट की धारा 6 की स्पष्ट भाषा के आधार पर बीमा की पालिसी के निबन्धनानुसार उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति 20,000 रुपये को अपीलार्थी से उस समय वसूल करने का हकदार हो गया था जब उसकी पत्नी की मृत्यु हुई थी। इस वाद को स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 57 लागू होता है जो निस्सन्देह इस प्रकार के वादों के लिए एक विनिर्दिष्ट अनुच्छेद है। यह वाद उस तारीख से, जिस तारीख को उसके द्वारा अपनी पत्नी की मृत्यु का तथ्य, अपीलार्थी की जानकारी में लाया गया था, 3 वर्ष के अन्दर मृतक द्वारा संस्थित किया जाना चाहिए था। इसके बजाय वह 10 वर्ष की लम्बी अवधि तक इंतजार करता रहा और इससे पहले कि वह कोई वाद फाइल कर पाता स्वयं भी एक दुर्घटना में मर गया। इस रकम के लिए दावा करने का उसका स्वयं का उपचार समाप्त हो जाने के कारण उसके वारिसों के लिए ऐसा कुछ भी बाकी नहीं रहा जिसे वे उसकी सम्पदा को विरासत में पाने का दावा कर सकें। यदि उसकी मृत्यु तीन वर्ष की उक्त अवधि के समाप्त होने के पूर्व हो जाती है तो भी उसके वारिस उसी तीन वर्ष की अवधि के अंदर वाद फाइल करने के लिए बाध्य थे, क्योंकि इस प्रकार विचार करने पर यह वाद पूर्णरूप से कालवर्जित है जिसे विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा घोषित करने की बजाए खारिज कर देना चाहिए था। (पैरा 23 और 26)

पैरा

[1975] नि० प० 1975 आन्ध्र प्रदेश 1 = ए० आई० आर० 1973 आन्ध्र प्रदेश 387 : सैन्ट्रल वेअरहाउसिंग कार्पोरेशन बनाम सैन्ट्रल बैंक आफ इंडिया लि० (Central Ware-housing Corporation *Vs.* Central Bank of India Limited); 7

[1966] ए० आई० आर० 1966 मद्रास 247 : मैसर्स ब्रह्मय्या एण्ड कम्पनी बनाम वी० एस० रामास्वामी अय्यर और एक अन्य (M/s. Brahmayya & Company *Vs.* V. S. Ramaswami Aiyar and another); 21

[1955] ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 177 : श्रीकृष्ण चन्द्रजी बनाम श्याम बिहारी लाल (Sri Krishna Chandraji *Vs.* Shyam Behari Lal); 15

[1943] ए० आई० आर० 1943 कलकत्ता 199 : पीपुल्स इंश्योरेंस कम्पनी लिमिटेड बनाम विनय भूषण भोमिक और अन्य (Peoples Insurance Company Limited *Vs.* Benoy Bhusan Bhowmik and others) का अवलम्ब लिया गया। 9

[1975] ए० आई० आर० 1975 दिल्ली 15 : श्रीमती कमला चोपड़ा बनाम भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य (Shrimati Kamla Chopra *Vs.* Life Insurance Corporation of India and others) 10

से प्रभेद बताया गया।

[1972] ए० आई आर० 1972 केरल 170 : जोसफ अन्नम्मा और एक अन्य बनाम कोरा थ्रेसिय्यम्मा और अन्य (Joseph Annamma and another *Vs.* Kora Thressiamma and others); 18, 22

[1970] ए० आई० आर० 1970 मध्य प्रदेश 40 : इंदरमल टेकाजी महाजन बनाम राम प्रसाद गोपीलाल और एक अन्य (Indermal Tekaji Mahajan *Vs.* Ramprasad Gopilal and another); 12

मामले के तथ्यों पर इन कसौटियों को लागू करने पर यह अभिनिर्धारित करना असम्भव है कि प्रत्यर्थियों द्वारा अपने वाद में जिसका दावा किया गया है वह अपीलार्थी के पास किया गया निक्षेप था। बीमा की संविदा के अधीन 20,000 रुपये की यह रकम मृतक के हक में उसकी पत्नी की मृत्यु पर देय हुई है जो उसके द्वारा अपीलार्थी के पास वास्तव में जमा नहीं की गई थी। अपीलार्थी इस रकम को एक उपनिहिती के रूप में नहीं रखे हुए था और न मृतक ने उसके पास यह रकम किसी ऋण की प्रतिभूति के रूप में या संविदा के सम्यक् पालन के लिए या सुरक्षित अभिरक्षा के लिए जमा की थी। प्रस्तुत वाद किसी भी तर्क द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन नहीं आता। यह विधिपूर्ण रूप से स्थिर है कि धारा 10 को लागू करने से पहले वादी को अभिव्यक्त न्यास का बनाया जाना साबित करना चाहिए और यह साबित करना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए बनाया गया है। यह धारा न तो किसी विवक्षित, परिणामी या आन्वयिक न्यास को लागू होती है और न विधि के प्रवर्तन द्वारा सृजित न्यास को लागू होती है। (पैरा 19, 20 और 21)

ट्रस्ट्स ऐक्ट की धारा 6 की स्पष्ट भाषा के आधार पर बीमा की पालिसी के निबन्धनानुसार उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति 20,000 रुपये को अपीलार्थी से उस समय वसूल करने का हकदार हो गया था जब उसकी पत्नी की मृत्यु हुई थी। इस वाद को स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 57 लागू होता है जो निस्सन्देह इस प्रकार के वादों के लिए एक विनिर्दिष्ट अनुच्छेद है। यह वाद उस तारीख से, जिस तारीख को उसके द्वारा अपनी पत्नी की मृत्यु का तथ्य, अपीलार्थी की जानकारी में लाया गया था, 3 वर्ष के अन्दर मृतक द्वारा संस्थित किया जाना चाहिए था। इसके बजाय वह 10 वर्ष की लम्बी अवधि तक इंतजार करता रहा और इससे पहले कि वह कोई वाद फाइल कर पाता स्वयं भी एक दुर्घटना में मर गया। इस रकम के लिए दावा करने का उसका स्वयं का उपचार समाप्त हो जाने के कारण उसके वारिसों के लिए ऐसा कुछ भी बाकी नहीं रहा जिसे वे उसकी सम्पदा को विरासत में पाने का दावा कर सकें। यदि उसकी मृत्यु तीन वर्ष की उक्त अवधि के समाप्त होने के पूर्व हो जाती है तो भी उसके वारिस उसी तीन वर्ष की अवधि के अंदर वाद फाइल करने के लिए बाध्य थे, क्योंकि इस प्रकार विचार करने पर यह वाद पूर्णरूप से कालवर्जित है जिसे विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा घोषित करने की बजाए खारिज कर देना चाहिए था। (पैरा 23 और 26)

पैरा

[1975] नि॰ प॰ 1975 आन्ध्र प्रदेश 1=ए॰ आई॰ आर॰ 1973 आन्ध्र प्रदेश 387 : सैन्ट्रल वेअरहाउसिंग कार्पोरेशन **बनाम** सैन्ट्रल बैंक आफ इंडिया लि॰ (Central Ware-housing Corporation *Vs.* Central Bank of India Limited); 7

[1966] ए॰ आई॰ आर॰ 1966 मद्रास 247 : मैसर्स ब्रह्मय्या एण्ड कम्पनी **बनाम** वी॰ एस॰ रामास्वामी अय्यर और एक अन्य (M/s. Brahmayya & Company *Vs.* V. S. Ramaswami Aiyar and another); 21

[1955] ए॰ आई॰ आर॰ 1955 इलाहाबाद 177 : श्रीकृष्ण चन्द्रजी **बनाम** श्याम बिहारी लाल (Sri Krishna Chandraji *Vs.* Shyam Behari Lal); 15

[1943] ए॰ आई॰ आर॰ 1943 कलकत्ता 199 : पीपुल्स इंश्योरेंस कम्पनी लिमिटेड **बनाम** विनय भूषण भोमिक और अन्य (Peoples Insurance Company Limited *Vs.* Benoy Bhusan Bhowmik and others) 9

का अवलम्ब लिया गया।

[1975] ए॰ आई॰ आर॰ 1975 दिल्ली 15 : श्रीमती कमला चोपड़ा **बनाम** भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य (Shrimati Kamla Chopra *Vs.* Life Insurance Corporation of India and others) 10

से **प्रभेद** बताया गया।

[1972] ए॰ आई आर॰ 1972 केरल 170 : जोसफ अन्नम्मा और एक अन्य **बनाम** कोरा थ्रेसिय्यम्मा और अन्य (Joseph Annamma and another *Vs.* Kora Thressiamma and others); 18, 22

[1970] ए॰ आई॰ आर॰ 1970 मध्य प्रदेश 40 : इंदरमल टेकाजी महाजन **बनाम** राम प्रसाद गोपीलाल और एक अन्य (Indermal Tekaji Mahajan *Vs.* Ramprasad Gopilal and another); 12

[1967]	ए० आई० आर० 1967 पंजाब 1163 : योगेश्वर राजपुरी बनाम योगराज पुरी और अन्य (Yogeshwar Raj Puri *Vs.* Yog Raj Puri and others);	12
[1964]	1964 (2) आंध्रा डब्ल्यू० आर० 144 : भारत संघ बनाम वजीर सुलतान एण्ड संस (Union of India *Vs.* Vazir Sultan & Sons);	18
[1962]	ए० आई० आर० 1962 पटना 372 : भारत संघ बनाम मैसर्स गंगाधर मीमराज (Union of India *Vs.* M/s. Gangadhar Mimraj);	18
[1962]	ए० आई० आर० 1962 इलाहाबाद 256 : कृपा नाथ और एक अन्य बनाम गंगा प्रसाद और अन्य (Kripa Nath and another *Vs.* Ganga Prasad and others);	22
[1961]	ए० आई० आर० 1961 राजस्थान 235 : चंपालाल बनाम सालिग राम (Champalal *Vs.* Saligram);	12
[1960]	ए० आई० आर० 1960 मुम्बई 404 : धनराज मिल्स लिमिटेड बनाम लक्ष्मी काटन ट्रेडर्स (Dhanraj Mills Ltd. *Vs.* Laxmi Cotten Traders);	18, 19
[1956]	ए० आई० आर० 1956 मद्रास 96 : के० आर० कुमारस्वामी चैट्टियार बनाम कृष्णास्वामी चेट्टी (K. R. Kumaraswami Chettiar *Vs.* Krishnaswami Chetty);	22
[1955]	ए० आई० आर० 1955 मैसूर 65 : एच० आर० पटेल बनाम श्रीमती सी० जी० वेंकटलक्ष्मा और एक अन्य (H. R. Patel *Vs.* Mrs. C. G. Venkatalakshmma and another);	15
[1954]	ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 340 : किरण सिंह बनाम चमन पासवान (Kiran Singh *Vs.* Chaman Paswan);	11

[1950] ए० आई० आर० 1950 हैदराबाद 52 : शाह अहमद बनाम शाह याह्या आलम (Shah Ahmed *Vs.* Shah Yahia Alum); 18

[1945] ए० आई० आर० 1945 प्रिवी कौंसिल 54 : रामचन्द्र जीवाजी कानागो और एक अन्य बनाम लक्ष्मण श्रीनिवास नायक और एक अन्य (Ramchandra Jivaji Kanago and another *Vs.* Laxman Shrinivas Naik and another); 22

[1944] ए० आई० आर० 1944 प्रिवी कौंसिल 78 : चैम्बर्स बनाम चैम्बर्स और अन्य (Chambers *Vs.* Chambers and others); 24

[1944] ए० आई० आर० 1944 इलाहाबाद 241 : मोहिनी मोहन बनाम रहमत उल्लाह खान (Mohini Mohan *Vs.* Rehmat Ullah Khan); 18

[1935] ए० आई० आर० 1935 प्रिवी कौंसिल 97 : पटेल छोटा भाई और अन्य बनाम ज्ञान चन्द्र बसक और अन्य (Patel Chhotabhai and others *Vs.* Jnan Chandra Basak and others); 23

[1921] ए० आई० आर० 1921 कलकत्ता 416 : प्रमथ नाथ मलिक बनाम प्रद्युम्न कुमार मलिक (Promoth Nath Mullick *Vs.* Prodymno Kumar Mullick); 19

[1919] ए० आई आर० 1919 लाहौर 322 : दलीप बनाम लाभू राम (Dalipa *Vs.* Labhu Ram); 18

[1915] ए० आई० आर० 1915 मद्रास 717 : श्रीनिवासन बनाम रंगास्वामी (Srinivasan *Vs.* Rangaswami); 18

[1907] (1907) 6 कलकत्ता एल० जे० 535 : लाला गोबिन्द प्रसाद बनाम चेयरमैन ऑफ पटना म्युनिसिपैलिटी (Lala Gobind Prasad *Vs.* Chairman of Patna Municipality); 18

28 इण्डियन अपील्स 227 (प्रिवी कौंसिल); असगर अली खान बनाम कुरशीद अली खान (Asghar Ali Khan *Vs.* Kurshed Ali Khan)

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की प्रथम अपील सं० 20.

जिला न्यायाधीश, जम्मू के तारीख 18 मार्च, 1982 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध फाइल प्रथम अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री वी० एस० मल्होत्रा

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री जोगिन्दर सिंह

न्यायालय का निर्णय न्या० आई० के० कोतवाल द्वारा दिया गया।

न्या० कोतवाल :

यहां पर अपीलार्थी भारतीय जीवन बीमा निगम है जिसे जिला न्यायाधीश जम्मू के द्वारा एक आज्ञापक व्यादेश की डिक्री द्वारा निदेशित किया गया था कि वह प्रत्यर्थी-वादियों श्रीमती इकबाल कौर और उसकी दो पुत्रियों, तलविन्दर कौर और सलविन्दर कौर को पालिसी की रकम अदा करे जो अपीलार्थी ने सरदार अमर सिंह और उसकी पत्नी हरबंस कौर के पक्ष में सामूहिक रूप से जारी की थी।

2. संक्षेप में प्रत्यर्थियों का मामला यह है कि प्रत्यर्थी इकबाल कौर के पति और अन्य दो प्रत्यर्थियों के पिता सरदार अमर सिंह ने एक संयुक्त पालिसी सं० 6420679 तारीख 28 दिसंबर, 1957 को अपने और अपनी पत्नी हरबंस कौर के नाम में ली थी जिसके अनुसार बीमाकृत व्यक्तियों में से किसी एक की मृत्यु पर उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति अपीलार्थी निगम से 20,000 रुपये की रकम लेने का हकदार था। हरबंस कौर की मृत्यु 10 जून, 1959 को हो जाने के कारण सरदार अमर सिंह द्वारा अपीलार्थी से 20,000 रुपये लेने का दावा किया गया था किंतु उसके दावे को उसके जीवनकाल में न तो मंजूर किया गया और न खारिज किया गया। उसकी मृत्यु 18 अगस्त, 1970 को हो गई। उसने अपने पीछे प्रत्यर्थियों को अपने एकमात्र वारिस और विधिक प्रतिनिधियों के रूप में छोड़ा था जो अपीलार्थी से उपरोक्त रकम का दावा करने के हकदार थे। प्रत्यर्थियों ने इस रकम के लिए एक दावा किया किंतु अपीलार्थी ने सिर्फ उसे स्वीकार किया

और उन्हें कोई भी संदाय करने में असफल रहा। इसलिए उन्होंने इस घोषणा के लिए वाद फाइल किया कि वे उपरोक्त 20,000 रुपये की रकम को 10% प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सहित प्राप्त करने के हकदार हैं और साथ ही इस आज्ञापक व्यादेश के पारिणामिक अनुतोष का भी दावा किया कि अपीलार्थी को उपरोक्त रकम का संदाय प्रतिवादियों को करने के लिए निदेश दिया जाए।

3. जबकि इस बात से इनकार नहीं किया गया है कि सरदार अमर सिंह ने उपरोक्त पालिसी ली थी किंतु अपीलार्थी ने वाद का प्रतिरोध इन आधारों पर किया है: पहला, कि बीमाकृत सरदार अमर सिंह को निगम से कोई भी रकम शोध्य नहीं है, दूसरा, कि जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालयों को वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं थी, जो या तो मुम्बई के न्यायालयों में, जहां पर अपीलार्थी निगम का केन्द्रीय कार्यालय स्थित है, या जलन्धर के न्यायालयों में, जहां पर संविदा की गई थी और जहां पर बीमा की रकम संदेय थी, विचारण किया जाना चाहिए, तीसरा, कि वाद अपने मौजूदा रूप में चलने योग्य नहीं है, चौथा, कि वाद सही व्यक्ति के विरुद्ध फाइल नहीं किया गया है। और पांचवां, कि वाद कालवर्जित है।

4. विचारण न्यायालय ने इन अभिवाकों के आधार पर कई विवाद्यक बनाए और उन पर पक्षकारों का साक्ष्य लेने के बाद संयोगवश सभी विवाद्यकों को अपीलार्थी के विरुद्ध पाया और प्रत्यर्थी के वाद को जैसा कि प्रार्थना की गई थी, डिक्री कर दिया। इसलिए यह अपील की गई है।

5. हमारे समक्ष श्री मल्होत्रा ने विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को सिर्फ तीन आधारों पर चुनौती दी है: पहला, कि विचारण न्यायालय को वाद को ग्रहण करने और वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं थी, जो या तो मुम्बई में या जलन्धर में फाइल किया जाना चाहिए था, दूसरा, कि वाद अपने मौजूदा रूप में चलने योग्य नहीं है और प्रत्यर्थियों को बीस हजार रुपये की वसूली के लिए एक वाद फाइल करना चाहिए था जिसमें उन्हें दावाकृत रकम पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस अदा करनी चाहिए थी और तीसरा, कि वाद निश्चित रूप से कालवर्जित है। अब मैं इन आधारों पर एक-एक करके विचार करने के लिए अग्रसर होता हूं।

6. यह स्वीकृत है कि वाद बीमा की संविदा के ऊपर आधारित है। इसलिए इसको (सिविल प्रक्रिया संहिता) सिविल प्रोसीजर कोड की धारा 20 लागू होगी। ऐसे वाद का इस धारा के खंड (क) और (ख) के अधीन उस

न्यायालय द्वारा विचारण किया जा सकेगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर प्रतिवादी या जहां एक से अधिक प्रतिवादी हैं वहां प्रतिवादियों में से हरेक वाद के प्रारंभ के समय वास्तव में और स्वेच्छा से निवास करता है या कारबार करता है या अभिलाभ के लिए स्वयं काम करता है, या जहां एक से अधिक प्रतिवादी हैं वहां प्रतिवादियों में से कोई भी प्रतिवादी वाद के प्रारंभ के समय वास्तव में और स्वेच्छा से निवास करता है या कारबार करता है या अभिलाभ के लिए स्वयं कार्य करता है, परन्तु यह तब जबकि ऐसी अवस्था में या तो न्यायालय की इजाज़त दे दी गई है या अन्य प्रतिवादी ऐसे संस्थित किए जाने के लिए उपमत हो गए हैं या धारा के खंड (ग) के अधीन हर वाद ऐसे न्यायालय में संस्थित किया जाएगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वाद हेतुक पूर्णतः या भागतः पैदा होता है। धारा 20 का स्पष्टीकरण II इस प्रकार है :—

> "निगम के बारे में यह समझा जाएगा कि वह (भारत) में के अपने एकमात्र या प्रधान कार्यालय में, या किसी ऐसे वाद हेतुक की बाबत, जो ऐसे किसी स्थान में पैदा हुआ है जहां उसका अधीनस्थ कार्यालय भी है, ऐसे स्थान में कारबार करता है।"

7. इसलिए इस स्पष्टीकरण के अनुसार खंड (क) और (ख) के प्रयोजनों के लिए एक निगम के बारे में यह समझा जाएगा कि वह अपना कारबार उस स्थान पर भी करता है जहां पर उसका कोई अधीनस्थ कार्यालय हो और निगम के विरुद्ध कोई वाद ऐसे स्थान पर स्थित न्यायालय में संस्थित किया जा सकेगा, बशर्ते वाद फाइल करने के लिए वाद हेतुक पूर्णतः या भागतः उस न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर उद्भूत हुआ हो। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा सैन्ट्रल वेअरहाउसिंग कारपोरेशन बनाम सैन्ट्रल बैंक आफ इंडिया लिमिटेड[1] में इस द्वितीय स्पष्टीकरण की ऐसी ही व्याख्या की गई थी जहां पर यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "स्पष्टीकरण सं० 2 के दो सुभिन्न भाग हैं : (1) निगम के बारे में यह समझा जाएगा कि वह भारत में के अपने एकमात्र या प्रधान कार्यालय में कारबार करता है, और (2) किसी भी स्थान पर उद्भूत होने वाले वाद हेतुक के संबंध में निगम के लिए यह समझा

---

[1] नि० प० 1795 आन्ध्र प्रदेश 1=ए० आई० आर० 1973 आन्ध्र प्रदेश 387.

जाएगा कि वह अपना कारबार ऐसे स्थान पर भी कर रहा है जहां उसका अधीनस्थ कार्यालय भी है। जहां तक द्वितीय भाग का संबंध है, यदि कोई वाद हेतुक ऐसे किसी स्थान पर उद्‌भूत होता है जहां पर इसका अधीनस्थ कार्यालय भी है, तो इसके लिए यह समझा जाएगा कि वह वहां कारबार करता है और ऐसे स्थान पर अधिकारिता रखने वाले न्यायालय में वाद संस्थित किया जा सकता है……।"

8. वाद हेतुक से ऐसा प्रत्येक तथ्य अभिप्रेत है जो वादी को उसका विरोध किए जाने पर निर्णय को अपने हक में कराने के अधिकार का समर्थन करने के लिए साबित करना आवश्यक होगा। दूसरे शब्दों में इससे अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत वे सभी तथ्य आते हैं जो वादी के लिए अपने वाद में सफलता प्राप्त करने के लिए साबित करना आवश्यक हैं। यह एक साधारण आधार है कि बीमाकृत राशि सरदार अमर सिंह उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति उसकी पत्नी हरबंस कौर की मृत्यु होते ही संदेय हो गई। यदि सरदार अमर सिंह अपीलार्थी के विरुद्ध बीस हजार रुपये की रकम को वसूल करने के लिए वाद फाइल करता तो उसे आवश्यक रूप से यह सिद्ध करना था कि उसकी पत्नी हरबंस कौर की मृत्यु हो गई है। इसी प्रकार प्रत्यर्थियों का इस रकम का दावा करने का अधिकार सिर्फ सरदार अमर सिंह, दूसरे बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु पर ही उद्‌भूत हुआ है, जिनकी संपत्ति के बारे में वे अपने को उसके वारिसों के रूप में उत्तराधिकार में पाने का दावा करते हैं। इसलिए उनसे भी अपने वाद में सफलता पा सकने से पहले उसकी मृत्यु के तथ्य को साबित करना अपेक्षित है। इसलिए चाहे कोई भी स्थिति हो, बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु, इस बीस हजार रुपये की रकम को वसूल करने के लिए वाद फाइल करने के लिए वाद हेतुक का एक भाग है।

9. यहां पर यह निर्विवाद है कि हरबंस कौर की मृत्यु ड्योढा में वर्ष 1959 में हुई थी। यह स्थान उस समय जम्मू के जिला न्यायाधीश के न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं में आता था। यह भी निर्विवाद है कि सरदार अमर सिंह की मृत्यु आर० एस० पोरा में अगस्त, 1970 में हुई थी और यह स्थान भी उक्त न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर आता है। इसलिए प्रत्येक मामले में वाद हेतुक स्वीकृत रूप से भागतः जम्मू के जिला न्यायाधीश के न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर उद्‌भूत हुआ है। यह सामान्य आधार है कि अपीलार्थी निगम का जम्मू में अपना एक शाखा कार्यालय है। अतः प्रस्तुत वाद जम्मू के जिला न्यायाधीश के न्यायालय में सही रूप से संस्थित किया गया था जो

इसका विचारण करने की अधिकारिता रखता था। बीमा धन के लिए वाद उस न्यायालय में होगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु होती है, क्योंकि उसकी मृत्यु निस्संदेह इस प्रकार के वाद के लिए वाद हेतुक का एक भाग है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण कलकत्ता उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने **पीपुल्स इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड बनाम विनय भूषण भौमिक और अन्य**[1] में अपनाया गया था जिससे मैं पूर्ण रूप से सहमत हूं। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "अब जीवन बीमा पालिसी के मामले में दावेदार को बीमा कंपनी के विरुद्ध अपने दावे को प्रवर्तित कराने से पहले बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु को साबित करना होगा। इस प्रकार बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु वाद हेतुक का महत्वपूर्ण भाग है, इसलिए यदि इससे इनकार किया जाता है तो वादी इस तथ्य को साबित करने के लिए बाध्य है और यदि वह साबित नहीं कर पाता तो प्रतिवादी का निर्णय के लिए अव्यवहित अधिकार होगा। बीमा की संविदा एक समाश्रित संविदा है और इसके अधीन संदेय रकम की वसूली का अधिकार उस विशिष्ट घटना घटित होने पर निर्भर करता है। धन का संदाय करने में बीमा कम्पनी के असफल रहने मात्र से नहीं बल्कि उस घटना के घटित होने पर ही वाद हेतुक उद्भूत होता है······।"

10. श्री मल्होत्रा द्वारा अवलम्बित **श्रीमती कमला चोपड़ा बनाम भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य**[2] की नजीर स्पष्ट रूप से तथ्यों के आधार पर प्रभेदनीय है। उस मामले में दिल्ली न्यायालय की अधिकारिता का, जिसमें उसने वाद संस्थित किया था, वादी द्वारा दो आधारों पर अवलम्ब लिया गया था कि पहला, प्रतिवादी कंपनी द्वारा दिल्ली में बीमा धन का संदाय करने से मना किया गया था और दूसरा, प्रतिवादी कंपनी का खण्ड कार्यालय दिल्ली में भी था। जहां तक पहले आधार का संबंध है, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संदाय के लिए मना करना वाद हेतुक के किसी भाग को पैदा नहीं करता क्योंकि इस प्रकार का दावा करने के लिए यह दर्शित करना आवश्यक नहीं था कि प्रतिवादी कंपनी द्वारा संदाय करने से मना किया गया था। जहां तक दूसरे आधार का संबंध है, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि स्वीकारतः दिल्ली में वाद हेतुक का कोई

---

[1] ए० आई० आर० 1943 कलकत्ता 199.
[2] ए० आई० आर० 1975 दिल्ली 15.

भी भाग उद्भूत नहीं हुआ था, इसलिए धारा 20 का स्पष्टीकरण-II दिल्ली न्यायालय को अधिकारिता देने में लागू नहीं होता। अतः इस नजीर से श्री मल्होत्रा को कोई सहायता नहीं मिलती।

11. बहस के लिए यह मानने पर भी कि प्रस्तुत वाद जम्मू जिला न्यायाधीश के न्यायालय में फाइल नहीं किया जा सकता था क्योंकि उक्त न्यायालय को वाद का विचारण करने की क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं थी, अपील में जिस डिक्री की आलोचना की गई है, उसे अपास्त नहीं किया जा सकता। यह सिविल प्रोसीजर कोड (सिविल प्रक्रिया संहिता) की धारा 21 के कारण है जो इस प्रकार है :—

> "वाद लाने के स्थान के संबंध में कोई भी आक्षेप किसी भी अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तब तक अनुज्ञात नहीं किया जाएगा जब तक कि ऐसा आक्षेप प्रथम बार के न्यायालय में यथासंभव सर्वप्रथम अवसर पर और उन सभी मामलों में जिनमें विवाद्यक स्थिर किए जाते हैं, ऐसे स्थिरीकरण के समय या उसके पहले न किया गया हो और जब तक कि उसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता न हुई हो।"

धारा 21 में यह कहा गया है कि वाद लाने के स्थान के संबंध में कोई भी आक्षेप किसी भी अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तब तक अनुज्ञात नहीं किया जाएगा जब तक कि ऐसा आक्षेप प्रथम बार के न्यायालय में यथासंभव सर्वप्रथम अवसर पर न किया गया हो और जब तक कि उसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता न हुई हो, यह निष्फलता इस कारण से हुई हो कि वाद उस न्यायालय में फाइल किया गया था जिसमें क्षेत्रीय अधिकारिता की कमी के कारण फाइल नहीं किया जा सकता था। इस धारा का सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 99 और वाद मूल्यांकन अधिनियम की धारा 11 के साथ निर्वचन माननीय न्यायाधीशों द्वारा **किरण सिंह** बनाम **चमन पासवान**[1] में किया गया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "क्षेत्रीय अधिकारिता के संबंध में आक्षेपों के बारे में सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21 में यह अधिनियमित किया गया है कि वाद लाने के स्थान के संबंध में कोई भी आक्षेप किसी भी अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तब तक अनुज्ञात नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता न हुई हो। यह उसी प्रकार का सिद्धान्त है जैसा कि वाद मूल्यांकन अधिनियम की धारा 11 में दिया

[1] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 340.

गया है जो धन सम्बन्धी अधिकारिता के सम्बन्ध में है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21 और 99 और वाद मूल्यांकन अधिनियम की धारा 11 की अन्तर्निहित नीति एक समान है, अर्थात् जब किसी वाद का विचारण न्यायालय द्वारा गुणागुण के आधार पर किया गया हो और निर्णय दे दिया गया हो तो उसको तकनीकी आधार पर उलटा नहीं जा सकता जब तक कि उसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता न होती हो और विधानमण्डल की नीति यह रही है कि क्षेत्रीय और धन सम्बन्धी दोनों ही अधिकारिता के बारे में आक्षेपों को तकनीकी स्वरूप का माना जाए और अपील न्यायालय द्वारा उस पर तब तक विचार नहीं किया जाएगा जब तक कि गुणागुण के आधार पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ता हो। इसलिए अपीलार्थियों की यह दलील कि मुंगेर जिला न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अकृत माना जाए, वाद मूल्यांकन अधिनियम की धारा 11 के अधीन स्वीकार नहीं की जा सकती।"

12. इसी प्रकार का दृष्टिकोण **चंपालाल** बनाम **सालिगराम**[1], **योगेश्वर राज पुरी** बनाम **योगराज पुरी और अन्य**[2], **इंदरमल टेकाजी महाजन** बनाम **राम प्रसाद गोपीलाल और एक अन्य**[3] में अपनाया गया था।

13. प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी इसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता को साबित करने में असफल रहा है। वास्तव में इस प्रकार की कोई भी दलील अपील के ज्ञापन में नहीं ली गई है। वाद का विचारण गुणागुण के आधार पर किया गया है। पक्षकारों ने वह सब साक्ष्य दिया है जो वे विचारण न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे। इसका निर्णय सिर्फ इस आधार पर अपास्त नहीं किया जा सकता कि इस न्यायालय को इस वाद का विचारण करने की क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं थी। इसलिए प्रत्येक तरह से यह आधार असफल रहा है।

14. प्रत्यर्थियों ने अपने वाद को कोर्ट फ़ीस ऐक्ट (न्यायालय फीस अधिनियम) के खण्ड 7 (iv) (सी) के अधीन लाने का प्रयत्न किया है जिसे उन्होंने आज्ञापक व्यादेश के पारिणामिक अनुतोष सहित हक की घोषणा के लिए वाद बताया है और उनका यह प्रयास विचारण न्यायालय में सफल रहा है। फिर भी श्री मल्होत्रा ने यह दलील दी है कि प्रस्तुत वाद को प्रत्यर्थियों द्वारा जो वर्तमान रूप दिया गया है वह बीस हज़ार रुपये की वसूली के एकमात्र अनुतोष की

---

1. ए० आई० आर० 1961 राजस्थान 235.
2. ए० आई० आर० 1967 पंजाब 163.
3. ए० आई० आर० 1970 मध्य प्रदेश 40.

बजाए मूल्यानुसार न्यायालय फीस के संदाय से बचने के उद्देश्य से किया गया है। विद्वान् काउन्सेल के मतानुसार प्रत्यर्थियों को केवल बीस हजार रुपये की वसूली के लिए वाद फाइल करना चाहिए था और उन्हें इस घोषणा के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए थी कि वे सरदार अमर सिंह की मृत्यु पर इस रकम के हकदार थे जिसके माध्यम से उन्होंने यह दावा किया है। मैं इस दलील में पर्याप्त बल पाता हूं। स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट (विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम) की धारा 42 में यह उपबन्धित है कि वादी किसी विधिक हैसियत का या किसी सम्पत्ति के बारे में किसी अधिकार का हकदार होने की, यदि प्रतिवादी उसकी ऐसी हैसियत या ऐसे अधिकार के हक का प्रत्याख्यान (इनकार) करता है तो, घोषणा के लिए निवेदन कर सकता है और इस धारा के परन्तुक में आगे यह अधिकथित किया गया है कि न्यायालय वहां ऐसी घोषणा करने से मना कर देगा जहां कि वादी हक की घोषणा मात्र के अतिरिक्त कोई अनुतोष मांगने के योग्य होते हुए भी वैसा करने में लोप करे। इस धारा का उद्देश्य स्पष्ट रूप से वादी के हक पर, जहां उस पर कोई आक्षेप किया गया है, प्रतिकूल आक्षेपों के विरुद्ध एक स्थायी बचाव व्यवस्था का उपबंध करना और विद्यमान वाद हेतुक को दूर करते हुए और आगे मुकदमेबाजी को रोकना है। उसके अधिकार को खतरा वास्तविक होना चाहिए न कि काल्पनिक। प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थियों द्वारा चाही गई घोषणा स्पष्टतः अनावश्यक थी। वाद पत्र में ऐसा कहीं भी नही बताया गया है कि अपीलार्थी ने सरदार अमर सिंह के वारिसों के रूप में उनकी विधिक हैसियत से इनकार किया है या इनकार करने में हितबद्ध है। दूसरी तरफ उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रकथन किया है कि अपीलार्थी उनको दावाकृत रकम का संदाय करने में असफल रहा था जबकि उन पर नोटिस की तामील भी कर दी गई थी, यद्यपि अपीलार्थी ने इसे प्राप्त करने के उनके अधिकार को हमेशा माना है। यह इस अर्थ में एक भिन्न मामला है कि इस बात को दर्शित करने के लिए कण मात्र भी साक्ष्य नहीं है कि अपीलार्थी ने इस प्रकार की कभी कोई अभिस्वीकृति की थी।

15. यह मानकर भी कि प्रत्यर्थी इस प्रकार की घोषणा की मांग कर सकते थे, किन्तु अब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या वे अपना वाद धारा 7 (iv)(सी) की परिधि में ला सकते थे। खण्ड(सी) के लागू होने से पहले यह दर्शित करना था कि वाद में दावाकृत मुख्य अनुतोष घोषणा है और पारिणामिक अनुतोष प्रत्यक्ष रूप से उससे पैदा होता है जिसका इससे अलग रहकर दावा नहीं कियाजा सकता। दूसरे शब्दों में यह दर्शित करना चाहिए कि पारिणामिक अनुतोष के रूप में दावाकृत अनुतोष क लिए वाद तब तक नही लाया जा सकेगा जब तक कि उसमें घोषणा का अनुतोष भी न चाहा गया हो। किसी वाद को खण्ड (सी) की परिधि के अन्तर्गत लाने के लिए किसी अधिकार का सबूत नहीं वरन् उसकी

घोषणा की मांग करना अनिवार्य होना चाहिए। जहां घोषणा करना वाद में दावाकृत पारिणामिक अनुतोष मंजूर किए जाने की सिर्फ आनुषंगिक हो वहां वह खण्ड (सी) के अन्दर नहीं आयेगा। इसको उदाहरण देकर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जहां पर वादी वादग्रस्त सम्पत्ति के कब्जे के लिए उसके मालिक के रूप में दावा करता है वहां उसके लिए इस घोषणा की मांग करना कि वह सम्पत्ति का स्वामी है और उसके कब्जे के लिए सिर्फ पारिणामिक अनुतोष के द्वारा दावा करना आवश्यक नहीं होगा। वह मात्र कब्जे के लिए एक वाद फाइल कर सकता है और कब्जे की डिक्री प्राप्त करने के लिए यदि प्रतिवादियों ने उससे इनकार किया है तो अपने स्वामित्व को सिद्ध कर सकेगा। दूसरी तरफ जहां वादी वादग्रस्त सम्पत्ति का कब्जा लेना चाहता है जिस पर प्रतिवादी ने उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किए गए विक्रय-विलेख के आधार पर कब्जा कर लिया है जिसके माध्यम से वादी सम्पत्ति का दावा करता है और जिसे वादी कपट या अनुचित प्रभाव से दूषित होने का अभिकथन करता है, वहां पर वह मात्र कब्जे के लिए वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता और उसे केवल पारिणामिक अनुतोष के रूप में उसके कब्जे का दावा करते हुए इस आशय की घोषणा मांगनी होगी कि उस आधार पर विक्रय-विलेख शून्य है क्योंकि जब तक विक्रय-विलेख उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता रहेगा वह वादग्रस्त सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने का हकदार नहीं होगा और उसे न्यायालय की डिक्री के द्वारा विक्रय-विलेख से छुटकारा प्राप्त करना होगा। इसके अतिरिक्त यह तथ्य कि क्या अधिकार की घोषणा मुख्य अनुतोष है, वादपत्र में किए गए केवल प्रकथनों से नहीं, जो अपेक्षित न्यायालय फीस के संदाय से बचने के लिए कलात्मक रूप से लिखे गए हैं बल्कि दावे के सार से स्पष्ट प्रतीत होना चाहिए। इस सीमा तक विधि पूरी तरह स्थिर है। उदाहरण के लिए **श्रीकृष्ण चन्द्रजी बनाम श्याम बिहारी लाल**[1] में वाद में चाही गई इस घोषणा को कि वादी सं० 2 वादी सं० 1 का सरबरकार था, उसे मन्दिर और उसमें की जंगम सम्पत्ति के कब्जे का पारिणामिक अनुतोष प्रदान करने के लिए आवश्यक नहीं माना गया था। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "...हमारा यह विचार है कि इस चतुर्थ अनिवार्य तत्व का अर्थ यह है कि किसी अनुतोष के लिए उसका पारिणामिक अनुतोष होना आवश्यक है, यह कि अनुतोष का मुख्य अनुतोष के रूप में घोषणा के दावे के बिना दावा नहीं किया जा सके अर्थात् उस अनुतोष के लिए कोई भी वाद तब तक नहीं लाया जा सकेगा जब तक कि वाद में भी घोषणात्मक

---

[1] ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 177.

डिक्री अनुध्यात न हो। सिर्फ इस प्रकार के वादों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मांगा गया अनुतोष घोषणात्मक अनतोष से इतना अधिक संबंधित है कि उसे घोषणात्मक अनुतोष के पारिणामिक अनुतोष के रूप में माना जायेगा।"

इसी प्रकार के विचार मैसूर उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने एच० आर० पटेल बनाम श्रीमती सी० जी० वेंकटलक्ष्म्मा और एक अन्य[1] में व्यक्त किए थे, जो इस प्रकार हैं :—

"वादपत्र में वादी द्वारा मांगा गया मुख्य अनुतोष व्यादेश के लिए है। उक्त अनुतोष को सिर्फ तभी पारिणामिक अनुतोष कहा जा सकेगा जबकि उसे वादी के अधिकार की घोषणा के सिवाय अन्यथा प्रदान नहीं किया जा सकता और वह सिर्फ उस अधिकार के सबूत के आधार पर प्रदान नहीं किया जा सकता। भूमि का कब्जा लेने के लिए लाए गए वाद में वादी, यदि वह हक के सबूत पर कब्जा प्राप्त करने का हकदार है और उसके हक के बारे में कोई भी संदेह नहीं है। उदाहरण के लिए किसी विक्रय द्वारा जो या तो उसके द्वारा किया गया हो या उस न्यायालय के द्वारा किया गया है जिसे कब्जा दिलाने के पूर्व घोषणा के द्वारा हटाया जाना है, इस आधार पर न्यायालय फीस का संदाय करने के लिये बाध्य है कि वह सिर्फ कब्जे के लिए वाद है यद्यपि वास्तव में वादपत्र में उसके हक की घोषणा के लिए एक प्रार्थना की गई है। ऐसे मामले में न्यायालय को वादी के मामले के सारांश से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए जो कि वादपत्र में दिया गया है और उसे इस प्रकार का मानना चाहिए मानो उसने घोषणा के लिए निरर्थक और अनावश्यक प्रार्थना नहीं की थी। अन्यथा अभिनिर्धारित करने का परिणाम यह होगा कि वादी हक की घोषणा के लिए अनावश्यक प्रार्थना को जोड़कर ही मैसूर न्यायालय फीस अधिनियम की धारा 4 के खण्ड (v) के अधीन विधिसम्मत न्यायालय फीस के संदाय से बच जायेगा……।"

× × × ×

16. इसलिए इन तथ्यों के अलावा कि अपीलार्थी ने सरदार अमर सिंह की सम्पदा के लिए उसके वारिसों के रूप में प्रत्यर्थियों के दावा करने के अधिकार का कभी विरोध नहीं किया जिसका सिर्फ इस वाद में लिखित कथन में विवाद किया गया है, फिर भी प्रत्यर्थियों द्वारा मात्र 20,000 रुपये को वसूली के लिए वाद किया जा सकता था और किया जाना चाहिए था क्योंकि यह घोषणा कि

---

[1] ए० आई० आर० 1955 मैसूर 65.

कि वे सरदार अमर सिंह की सम्पदा को उत्तराधिकार में पाने के अधिकारी हैं, उपर्युक्त रकम की वसूली के मुख्य अनुतोष के लिए अनिवार्य न होकर केवल आनुषंगिक होगी। यह बात वहां पर भी सत्य होगी जहां पर घोषणा और आज्ञापक व्यादेश के दोनों अनुतोषों को परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर नहीं बल्कि एक-दूसरे से स्वतंत्र माना जाता है, क्योंकि उस मामले में भी आज्ञापक व्यादेश का अनुतोष बीमा रकम की वसूली के अनुतोष के लिए एक उचित स्थानापन्न नहीं होगा, जिसका प्रत्यर्थी दावाकृत धनराशि पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस अदा करके दावा कर सकते थे। वाद में इस आशय का एक विवाद्यक उठाया जा सकता था और प्रार्थित डिक्री प्राप्त करने के लिए प्रत्यर्थियों द्वारा इसके सम्बन्ध में साक्ष्य प्रस्तुत करके इस तथ्य को साबित किया जा सकता था। मुझे यह विश्वास हो गया है कि वाद का यह स्वरूप कोर्ट फीस ऐक्ट की धारा 7(i) के अर्थान्तर्गत 20,000 रुपये पर मूल्यानुसार न्यायालय फीस के संदाय से बचने के लिए प्रत्यर्थियों की तरफ से किया गया एक बेढंगा प्रयास है, जिसकी आलोचना की जानी चाहिए।

17. अब मैं तृतीय और अन्तिम इस दलील पर आता हूं कि वाद परिसीमा द्वारा वर्जित है। चूंकि प्रत्यर्थियों ने अपने वाद को लिमिटेशन ऐक्ट की धारा 10 पर आधारित किया है इसलिए विद्वान् जिला न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया है कि इस मामले में लिमिटेशन ऐक्ट का अनुच्छेद 145 लागू होता है। इसके विपरीत श्री मल्होत्रा ने यह दलील दी है कि इस मामले में लिमिटेशन ऐक्ट का अनुच्छेद 57 लागू होता है। इस प्रकार जिस सीमा तक ये तीनों ही उपबंध वर्तमान विचार-विमर्श के लिए सुसंगत हैं, नीचे दिये जा रहे हैं :—

*"10. **अभिव्यक्त न्यासियों तथा उनके प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद**—इस अधिनियम के पूर्वगामी उपबंधों में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, जिसमें सम्पत्ति किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए न्यासनिहित हुई हो अथवा उसके विधिक प्रतिनिधियों या समनुदेशितियों के विरुद्ध (जो मूल्यवान प्रतिफलार्थ या समनुदेशिती न हों), उसके या उनके हस्तगत ऐसी सम्पत्ति या उसके आगमों का

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"10. *Suits against express trustee and their representatives.* Notwithstanding anything hereinbefore contained, no suit against a person in whom property has become vested in trust for any specific purpose, or against his legal representatives or assigns (not being assigns for valuable consideration), for the purpose of

पीछा करने के प्रयोजन से या उस सम्पत्ति या उसके आगमों के लेखा के लिए कोई वाद कितना भी समय बीत जाने के कारण वर्जित न होगा।"

× × × ×

वाद का वर्णन	परिसीमा काल	वह समय जबसे काल चलना प्रारम्भ होता है
57. बीमा पालिसी पर जबकि बीमाकर्ताओं को मृत्यु या हानि का सबूत दिए जाने या प्राप्त होने के तुरन्त बाद बीमा राशि संदेय हो या प्राप्त हो।	तीन वर्ष	जब मृत्यु या हानि होने का सबूत बीमाकर्ताओं को दिया गया है या प्राप्त हुआ है, चाहे वह वादी या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिया गया। हो या उससे प्राप्त हुआ हो।
× ×		× ×
145. निक्षेपधारी या पणयमदार के विरुद्ध निक्षिप्त या पणयम रखी गई जंगम संपत्ति की वसूली के लिए	तीन वर्ष	निक्षिप्त करने या पणयम रखने की तारीख।

following in his or their hands such property, or the proceeds thereof or for an account of such property or proceeds, shall be barred by any length of time."

× × × ×

Description of suit	Period of limitalion	Time from which periodbegins to run
57. On a policy of Iusurance, when the sum assured is payable immediately after proof of the death or loss has been given to or received by the insurers.	Three years	When proof of the death or loss is given to or received by the insurer, whether by or from the plaintiff or any other person.
× ×		× ×
145. Against a depository or pawnee to recover movable property deposited or pawned.	Three years	The date of the deposit or pawn.

18. वाद में जिसका दावा किया गया है वह धन है। इस बारे में कि क्या धन जंगम सम्पत्ति में सम्मिलित है जिसके बारे में अनुच्छेद 145 में दिया गया है, भिन्न-भिन्न उच्च न्यायालयों में मतभेद हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि धन जंगम सम्पत्ति में सम्मिलित नहीं है......(**मोहिनी मोहन** बनाम **रहमत उल्लाह खान**[1], **श्रीनिवासन** बनाम **रंगास्वामी**[2], **दलीप** बनाम **लाभू राम**[3], **शाह अहमद** बनाम **शाह याह्या आलम**[4] और **जोसफ अन्नम्मा और एक अन्य** बनाम **कोरा थ्रेसिय्यम्मा और अन्य**[5])। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि जंगम सम्मत्ति में धन सम्मिलित है। (**भारत संघ** बनाम **मैसर्स गंगाधर मीमराज**[6], **लाला गोविन्द प्रसाद** बनाम **चेयरमैन आफ पटना म्युनिसिपैलिटी**[7], **असगर अली खान** बनाम **कुरशीद अली खान**[8], **भारत संघ** बनाम **वजीर सुलतान एण्ड संस**[9] और **धनराज मिल्स लिमिटेड** बनाम **लक्ष्मी काटन ट्रेडर्स**[10]।

19. यदि यह मान लिया जाए कि धन जंगम सम्पत्ति में आता है तो भी वादपत्र में किए गए प्रकथनों पर प्रस्तुत वाद को अनुच्छेद 145 लागू नहीं होता, जिसमें निक्षिप्त या पणयम रखी गई जंगम सम्पत्ति की वसूली के लिए वाद फाइल करने के लिए तीन वर्ष की अवधि उपबंधित है। जिस निक्षेप के बारे में इस धारा में दिया गया है, वह सौंपे जाने की प्रकृति का है, जो जमाकर्ता द्वारा निक्षेपधारी के पास इस विनिर्दिष्ट-बोध के साथ जमा किया जाता है कि निक्षिप्त सम्पत्ति निक्षेपधारी द्वारा उसे यथा-सम्भव नकद वापस कर दी जाएगी और इसका स्वामित्व हमेशा जमाकर्त्ता का ही बना रहता है। इस अर्थ में यह एक ऐसा न्यास नहीं है जिसके बारे में ट्रस्ट्स ऐक्ट की धारा 6 या लिमिटेशन ऐक्ट की धारा 10 में उपबंध किया गया है जहां पर न्यास संपत्ति का स्वामित्व न्यासी में निहित होता है। इस प्रकार का सौंपा जाना एक उप

1 ए० आई० आर० 1944 इलाहाबाद 241.
2 ए० आई० आर० 1915 मद्रास 717.
3 ए० आई० आर० 1919 लाहौर 322.
4 ए० आई० आर० 1950 हैदराबाद 52.
5 ए० आई० आर० 1972 केरल 170.
6 ए० आई० आर० 1962 पटना 372.
7 (1907) 6 कलकत्ता एल० जे० 535.
8 28 इण्डियन अपील्स 227 (प्रि० कौ०).
9 (1964) 2 आंध्रा डब्ल्यू० आर० 144.
10 ए० आई० आर० 1960 मुम्बई 4040.

निधान हो सकता है जो स्वच्छिक हो या अस्वैच्छिक (**प्रमथ नाथ मलिक बनाम प्रद्युम्न कुमार मलिक**[1]) या किसी ऋण की प्रतिभूति के रूप में हो सकता है या किसी संविदा के सम्यक् पालन के लिए प्रतिभूति के रूप में हो सकता है बशर्ते आंशिक संदाय की कोटि में न आता हो या वह मात्र सुरक्षित अभिरक्षा के लिए हो सकता है (**धनराज मिल्स लिमिटेड** बनाम **लक्ष्मी काटन ट्रेडर्स**[2])। अनुच्छेद 145 में प्रयोग किए गए शब्द "निक्षेप" का निर्वचन मुख्य न्यायाधीश छागला द्वारा **धनराज मिल्स वाले मामले में**[2] इन शब्दों में किया गया है :—

> "......अब, 'निक्षेपधारी' पद का अर्थ उसके बाद आने वाले पद अर्थात् 'पणयमदार' से लगाया जाना चाहिए। पणयम के मामले में कोई वस्तु या जंगम सम्पत्ति पणयमदार को किसी ऋण के लिए प्रतिभूति के रूप में सौंपी जाती है। जबकि उस वस्तु की सम्पत्ति या माल पणयमदार के पास ही बना रहता है। हमारे विचार में अनुच्छेद 145 में अनुध्यात निक्षेप वह निक्षेप है जो जहां तक सम्भव हो एक पणयम के लगभग हो। दूसरे शब्दों में जिस निक्षेप को अनुच्छेद 145 लागू होता है वह सिर्फ ऐसा निक्षेप है जिसमें सौंपे जाने का तत्व हो। जबकि पणयम के मामले में सौंपा जाना किसी ऋण की प्रतिभूति के रूप में होता है किन्तु निक्षेप के मामले में वह सुरक्षित अभिरक्षा के लिए होता है और इसमें ऋण या प्रतिभूति का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु फिर भी इस संव्यवहार में मुख्य बात सौंपे जाने का मूल तत्व है......"

तत्पश्चात् आगे यह और कहा गया है कि—

> "किन्तु इस मामले में एक अन्य महत्वपूर्ण परिस्थिति भी है जिसकी तरफ ध्यान देना आवश्यक है और वह निक्षेप की प्रकृति है जबकि निक्षेप किसी संविदा का पालन करने के लिए किया जाता है। इस तथ्य पर विचार करने के लिए हमें अब्दुल गनी एण्ड० कं० **बनाम** न्यासी, मुम्बई पत्तन : 54 बाम्बे एल० आर० 273=ए० आई० आर० 1952 मुम्बई 310 और (बाम्बे एल० जे० के पृष्ठ 275 और ए० आई० आर० का पृ० 311) पर विचार करने का मौका मिला था। किसी संविदा के पालन के लिए किए गए निक्षेप की दोहरी भूमिका को स्पष्ट

---

[1] ए० आई० आर० 1921 कलकत्ता 416.

[2] ए० आई० आर० 1960 मुम्बई 404.

करने के लिए हमने होव बनाम स्मिथ (1894) 27 चांसरी डिवीजन 89 में दिए गए माननीय न्यायाधीश फ्राई के निर्णय का अवलम्ब लिया था और माननीय न्यायाधीश फ्राई ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया था :—

"यह (अर्थात् किसी संविदा का पालन करने के लिए निक्षेप) मात्र एक आंशिक संदाय नहीं है बल्कि यह इस प्रकार किए गए सौदे को आबद्ध करने के लिए अग्रिम (धन) भी है और जिसके समपहरण के भय के कारण शेष संविदा के पालन के लिए प्रार्थना की जाती है।" "यदि वादियों द्वारा किए गए निक्षेप केवल अग्रिम (धन) हैं या संविदा के पालन के लिए केवल प्रतिभूति हैं तब श्री शाह की बहस में कुछ बल हो सकता है। तब यह दलील दी जा सकती थी कि संविदा के दूसरे पक्षकार को यह धन प्रतिभूति के रूप में सौंपा गया था या यदि संविदा का पालन कर दिया जाता है या संविदा का पालन नहीं किया जा सकता है जिसका पालन न करने में दूसरे पक्षकार की कोई गलती नहीं है तो प्रतिभूति वापस कर दी जाएगी। किन्तु जब यह धन कोई भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेता है यदि यह सिर्फ प्रतिभूति नहीं है बल्कि आंशिक संदाय भी है तो श्री शाह की बहस पूर्ण रूप से असफल रहती है : ......"

20. इसलिए इस अनुच्छेद के अर्थ में प्रतिवादी से जो भी वसूल किया जाना है वह वादी द्वारा आरम्भ में जमा किया जाना चाहिए था जो इस बोध पर किया जाना था कि वह उसे वापस कर दिया जाएगा। निक्षेप में वह राशि सम्मिलित नहीं हो सकती जिसे वादी ने वास्तव में प्रतिवादी के पास जमा नहीं किया है। बल्कि जो संविदा के निबन्धनों के अधीन प्रतिवादी से उसे शोध्य हुआ है। प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर इन कसौटियों को लागू करने पर यह अभिनिर्धारित करना असंभव है कि प्रत्यर्थियों द्वारा अपने वाद में जिसका दावा किया गया है वह अपीलार्थी के पास किया गया निक्षेप था। बीमा की संविदा के अधीन 20,000 रुपए की यह रकम सरदार अमर सिंह के हक में उसकी पत्नी हरबंस कौर की मृत्यु पर देय हुई है जो उसके द्वारा अपीलार्थी के पास वास्तव में जमा नहीं की गई थी। अपीलार्थी इस रकम को एक उपनिहिती के रूप में नहीं रखे हुए था और न सरदार अमर सिंह ने उसके पास यह रकम किसी ऋण की प्रतिभूति के रूप में या संविदा के सम्यक् पालन के लिए या सुरक्षित अभिरक्षा के लिए जमा

की थी। यहां तक कि वह छोटा प्रीमियम जिसे उसे अपनी पत्नी हरबंस कौर की मृत्यु के पूर्व जमा करना था, इन वर्गों में से किसी में भी नहीं आता। इस प्रकार का सौंपा जाना भी सिर्फ इस तथ्य से विवक्षित नहीं हो सकता कि अपीलार्थी इस रकम को सरदार अमर सिंह के दावे को बिना स्वीकार किए हुए या खारिज किए हुए अपने पास रखे रहा। कोई भी यह बात नहीं समझ सकता कि सरदार अमर सिंह अपीलार्थी के पास इस रकम को क्यों जमा करता जबकि इस पर कोई भी ब्याज नहीं मिलना था। इसलिए मेरा यह स्पष्ट विचार है कि प्रस्तुत वाद किसी तर्क द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन नहीं आता।

21. अब मैं धारा 10 पर आता हूं। यह विधिपूर्ण रूप से स्थिर है कि धारा 10 को लागू करने से पहले वादी को अभिव्यक्त न्यास का बनाया जाना साबित करना चाहिए और यह साबित करना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए बनाया गया है। यह धारा न तो किसी विवक्षित, परिणामी या आन्वयिक न्यास को लागू होती है और न विधि के प्रवर्तन द्वारा सजित न्यास को लागू होती है। इस मुद्दे पर अनेक नजीरें हैं। उदाहरण के लिए **मैसर्स ब्रह्मय्या एण्ड कं० बनाम वी० एस० रामास्वामी अय्यर और एक अन्य**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

"......परिसीमा अधिनियम की धारा 10 सिर्फ 'किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए सजित न्यास' को ही लागू होती है यानी अभिव्यक्त न्यास के मामले में लागू होती है और विवक्षित न्यास को लागू नहीं हो सकती, अर्थात् इस प्रकार के न्यास को लागू होती है जो विधि के अनुसार किन्हीं विशिष्ट तथ्यों की विद्यमानता या वैश्वासिक संबंधों से विवक्षित है। इण्डियन लिमिटेशन ऐक्ट की धारा 10 उन मामलों में लागू होती है जो इंग्लैंड के न्यायालयों की विधि में अभिव्यक्त न्यास के नाम से पुकारे जाते हैं और आन्वयिक न्यास को लागू नहीं होती हैं। सोर एशबेल (1893-2 क्वीन्स बैंच 390) के सुप्रसिद्ध मामले का यह सिद्धांत कि परिसीमा का नियम कतिपय प्रकार के आन्वयिक न्यासों को लागू नहीं होगा, भारत वर्ष में लागू नहीं होता है। प्रत्यर्थी के विद्वान् अधिवक्ता द्वारा उद्धृत निर्णय (ए० आई० आर० 1931 मद्रास 58=60 मद्रास एल० जे० 280) का मैंने पहले ही निर्देश किया है जो उसने अपनी इस दलील के समर्थन में उद्धृत किया था कि किसी कम्पनी के निदेशक

---

[1] ए० आई० आर० 1966 मद्रास 247.

अभिव्यक्त न्यासी नहीं हैं । काठियावाड़ ट्रेडिंग कंपनी बनाम वीरचन्द दीपचन्द (आई० एल० आर० 18 मुम्बई 119) में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि निदेशक कंपनी के उस धन के बदले धन देने के लिए जिम्मेदार है जिसका उन्होंने उस प्रयोजन के लिए उपयोग करते हुये दुरुपयोजन किया था जो अधिकारातीत था किन्तु उनके विरुद्ध किए गए दावे को परिसीमा अधिनियम की धारा 10 के अवलम्ब द्वारा व्यावृत्ति प्रदान नहीं की जा सकती क्योंकि वे सिर्फ न्यासी सदृश थे और यह कहना परिसीमा अधिनियम की धारा 10 की भाषा को अधिक बोझिल बनाना होगा कि वे ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर कंपनी की सम्पत्ति न्यस्त की गई है जैसा कि उस धारा में अनुध्यात किया गया है......"

22. **जोसफ अन्नम्मा के मामले**[1] में वादियों ने 4,000 रुपये की वसूली के लिए एक वाद फाइल किया था जिसका द्वितीय वादी ने अपनी पुत्री, जो वाद में प्रथम वादी है, की शादी पर रूढ़िगत स्त्री धन के रूप में प्रतिवादियों के पिता को संदाय किया था । वह वाद रकम के संदाय के 18 वर्ष बाद फाइल किया गया था और वादियों की ओर से यह अनुरोध किया गया था कि यह वाद न्यास-भंग के लिए किया गया है जिसके लिए धारा 10 लागू होती है। इस दलील को न्यायालय ने इन मताभिव्यक्तियों के साथ नामंजूर कर दिया था :—

"मैं अब परिसीमा के प्रश्न पर विचार करूंगा । यह स्पष्ट है कि इण्डियन लिमिटेशन, ऐक्ट 1908 की धारा 10 इस मामले में लागू नहीं होगी । वह धारा सिर्फ उस व्यक्ति के विरुद्ध वाद में लागू होती है जिसमें सम्पत्ति किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए न्यास में निहित हो जाती है, या उसके विधिक प्रतिनिधियों या समनुदेशिती के विरुद्ध (जो मूल्यवान प्रतिफल के लिए समनुदेशिती नहीं है) वाद में लागू होती है जो उसके या उनके हाथों में इस प्रकार की सम्पत्ति या उसके आगम या इस प्रकार की सम्पत्ति की रकम या उसके किसी आगम आने के प्रयोजन के लिए हो । यहां पर ऐसा कोई भी मामला नहीं है, कि प्रथम वादी द्वारा कोराह को संदाय किया गया स्त्री धन किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिये कोराह में निहित हो गया है । स्पष्ट रूप से स्त्री धन किसी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए न्यास के रूप में होना

[1] ए० आई० आर० 1972 केरल 170.

आशयित नहीं है। विवक्षित न्यास या न्यास की प्रवृत्ति की बाध्यताएं इण्डियन लिमिटेशन ऐक्ट, 1908 की धारा 10 की परिधि में नहीं आती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह धारा इस मामले में लागू होती है।"

और अधिक नजीरों को देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इसी प्रकार का दृष्टिकोण **के० आर० कुमारस्वामी चैट्टियार** बनाम **कृष्णास्वामी चैट्टी**[1] और **रामचन्द्र जीवाजी कानागो और एक अन्य** बनाम **लक्ष्मण श्रीनिवास नायक और एक अन्य**[2] में अपनाया गया था। **कृपा नाथ और एक अन्य** बनाम **गंगा प्रसाद और अन्य**[3] में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 10 विधि के प्रवर्तन द्वारा निर्मित न्यासों को लागू नहीं होती।

23. ट्रस्ट्स ऐक्ट की धारा 3 में न्यास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि " 'न्यास' सम्पत्ति के स्वामित्व से उपाबद्ध और दूसरे के या दूसरे और स्वामी के फायदे के लिए स्वामी पर रखे गये और स्वामी द्वारा प्रतिगृहीत या उसके द्वारा घोषित और प्रतिगृहीत विश्वास से उद्भूत बाध्यता है।" अतः इस परिभाषा के अनुसार न्यास सम्पत्ति का स्वामित्व न्यासी में निहित होता है। अधिनियम की धारा 6, जो अभिव्यक्त न्यास के सृजन के बारे में है, निम्न प्रकार है :—

"6. धारा 5 के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए यह है कि न्यास का सृजन तब होता है, जब न्यासकर्ता किन्हीं शब्दों या कार्यों से—(क) न्यास का तद्-द्वारा सृजन करने का अपना आशय, (ख) न्यास का प्रयोजन, (ग) हिताधिकारी, और (घ) न्यास सम्पत्ति युक्तियुक्त निश्चितता के साथ उपदर्शित कर देता है और (यदि न्यास विल द्वारा घोषित न हो या न्यासकर्ता को स्वयं न्यासी न होना हो तो) न्यासी को न्यास सम्पत्ति अन्तरित कर देता है।"

इस धारा की स्पष्ट भाषा के आधार पर न्यास सृजन करने का आशय उसके सृजन का प्रयोजन, इसके अधीन हिताधिकारी और न्यास सम्पत्ति न्यासकर्ता द्वारा युक्तियुक्त निश्चितता के साथ उपदर्शित की जानी चाहिए। **पटेल छोटाभाई और अन्य** बनाम **ज्ञानचन्द्र बसक और अन्य**[4] में प्रिवी कौंसिल द्वारा न्यास के सृजन पर अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किए थे :—

---

[1] ए० आई० आर० 1956 मद्रास 96.
[2] ए० आई० आर० 1945 प्रिवी कौंसिल 54.
[3] ए० आई० आर० 1962 इलाहाबाद 256.
[4] ए० आई० आर० 1935 प्रिवी कौंसिल 97.

"......सर्वप्रथम अभिकथित न्यासकर्ता या कर्ताओं को निश्चित करना महत्वपूर्ण है। तत्पश्चात् न्यास का सृजन करने का आशय भी युक्तियुक्त निश्चितताओं के साथ शब्दों द्वारा या कार्यों के द्वारा उपदर्शित किया जाना चाहिए। न्यास का प्रयोजन, न्यास सम्पत्ति, और हिताधिकारी इस तरीके से उपदर्शित किए जाने चाहिएं कि यदि अवसर आए तो न्यायालय द्वारा उस न्यास का प्रशासन चलाया जा सके।"

24. इसी आशय के विचार **चैम्बर्स बनाम चैम्बर्स और अन्य**[1] में व्यक्त किए गये हैं, जो इस प्रकार हैं :—

"न्यासकर्ता या न्यासियों द्वारा हस्ताक्षरित ऐसी कोई भी लिखित निर्वसीयती लिखत नहीं है जिसके द्वारा न्यास की घोषणा की गई हो। 6 अगस्त, 1919 के पत्र में जिसे न्या० जेंटल द्वारा न्यास की घोषणा की कोटि में आने वाला माना गया है, अभिव्यक्त रूप से विपरीत कथन किया गया है। श्रीमती चैम्बर्स के पास जमा किए गए दो लाख रुपये को उस पत्र में 'पूरी तरह श्री चैम्बर्स द्वारा उसे दान में दिए गए व्यक्तिगत दान की प्रकृति के रूप में' वर्णित किया गया है। श्री चैम्बर्स ने युक्तियुक्त निश्चितता के साथ किसी भी शब्द द्वारा या अपनी तरफ से किसी कार्य के द्वारा न्यास का सृजन करने का आशय कभी उपदर्शित नहीं किया। उसके कार्य हमेशा ही इस प्रकार के आशय से असंगत थे। न्यास सम्पत्ति के बारे में माननीय न्यायाधीश द्वारा पहले ही यह बताया जा चुका है कि इस प्रकार का कोई भी अभिनिश्चय और समुचितता नहीं है जैसा विधि अपेक्षा करती है। अपीलार्थी के विरुद्ध निष्कर्ष निकालते समय माननीय न्यायाधीश न्यास अधिनियम के निबन्धनों पर अग्रसर हुए हैं। किन्तु इस मामले में लागू होने वाली न्यास विधि का साधारण सिद्धांत जैसा कि विद्वान् मुख्य न्यायाधीश ने दर्शित किया है, भारत में वैसी ही है जैसी कि इंग्लैण्ड में है और इंग्लैंड के न्यायालयों की वे नजीरें, जिनको कि उसने उद्धृत किया है, उनके द्वारा या उनके साथियों के द्वारा अपनाये गए दृष्टिकोण को न्यायोचित ठहराती हैं। प्रस्तुत मामले में ऐसा कुछ भी नहीं है जो न्यास की घोषणा की कोटि में आती हो और न्यास की अभिकथित विषयवस्तु श्री चैम्बर्स द्वारा अलग नहीं हटा दी गयी है......।"

25. प्रस्तुत मामले में इस प्रकार का कोई भी अभिवचन नहीं किया गया

[1] ए० आई० आर० 1944 प्रिवी कौंसिल 78.

है और न कोई सबूत है जो यह दर्शित करे कि सरदार अमर सिंह ने उपर्युक्त 20,000 रुपये की रकम के रूप में किसी भी न्यास का सृजन करने के लिए अपने आशय की घोषणा की हो। यह न तो अभिवचन किया गया है और न यह साबित किया गया है कि इस न्याय के अधीन कौन हिताधिकारी थे और कौन न्यासी थे। सब कुछ सरदार अमर सिंह के दावे को अपीलार्थी के अपने जीवन-काल में स्वीकार करने या अस्वीकार करते हुए चुप रहने से ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए इस अनुमान के बारे में कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि यह स्पष्टतः बेतुकी है और प्रत्यर्थियों की कल्पना के अलावा और कुछ नहीं है। अभिव्यक्त या विवक्षित न्यास को सिद्ध करने के लिए कण-मात्र भी साक्ष्य नहीं है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल हमारा ध्यान विधि के किसी भी ऐसे उपबन्ध की ओर आकर्षित करने में असफल रहे हैं जिसके अधीन इन परिस्थितियों में कोई न्यास विवक्षित न्यास माना जा सके।

26. बीमा की पलिसी के निबन्धनानुसार उत्तरजीवी बीमाकृत व्यक्ति 20,000 रुपये को अपीलार्थी से 10 जून, 1959 को वसूल करने का हकदार हो गया था जब उसकी पत्नी हरबन्स कौर की मृत्यु हुई थी। प्रतिवादी साक्ष्यी नरेश कुमार का यह साक्ष्य है कि सरदार अमर सिंह द्वारा इस तथ्य की जानकारी अपीलार्थी के समक्ष 10 मार्च, 1960 या इसके लगभग ला दी गई थी। इसके पहले भी हरबन्स कौर के पिता ने अपीलार्थी को 15 जून, 1959 को एक पत्र लिखा था जिसके द्वारा यह सूचना दी गई थी कि हरबन्स कौर की मृत्यु हो गई है। किन्तु उसकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई थी। इस वाद को स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 57 लागू होता है जो निस्संदेह इस प्रकार के वादों के लिए एक विनिर्दिष्ट अनुच्छेद है। यह वाद उस तारीख से जिस तारीख को उसके द्वारा अपनी पत्नी की मृत्यु का तथ्य अपीलार्थी की जानकारी में लाया गया था, 3 वर्ष के अन्दर सरदार अमर सिंह द्वारा संस्थित किया जाना चाहिए था। इसके बजाय वह 10 वर्ष की लम्बी अवधि तक इन्तजार करता रहा और इससे पहले कि वह कोई वाद फाइल कर पाता, स्वयं भी 18 अगस्त, 1970 को एक दुर्घटना में मर गया। इस रकम के लिए दावा करने का उसका स्वयं का उपचार समाप्त हो जाने के कारण उसके वारिसों के लिए ऐसा कुछ भी बाकी नहीं रहा जिससे वे उसकी सम्पदा को विरासत में पाने का दावा कर सकें। यदि उसकी मृत्यु तीन वर्ष की उक्त अवधि के समाप्त होने के पूर्व हो जाती तो भी उसके वारिस उसी तीन वर्ष की अवधि के अन्दर वाद फाइल करने के लिए बाध्य थे। क्योंकि जो काल, जो एक बार चलना आरम्भ हो चुका होता है, वह उनके द्वारा वाद फाइल न करने में किसी भी पश्चात्वर्ती अयोग्यता या असमर्थता के कारण रुक नहीं सकता, जैसा कि

लिमिटेशन ऐक्ट की धारा 9 में उपबन्धित है। यहां तक कि दोनों प्रत्यर्थियों की अवयस्कता भी उस मामले में अप्रासंगिक होगी। इस प्रकार विचार करने पर यह वाद पूर्ण रूप से कालवर्जित है जिसे विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा घोषित करने की बजाए खारिज कर देना चाहिए था।

27. परिणामतः अपील मंजूर की जाती है। विद्वान जिला न्यायाधीश के आदेश और डिक्री को अपास्त किया जाता है और प्रत्यर्थियों के वाद को खारिज किया जाता है। इस मामले की विशिष्ट परिस्थितियों में पक्षकार अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करेंगे।

मु० न्या० मुफ्ती बहाउद्दीन फारुकी :

मुझे अपने विद्वान् बन्धु द्वारा दिए गए, निर्णय का अध्ययन करने का लाभ प्राप्त हुआ है। फिर भी मैं इस दलील के समर्थन में अपने स्वयं के कुछ शब्द कहना चाहूंगा कि जम्मू के जिला न्यायाधीश को इस वाद को सुनने और निपटारा करने की अधिकारिता प्राप्त थी। इस संबन्ध में कुछ तथ्यों को कहना आवश्यक होगा। प्रत्यर्थियों-वादियों के पूर्वाधिकारी सरदार अमर सिंह और उसकी पत्नी हरबंस कौर ने एक संयुक्त बीमा पालिसी ली थी जिसके निबन्धनानुसार किसी एक की मृत्यु पर दूसरा उत्तरजीवी व्यक्ति अपीलार्थी-निगम से बीमाकृत राशि को प्राप्त करने का हकदार था। हरबंस कौर की मृत्यु ड्योढ़ा में 10 मई, 1959 को हुई थी। सरदार अमर सिंह ने अपीलार्थी-निगम के समक्ष एक दावा पेश किया था जो उस समय भी लम्बित था जब उसकी मृत्यु 18 अगस्त, 1970 को हुई थी। यह वाद आरम्भ में जम्मू के जिला न्यायाधीश के न्यायालय में संस्थित किया गया था। जिला न्यायाधीश ने वाद को समुचित न्यायालय में पेश करने के लिए इसी आधार पर वापस कर दिया कि वाद का मूल्यांकन उसकी धन सम्बन्धी अधिकारिता से अधिक है यहां यह उल्लिखित किया जा सकता है कि अधिकारिता के प्रयोजन के लिए वाद का मूल्यांकन 20,000 रुपये किया गया था और वह उच्च न्यायालय द्वारा संज्ञेय था। वादी ने इस वाद को उच्च न्यायालय में प्रस्तुत किया और उच्च न्यायालय ने उसे जम्मू के जिला न्यायाधीश के यहां स्थानान्तरित कर दिया। स्थानान्तरण के इस आदेश के द्वारा जम्मू के जिला न्यायाधीश को इस वाद का विचारण करने की अधिकारिता प्राप्त हो गई। और वाद के विचारण में इस आधार पर कोई कमी नहीं हो सकती कि ड्योढा, जहां पर सरदार अमर सिंह को और उसकी अनुपस्थिति में उसके हित उत्तराधिकारियों को वाद लाने का अधिकार प्रोद्भूत हुआ था, वाद संस्थित करने की तारीख पर उसकी क्षेत्रीय अधिकारिता में सम्मिलित नहीं था। इस आधार पर अपने विद्वान् बन्धु से सहमत हूं कि जम्मू के जिला न्यायाधीश को इस वाद को सुनने

और उसका निपटारा करने की अधिकारिता थी। दूसरे मुद्दों पर मुझे अपने विद्वान् बन्धु के निर्णय के बारे में कुछ भी नहीं कहना है जिनके साथ मैं पूरी तरह सहमत हूं। इस दृष्टिकोण से भी मैं उनके द्वारा प्रस्तावित आदेश से पूर्ण सहमत हूं।

अपील मंजूर की गई।

शर्मा/प्रमोद

नि० प० 1984 : जम्मू-कश्मीर—31

मोहिन्द्र सिंह जामवाल बनाम जम्मू विश्वविद्यालय और अन्य

(Mohinder Singh Jamwal *Vs.* University of Jammu & others)

तारीख 5 नवम्बर, 1983

[मु० न्या० बी० खालिद]

संविधान, 1950 अनुच्छेद 226—विश्वविद्यालय परीक्षाओं में विद्यार्थी द्वारा अनुचित साधनों के अपनाए जाने वाले मामले को यदि विश्वविद्यालय के उच्च शैक्षणिक निकाय ने प्रक्रिया विषयक नियमों और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का यथावत् अनुपालन करते हुए सम्यक् विचार-विमर्श के पश्चात् विनिश्चित किया है तो ऐसे विनिश्चय में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

पिटीशनर मई-जून, 1982 में ली गई बी० ए० फाइनल (ओल्ड स्कीम) की परीक्षा में प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में सम्मिलित हुआ था। परीक्षा का परिणाम अगस्त, 1982 में घोषित किया गया किन्तु पिटीशनर का परिणाम घोषित नहीं किया गया। उसे यह ज्ञात हुआ कि उसका परिणाम अनुचित साधनों के प्रयोग के कारण रोक लिया गया है। उसने जम्मू विश्वविद्यालय परीक्षा नियंत्रक से सम्पर्क किया और उसे उसका परिणाम घोषित न करने का कारण ज्ञात हुआ। उसे दिसम्बर में एक सूचना प्राप्त हुई जिसमें यह कहा गया कि उसके विरुद्ध अनुचित साधनों के प्रयोग के अभिकथन हैं। उसे सक्षम प्राधिकारी, जो रिट पिटीशन में तृतीय प्रत्यर्थी है, के समक्ष उपस्थित होने के लिए और अपना लिखित स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिए कहा गया। इस सूचना के साथ उसे उसके विरुद्ध अभिकथनों की प्रतिलिपि भी दी गई। उसने

अपने स्पष्टीकरण में कहा कि वह निर्दोष है और उसने अपने विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों से इनकार किया। वह तृतीय प्रत्यर्थी के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने यह प्रार्थना की कि उसे साक्षियों से प्रतिपरीक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया जाए। उसे जम्मू विश्वविद्यालय के डिप्टी रजिस्ट्रार के यहां मे एक सूचना प्राप्त हुई जिसमें यह सूचना दी गई कि कुलपति द्वारा एक समिति का गठन किया गया है जिसने उसके समक्ष रखी गई समस्त सामग्री पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि पिटीशनर अनुचित साधनों का प्रयोग करने का दोषी है, अतः समिति ने यह प्रस्ताव रखा कि उसे विश्वविद्यालय की किसी भी परीक्षा में सम्मिलित होने और उसे उत्तीर्ण करने के लिए तीन वर्ष के लिए निर्रहित घोषित किया जाए। अंत में पिटीशनर को छठवें प्रत्यर्थी से एक अधिसूचना प्राप्त हुई जिसके द्वारा उसे प्रस्तावित दण्ड को अधिरोपित करने की सूचना दी गई। इसलिए यह पिटीशन फाइल किया गया है। इस पिटीशन में उपरोक्त आदेश को अपास्त करने और प्रत्यर्थियों को यह निदेश देने के लिए यह प्रार्थना की गई है कि वे पिटीशनर का परीक्षाफल घोषित करें। पिटीशनर ने यह दलील दी कि उसके साथ निष्ठुरता का व्यवहार किया गया है और उसके विरुद्ध विधि के मान्य सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से अतिक्रमण किया गया है तथा यह कार्यवाही सुसंगत परिनियमों में विनिर्दिष्ट आदेशों और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अतिक्रमण में की गई है। ये दलीलें दी गई कि (1) कि उसे उन आरोपों के नाम के साथ उनका विवरण नहीं दिया गया था जिससे कि वह उनका उत्तर दे सकता, (2) समिति, जिसने उसके विरुद्ध अभिकथनों की जांच की थी, कुलपति द्वारा गठित की गई घरेलू समिति है, तथा परिनियम द्वारा अनुध्यात सक्षम प्राधिकारी नहीं है, और (3) कार्यवाही प्रारम्भ करने में अत्यधिक विलम्ब कार्यवाहियों को विधि की दृष्टि में अनुचित बना देता है।

प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय को इस प्रकार की उच्च शैक्षणिक समिति द्वारा पारित आदेश में हस्तक्षेप करना चाहिए जिसमें कि अनुचित साधनों के प्रयोग के गंभीर आरोप हों।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

यह कहना सही नहीं है कि उसे अभिकथनों का विवरण नहीं दिया गया था। 11 दिसम्बर, 1982 की आरंभिक सूचना के साथ अधिकथनों का विवरण दिया गया था जो उसका स्पष्टीकरण देने के लिए पर्याप्त था। (पैरा 5)

यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें पिटीशनर या अन्य अभ्यर्थियों को परीक्षा-भवन में रंगे हाथों पकड़ा गया हो। परीक्षा-भवन के भार-साधक प्राधिकारी ने गलत तरीकों के प्रयोग का संदेह किया। उन्होंने उत्तर-पुस्तिका के

लिख दिए जाने के तुरंत पश्चात् ही ध्यान दिया। उसके बाद उन्होंने उत्तर पुस्तिका वापस प्राप्त होने के बाद टिप्पणी देते हुए सत्यापन किया। यह प्रक्रिया सामान्य अनुक्रम में समय लेती है। इस प्रकार के मामलों में परिनियम 3(क) और परिनियम 5(क) का यथावत् रूप से अनुपालन करना संभव नहीं है। यदि केवल संदेह पर तुरन्त कार्रवाई की जाए तो पिटीशनर पर इसका प्रतिकूल गंभीर प्रभाव पड़ेगा। ऐसे मामले में सम्यक् विचार-विमर्श और अपेक्षित सबूत आवश्यक है। प्राधिकारी इस मामले में जल्दी करना नहीं चाहते थे और यह देखना चाहते थे कि पिटीशनर के विरुद्ध लगाए गए अभियोग क्या सुस्थापित किए जा चुके हैं या नहीं। इसलिए कार्रवाइयां आरंभ करने में विलम्ब होना आवश्यक था। (पैरा 8)

उच्च शैक्षणिक निकायों के समक्ष जांच में अपचारी को साक्षियों से प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार नहीं दिया जाता है और न दिया जा सकता है। जैसा कि न्यायिक कार्यवाहियों में किया जाता है, और न इस प्रकार का व्यक्ति विश्वविद्यालय के सम्पूर्ण अभिलेखों का मुआयना करने का दावा कर सकता है। जो कुछ भी आवश्यक है वह यह है कि उसे उन अभिकथनों की, जो उसके विरुद्ध लगाए गए हैं, सूचना दी जाए। (पैरा 8)

सक्षम प्राधिकारी ने भी पिटीशनर को सुना था और उसके द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर विचार किया था। इस प्रकार अंत में दिया गया निष्कर्ष कुलपति द्वारा गठित की गई समिति का नहीं बल्कि कानून 16 में वर्णित सक्षम प्राधिकारी, कुलपति द्वारा दिया गया निष्कर्ष है। (पैरा 9)

प्रदर्श ग-1 सक्षम प्राधिकारी ने पिटीशनर के स्पष्टीकरण पर विचार-विमर्श के बाद पारित किया था। इससे पूर्व पिटीशनर को दो सूचनाएं दी गई थीं। नैसर्गिक न्याय के अतिक्रमण का प्रश्न वहां उत्पन्न होता है जहां पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध उसकी सुनवाई किए बिना उसके अहित में कुछ किया जाता है। यह इस प्रकार का मामला नहीं है। (पैरा 10)

उच्च शैक्षणिक निकाय द्वारा पारित आक्षेपित आदेश, जिसमें गलत तरीके अपनाए जाने के काफी गंभीर आरोप थे, एक ऐसा विनिश्चय है जो सम्यक् विचार-विमर्श और प्रक्रिया के नियमों तथा नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों का यथावत् रूप से पालन करते हुए लिया गया है, अतः इसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। (पैरा 12)

पैरा

[1983] ए० आई० आर० 1983 जम्मू-कश्मीर 19 : 7

बलविन्दर सिंह और अन्य बनाम जम्मू विश्वविद्यालय और

अन्य (Balwinder Singh & others *Vs.* University of Jammu & others);

[1983] ए० आई० आर० 1983 केरल 200 : पी० एम० उन्नी राजू और अन्य **बनाम** प्रधानाचार्य, मैडीकल कालेज, त्रिवेन्द्रम (P. M. Unni Raju & others *Vs.* Principal, Medical College, Trivendram); 12

[1977] ए० आई० आर० 1977 जम्मू-कश्मीर 1 : हरिदयाल और एक अन्य **बनाम** जम्मू और कश्मीर राज्य और एक अन्य (Haridayal and another *Vs.* State of Jammu & Kashmir and another); 11

[1970] ए० आई० आर० 1970 केरल 142 : पी० एम० कुरीन **बनाम** पी० एस० राघवन और अन्य (P. M. Kurien *Vs.* P. S. Raghavan and others) 12

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का रिट पिटीशन सं० 741.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किया गया रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री ए० एच० काज़ी

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री टी० एस० ठाकुर

मु० न्या० बी० खालिद :

पिटीशनर मई-जून 1982 में ली गई बी० ए० फाइनल (ओल्ड स्कीम) की परीक्षा में प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में सम्मिलित हुआ । उसका रोल नम्बर 4609 था । परीक्षा का परिणाम 13 अगस्त, 1982 को घोषित किया गया किन्तु पिटीशनर का परिणाम घोषित नहीं किया गया । राजपत्र के द्वारा उसे यह ज्ञात हुआ कि उसका परिणाम अनुचित साधनों के प्रयोग के कारण रोक लिया गया था । उसने प्रत्यर्थी संख्या 4 से, जो जम्मू विश्वविद्यालय की परीक्षाओं का नियंत्रक था, सम्पर्क किया और उससे यह जानकारी प्राप्त की कि उसका परीक्षा-फल क्यों नहीं घोषित किया गया । यह कहा गया कि उसने पिटीशनर को यह आश्वासन दिया कि उसके विरुद्ध कोई भी शिकायत नहीं है और उसका

परीक्षा-फल शीघ्र ही घोषित कर दिया जाएगा। पिटीशनर ने इंतजार किया। किन्तु उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसे 11 दिसम्बर, 1982 को सूचना (उपाबंध क-1) की तामील की गई, जिसमें उसे यह सूचना दी गई कि उसके विरुद्ध उसके द्वारा अनुचित साधनों के प्रयोग के अभिकथन हैं और उसे 21 दिसम्बर, 1982 को सक्षम प्राधिकारी, जो रिट पिटीशन में तृतीय प्रत्यर्थी है, के समक्ष उपस्थित होने और उस तारीख से पहले अपना लिखित स्पष्टीकरण देने के लिए कहा गया है। उक्त सूचना के साथ उसके विरुद्ध अभिकथनों की प्रतिलिपि (उपाबंध क-2) दी गई। पिटीशनर ने पंचम प्रत्यर्थी, सहायक रजिस्ट्रार (सचिव, जम्मू विश्वविद्यालय) को अपना लिखित स्पष्टीकरण भेजा। उसमें यह कहा गया कि वह निर्दोष है और अपने विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों से इंकार किया (यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया गया है)। वह तृतीय प्रत्यर्थी के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने यह प्रार्थना की कि उसे साक्षियों से प्रति-परीक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया जाए। तृतीय प्रत्यर्थी ने भी पिटीशनर को यह आश्वासन दिया कि उसके विरुद्ध कोई भी अभियोग नहीं हैं और उसका परीक्षा-फल घोषित कर दिया जाएगा। पिटीशनर ने तारीख 14 फरवरी, 1983 तक इंतजार किया जबकि उसे एक अन्य सूचना (उपाबंध क-1) प्राप्त हुई जो छटवें प्रत्यर्थी, जम्मू विश्वविद्यालय के डिप्टी रजिस्ट्रार द्वारा जारी की गई थी जिसके द्वारा उसे यह सूचित किया गया कि द्वितीय प्रत्यर्थी, कुलपति द्वारा एक समिति का गठन किया गया है जिसने उसके समक्ष रखी गई समस्त सामग्री पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि पिटीशनर अनुचित साधनों का प्रयोग करने का दोषी है और समिति ने यह प्रस्ताव रखा कि पिटीशनर को विश्वविद्यालय की किसी भी परीक्षा में प्रवेश पाने और इस प्रकार की परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए 3 वर्ष की अवधि के लिए निर्रहित घोषित किया जाए। पिटीशनर ने इस सूचना का अपनी पहली बात को दोहराते हुए यह जवाब भेजा कि वह निर्दोष है (प्रस्तुत नहीं किया गया)। अन्त में पिटीशनर को छटवें प्रत्यर्थी से 13 जून, 1983 की अधिसूचना प्रदर्श ग-1 प्राप्त हुई जिसके द्वारा उसे प्रस्तावित दण्ड अधिरोपित करने की सूचना दी गई। इसलिए यह पिटीशन फाइल किया गया है।

2. इस पिटीशन में उपाबंध ग-1 संख्या सचिव/II/83/1037-50 को अभिखण्डित करने और प्रत्यर्थियों को यह निदेश के लिए प्रार्थना की गई है कि वे प्रत्यर्थी की बी० ए० फाइनल (ओल्ड स्कीम) की मई, 1982 में ली गई परीक्षा के परिणाम को घोषित करें और अन्य ऐसे आनुषंगिक अनुतोषों;

जिन्हें यह न्यायालय प्रदान करने के लिए उचित समझे, के लिए भी प्रार्थना की गई।

3. जिन आधारों पर उपरोक्त प्रार्थनाएं की गई हैं वे निम्नलिखित हैं :—

(i) प्रथम सूचना के साथ अभिकथनों का कथन अनुचित साधन/अवचार के मामले को शासित करने वाले परिनियमों के परिनियम 4 (एच) के अर्थान्तर्गत विधि की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है, आरोपों के आधार अलग से दिए जाने चाहिए,

(ii) चूंकि आक्षेपित आदेश पारित करने से पूर्व अपेक्षित हेतुक दर्शित करने की सूचना पिटीशनर को जारी नहीं की गई है, अतः परिनियम 3(क) और 5(क) का अतिक्रमण हुआ है,

(iii) कार्रवाइयों के आरम्भ करने में अत्यधिक विलम्ब हुआ है इसलिए कार्रवाइयां विधि की दृष्टि से दोषपूर्ण हो गई हैं,

(iv) पिटीशनर को उन अभिलेखों को देखने के लिए अनुज्ञात नहीं किया गया था जिनके आधार पर उनके विरुद्ध कार्रवाइयां की गई थीं,

(v) पिटीशनर को कार्रवाइयों में भाग लेने और साक्षियों से प्रतिपरीक्षा करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया गया था,

(vi) उस समिति ने जिसने पिटीशनर के विरुद्ध कार्रवाई करने और दण्ड अधिरोपित करने के लिए विनिश्चित किया था, वह परिनियम द्वारा अनुध्यात समिति नहीं है और इस प्रकार सम्पूर्ण कार्रवाईयां दोषपूर्ण हैं,

(vii) आक्षेपित आदेश और पूर्ववर्ती कार्रवाइयां नैसर्गिक-न्याय के सिद्धांत का अतिक्रमण करने के कारण दोषपूर्ण हैं।

4. जब यह रिट पिटीशन मेरे सामने ग्रहण करने के लिए आया तो पिटीशनर के काउंसेल श्री ए० के० काजी ने मेरा ध्यान पिटीशन में किए गए प्रकथनों और अनेक उपाबंधों की ओर आकर्षित किया। उसने सबल रूप से यह दलील दी कि पिटीशनर के साथ सुसंगत परिनियमों में अन्तर्विष्ट आज्ञापक उपबंधों का अतिक्रमण करते हुए तथा नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हुए निष्ठुरता का व्यवहार किया गया है और उसके विरुद्ध कार्रवाई विधि-मान्य सिद्धांतों का पूर्ण रूप से अतिक्रमण करते हुए की गई है। उसने मेरे

समक्ष यह अनुरोध किया—(1) कि पिटीशनर को उन आरोपों के नाम के साथ उनका विवरण नहीं दिया गया जिससे कि पिटीशनर उनका उत्तर दे सकता, (2) कि वह समिति जिसने उसके विरुद्ध अभिकथनों की जांच की थी, कुलपति द्वारा गठित की गई एक घरेलू समिति थी, और (3) वह परिनियम द्वारा अनुध्यात सक्षम प्राधिकारी नहीं थी। श्री टी० एस० ठाकुर, जो विश्वविद्यालय की ओर से हाजिर हुए हैं और जैसा कि मैं चाहता था उसने मेरे समक्ष उन सुसंगत फाइलों को उपलब्ध कराया है जिनमें पिटीशनर के विरुद्ध कार्रवाइयां की गईं जिसका आक्षेपित आदेश उसका परिणाम है।

5. मैं पिटीशनर की ओर से दी गई किसी भी दलील से प्रभावित नहीं हूं। यह कहना सही नहीं है कि उसे अभिकथनों का विवरण नहीं दिया गया था। तारीख 11 दिसम्बर, 1982 के आरम्भिक सूचना के साथ अभिकथनों का विवरण दिया गया था जो उसका स्पष्टीकरण देने के लिए पर्याप्त विवरण थे। उपाबन्ध क-1 सूचना है और उपाबन्ध क-2 अभिकथनों का विवरण है। मेरे मतानुसार प्रदर्श क-2 में यथा आवश्यक पिटीशनर को अपना स्पष्टीकरण देने के लिए अभिकथनों का विवरण दिया गया है। पिटीशनर ने यह अभिनिश्चित करने के लिए उन स्पष्टीकरणों को प्रस्तुत नहीं किया कि क्या वह उस समय आवश्यक सामग्री की कमी के कारण उत्तर देने में कुछ कठिनाई महसूस कर रहा था। विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत की गई वे फाइलें, जिनमें स्पष्टीकरण है, पिटीशनेर की कोई सहायता नहीं करता। पिटीशनर की इस दलील का मूल्यांकन करने के लिए उपाबन्ध क-2 को पढ़ा जाना उपयुक्त हो सकता है :—

> "**रोल नम्बर 4609** : यह पाया गया है कि अंग्रेजी पेपर-बी में तुमने दो पृष्ठ लिखे थे और जिनमें अंतिम शब्द "स्टूडैन्ट्स आल ओवर कम्यूनिटी" थे। परीक्षक से उत्तर-पुस्तिका प्राप्त करने के पश्चात् यह पाया गया कि यह पृष्ठ बाहरी थे। यह उपदर्शित होता है कि तुमने लिखे हुए पृष्ठों को जोड़ा है क्योंकि प्रथम पृष्ठ और बाकी पृष्ठों पर के स्टैम्पल निशान समान नहीं हैं। अर्थशास्त्र के पेपर---'ए' में तुम्हारे द्वारा लिखी गई अन्तिम पंक्ति ("काउ्ड टू दि आफिसियल वर्किंग इन दि इन्स्टीट्यूशन" थी) का मूल्यांकन करने पर यह पाया गया कि यह वाक्य आपके हस्तलेख में नहीं है। बाहरी पृष्ठ और अन्दर के पृष्ठों में पंच सुराख और स्टैम्पल निशानों में असमानता स्पष्ट रूप से यह प्रकट करती है कि अन्दर के पृष्ठ बाहर से लिए गए और उनको प्रतिस्थापित किया गया।

इस दृष्टिकोण में अंग्रेजी पेपर—ए, शिक्षा पेपर—ए और बी

अर्थशास्त्र पेपर—बी में आपके हस्तलेख की संवीक्षा की गई थी। इन सभी मामलों में यह पाया गया कि अन्दर के पृष्ठों को हटाया गया था और लिखे हुए पृष्ठों को पुन: जोड़ा गया था। यह इस तथ्य से सिद्ध हो गया है कि बाहरी पृष्ठ और अन्दर के पृष्ठों में पंच सुराख और स्टैम्पल निशान एक समान नहीं हैं।

इस प्रकार आपके विरुद्ध प्रथमदृष्टया मामला बनता है कि तुमने परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग अवचार से सम्बन्धित परिनियमों के परिनियम 4 के खण्ड-एच के अधीन अन्दर वाले पृष्ठों की तस्करी की है :—

*"(एच) परीक्षा के संबंध में कर्त्तव्यरत कर्मचारीवृन्द की सहमति से या सहमति के बिना परीक्षा के दौरान या उसके पश्चात् उत्तर-पुस्तिका का या अनुपूरक उत्तर-पुस्तिका की तस्करी की जाती है या उन्हें बाहर निकाला जाता है या प्रश्नपत्रों या उत्तर-पुस्तिका या अनुपूरक उत्तर-पुस्तिका को बाहर भेजने की व्यवस्था की जाती है, या उत्तर-पुस्तिका को या इसके अन्दर के पृष्ठों को या अनुपूरक उत्तर-पुस्तिका को प्रतिस्थापित किया जाता है।"

प्रदर्श ए-2 में किए गए प्रकथन गंभीर हैं। पिटीशनर का निर्दोष बनना किसी भी प्राधिकारी को प्रभावित नहीं कर सकता यदि अपनाए गए अनुचित साधन उपाबन्ध क-2 में दिए गए प्रकृति के हैं। अतः यह दलील असफल है।

6. इस परिवाद के सम्बन्ध में कि कार्रवाइयां विलम्ब के कारण दोषपूर्ण हैं, यह दलील भी खारिज की जाती है। यह परिवाद परीक्षा में अवचार/अनुचित साधन के सम्बन्ध में अध्याय '3' के परिनियम 3(क) और 5(क) के अतिक्रमण पर आधारित है। परिनियम 3(1) इस प्रकार हैं :—

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"H. (H) Smuggles in an answer-book or continuation sheet or takes out or arranges to send out the question papers or an answer-book or a continuation sheet or replaces the answer book, its inner sheets, or continuation sheets during or after the examination with or without the connivance of the staff on duty in connection with the examination."

*"3(क) "परीक्षा का भार-साधक अधिकारी" प्रत्येक ऐसे मामले की, जिसमें अनुचित साधन/अवचार का परीक्षा में प्रयोग किया जाना संदेहास्पद हो या प्रकट हो गया हो, साक्ष्य के पूर्ण विवरण और सम्बद्ध अभ्यर्थी के स्पष्टीकरण सहित, इस प्रयोजन के लिए परीक्षा नियंत्रक द्वारा प्रदाय किए गए प्ररूप (उपाबन्ध) पर, बिना विलम्ब और घटना की तारीख को परीक्षा नियंत्रक को रिपोर्ट करेगा।"

अवचार/अनुचित साधन का अभियोग जो परिनियम 4 (एच) के अन्तर्गत आता है, उपाबंध क-2 में दिया गया है। परिनियम 5(क) सूचना के लिए समय-सीमा विहित करता है। यह ऐसा मामला नहीं है, जिसमें पिटीशनर या अन्य अभ्यर्थियों को परीक्षा-भवन में रंगे हाथों पकड़ा गया हो। परीक्षा भवन के भार-साधक प्राधिकारी ने गलत तरीकों के प्रयोग का संदेह किया। उन्होने उत्तर-पुस्तिका में लिख दिए जाने के तुरंत पश्चात् ही ध्यान दिया। उसके बाद उन्होंने उत्तर-पुस्तिका वापस प्राप्त होने के बाद टिप्पणी देते हुए सत्यापन किया। यह प्रक्रिया सामान्य अनुक्रम में समय लेती है। इस प्रकार के मामलों में परिनियम 3(क) और परिनियम 5(क) यथावत् रूप से अनुपालन करना सम्भव नहीं है। यदि केवल संदेह पर तुरन्त कार्रवाई की जाए तो पिटीशनर पर इसका प्रतिकूल गंभीर प्रभाव पड़ेगा। ऐसे मामले में सम्यक् विचार-विमर्श और अपेक्षित सबूत आवश्यक है। प्राधिकारी इस मामले में जल्दी करना नहीं चाहते थे और यह देखना चाहते थे कि पिटीशनर के विरुद्ध लगाए गए अभियोग क्या सुस्थापित किए जा चुके हैं या नहीं। इसलिए कार्रवाइयां आरम्भ करने में विलम्ब होना आवश्यक था। इस विलम्ब से पिटीशनर व्यक्ति नहीं हो सकता इसलिए विलम्ब के आधार पर इन कार्रवाइयों पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।

7. मेरा ध्यान परिनियम 5(क) के बारे में विचार-विमर्श के पश्चात् न्यायाधीश कोतवाल द्वारा दिए गए निर्णय के बारे में आकृष्ट किया गया है जो

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"3. (a) The "Officer Incharge Examinations" shall report to the Controller of Examinations without delay and on the date of occurance each case where use of unfair means/misconduct in the examination is suspected or discovered, with full details of evidence and explanation of the candidate concerned on the form (Annexure) supplied by the Controller of Examination for the purpose;

× × × ×"

बलविन्दर सिंह और अन्य बनाम जम्मू विश्वविद्यालय और अन्य[1] वाले मामले में दिया गया है। परिनियम 5(क) पर विचार करते हुए विद्वान न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धरित किया कि उसमें दी गई समय-सीमा निदेशात्मक प्रकृति की है और इसका भंग जांच के परिणाम को तब तक दूषित नहीं करेगा, जब तक कि यह दोषपूर्ण इरादे से नहीं की गई हो या इसने अन्य तरीके से जांच के परिणाम को प्रभावित न किया हो। मैं इससे पूर्णतः सहमत हूं। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर का ऐसा कोई पक्ष-कथन नहीं है कि उसे अपना स्पष्टीकरण देने के लिए पर्याप्त समय नहीं दिया गया था। इन दलीलों को भी खारिज किया जाता है।

8. आधार (iv), (v) और (vi) का एक साथ निपटारा किया जा सकता है। उच्च शैक्षणिक निकायों के समक्ष जांच में अपचारी को साक्षियों से प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार नहीं दिया जाता और न दिया जा सकता है। जैसा कि न्यायिक कार्रवाइयों में किया जाता है और न इस प्रकार का व्यक्ति, विश्वविद्यालय के सम्पूर्ण अभिलेखों का मुआयना करने का दावा कर सकता है। जो कुछ भी आवश्यक है वह यह है कि उसे उन अभिकथनों की जो उसके विरुद्ध लगाए गए हैं, सूचना दी जाए। इन आक्षेपों में भी कोई गुणता नहीं है।

9. पिटीशनर और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध अभिकथनों पर विचार करने के लिए उच्च और जिम्मेदार शिक्षित व्यक्तियों की एक समिति गठित की गई। समिति के इस गठन से यह दर्शित होता है कि विश्वविद्यालय इस मामले की जांच कराने में अपने को निष्पक्ष रखने के लिए कितना उत्सुक था। समिति ने आरोपों की विस्तृत रूप से जांच की। विस्तृत रूप से विचार-विमर्श करने के बाद ही समिति ने अपनी सिफारिश की। यह समिति परिनियम 16 में उल्लिखित सक्षम प्राधिकारी नहीं है परिनियम 16 के अधीन कुलपति प्रतिकुलपति यदि कोई है, अभिषद द्वारा नामनिर्दिष्ट तीन व्यक्ति, विधि संकाय के डीन, रजिस्ट्रार और परीक्षा नियंत्रक सक्षम प्राधिकारी है। पिटीशनर के काउंसेल ने परिश्रमपूर्वक यह दलील दी है कि कुलपति द्वारा गठित समिति परिनियम 16 के अधीन सक्षम प्राधिकारी नहीं है और इसलिए इस समिति द्वारा उसे निर्रहित घोषित करने का विनिश्चय करना अधिकारिता के अभाव में अकृत है। पिटीशनर के काउंसेल ने दलील देने में जो गलती की है वह तारीख 14 फरवरी, 1983 के उपाबन्ध ख-1 के गलत अध्ययन से है। इस उपाबन्ध में समिति द्वारा की गई रिपोर्ट के सक्षम प्राधिकरी द्वारा किए गए विचार-विमर्श की बावत निर्देश किया गया है। सक्षम प्राधिकारी

---

[1] ए० प्राई०, प्रार० 1983 जम्मू और कश्मीर 19.

नि० प० 1984 : दिल्ली—1

सुन्दरदेव, कांस्टेबल बनाम आर० एस० गुप्त, पुलिस उपायुक्त और एक अन्य

(Sunder Dev, Constable *Vs.* R.S. Gupta, Deputy Commissioner of Police and another)

तारीख 20 सितम्बर, 1983

[न्या० अवध बिहारी रोहतगी]

प्रशासनिक विधि—यदि कर्मचारी चयन आयोग ने भर्ती के सम्बन्ध में अधिकथित विधि का अनुसरण नहीं किया है तो इसके कारण संबंधित कर्मचारी (अभ्यर्थी) को नुकसान नहीं उठाने दिया जाएगा।

2. संविधान, 1950—अनुच्छेद 14 और 16—विधि के समक्ष समता—अनुसूचित जाति आदि के अभ्यर्थी को उसके पक्ष में आरक्षण न होने पर कर्मचारी चयन आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षा में एक साधारण अभ्यर्थी के रूप में बैठने से वंचित नहीं किया जा सकता।

पिटीशनर दिल्ली पुलिस में एक कांस्टेबल है। वह उप-निरीक्षक (कार्यपालक) के पद के लिए कर्मचारी चयन आयोग द्वारा ली गई परीक्षा में एक विभागीय अभ्यर्थी के रूप में बैठा था। लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद भी उसे व्यक्तित्व परीक्षण में इस कारण बैठने नहीं दिया गया कि उसकी अपेक्षित लम्बाई नहीं है। अतः पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया जिसमें न्यूनतम लम्बाई के आधार पर निरर्हता को अविधिमान्य अभिनिर्धारित किया गया। तदुपरान्त पिटीशनर व्यक्तित्व परीक्षण में बैठा, वह ठीक भी पाया गया किन्तु उसे नियुक्ति-पत्र देने से इस आधार पर इनकार कर दिया गया कि उसके संबंध में कर्मचारी चयन आयोग द्वारा एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया गया है और चूंकि अनुसूचित जाति के लिए कोई भी आरक्षण नहीं है इसलिए उसे नियुक्ति-पत्र नहीं दिया जा सकता।

यद्यपि पिटीशनर एक विभागीय अभ्यर्थी है और उसने विभागीय अभ्यर्थियों के लिए नियत 10 प्रतिशत के कोटे में आवेदन किया है किन्तु उसने अपने आवेदन-पत्र में स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख किया है कि उसके नाम पर एक साधारण अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाए। परन्तु विभाग ने उसके नाम पर एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में ही विचार किया।

विभाग ने इसका यह कारण बताया कि इससे पूर्व विभाग ने 10 प्रतिशत के सीमित कोटे में भी अनुसूचित जाति आदि के लिए आरक्षण किया था और उन्हें दोहरे आरक्षण का लाभ मिलता रहा। किन्तु इस दोहरे आरक्षण को उच्च न्यायालय में चुनौती देने पर उच्च न्यायालय ने इस दोहरे आरक्षण की व्यवस्था को अवैध घोषित कर दिया। अत: विभाग ने यह दलील दी है कि चूंकि अनुसूचित जाति आदि के लिए 10 प्रतिशत कोटे का आरक्षण समाप्त कर दिया गया है इसलिए उपनिरीक्षक के पद पर नियुक्ति के लिए पिटीशनर का अधिकार भी समाप्त हो गया। इसके विपरीत पिटीशनर द्वारा यह दलील दी गई है कि उसके द्वारा स्पष्ट उल्लेख कर दिए जाने पर विभाग द्वारा उसके नाम पर अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाना गलत है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

न्यायालय यह समझने में असमर्थ है कि कर्मचारी चयन आयोग किस प्रकार किसी अभ्यर्थी के नाम पर एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार कर सकता है जबकि वह अन्य अभ्यर्थियों के साथ ही प्रतियोगिता में बैठने के लिए तैयार है। यह सही है कि अभ्यर्थी अनुसूचित जाति का एक सदस्य है किन्तु उसने यह कभी नहीं चाहा कि उसके साथ अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में कोई विशेष अनुग्रह दिखाया जाए। कर्मचारी चयन आयोग विधि के अधीन अभ्यर्थी की बाबत उस दशा में एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार नहीं कर सकता जब 10% के कोटे में अनुसूचित जाति के लिए कोई भी आरक्षण नहीं किया गया है। यदि कर्मचारी चयन आयोग विधि के विरुद्ध जाता है तो उच्च न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उसे सही कर दे। कर्मचारी चयन आयोग द्वारा अभ्यर्थी की बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाना पूरी तरह गलत है जबकि विधि उन्हें ऐसा करने के लिए प्राधिकृत नहीं करती। जब अभ्यर्थी को उप-निरीक्षक (कार्यपालक) के पद पर नियुक्ति के लिए योग्य पाया गया हो तब विभाग यह नहीं कह सकता कि उन्होंने उसकी बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में गलत विचार किया है और वह नियुक्ति पत्र पाने का हकदार नहीं है। जब अभ्यर्थी ने लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है और उसने व्यक्तित्व परीक्षण भी उत्तीर्ण कर लिया है तब ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जो उसके मार्ग में बाधक बन सके। विधि उसके पक्ष में है। न्याय उसकी ओर है। यदि कर्मचारी चयन आयोग ने विधि का अनुसरण नहीं किया है तो इसके कारण अभ्यर्थी को नुकसान नहीं उठाने दिया जा सकता। खण्ड न्यायपीठ ने मार्ग दिखा दिया है। किन्तु विभाग ने गलत मार्ग का ही अनुसरण किया है। आरक्षण के उपेक्षित तरीके

का अनुसरण करके विभाग ने अभ्यर्थी को राज्याधीन नौकरी के मामले में अवसर की समता से वंचित किया है। (पैरा 6, 8, 9, 11 और 12)

अवसर एक ऐसा पुरस्कार है जो एक स्वतंत्र समाज प्रदान करता है। वह व्यक्ति के लिए एक ऐसा क्षेत्र सुनिश्चित करता है जिसके भीतर वह अपनी योग्यता का सर्वोत्तम लाभ उठा सके। अभ्यर्थी प्रतियोगी परीक्षा में बैठने के लिए तैयार है। किन्तु विभाग उसे नियुक्ति नहीं देगा। हालांकि खण्ड न्यायपीठ ने विभागीय अभ्यर्थी के रूप में अभ्यर्थी के लिए उपलब्ध 10% के इस सीमित कोटे में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण को समाप्त करते हुए इस अवसर को व्यापक बना दिया है किन्तु फिर भी विभाग उसे उपलब्ध इस अवसर को सीमित कर रहा है। ऐसे अवसर अवश्य दिए जाने चाहिए जिससे प्रत्येक प्रकार की प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर मिल सके। अवसर से यही अभिप्रेत है। संविधान में स्वतन्त्रता सुनिश्चित की गई है। स्वतन्त्रता सुरक्षा नहीं अपितु अवसर है। जो कोई एक को कम करता है वह दूसरे के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न करता है। अवसर की समता से उन सभी व्यक्तियों के लिए द्वार खोलना अभिप्रेत है जिनमें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए विशेषाधिकार, प्रास्थिति और स्थापना के द्वार कभी बन्द थे। अवसर की समता से यह अभिप्रेत है कि विशेषाधिकार द्वारा कोई भी कृत्रिम असमानता नहीं थोपी जाएगी। (पैरा 13)

		पैरा
[1980]	1980 (3) एस० एल० आर० 702 : चरण दास चड्ढा बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य (Charan Dass Chadha *Vs.* The State of Punjab and another);	12
[1973]	1973 (1) एस० एल० आर० 452 : सुरजीत सिंह, अधीक्षक, लोक संबंध विभाग, पंजाब बनाम सोमदत्त और अन्य (Surjit Singh, Superintendent, Public Relations Department, Punjab *Vs.* Som Dutt and others)	12

का अवलम्ब लिया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1983 का सिविल अवमान पिटीशन सं० 44.

न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 की धारा 10 और 12 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री शीतल ए० के० दर

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री वाई० के० सभरवाल

न्या० अवध बिहारी रोहतगी :

यह अवमान पिटीशन पिटीशनर को उप-निरीक्षक (कार्यपालक) के पद पर प्रशिक्षण हेतु न भेजे जाने के लिए पुलिस उपायुक्त और अपर पुलिस आयुक्त के विरुद्ध किया गया है।

2. इस पिटीशन के तथ्य इस प्रकार हैं। पिटीशनर दिल्ली पुलिस में कांस्टेबल है। एक विभागीय अभ्यर्थी के रूप में वह उप-निरीक्षक (कार्यपालक) के पद के लिए कर्मचारी चयन आयोग द्वारा ली गई एक परीक्षा में बैठा था। उसने लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। किन्तु उसे व्यक्तित्व परीक्षण के लिए इस कारण अनुज्ञात नहीं किया गया क्योंकि उसकी नियमों के अधीन अपेक्षित न्यूनतम लम्बाई नहीं थी। इसलिए उसने इस न्यायालय में एक रिट पिटीशन फाइल किया। मैंने यह अभिनिर्धारित किया कि न्यूनतम लम्बाई के आधार पर पिटीशनर की निरर्हता अविधिमान्य है और वह व्यक्तित्व परीक्षण में बैठने का हकदार है। इसलिए पिटीशनर व्यक्तित्व परीक्षण में बैठा। वह ठीक पाया गया। उसने नियुक्ति पत्र के लिए मांग की। उसे नियुक्ति पत्र देने से इनकार कर दिया गया। इस इनकारी का आधार यह है कि उसके सम्बन्ध में कर्मचारी चयन आयोग द्वारा एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया गया है और अनुसूचित जाति के लिए कोई भी आरक्षण नहीं है इसलिए उसे नियुक्ति पत्र नहीं दिया जा सकता।

3. इसके बाद पुलिस विभाग ने जो कुछ किया वह इस प्रकार है। उपनिरीक्षकों के 50% पद प्रोन्नति द्वारा भरे जाने थे। 50% पद सीधी भर्ती द्वारा भरे जाने थे। सीधी भर्ती के 50% पदों में से 15% पद अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों में से, $7\frac{1}{2}$% पद अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों में से, 10% पद भूतपूर्व सैनिकों में से, 10% पद विभागीय अभ्यर्थियों में से और शेष पद उन अभ्यर्थियों में से भरे जाने थे, जिनका चयन खुली प्रतियोगिता द्वारा किया जाना था।

4. पिटीशनर एक विभागीय अभ्यर्थी है। उसने विभागीय अभ्यर्थियों के लिए आशयित 10% के कोटे के अधीन आवेदन किया। अपने आवेदन में उसने स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख किया है कि वह चाहता है कि उसके नाम

पर एक "साधारण अभ्यर्थी" के रूप में विचार किया जाए। वह यह नहीं चाहता कि उसकी बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाए। हालांकि ऐसा नहीं कहा गया है किन्तु उसके आवेदन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है जिसमें उसने यह कहा है कि "कृपया मेरे नाम पर एक साधारण अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाए।" 'रोजगार समाचार' (एम्पलायमेंट न्यूज) में, जिसमें 10 अक्तूबर, 1981 को कर्मचारी चयन आयोग का यह विज्ञापन छपा है, विभागीय अभ्यर्थियों के लिए, जिनकी संख्या 15 है, आबंटित पदों के लिए अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अनारक्षित स्थानों में, जिनकी संख्या 32 है, अनुसूचित जाति के लिए (जिसकी संख्या 21 है) और अनुसूचित जनजातियों के लिए (जिनकी संख्या 11 है), आरक्षण किया गया है। इस प्रकार "रोजगार समाचार" तथा पिटीशनर के आवेदन से भी यह बात प्रतीत होती है कि उसके नाम पर एक "साधारण अभ्यर्थी" के रूप में विचार किया जाना था। किन्तु विभाग ने उसकी बाबत एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया। यही बात कर्मचारी चयन आयोग ने अपने उत्तर में कही है।

5. इसके पीछे भी एक इतिहास है। विभाग ने विभागीय अभ्यर्थियों के लिए आशयित 10% के सीमित कोटे में भी अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण किया है। इस प्रकार अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों को दोहरे आरक्षण का लाभ मिलता रहा। (1) 50% के साधारण कोटे में क्रमश: 15% और $7\frac{1}{2}$% और (2) 10% के कोटे में, जो कि वास्तव में 50% का ही एक भाग है। इस दोहरे आरक्षण को राजकुमार द्वारा इस न्यायालय में एक रिट पिटीशन द्वारा चुनौती दी गई (देखिए राजकुमार **बनाम** भारत संघ जो 26-5-1982 को विनिश्चित किया गया)। खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में दोहरा आरक्षण नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने 10% के विभागीय कोटे में इस आरक्षण को अवैध घोषित कर दिया। तत्पश्चात् इस मामले को उच्चतम न्यायालय में ले जाया गया। विभाग द्वारा फाइल किया गया 1982 का एस० एल० पी० सं० 8735 तारीख 30-3-1983 को खारिज कर दिया गया। किन्तु अब भी विभाग अपनी पुरानी पद्धति का ही अनुसरण करता आ रहा है। विशेष रूप से दुराग्रही रीति में विभाग ने यह दलील दी है कि चूंकि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए 10% कोटे का

आरक्षण समाप्त कर दिया गया है इसलिए उप-निरीक्षक (कार्यपालक) के पद पर नियुक्ति के लिए पिटीशनर का अधिकार भी समाप्त हो गया है।

6. मैं इस दलील पर आश्चर्यचकित हूं। पिटीशनर ने यह कहा है कि "रोजगार समाचार" के विज्ञापन में विभागीय अभ्यर्थियों के कोटे में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के पक्ष में कोई आरक्षण नहीं किया गया है। तत्पश्चात् उसने स्वयं अपने आवेदन के प्रति ही निर्देश किया है जिसमें उसने यह प्रार्थना की है कि उसकी बाबत "साधारण अभ्यर्थी" के रूप में विचार किया जाए। तत्पश्चात् उसने राज कुमार के मामले में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय का अवलम्ब लिया जिसमें स्पष्टतः यह अभिनिर्धारित किया गया है कि विभाग 10% के कोटे में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई आरक्षण नहीं कर सकता। खण्ड न्यायपीठ के इस दृष्टिकोण की उच्चतम न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई है। इसलिए कर्मचारी चयन आयोग द्वारा पिटीशनर के नाम पर अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार नहीं किया जा सकता जो कि विभाग द्वारा इस पिटीशन में लिया गया पक्षाधार है। मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि कर्मचारी चयन आयोग किस प्रकार पिटीशनर की बाबत एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार कर सकता है जबकि वह अन्य अभ्यर्थियों के साथ ही प्रतियोगिता में बैठने के लिए तैयार है। यह सही है कि पिटीशनर अनुसूचित जाति का एक सदस्य है किन्तु उसने यह कभी नहीं चाहा कि उसके साथ अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में कोई विशेष अनुग्रह दिखाया जाए।

7. विभाग की ओर से श्री वाई० के० सभरवाल ने मेरे समक्ष चार मुद्दे उठाए हैं। प्रथमतः, उन्होंने यह कहा है कि पिटीशनर ने फीस के रूप में केवल 7 रुपये का ही संदाय किया है जो कि अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के लिए विहित फीस है और उसने साधारण अभ्यर्थियों के लिए विहित 28 रुपये की फीस का संदाय नहीं किया। उनके अनुसार इससे यह दर्शित होता है कि वह एक अनुसूचित जाति का अभ्यर्थी है। मैं इससे सहमत नहीं हूं। फीस के रूप में केवल 7 रुपये के संदाय से ही यह दर्शित नहीं होता कि वह इस बात का दावा कर रहा है कि उसकी बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाए। 10% के कोटे में अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों के लिए कोई भी आरक्षण नहीं किया गया है। यह बात अन्तिम रूप से तय हो गई है। खण्ड न्यायपीठ ने इस मुद्दे को उसके नाम पर कर्मचारी चयन आयोग द्वारा विचार किए जाने से पहले ही

विनिश्चित कर दिया है। खण्ड न्यायपीठ द्वारा अधिकृत निर्णय सुनाए जाने के पश्चात् ही पिटीशनर द्वारा मेरे समक्ष यह रिट पिटीशन फाइल किया गया है।

8. श्री सभरवाल ने तत्पश्चात् यह दलील दी है कि कर्मचारी चयन आयोग द्वारा चयन का प्रश्न मेरे समक्ष विवाद्य नहीं है क्योंकि वह मेरे द्वारा विनिश्चित पूर्वतर पिटीशन में भी विवाद्य नहीं था। यह प्रश्न न तो इस पिटीशन में है और न पहले वाले पिटीशनों में ही है। प्रश्न यह है कि कर्मचारी चयन आयोग विधि के अधीन पिटीशनर जैसे अभ्यर्थी की बाबत उस दशा में एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार नहीं कर सकता जब 10% के कोटे में अनुसूचित जाति के लिए कोई भी आरक्षण नहीं किया गया है। यदि कर्मचारी चयन आयोग विधि के विरुद्ध जाता है तो इस न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह उसे सही कर दे। खण्ड न्यायपीठ ने यह बात कही है। उच्चतम न्यायालय ने भी यही कहा है। मुझे उच्चतम न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करना चाहिए। मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं सही विधि को इस मामले के तथ्यों में लागू करूं।

9. तृतीयतः, श्री सभरवाल ने यह कहा है कि पिटीशनर कर्मचारी चयन आयोग के समक्ष एक साधारण अभ्यर्थी के रूप में योग्यता सूची में अर्हता प्राप्त नहीं कर सका। उन्होंने यह कहा है कि उसके नाम का उनके द्वारा केवल एक अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में ही अनुमोदन किया गया है। इस दलील के संबंध में भी मेरा उत्तर वही है जो मैं ऊपर दे चुका हूं। उनके द्वारा अर्थात् कर्मचारी चयन आयोग द्वारा पिटीशनर की बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में विचार किया जाना पूरी तरह गलत है जबकि विधि उन्हें ऐसा करने के लिए प्राधिकृत नहीं करती।

10. अन्त में, श्री सभरवाल ने यह कहा है कि इस समय कोई भी रिक्त स्थान नहीं है और इसलिए पिटीशनर को कोई भी नियुक्ति पत्र जारी नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह कहा है कि इन पदों को अगले वर्ष के लिए अग्रनीत किया गया है। कुल मिलाकर 10% के कोटे में विभागीय अभ्यर्थियों के लिए 17 पद हैं। स्वीकृत रूप से उनमें से 11 पद भरे जा चुके हैं। 6 पद खाली हैं। विभाग का यह पक्षकथन है कि इनमें से 5 पद अगले वर्ष के लिए अग्रनीत किए गए हैं। मैं इस दलील को स्वीकार नहीं कर सकता। जहां तक पिटीशनर का संबंध है, पद अग्रनीत किए जाने के लिए कोई भी उपबंध नहीं है। यह कहा गया है कि नियमों में दिसम्बर,

1981 में संशोधन किया गया था जिसके द्वारा आयोग को पदों को अगले वर्ष के लिए अग्रनीत किये जाने के लिए प्राधिकृत किया गया है। पिटीशनर 1981 में ही एक अभ्यर्थी था। उसने तारीख 10 अक्तूबर, 1981 के "रोजगार समाचार" में के विज्ञापन के उत्तर में आवेदन किया है। दिसम्बर, 1981 के संशोधित नियम स्पष्टत: उसके संबंध में लागू नहीं हो सकते। उसके संबंध में यह उत्तर नहीं दिया जा सकता कि इन पदों को अगले वर्ष के लिए अग्रनीत किया जा चुका है और उसका अधिकार समाप्त हो गया है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल, श्री दर ने यह दलील दी है कि तारीख 8 फरवरी, 1982 के कार्यालय ज्ञापन के अनुसार पदों को अग्रनीत नहीं किया जा सकता। मुझे इस प्रश्न की जांच करने की आवश्यकता नहीं है। जब पिटीशनर ने रिट पिटीशन फाइल किया था तब इस न्यायालय ने यह आदेश किया था कि उसके लिए एक पद खाली रखा जाए ताकि उसके उत्तीर्ण होने की दशा में वह पद पा सके।

11. मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब पिटीशनर को उप-निरीक्षक (कार्यालय) के पद पर नियुक्ति के लिए योग्य पाया गया तब विभाग यह नहीं कह सकता कि उन्होंने उसकी बाबत अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी के रूप में गलत विचार किया है और वह नियुक्ति-पत्र पाने का हकदार नहीं है। जब पिटीशनर ने लिखित परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है और उसने व्यक्तित्व परीक्षण भी उत्तीर्ण कर लिया है, तब ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जो उसके मार्ग में बाधक बन सके। विधि उसके पक्ष में है। न्याय उसकी ओर है। मैं इस दलील से प्रभावित नहीं हूं कि मुझे यह प्रश्न अनिश्चित छोड़ देना चाहिए और इस प्रकार इस मामले में और आगे मुकदमेबाजी को बढ़ावा दिया जाए। श्री सभरवाल की यही मुख्य दलील है। मैं इससे प्रभावित नहीं हूं।

12. श्री दर ने मेरे समक्ष निम्नलिखित दो मामलों के प्रति निर्देश किया है—**श्री चरण दास चड्ढा बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य**[1] और **श्री सुरजीत सिंह, अधीक्षक, लोक संबंध विभाग, पंजाब बनाम श्री सोम दत्त और अन्य**[2]। इन नजीरों में यह बात विनिश्चित की गई है कि यदि सरकार नियमों के अनुसार सही आदेश पारित नहीं करती है तो सरकारी सेवक को उसके कारण नुकसान नहीं उठाने दिया जा सकता। सरकार स्वयं अपनी

1 1980 (3) एस० एल० आर० 720.
2 1973 (1) एस० एल० आर० 452.

ही गलती का लाभ नहीं उठा सकती है। मैं इन विनिश्चयों में अपनाए गए दृष्टिकोण के साथ ससम्मान सहमत हूं। मुझे विभाग द्वारा लिए गए पक्षाधार में कोई भी औचित्य दिखाई नहीं देता। यदि कर्मचारी चयन आयोग ने विधि का अनुसरण नहीं किया है तो इसके कारण पिटीशनर को नुकसान नहीं उठाने दिया जा सकता। खण्ड न्यायपीठ ने मार्ग दिखा दिया है। किन्तु विभाग ने गलत मार्ग का ही अनुसरण किया है। आरक्षण के उपेक्षित तरीके का अनुसरण करके विभाग ने पिटीशनर को राज्याधीन नौकरी के मामले में अवसर की समता से वंचित किया है।

13. अवसर एक ऐसा पुरस्कार है जो एक स्वतंत्र समाज प्रदान करता है। वह व्यक्ति के लिए एक ऐसा क्षेत्र सुनिश्चित करता है जिसके भीतर वह अपनी योग्यता का सर्वोत्तम लाभ उठा सके। पिटीशनर प्रतियोगी परीक्षा में बैठने के लिए तैयार है। किन्तु विभाग उसे नियुक्ति नहीं देगा। हालांकि खण्ड न्यायपीठ ने विभागीय अभ्यर्थी के रूप में पिटीशनर के लिए उपलब्ध 10% के इस सीमित कोटे में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण को समाप्त करते हुए इस अवसर को व्यापक बना दिया है किन्तु फिर भी विभाग उसे उपलब्ध इस अवसर को सीमित कर रहा है। ऐसे अवसर अवश्य दिए जाने चाहिए जिससे प्रत्येक प्रकार की प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर मिल सके। अवसर से यही अभिप्रेत है। हमारे संविधान में स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है। जेकारिया चैफ, जो एक विधिवेत्ता है, के अनुसार स्वतंत्रता सुरक्षा नहीं अपितु अवसर है। जो कोई एक को कम करता है वह दूसरे के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न करता है। अवसर की समता से उन सभी व्यक्तियों के लिए द्वार खोलना अभिप्रेत है जिनमें से अधिकांश व्यक्तियों के लिए विशेषाधिकार, प्रास्थिति और स्थापना के द्वार कभी बन्द थे। अवसर की समता से यह अभिप्रेत है कि विशेषाधिकार द्वारा कोई भी कृत्रिम असमानता नहीं थोपी जायेगी।

14. इन कारणों के आधार पर मैं विभाग को पिटीशनर को नियुक्ति पत्र जारी करने के लिए और उसे प्रशिक्षण के लिए भेजने का निदेश देता हूं। यह काम 5 सप्ताह के भीतर किया जाएगा। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो प्रत्यर्थियों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की जाएगी। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रमोद/श०

नि० प० 1984 : दिल्ली—10

जगदीश लाल मल्होत्रा बनाम राज्य
(Jagdish Lal Malhotra *Vs.* The State)

तारीख 30 सितंबर, 1983

[न्या० आर० एन० अग्रवाल और मलिक शरीफुद्दीन]

साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 32, सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860, धारा 302—मृत्युकालिक कथन के संबंध में सुस्थिर विधि यह है कि ऐसे कथनों पर विचार सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए और ऐसे कथन का स्वीकार करने से पूर्व उसकी परीक्षा ब्यौरेवार तथा सांगोपांग रूप में का जानी चाहिए—विधि का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जो मृत्युकालिक कथन को संपुष्टि के अभाव में अपवर्जित करता हो किन्तु अभियोजन का यह कर्तव्य है कि वह संपूर्ण कथन को न्यायालय के समक्ष उसी रूप में रखे जिस रूप में वह किया गया था और उसकी शब्दावली या उसके तात्पर्य को किसी भी रूप में विकृत न करे—न्यायालयों से यह अपेक्षित है कि वे इस बात को भी ध्यान में रखें कि अन्वेषण अधिकारी इस बात के लिए प्रोत्साहित न किए जाएं कि वे ऐसे मृत्युकालिक कथनों को स्वयं अभिलिखित करें और यदि यह न्यायालय को प्रतीत होता है कि अन्वेषण अधिकारी के पास पर्याप्त समय और साधन था कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के लिए मजिस्ट्रेट को बुला सके तो उस दशा में अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन पर विचार नहीं किया जाना चाहिए।

अपीलार्थी का विवाह मृतक संतोष मल्होत्रा से सन् 1960 में हुआ था। उनमें लगातार झगड़ा होता रहता था। ऐसा कहा जाता है कि संबद्ध रात को लगभग 3-30 बजे मृतक लघुशंका हेतु शौचालय गई हुई थी कि उसी समय अपीलार्थी अर्थात् उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया और आग लगा दी। उसका शरीर शत-प्रतिशत जल गया था। इस घटना के पश्चात् उसे उसके पति, अर्थात् अपीलार्थी द्वारा अपने भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा, मकान-मालिक टेकचंद कौड़ा तथा कुछ अन्य पड़ौसियों की सहायता से विलिंगडन अस्पताल ले जाया गया। उसे मकान-मालिक टेकचंद कौड़ा द्वारा निजी कार में अस्पताल ले जाया गया। मृतक संतोष

मल्होत्रा क्षतियों का शिकार हो गई और उसकी मृत्यु सवेरे 8.15 बजे हो गई। उसके पति, अर्थात् अपीलार्थी के शरीर पर भी 12% जलने से क्षतियां पाई गईं और उसे भी उसी अस्पताल में भर्ती किया गया तथा उसका उपचार किया गया। मृतक ने अस्पताल में भर्ती होने के पश्चात् आपात विभाग (कैज्युअल्टी) के भारसाधक मुख्य चिकित्सा अधिकारी डा० आर० पी० शर्मा से यह कहा कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था। डाक्टर ने ड्यूटी पर तैनात सिपाही को यह राय दी कि वह श्रीमती संतोष का मृत्युकालिक कथन अभिलिखित कराने की व्यवस्था करे। डाक्टर की राय के अनुसरण में पुलिस थाने को संदेश भेजा गया और सब इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव अस्पताल में 5.30 बजे सवेरे आ गए। सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने डा० अनिल मेंहदीरत्ता से इस आशय का प्रमाण-पत्र लिया कि रोगी कथन करने के योग्य है और तुरन्त उसके पश्चात् उसका मृत्युकालिक कथन अभिलिखित किया गया। यह अभिकथन किया गया है कि मृत्युकालिक कथन डा० आर० पी० शर्मा, डा० अनिल मेंहदीरत्ता और डा० वी० ठुकराल की उपस्थिति में किया गया था। सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने अपीलार्थी की भी जलने से उत्पन्न क्षतियों के संबंध में परीक्षा की। डाक्टर के समक्ष उसी समय अपीलार्थी द्वारा किया गया कथन भी अभिलिखित किया गया, जिसमें उसने कहा था कि उसे जलने से क्षतियां उस समय हुईं, जब वह अपनी पत्नी को बचा रहा था। मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के पश्चात् सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने मृत्युकालिक कथन में प्रकट तथ्यों को अपने लिखित पृष्ठांकन के साथ लगभग 6.30 बजे सवेरे पुलिस थाने भेजा और भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन मामला दर्ज किया गया, जिसे बाद में भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन मामले के रूप में बदल दिया गया। श्रीमती संतोष मल्होत्रा की मृत्यु उसी सवेरे 8.15 बजे हो गई। इस मामले का अन्वेषण सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने किया है और मृत्यु के शव की मृत्यूपरांत परीक्षा डा० एल० टी० रामनई द्वारा की गई, जिसका निष्कर्ष यह था कि मृत्यु का कारण जलने से उत्पन्न आघात था।

श्रीमती संतोष मल्होत्रा के अस्पताल ले जाए जाने के तुरन्त पश्चात् प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 डा० आर० पी० शर्मा द्वारा अभिलिखित किया गया, जिससे यह दर्शित होता है कि उसने डा० शर्मा से कहा था कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था। इसका पाठ इस प्रकार है: "समय 4.30 बजे पूर्वाह्न, तारीख 23 अक्तूबर, 1979, रोगी का कहना है कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया है, उसकी नाड़ी की गति 120 प्रति मिनट है।

रोगी होश में है। शरीर का जलन शतप्रति-शत है।" यह डा० आर० पी० शर्मा द्वारा बाह्य रोगी पर्ची पर अभिलिखित किया गया है। पांच बजे सवेरे जब रोगी को दाखिल किया गया तो डा० वी० ठुकराल ने निम्नलिखित अभिलिखित किया, अर्थात् :—

"समय 5 बजे पूर्वाह्न, तारीख 23 अक्तूबर, 1979 अभिकथन किया गया है कि यह अपने पति द्वारा जलाई गई है। रोगी होश में है। नाड़ी की गति नहीं देखी जा सकी। सांस की गति 20 प्रति मिनट है। जलन शत-प्रतिशत है। ड्यूटी पर उपस्थित पुलिस सिपाही को कह दिया गया है कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित कराने की व्यवस्था करे।"

प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/सी के दस्तावेज से यह उपदर्शित होता है कि वह 4.50 बजे पूर्वाह्न में बनाया गया और उसके द्वारा पुलिस को मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने हेतु इत्तिला दी गई। साढ़े-पांच बजे पूर्वाह्न में डा० अनिल मेंहदीरत्ता ने प्रमाणपत्र दिया है कि मृतक कथन करने की उपयुक्त स्थिति में थी। सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव, जो अस्पताल में 5.30 बजे पूर्वाह्न में पहुंचता है, उपयुक्तता प्रमाणपत्र लेने के पश्चात् मृत्युकालिक कथन अर्थात् प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए अभिलिखित करता है, जो इस प्रकार है :—

"श्री जगदीश लाल मल्होत्रा की पत्नी श्रीमती संतोष मल्होत्रा, जो सी-42 कीर्ति नगर, दिल्ली की निवासिनी हैं, निम्नलिखित कथन करती हैं :

मैं ऊपर वर्णित पते पर अपने बच्चों के साथ रहती हूं। मैंने जगदीशलाल मल्होत्रा से 18-19 वर्ष पूर्व शादी की थी और हमारे 3 बच्चे हैं। हमारे घर में पैसे की कमी है, जिसके कारण मेरे पति जगदीशलाल मल्होत्रा और मेरे देवर सुरेन्द्र मल्होत्रा जो डी-86 कीर्ति नगर, दिल्ली के निवासी हैं, झगड़ा किया करते थे। (इससे उसका अभिप्राय संभवतः यह है कि उसके साथ झगड़ा किया करते थे)। मेरे पति ने मुझसे सभी गहने ले लिए थे जिनमें से सोने की दो चूड़ियां बेच दी गई थीं। 22 अक्तूबर, 1978 की रात को मेरे पति तथा सुरेन्द्र मल्होत्रा ने इस बात को लेकर फिर झगड़ा किया (इससे उसका अभिप्राय संभवतः यह है कि उसके साथ झगड़ा किया)। इसके पश्चात् मेरे पति के भाई अपने घर चले गए और हम लोग सो गए।

सवेरे 3-30 या 3-45 बजे के बीच में लघुशंका करने के लिए उठी और उसी समय मेरे पति ने मेरे शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया और आग लगा दी और मुझे जलाने के बाद वे मुझे विलिंगडन अस्पताल ले गए। यह कथन मैं अपने पूरे होश-हवास में कर रही हूं। मैंने कथन सुन लिया है। यह सही है। जब मेरे शरीर में आग लगाई गई उस समय मेरे तीनों बच्चे सो रहे थे।"

इस मृत्युकालिक कथन के अभिलिखित किए जाने के समय डा० वी० ठुकराल उपस्थित थे, जिन्होंने उस पर हस्ताक्षर करने से पूर्व इस प्रकार लिखा : "कथन मेरे समक्ष लिखा गया है। वह कथन पर हस्ताक्षर करने में असमर्थ हैं।" डा० अनिल मेंहदीरत्ता द्वारा भी यह पृष्ठांकित किया गया और अपने हस्ताक्षर करने से पूर्व उन्होंने निम्नलिखित शब्द लिखे : "कथन मेरी उपस्थिति में किया गया है। रोगी पूर्णतः होश-हवास में थी, किन्तु दोनों हाथों के जले होने के कारण हस्ताक्षर करने में असमर्थ थी।" इस कथन पर हस्ताक्षर करने से पूर्व डा० आर० पी० शर्मा ने लिखा : "कथन मेरे समक्ष किया गया। कथन करते समय रोगी पूरी तरह होश-हवास में थी। किन्तु जलने के कारण वह हस्ताक्षर करने या अंगूठा-निशान देने में असमर्थ है।"

प्रतिरक्षा का पक्षकथन इस प्रकार था : घटना की रात को और सुसंगत समय पर प्रतिरक्षा साक्षी 2, अनुराधा, जो मृतक तथा उसके पति तथा प्रस्तुत अपीलार्थी जगदीश लाल मल्होत्रा की पुत्री है, मकान की पहली मंजिल के उसी कमरे में सो रही थी, जिसे उन्होंने अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कौड़ा से किराए पर लिया था, अपीलार्थी और उसकी पुत्री अनुराधा मृतक की 'हाय-हाय' की आवाज सुनकर उठे और जब वे बाहर आए तो उन्होंने मृतक को जलते पाया। अपीलार्थी ने बडी जोर की आवाज में "बचाओ-बचाओ" का शोर किया, जिसके परिणामस्वरूप अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कौड़ा जग गए और ऊपरी मंजिल पर दौड़े, किन्तु उन्होंने दरवाजा बंद पाया। इसी बीच अपीलार्थी ने अपनी पुत्री से कंबल लाने को कहा और मृत को कंबल उढ़ा कर आग बुझाने के प्रयत्न में अपीलार्थी भी जल गया। पुत्री ने अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कौड़ा के लिए दरवाजा खोला और जब कौडा अन्दर गए तो उन्होंने पाया कि मृतक जली हुई अवस्था में कंबल में लिपटी है और उसका चेहरा खुला है, किन्तु जल गया है। बच्चे चिल्लाने लगे, "मम्मी तुमने यह क्या किया" और अभियुक्त को

रुंधी हुई आवाज में विलाप करते हुए पाया गया । वह रो-रोकर कह रहा था कि उसका घर बर्बाद हो गया और इसने यह क्या कर दिया । जब यह सब हो रहा था, उसी समय कुछ और पड़ोसी भी घटनास्थल पर पहुंच गए। अपीलार्थी और बच्चे रो रहे थे। मृतक कुछ भी नहीं बोल रही थी । इस बात के बावजूद भी कि बच्चे चिल्ला रहे थे और उसके पति भी यह कह रहे थे कि यह इसने क्या कर दिया, अपीलार्थी ने अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कौड़ा से प्रार्थना की कि वह उसके भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा को बुला दें। टेकचंद उसे बुला लाए और सुरेन्द्र मल्होत्रा और अन्य पड़ौसियों की सहायता से मृतक को कार की पिछली सीट पर लिटाया और उसे विलिंगडन अस्पताल ले जाया गया । उसके साथ अपीलार्थी तथा अभियोजन साक्षी 7 भी गए । इस वृत्तांत से स्पष्टतः इस संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि मृतक ने आत्म-हत्या की थी ।

अभियुक्त ने अपने कथन में यह स्वीकार किया है कि 21-10-1979 को श्रीमती सुशीला बबलो अपनी बहन श्रीमती कृष्णा, जिनके साथ उनके पति भी थे, के साथ उसके घर आई । वे चूड़ियों के संबंध में विवाद को तय करने हेतु आए थे और उनके पूछने पर मृतक संतोष ने अपनी यह गलती स्वीकार की कि उसने सोने की दोनों चूड़ियां अपने पति की आज्ञा के बिना बेच दी थीं । अभियुक्त ने यह स्वीकार किया है कि उनकी उपस्थिति में ही उसने मृतक के मुंह पर पानी भरा गिलास फेंका था और उसे थप्पड़ भी मारे थे। अभियुक्त ने यह भी स्वीकार किया है कि उसने अपने साढ़ू मनमोहन नन्दा को पत्र अभियोजन साक्षी 2 डी० बी० तथा अभियोजन साक्षी 2/बी लिखे थे। उसने यह भी स्वीकार किया है कि उसे मनमोहन नन्दा से उत्तर भी प्राप्त हुआ था । उसने यह भी स्वीकार किया है कि वह मृतक को अस्पताल में जली हुई अवस्था में ले आया था किंतु उसका कहना है कि वह यह नहीं जानता कि उसने प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 वाला कथन डा० आर० पी० शर्मा के समक्ष किया था अथवा नहीं और यह भी कि उसने प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए वाला मृत्युकालिक कथन किया था अथवा नहीं, किन्तु यदि उसने ऐसा किया था तो वह द्वेषजन्य, दुर्भावपूर्ण और मिथ्या है और उसे मिथ्या रूप में फंसाने के उद्देश्य से तथा उसे नीचा दिखाने के उद्देश्य से किया गया है । उसने यह भी स्वीकार किया है कि जब उसने कथन किया तो वह होश-हवाश में थी जैसा कि डाक्टर ने कहा है । अपीलार्थी का कहना है कि जब श्रीमती संतोष का कथन, यदि कोई हो, लिखा जा रहा था तो वह वहां उपस्थित नहीं था । बरामद किए

गए कंबलों के बारे में उसने यह स्वीकार किया है कि ये वही हैं, जो आग बुझाने के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त किए गए थे। उसने यह भी स्वीकार किया है कि मृतक के आभूषणों की सूची प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए के रूप में बनाई गई थी और यह सूची मूल सूची प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए के साथ उसे मृतक द्वारा दी गई थी। उसने यह भी स्वीकार किया है कि उसके शंका करने पर इन आभूषणों की सूची उसके अपने संबंधियों तथा मृतक के संबंधियों की उपस्थिति में मृतक द्वारा संचालित बैंक लाकर से तैयार की गई थी और जब वह मृतक के साथ बैंक से घर वापस आया तो मृतक गुम आभूषणों के संबंध में प्रश्न करने पर चुप रही। इस प्रश्न के उत्तर में कि उसे इस मामले में क्यों फंसाया गया है, उसने कहा कि ऐसा उसकी पत्नी तथा संबंधियों के दुर्भाव के कारण किया गया है।

अभियोजन के पक्षकथन की स्वीकृत प्रस्थापना यह थी कि अपीलार्थी तथा मृतक के बीच संबंध तनावपूर्ण थे। कारण यह था कि अपीलार्थी को यह शंका थी कि मृतक द्वारा संचालित बैंक लाकर में पड़े हुए आभूषणों में से अनेक लापता थे। प्रकट रूप में मृतक ने केवल यह स्वीकार किया था कि उसने धनाभाव के कारण सोने की दो चूड़ियां बेच दी थीं, किन्तु अन्य आभूषणों के संबंध में उसने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। दंपत्ति के बीच तनावपूर्ण संबंध संभवत: 27-1-1979 से चल रहे थे, जब पक्षकारों तथा उनके संबंधियों की उपस्थिति में बैंक लाकर खोला गया था और सूची (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए) तैयार की गई थी तथा सूची (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए) लाकर से बरामद हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 51 आभूषणों में से केवल 21 मौजूद थे, और इस बात से संभवतया पक्षकारों के बीच संबंध अधिसंभाव्यत: लगभग टूट ही गए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तब से उनके बीच संबंध लगातार तनावपूर्ण रहे। सूची घटना से लगभग 9 महीने पहले तैयार की गई थी और यह दंपति के बीच तनावपूर्ण संबंध थे, जिनके कारण मृतक की दोनों बहनें अर्थात् श्रीमती सुशीला सबलोक और सपति श्रीमती कृष्णा अभियुक्त के घर 21-10-1979 को आई थीं। विचार यह था कि किसी न किसी प्रकार पति-पत्नी के तनावपूर्ण संबंधों को समाप्त किया जाए। यह भी प्रतीत होता है कि मृतक ने श्रीमती सुशीला सबलोक से कहा था कि उसके पति उस पर यह अभियोग लगा रहे हैं कि उसने सोने की दो चूड़ियों के अलावा भी अन्य आभूषण बेच दिए और यही कारण है कि झगड़ा शुरू हो गया है। यह भी स्वीकार किया गया है कि 21 अक्तूबर, 1979 को जब दोनों बहनें और मृतक के बहनोई बीच में

पड़े तो अभियुक्त ने अपनी पत्नी से कहा कि वह अपने भाई से इस आशय की गारंटी दिलवाए कि वह भविष्य में ऐसा काम नहीं करेगी और उसने ऐसा करने का वचन दिया। (संभवतः यही कारण है कि मृतक 22 अक्तूबर, 1979 को अपने भाई के घर गई थी)।

प्रस्तुत मामले में मुख्य प्रश्न यह उठा कि मृत्युकालिक कथन संदेहास्पद था अथवा नहीं।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

विधि के संबंध में तो नजीरें हो सकती हैं, किन्तु तथ्यों के संबंध में कोई नजीर नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक मामले पर उसके अपने तथ्यों और परिस्थितियों के प्रकाश में तथा विधि की अपेक्षाओं के प्रकाश में विचार किया जाना चाहिए। मृत्युकालिक कथन के संबंध में सुस्थिर विधि यह है कि ऐसे कथनों पर विचार सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए और ऐसे कथन को स्वीकार करने से पूर्व उसकी परीक्षा ब्यौरेवार तथा सांगोपांग रूप में की जानी चाहिए। विधि का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है, जो मृत्युकालिक कथन को संपुष्टि के अभाव में अपवर्जित करता हो। अभियोजन का यह कर्तव्य है कि वह संपूर्ण कथन को न्यायालय के समक्ष उसी रूप में रखे, जिस रूप में वह किया गया था और उसकी शब्दावली या उसके तात्पर्य को किसी भी रूप में विकृत न करे। न्यायालयों से भी यह अपेक्षित है कि वे इस बात को ध्यान में रखें कि अन्वेषण अधिकारी, जो अन्वेषण की सफलता में हितबद्ध होते हैं, इस बात के लिए प्रोत्साहित न किए जाएं कि वे ऐसे मृत्युकालिक कथनों को स्वयं अभिलिखित करें और यदि यह न्यायालय को प्रतीत होता है कि अन्वेषण अधिकारी के पास पर्याप्त समय और साधन था कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के लिए मजिस्ट्रेट को बुला सके, तो उस दशा में अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन पर विचार नहीं किया जाना चाहिए। अन्वेषण अधिकारी के पास मजिस्ट्रेट को बुलाने के लिए पर्याप्त समय या साधन था अथवा नहीं यह तथ्य का प्रश्न है, और इसका अवधारण प्रत्येक मामले के अपने तथ्यों और उसकी परिस्थितियों के प्रकाश में किया जाना चाहिए। यदि मृत्युकालिक कथन में किया गया तथ्यों का व्यापक कथन उनके संबंध में अभियोजन के अन्य साक्ष्य से भिन्न है और यदि जो कुछ अभियोजन के अन्य साक्ष्य द्वारा सिद्ध किया है, वह मृत्युकालिक कथन में वर्णित तथ्यों का खंडन करता है तो मृत्युकालिक कथन अविश्वसनीय और संदेहास्पद हो जाएगा।

प्रस्तुत मामले में साक्ष्य के निर्वचनोपरांत यह अभिनिर्धारित किया गया कि मामूली तौर पर और सामान्यतया यह कहने के बाद कि कथन को सुन लिया है और यह सही है, कथन समाप्त हो जाता है, किन्तु इस मामले में वहीं नहीं समाप्त होता। अन्वेषण अधिकारी इस बात के प्रति सजग है कि बच्चे इस वृत्तांत का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए वह उन्हें निश्चित रूप से अलग रखता है और इसलिए मृत्युकालिक कथन की अंतिम पंक्ति है कि "जब उसे आग लगाई गई, उस समय तीनों ही बच्चे सो रहे थे।"

अभियोजन-साक्ष्य से यह पर्याप्त रूप से दर्शित होता है कि मृत्युकालिक कथन संदेहास्पद है और केवल उस पर दोषसिद्धि को आधारित करना निरापद नहीं है। हमारे समक्ष इस मामले में डा० वी० ठुकराल, अभियोजन साक्षी 24, का यह साक्ष्य है कि मृतक के कथन को अभियोजन साक्षी 26 सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने रोगी से प्रश्न पूछ-पूछ कर लिखा था, किन्तु हमारे समक्ष वे प्रश्न नहीं रखे गए हैं। यह बात भी नहीं बताई गई है कि वे किस रूप में रखे गए थे और किस प्रकार के इंगित, यदि कोई थे, किए गए थे और उत्तर किस प्रकार दिए गए तथा लिखे गए थे। इसी कठिनाई के कारण अभियोजन साक्षी 24 डा० वी० ठुकराल मृत्युकालिक कथन के सामान्य लक्षणों के संबंध में अभिसाक्ष्य देने में समर्थ नहीं हुआ है और मात्र इतना कहकर संतुष्ट हो गया है कि "संक्षेप में जो कुछ भी उसे याद है वह यह है कि मृतक ने यह कहा था कि बिल्कुल सवेरे वह शौचालय लघुशंका हेतु गई थी और उसके पीछे से उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी।" यह अत्यंत आश्चर्य की बात है कि "उसके पीछे से" शब्द कथन में इस बात के बावजूद पहली बार आए हैं कि स्वयं कथन में ये शब्द नहीं आए हैं। कुछ भी हो, यदि कोई कथन प्रश्न पूछने के आधार पर किया जाता है, तो उसे अभिलिखित करने का उचित मार्ग यह है कि प्रश्न और उत्तर दोनों ही अभिलिखित किए जाएं, ताकि न्यायालय उसके साक्ष्यात्मक मूल्य को समझ सके। प्रस्तुत मामले में मृत्युकालिक कथन की मुख्य बातें अभियोजन साक्ष्य से ही खण्डित हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस मृत्युकालिक कथन की सत्यता पर संदेह करने के अन्य कारण भी हैं। इस मामले के तथ्य और परिस्थितियां स्पष्टतः दर्शित करती हैं कि यह कथन संदेह के परे नहीं है। यह बात ज्ञात है कि पति-पत्नी के संबंधों में कुछ तनाव था किन्तु यह उपदर्शित करने का कि झगड़े प्रायः हुआ करते थे, अत्यंत ही निर्बल साक्ष्य उपलब्ध है। इस संबंध में अभिसाक्ष्य देने के लिए

सर्वोत्तम व्यक्ति घर में रहने वाले ही थे, किन्तु उन्होंने इस बात का समर्थन नहीं किया है। घटनाक्रम तथा अभियोजन द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर यह विश्वास करना असंभव है कि अभियुक्त ने मृतक पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी, जबकि वह शौचालय में लघुशंका करने हेतु गई हुई थी। यह विश्वास करने की अपेक्षा कि यह शौचालय में हुआ, इसलिए की जाती है कि मिट्टी के तेल का टिन, दियासलाई की डिबिया तथा जली हुई तीलियां शौचालय से ही बरामद हुई थीं। यह कहा गया है कि इस टिन में मिट्टी का कुछ तेल था। टिन के फोटोग्राफ से यह देखा जा सकता है कि उसमें एक इंच व्यास का सुराख मुश्किल से था। यह ऐसा मामला नहीं है, जिसमें तेल बाल्टी में रहा हो और अचानक मृतक पर डाल दिया गया हो। यदि इस टिन से तेल छिड़का जाए तो उसे छिड़कने में 1-2 मिनट लग जाएंगे। यदि यह दृष्टिकोण सही है, तो यह कैसे हो सकता है कि उसने प्रतिरोध न किया हो, शोर न मचाया हो या भागने का प्रयत्न न किया हो। सामान्यतः और मामूली तौर पर अपने पति के बुरे षड्यंत्र को समझते हुए ही उसकी तुरंत प्रतिक्रिया यह होती कि वह उसका प्रतिरोध करती, शोर मचाती या भागने का प्रयत्न करती। यह तथ्य कि उसे जलते हुए गली में देखा गया था, यह दर्शित करता है कि शौचालय का दरवाजा बंद नहीं किया गया था, इसलिए प्रतिरोध करने से उसे निवारित करने का प्रश्न ही नहीं था। यदि पति को उसे शौचालय में जलाना था तो वह यह बात भी सुनिश्चित करता कि वह शौचालय से बाहर न आ सके। जलन शत-प्रतिशत है। इसका अभिप्राय यह है कि पूरा शरीर मिट्टी के तेल से भीगा हुआ था और टिन के सुराख को दृष्टि में रखते हुए तेल आराम से छिड़का गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कांच की चूड़ियां भी नहीं टूटी थीं। इससे स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि किसी प्रकार का कोई प्रतिरोध नहीं किया गया था। एक छोटी-सी अन्य घटना भी अवेक्षणीय है और वह यह है कि मृतक की खोपड़ी के बाल केन्द्रीय न्याय विज्ञान प्रयोगशाला (सैन्ट्रल फारेन्जिक साइंस लेबोरेटरी) में परीक्षा के लिए भेजे गए थे और बालों में मिट्टी का तेल पाया गया था। इससे यह दर्शित होगा कि अधिसंभाव्यतः मिट्टी का तेल स्वयं मृतक द्वारा अपने ऊपर उंडेला गया था। इन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि उसने स्वयं अपने ऊपर आराम से मिट्टी का तेल डाला था। साफ है कि स्वयं को आग लगाने के पश्चात् वह अत्यंत त्रस्त हो गई और शौचालय से चिल्लाते हुए दौड़ी।

उसकी चिल्लाहट पर प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा तथा अभियुक्त पति उठ गए। वे बाहर आए और उन्होंने उसे जलते हुए देखा। अभियुक्त अपनी पूरी शक्ति भर चिल्लाया और अपनी लड़की से कंबल लाने के लिए कहा। इससे पूर्व उसने अपने हाथों से आग बुझाने का प्रयत्न किया और इस प्रक्रिया में जल भी गया। बच्ची कंबल लाई और उसने मृतक को आग बुझाने के लिए लपेट दिया और इस प्रक्रिया में उसका मुंह भी जल गया। पति ने उसे अस्पताल ले जाने से तुरन्त पूर्व अपनी पुत्री से दुर्घटना के संबंध में अपने मामा को टेलीफोन करने के लिए कहा और उसने टेलीफोन कर दिया और अपने प्रथम वृत्तांत में उसने यह कहा कि उसकी मां आज दुर्घटना में जल गई। अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री फ्रैंक एंथनी की यह दलील कि अपराधी का इस प्रकार का व्यवहार कभी भी नहीं होता, अत्यंत सशक्त है। ऐसा देखा गया है कि वे क्रन्दन कर रहे थे और बार-बार उससे पूछ रहे थे कि उसने यह क्या कर दिया तथा यह कह रहे थे कि उसने घर बर्बाद कर दिया। मृतक ने मुंह नहीं खोला, यद्यपि हमारे समक्ष यह साक्ष्य है कि वह होश में थी और उसे उसके पति द्वारा अस्पताल ले जाया जा रहा था। इन परिस्थितियों में, हमारी यह राय है कि यदि यह पति द्वारा जलाए जाने का मामला होता, तो मृतक ने तुरन्त ही बच्चों, मकान-मालिक तथा पड़ोसियों से, जो वहां थे, यह बात कही होती।

मृत्युकालिक कथन की असत्यता एवं संदिग्धता के आधार पर तथा अन्य साक्ष्य के अभाव में अभियुक्त को संदेह का लाभ दिया गया।

		पैरा
[1979]	ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1173 : दलीप सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य (Dalip Singh and others *Vs.* State of Punjab);	25
[1976]	एस० सी० आर० 1976 (2) 764 : मुन्नू राजा और एक अन्य **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (Munnu Raja and another *Vs.* the State of Madhya Pradesh);	25
[1965]	ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 939 : थूरूकन्नीपोम्पय्या और एक अन्य **बनाम** मैसूर राज्य (Thurukanni Pompaiah and another *Vs.* State of Mysore)	25

का **अवलंब** लिया गया

[1971] इंडियन ला रिपोर्ट्स 1971 (21) राजस्थान 541 : अम्बा शंकर देव बनाम राजस्थान राज्य (Amba Shanker Dave *Vs.* the State of Rajasthan) निर्दिष्ट किया गया। 26

अपीली (दाण्डिक) अधिकारिता : 1980 की दाण्डिक अपील सं० 273.

दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री एस० सी० जैन के 1980 के सेशन मामला सं० 26 में दिए गए तारीख 26-7-1980 के आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री फ्रैंक एन्थानी, जिनके साथ श्री बी० बी० लाल तथा कुमारी नीलम ग्रोवर भी थीं

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री सोढी तेजा सिंह

न्यायालय का निर्णय न्या० मलिक शरीफुद्दीन ने दिया।

न्या० मलिक शरीफुद्दीन :

पश्चिम दिल्ली के मोती नगर पुलिस थाने के प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं० 939 से उद्भूत मामले में दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री एस० सी० जैन ने अपीलार्थी जगदीश लाल मल्होत्रा को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन सिद्धदोष किया और उसे आजीवन कठोर कारावास का दंड दिया। अपीलार्थी के विचारण के उपरांत न्यायालय का यह निष्कर्ष था कि 22 तथा 23 अक्तूबर, 1979 की मध्यवर्ती रात को लगभग 3-30 से 3-45 बजे सवेरे अपीलार्थी ने अपनी पत्नी श्रीमती संतोष मल्होत्रा पर मिट्टी का तेल छिड़ककर उसमें आग लगा दी थी। ऐसा अपीलार्थी ने उस समय किया था, जब वह लघुशंका हेतु शौचालय में गई हुई थी। उनका यह भी निष्कर्ष था कि इसके परिणामस्वरूप मृतक संतोष मल्होत्रा 100% जल गई थी, जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु विलिंगडन अस्पताल में 23 अक्तूबर, 1979 को 8-15 बजे सवेरे हो गई।

2. सुसंगत तथ्य ये हैं कि अपीलार्थी का विवाह मृतक संतोष मल्होत्रा से सन् 1960 में हुआ था। इस दम्पत्ति का वैवाहिक जीवन दुःखद रहा, क्योंकि उनमें लगातार झगड़ा होता रहता था। मृतक ने दो पुत्रियों तथा एक पुत्र को जन्म दिया। ऐसा कहा जाता कि 22 तथा 23 अक्तूबर, 1979 की मध्यवर्ती रात को लगभग 3-30 बजे से 3-45 बजे सवेरे मृतक संतोष मल्होत्रा उठ गई थी और लघुशंका हेतु शौचालय गई हुई थी कि उसी समय अपीलार्थी अर्थात् उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का

तेल छिड़क दिया और आग लगा दी। उसका शरीर शत-प्रतिशत जल गया था। इस घटना के पश्चात् उसे उसके पति, अर्थात् अपीलार्थी द्वारा अपने भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा, मकान-मालिक टेकचंद कौड़ा तथा कुछ अन्य पड़ौसियों की सहायता से विलिंगडन अस्पताल ले जाया गया। उसे मकान-मालिक टेकचंद कौड़ा द्वारा निजी कार में अस्पताल ले जाया गया। मृतक संतोष मल्होत्रा क्षतियों का शिकार हो गई और उसकी मृत्यु सबेरे 8-15 बजे हो गई। उससे पति, अर्थात् अपीलार्थी के शरीर पर भी 12% जलने से क्षतियां पाई गईं और उसे भी उसी अस्पताल में भर्ती किया गया तथा उसका उपचार किया गया। मृतक ने अस्पताल में भर्ती होने के पश्चात् कैज्युअल्टी के भारसाधक मुख्य चिकित्सा अधिकारी डा० आर० पी० शर्मा से यह कहा कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था। डा० ने ड्यूटी पर तैनात सिपाही को यह राय दी कि वह श्रीमती संतोष का मृत्युकालिक कथन अभिलिखित कराने की व्यवस्था करे। डाक्टर की राय के अनुसरण में पुलिस थाने को संदेश भेजा गया और सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव अस्पताल में 5.30 बजे सबेरे आ गए। सब-इन्स्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने डा० अनिल मेंहदीरत्ता से इस आशय का प्रमाणपत्र लिया कि रोगी कथन करने के योग्य है और तुरन्त उसके पश्चात् उसका मृत्युकालिक कथन (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24-ए) अभिलिखित किया गया। यह अभिकथन किया गया है कि मृत्युकालिक कथन डा० आर० पी० शर्मा, डा० अनिल मेंहदीरत्ता और डा० वी० ठुकराल की उपस्थिति में किया गया था। सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने अपीलार्थी की भी जलने से उत्पन्न क्षतियों के संबंध में परीक्षा की। डाक्टर के समक्ष उसी समय अपीलार्थी द्वारा किया गया कथन भी अभिलिखित किया गया, जिसमें उसने कहा था कि उसे जलने से क्षतियां उस समय हुईं, जब वह अपनी पत्नी को बचा रहा था। मृत्युकालिक कथन (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24-ए) अभिलिखित करने के पश्चात् सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने मृत्युकालिक कथन में प्रकट तथ्यों को अपने लिखित पृष्ठांकन के साथ लगभग 6-30 बजे सबेरे पुलिस थाने भेजा और भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन मामला दर्ज किया गया, जिसे बाद में भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन मामले के रूप में बदल दिया गया। श्रीमती संतोष मल्होत्रा की मृत्यु उसी सवेरे 8-15 बजे हो गई। इस मामले का अन्वेषण सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने किया है और मृतक के शव की मृत्यूपरांत परीक्षा डा० एल० टी० रामनई द्वारा की गई, जिसका निष्कर्ष यह था कि मृत्यु का कारण जलने से उत्पन्न आघात था।

3. इस प्रक्रम पर इस तथ्य की भी अवेक्षा कर सकते हैं कि श्रीमती संतोष मल्होत्रा के अस्पताल ले जाए जाने के तुरन्त पश्चात् प्रदर्श

अभियोजन साक्षी 24/ए-1 डा० आर० पी० शर्मा द्वारा अभिलिखित किया गया, जिससे यह दर्शित होता है कि उसने डा० शर्मा से कहा था कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था। हम उस मृत्युकालिक कथन की भी अवेक्षा कर सकते हैं, जो 5-30 और 6-30 बजे सबेरे के बीच सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव द्वारा अभिलिखित किया गया था, किन्तु ऐसा करने से पूर्व प्रदर्श (अभियोजन साक्षी 24/ए-1) की विषयवस्तु के प्रति सविस्तार निदश किया जा सकता है। इसका पाठ इस प्रकार है :—

> "समय 4-30 बजे पूर्वाह्न, तारीख 23 अक्तूबर, 1979 रोगी का कहना है कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया है। उसकी नाड़ी की गति 120 प्रति मिनट है। रोगी होश में है। शरीर पर जलन शत-प्रतिशत है।"

यह डा० आर० पी० शर्मा द्वारा बाह्य रोगी पर्ची पर अभिलिखित किया गया है। पांच बजे सबेरे जब रोगी को दाखिल किया गया तो डा० वी० ठुकराल ने निम्नलिखित टिप्पण अभिलिखित किया, अर्थात् :—

> "समय 5 बजे पूर्वाह्न, तारीख 23 अक्तूबर, 1979 अभिकथन किया गया है कि यह अपने पति द्वारा जलाई गई है। रोगी होश में है। नाड़ी की गति नहीं देखी जा सकी। सांस की गति 20 प्रति मिनट है। जलन शत-प्रतिशत है। ड्यूटी पर उपस्थित पुलिस सिपाही को कह दिया गया है कि मृत्युकालिक कथन अभिलिखित कराने की व्यवस्था करे।"

प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/सी के दस्तावेज से उपदर्शित होता है कि वह 4-50 बजे पूर्वाह्न में बनाया गया और उसके द्वारा पुलिस को मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने हेतु इत्तिला दी गई। साढ़े-पांच बजे पूर्वाह्न में डा० अनिल मेंहदीरत्ता ने प्रमाणपत्र दिया है कि मृतक कथन करने की उपयुक्त स्थिति में थी। सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव जो अस्पताल में 5-30 बजे पूर्वाह्न में पहुंचता है उपयुक्तता प्रमाणपत्र लेने के पश्चात् मृत्युकालिक कथन अर्थात् प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए अभिलिखित करता है जो इस प्रकार है :—

> "श्री जगदीश लाल मल्होत्रा की पत्नी श्रीमती संतोष मल्होत्रा, जो सी-42 कीर्ति नगर, दिल्ली की निवासिनी हैं, निम्नलिखित कथन करती हैं :
>
> मैं ऊपर वर्णित पते पर अपने बच्चों के साथ रहती हूं। मैंने जगदीशलाल मल्होत्रा से 18-19 वर्ष पूर्व शादी की थी और हमारे

3 बच्चे हैं। हमारे घर में पैसे की कमी है जिसके कारण मेरे पति जगदीशलाल मल्होत्रा और मेरे देवर सुरेन्द्र मल्होत्रा जो डी-86 कीर्ति नगर दिल्ली के निवासी हैं, झगड़ा किया करते थे। (इससे उसका अभिप्राय संभवतः यह है कि उसके साथ झगड़ा किया करते थे)। मेरे पति ने मुझसे सभी गहने ले लिए थे जिनमें से सोने की दो चूड़ियां बेच दी गई थीं। अक्तूबर 22, 1979 की रात को मेरे पति तथा सुरेन्द्र मल्होत्रा ने इस बात को लेकर फिर झगड़ा किया (इससे उसका अभिप्राय संभवतः यह है कि उसके साथ झगड़ा किया)। इसके पश्चात् मेरे पति के भाई अपने घर चले गए और हम लोग सो गए। सवेरे 3-30 या 3-45 बजे के बीच में लघुशंका करने के लिए उठी और उसी समय मेरे पति नें मेरे शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया और आग लगा दी और मुझे जलाने के बाद वे मुझे विलिंगडन अस्पताल ले गए। यह कथन मैं अपने पूरे होश-हवास में कर रही हूं। मैंने कथन सुन लिया है। यह सही है। जब मेरे शरीर में आग लगाई गई उस समय मेरे तीनों बच्चे सो रहे थे।"

4. इस मृत्युकालिक कथन के अभिलिखित किए जाने के समय डा० वी० ठुकराल उपस्थित थे, जिन्होंने उस पर हस्ताक्षर करने से पूर्व इस प्रकार लिखा : "कथन मेरे समक्ष किया गया है। वह कथन पर हस्ताक्षर करने में असमर्थ है।" डा० अनिल मेंहदीरत्ता द्वारा भी यह पृष्ठांकित किया गया और अपने हस्ताक्षर करने से पूर्व उन्होंने निम्नलिखित शब्द लिखे : "कथन मेरी उपस्थिति में लिखा गया है। रोगी पूर्णतः होश-हवास में थी, किन्तु दोनों हाथों के जले होने के कारण हस्ताक्षर करने में असमर्थ थी।" इस कथन पर हस्ताक्षर करने से पूर्व डा० आर० पी० शर्मा ने लिखा : "कथन मेरे समक्ष किया गया। कथन करते समय रोगी पूरी तरह होश-हवास में थी। किन्तु जलने के कारण वह हस्ताक्षर करने या अंगूठा-निशान देने में असमर्थ है।"

5. हम इस मृत्युकालिक कथन की विषयवस्तु को विस्तारपूर्वक इसलिए उद्धृत कर रहे हैं कि श्रीमती संतोष की मृत्यु शत-प्रतिशत जलनजन्य आघात के कारण हुई है और इस संबंध में कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है कि मृतक कैसे जली। इस मृत्युकालिक कथन को समझने के लिए और उसके साक्ष्यात्मक मूल्य का सही परिप्रेक्ष्य में निर्धारण करने के लिए हमारी राय में यह आवश्यक है कि हम दूसरे पक्ष के वृत्तांत की ओर भी ध्यान दें, जो इस प्रकार है :—

घटना की रात को और सुसंगत समय पर प्रतिरक्षा साक्षी 2, अनुराधा, जो मृतक तथा उसके पति तथा प्रस्तुत अपीलार्थी जगदीश लाल मल्होत्रा की पुत्री है, मकान की पहली मंजिल के उसी कमरे में सो रही थी, जिसे उन्होंने अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कोड़ा से किराए पर लिया था, अपीलार्थी और उसकी पुत्री अनुराधा मृतक की 'हाय-हाय' की आवाज सुनकर उठे और जब वे बाहर आए तो उन्होंने मृतक को जलते पाया। अपीलार्थी ने बड़ी जोर की आवाज में 'बचाओ बचाओ' का शोर किया, जिसके परिणामस्वरूप अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कोड़ा जग गए और ऊपरी मंजिल पर दौड़े, किन्तु उन्होंने दरवाजा बंद पाया। इसी बीच अपीलार्थी ने अपनी पुत्री से कंबल लाने को कहा और मृतक को कंबल उढ़ाकर आग बुझाने के प्रयत्न में अपीलार्थी भी जल गया। पुत्री ने अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कोड़ा के लिए दरवाजा खोला और जब कोड़ा अंदर गए तो उन्होंने पाया कि मृतक जली हुई अवस्था में कंबल में लिपटी है और उसका चेहरा खुला है, किन्तु जल गया है। बच्चे चिल्लाने लगे, "मम्मी तुमने यह क्या किया" और अभियुक्त को रूंधी हुई आवाज में विलाप करते हुए पाया गया। वह रो-रोकर कह रहा था कि उसका घर बर्बाद हो गया और इसने यह क्या कर दिया। जब यह सब हो रहा था, उसी समय कुछ और पड़ोसी भी घटनास्थल पर पहुंच गए। अपीलार्थी और बच्चे रो रहे थे। मृतक कुछ भी नहीं बोल रही थी। इस बात के बावजूद भी कि बच्चे चिल्ला रहे थे और उसके पति भी यह कह रहे थे कि यह इसने क्या कर दिया। अपीलार्थी ने अभियोजन साक्षी 7 टेकचन्द कोड़ा से प्रार्थना की कि वह उसके भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा को बुला दें। टेकचन्द उसे बुला लाए और सुरेन्द्र मल्होत्रा और अन्य पड़ौसियों की सहायता से मृतक को कार की पिछली सीट पर लिटाया और उसे विलिंगडन अस्पताल ले जाया गया। उसके साथ अपीलार्थी तथा अभियोजन साक्षी 7 भी गए। इस वृत्तांत से स्पष्टतः इस संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि मृतक ने आत्म-हत्या की थी।

6. दोनों पक्षों के वृत्तांतों के प्रकाश में यह स्पष्ट चित्र उभरता है कि इस मामले की परीक्षा पूर्णतः करनी होगी। किंतु हम इस प्रक्रम पर यह आवश्यक समझते हैं कि हम अभियुक्त के दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन किए गए कथनों की अवेक्षा करें। इससे हम यह जानने में समर्थ होंगे कि अभियुक्त ने साक्ष्य में अपने विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियों का क्या स्पष्टीकरण दिया है। हम यह मार्ग इसलिए अपना रहे हैं ताकि हम इस बात का पता लगा सकें कि अभियोजन के पक्षकथन की कुछ स्वीकृत प्रस्थापनायें

हैं और स्वीकृत तथ्यों के सम्बन्ध में हमारा समय अनावश्यक रूप से बर्बाद न हो और हम केवल साक्ष्य के उन्हीं अंशों के प्रति निर्देश करें, जो विवादगत विषयों के संबंध में हैं।

7. अभियुक्त ने अपने कथन में यह स्वीकार किया है कि 21-10-79 को श्रीमती सुशीला बवलो अपनी बहन श्रीमती कृष्णा, जिनके साथ उनके पति भी थे, के साथ उसके घर आई। वे चूड़ियों के संबंध में विवाद को तय करने हेतु आए थे और उनके पूछने पर मृतक संतोष ने अपनी यह गलती स्वीकार की कि उसने सोने की दोनों चूड़ियां अपने पति की आज्ञा के बिना बेच दी थीं। अभियुक्त ने यह स्वीकार किया है कि उनकी उपस्थिति में ही उसने मृतक के मुंह पर पानी भरा गिलास फेंका था और उसे थप्पड़ भी मारे थे। अभियुक्त ने यह भी स्वीकार किया है कि उसने अपने साढ़ू मनमोहन नन्दा को पत्र अभियोजन साक्षी 2/डी० बी० तथा अभियोजन साक्षी 2/बी लिखे थे। उसने यह भी स्वीकार किया है कि उसे मनमोहन नन्दा से उत्तर (अभियोजन साक्षी 2/सी) भी प्राप्त हुआ था। उसने यह भी स्वीकार किया है कि वह मृतक को अस्पताल में जली हुई अवस्था में ले आया था किंतु उसका कहना है कि वह यह नहीं जानता कि उसने प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 वाला कथन डा० आर० पी० शर्मा के समक्ष किया था अथवा नहीं और यह भी कि उसने प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए वाला मृत्युकालिक कथन किया था अथवा नहीं किंतु यदि उसने ऐसा किया था तो वह द्वेषजन्य, दुर्भावपूर्ण और मिथ्या है और उसे मिथ्या रूप में फंसाने के उद्देश्य से तथा उसे नीचा दिखाने के उद्देश्य से किया गया है। उसने यह भी स्वीकार किया है कि जब उसने कथन किया तो वह होश-हवास में थी जैसा कि डाक्टर ने कहा है। अपीलार्थी का कहना है कि जब श्रीमती संतोष का कथन, यदि कोई हो, लिखा जा रहा था तो वह वहां उपस्थित नहीं था। बरामद किए गए कंबलों के बारे में उसने यह स्वीकार किया है कि ये वही हैं, जो आग बुझाने के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त किए गए थे। उसने यह भी स्वीकार किया है कि मृतक के आभूषणों की सूची प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए के रूप में बनाई गई थी और यह सूची मूल सूची प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए के साथ उसे मृतक द्वारा दी गई थी। उसने यह भी स्वीकार किया है कि उसके शंका करने पर इन आभूषणों की सूची उसके अपने संबंधियों तथा मृतक के संबंधियों की उपस्थिति में मृतक द्वारा संचालित बैंक लाकर से तैयार की गई थी और जब वह मृतक के साथ बैंक से घर वापस आया तो मृतक गुम आभूषणों के संबंध में प्रश्न करने पर चुप रही। इस प्रश्न के उत्तर में कि उसे इस मामले में

क्यों फंसाया गया है, उसने कहा कि ऐसा उसकी पत्नी तथा संबंधियों के दुर्भाव के कारण किया गया है।

8. इस प्रकार यह प्रकट होता है कि अभियोजन के पक्षकथन की स्वीकृत प्रस्थापना यह है कि अपीलार्थी तथा मृतक के बीच संबंध तनावपूर्ण थे। कारण यह था कि अपीलार्थी को यह शंका थी कि मृतक द्वारा संचालित बैंक लाकर में पड़े हुए आभूषणों में से अनेक लापता थे। प्रकट रूप में मृतक ने केवल यह स्वीकार किया था कि उसने धनाभाव के कारण सोने की दो चूड़ियां बेच दी थीं, किन्तु अन्य आभूषणों के संबंध में उसने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। दम्पत्ति के बीच तनावपूर्ण संबंध संभवतः 27-1-1979 से चल रहे थे, जब पक्षकारों तथा उनके संबंधियों की उपस्थिति में बैंक लाकर खोला गया था और सूची (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए) तैयार की गई थी तथा सूची (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12-ए) लाकर से बरामद हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 51 आभूषणों में से केवल 21 मौजूद थे, और इस बात से संभवतया पक्षकारों के बीच संबंध अधिसंभाव्यतः लगभग टूट ही गए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तब से उनके बीच संबंध लगातार तनावपूर्ण रहे। सूची घटना से लगभग 9 महीने पहले तैयार की गई थी और यह दम्पत्ति के बीच तनावपूर्ण संबंध थे, जिनके कारण मृतक की दोनों बहनें अर्थात् श्रीमती सुशीला सबलोक और सपति श्रीमती कृष्णा अभियुक्त के घर 21-10-1979 को आई थीं। विचार यह था कि किसी न किसी प्रकार पति-पत्नी के तनावपूर्ण संबंधों को समाप्त किया जाए। यह भी प्रतीत होता है कि मृतक ने श्रीमती सुशीला सबलोक से कहा था कि उसके पति उस पर यह अभियोग लगा रहे हैं कि उसने सोने की दो चूड़ियों के अलावा भी अन्य आभूषण बेच दिए और यही कारण है कि झगड़ा शुरू हो गया है। यह भी स्वीकार किया गया है कि 21 अक्तूबर, 1979 को जब दोनों बहनें और मृतक के बहनोई बीच में पड़े तो अभियुक्त ने अपनी पत्नी से कहा कि वह अपने भाई से इस आशय की गारंटी दिलवाए कि वह भविष्य में ऐसा काम नहीं करेगी और उसने ऐसा करने का वचन दिया। (संभवतः यही कारण है कि मृतक 22 अक्तूबर, 1979 को अपने भाई के घर गई थी)।

9. पूर्वोक्त पैराओं में हमने तथ्यों का ब्यौरेवार संक्षेप सार दिया है और मृत्युकालिक कथन तथा दूसरे पक्ष का वृत्तांत और अभियोजन के पक्षकथन की स्वीकृत प्रस्थापनाओं को भी उपदर्शित किया है। अब इस संबंध में आगे बढ़ने से पूर्व हम अभिसाक्ष्य के उन अंशों का उल्लेख करेंगे,

जो विवादगत विवाद्यक से इस मामले की परिस्थितियों में सुसंगत हैं। संपूर्ण साक्ष्य का उल्लेख करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।

10. अभियोजन साक्षी-1 मनोहरलाल मृतक का भाई है। उसने यह कहा है कि मृतक द्वारा सोने की दो चूड़ियां बेचे जाने पर पक्षकारों के बीच संबंध तनावपूर्ण हो गया था और मृतक उससे कहती रहती थी कि चूंकि उसे घर चलाने के लिए तथा किराया देने के लिए पैसों की कमी थी, इसलिए उसने सोने की चूड़ियां बेच दी थीं। उसने यह भी शिकायत की थी कि अपीलार्थी घर चलाने के लिए पैसे नहीं देता था। उसने यह भी कहा है कि 22 अक्तूबर, 1979 को मृतक उसके घर उससे मिलने आई थी, किन्तु चूंकि वह घर पर नहीं था इसलिए उसने उसके सबसे बड़े लड़के से कहा था कि वह उससे मिलने के लिए अगले दिन सबेरे आएगी। उसने यह भी कहा है कि 23 अक्तूबर, 1979 के सवेरे मृतक की पुत्री अनुराधा ने उसे सूचना दी कि मृतक को जलने के कारण अस्पताल ले जाया गया है। उसने पत्र पी-ए, पी-बी तथा पी-सी (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 1/ए) पुलिस द्वारा कब्जे में लिए जाने के संबंध में भी साक्ष्य दिया है।

11. अभियोजन साक्षी 2 श्री मनमोहन भी मृतक का भाई है। उसने अभियोजन साक्षी 1 के समान ही कथन करने के अतिरिक्त यह कहा है कि विवाह के तुरन्त पश्चात् अभियुक्त लालची साबित हुआ और तब से ही वह लगातार नकद पैसे तथा अन्य सामान मांगता रहा है। उसने यह भी कहा है कि अभियुक्त उनके साथ तथा अपने श्वसुर के साथ दुर्व्यवहार करता रहा है। उसने तीन पत्रों (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 2/बी, प्रदर्श अभियोजन साक्षी 2/सी तथा अभियोजन साक्षी 2/डी) की फोटो प्रतियां भी प्रस्तुत की गई हैं और यह कहा है कि मृतक अभियुक्त द्वारा तंग करने के संबंध में उनसे शिकायत करती रही थी।

12. अभियोजन साक्षी 3 जगदीश लाल ही मृतक का भाई है। उसने अभियोजन साक्षी-2 के अभिसाक्ष्य का समर्थन किया है। किन्तु उसने यह भी जोड़ा है कि जब उन्होंने अभियुक्त की मांगों को पूरा करना बंद कर दिया, तो अभियुक्त ने संतोष के साथ बुरा व्यवहार प्रारंभ कर दिया और उसे पीटने भी लगा। उसने यह भी कहा है कि वर्ष 1972 में एक बार मृतक उसके पास आई थी और उसने कहा था कि अभियुक्त ने वर्षा की एक रखैल रखी थी और उसके ऊपर काफी पैसा बरबाद कर रहा था। उसने यह भी कहा है कि मार्च, 1979 में मृतक ने उससे फिर कहा था कि

अभियुक्त उसे तंग कर रहा था और घरेलू खर्चों के लिए उसे धन नहीं दे रहा था। यह साक्षी उस समय चंदरपुर में था, जब उसे अपनी बहन की मृत्यु का समाचार मिला और चूंकि पहले कहा था उसे कोई सवारी नहीं मिली और वह दिल्ली 24 अक्तूबर, 1979 को पहुंचा। किन्तु उसने यह स्वीकार किया है कि अभियुक्त का वेतन लगभग दो हजार रुपये प्रति मास है।

13. अभियोजन साक्षी 4 श्रीमती गौरा देवी मृतक की मां है। उसने यह कहा है कि उसकी मृत पुत्री संतोष शिकायत किया करती थी कि अभियुक्त उसे पीटता था। उसने यह भी कहा है कि विवाहोपरांत अभियुक्त अपने सास-ससुर तथा सालों से धन मांगा करता था। वह यह स्वीकार करती है कि 22 अक्तूबर, 1979 को मृतक उनके घर आई थी और उससे मिली थी और उसने अपने भाइयों से मिलने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु चूंकि वे घर पर नहीं थे इसलिए वह चली गई और उसने यह कहा कि वह दूसरे दिन आएगी। उसने यह भी स्वीकार किया है कि दूसरे दिन मृतक की पुत्री ने उसे टेलीफोन किया कि उसकी मां को ज़ली हुई अवस्था में अस्पताल ले जाया गया है।

14. इस मामले में दूसरे वर्ग के साक्षी हैं: अभियोजन साक्षी-5 श्रीमती सुशीला सबलोक तथा अभियोजन साक्षी-6 श्रीमती कृष्णा और दोनों ने ही यह कहा है कि 19 अक्तूबर, 1979 को जब वे आपस में मिलीं, तो उन्होंने अभियुक्त के घर 21 अक्तूबर, 1979 को जाने का निश्चय किया। उद्देश्य यह था कि दंपत्ति के बीच विवाद को सुलझाया जाए और उनके साथ अभियोजन साक्षी-6 श्रीमती कृष्णा के पति भी जाने वाले थे और आपस में बातचीत के दौरान उन्हें यह पता लगा कि मृतक ने अपनी दो सोने की चूड़ियां बेच दी थीं। किन्तु उसका पति उस पर यह भी अभियोग लगा रहा था कि उसने और भी सोने के आभूषण बेचे थे और पक्षकारों के बीच तनावपूर्ण संबंध का यही कारण था। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि मृतक ने गलती के लिए माफी मांग ली थी किन्तु अपीलार्थी ने उनकी उपस्थिति में ही पानी भरा गिलास उसके मुंह पर मारा और उसे थप्पड़ भी मारे। अभियुक्त ने उस समय मृतक से कहा था कि वह अपने भाई की गारंटी दिलवाए कि वह भविष्य में ऐसा नहीं करेगी। अभियोजन साक्षी-6 कृष्णा ने यह भी स्वीकार किया है कि मृतक के पास एक लाकर था, जिसका संचालन वह अपने पति की उपस्थिति में करती थी।

15. अभियोजन साक्षी 20 धर्मवीर ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसे पक्षकारों ने 27-1-1979 को बुलाया था और उसकी तथा सुरेन्द्र मल्होत्रा और उसके चाचा की उपस्थिति में बैंक का लाकर खोला गया था और उससे निकली सूची (प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए) बरामद हुई थी। वह यह भी कहता है कि प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए उन वस्तुओं का सूची-पत्र है, जो लाकर में पड़ी थीं और यह पक्षकारों की उपस्थिति में तैयार किया गया था। उसके तैयार किए जाने के पश्चात् मृतक ने अभियुक्त से कहा था कि भूल सूची प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए रख दी जाए। चूंकि मामले के अधिकांश तथ्य, जिनमें मृत्यु का हेतुक भी है, निर्विवाद हैं, अत: हमें अन्य साक्षियों के अभिसाक्ष्य का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। इसमें डा० रमानी का साक्ष्य भी है, जिन्होंने मृत्युपरांत परीक्षा की थी। किन्तु दो साक्षियों का एक और संवर्ग है, जिसका अभिसाक्ष्य अत्यंत महत्वपूर्ण है और इस प्रक्रम पर हम उसे उद्धृत करना चाहते हैं। ये दो साक्षी अभियोजन साक्षी 7 टेकचंद कोरा तथा प्रतिरक्षा साक्षी 2 अनुराधा, मृतक की पुत्री हैं। अभियोजन साक्षी-7 टेकचंद कोरा ने यह साक्ष्य दिया है कि अपीलार्थी अपनी पत्नी के साथ मकान नं० सी-42 कीर्ति नगर की पहली मंजिल में रहता था और 22 अक्तूबर, 1979 को जब वह अपने मकान की पहली मंजिल में सो रहा था, उसने अभियुक्त जगदीश लाल मल्होत्रा की जोर की चिल्लाहट "बचाओ, बचाओ" सुनी। वह दौड़ कर आया और उसने प्रथम मंजिल की रसोई के बाहर लपटें देखीं। उसने जगदीश लाल को दरवाजा खोलने के लिए बुलाया और जब वह अंदर गया तो उसने देखा कि श्रीमती मल्होत्रा रसोई से बाहर फर्श पर पड़ी हुई हैं। उसका शरीर कंबल में लिपटा हुआ था और उसका जला हुआ मुंह बाहर था। अभियुक्त जगदीश लाल ने उससे प्रार्थना की कि वह जगदीश लाल के छोटे भाई को बुला दे, ताकि श्रीमती मल्होत्रा को अस्पताल ले जाया जा सके। वह अपने लड़के के साथ स्कूटर पर सुरेन्द्र मल्होत्रा को बुलाने गया और उसे अभियुक्त के घर ले आया। तब उसने अपनी कार स्टार्ट की और अभियुक्त तथा उसका भाई श्रीमती मल्होत्रा को कुछ पड़ोसियों की सहायता से सीढ़ियों से नीचे उतार लाए। उसे कार की पिछली सीट पर लिटा दिया गया और विलिंग्डन अस्पताल ले जाया गया। पुलिस ने उसकी उपस्थिति में उस टिन (प्रदर्श पी-1) को, जिसमें मिट्टी का तेल था, एक दियासलाई की डिबिया, जो वहां पड़ी हुई थी प्रदर्श पी-2 के साथ अपने कब्जे में लिया। मेमो प्रदर्श अभियोजन साक्षी-7/क, जो उसके द्वारा हस्ताक्षरित

किया गया, भी दिखाया—एक जली हुई दियासलाई की तीली भी कब्जे में ली गई, वही मेमो देखें। रसोई के बाहर बरामदा में साड़ी के कुछ जले हुए टुकड़े और चमड़े के जले हुए टुकड़े प्रदर्श पी-3 तथा पी-4 भी पुलिस द्वारा कब्जे में लिए गए। मेमो प्रदर्श अभियोजन साक्षी 7/बी देखें। उसने आगे कहा है कि जली हुई दियासलाई की तीली शौचालय के फर्श पर पड़ी थी। उसने अपने पुत्र तथा अपने नौकर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का भी नाम लिया है, जो घटनास्थल पर पहुंचे थे, अर्थात् सुनील कटारिया, प्रवीन चोपड़ा, प्रमोद चोपड़ा, श्रीमती अजय तलवार तथा प्रदीप तलवार। उसने अस्पताल पहुंचने पर अभियुक्त के हाथों तथा मुंह पर जलने से हुए घाव भी देखे। उसने यह स्वीकार किया है कि जब वह सीढ़ियों से ऊपर गया था तो उसने देखा था कि अभियुक्त के बच्चे रो रहे थे। मृतक बोल नहीं रही थी और बच्चे यह चिल्ला रहे थे कि "मम्मी ने क्या कर दिया"। और अभियुक्त रुंधी हुई आवाज में कह रहा था कि उसका घर बरबाद हो गया और इसने यह क्या कर दिया। वह यह भी कहता है कि मृतक उसे किराया दिया करती थी, किंतु बाद में मृतक ने दो मास का किराया न दिया और उसने (साक्षी मकान-मालिक ने) अभियुक्त से शिकायत की, जो चेक द्वारा सीधे किराया देने लगा।

16. अब हम प्रतिरक्षा साक्षी 2 अनुराधा मल्होत्रा के, जो मृतक की पुत्री है, अभिसाक्ष्य पर आते हैं। उसने यह कहा है कि 22 तथा 23 अक्तूबर, 1979 के बीच की रात को वे रसोई के सामने वाले शयनकक्ष में उस समय सो रहे थे, जब उसने 'हाय-हाय' का शोर सुना। उसने कमरे की खिड़की से देखा और यह पाया कि उसकी मां रसोई के नजदीक जल रही थी। रसोई शयनकक्ष से 6-7 फीट की दूरी पर है। जब वह जगी, तो उसके पिताजी भी जग गए और उसके पिताजी कमरे से बाहर भागे और 'बचाओ-बचाओ' चिल्लाना शुरू किया और अपने हाथों से आग भी बुझाने लगे। इसी बीच उसके भाई तथा बहन भी उठ गए। तब उसके पिता ने उससे कंबल मंगवाए और वह दो कंबल ले आई और दूसरी बहन एक तीसरा कंबल ले आई, श्री कौड़ा भूतल (ग्राउंड फ्लोर) पर रहते हैं और जब उसकी मां जल ही रही थी तो श्री कौड़ा ने नीचे से पुकारा और दरवाजा खोलने को कहा। तब उसकी बहन ने दरवाजा खोला, जबकि उसके पिता कंबल की सहायता से आग बुझाने की कोशिश कर रहे थे। इसी बीच श्री कौड़ा तथा अन्य पड़ोसी ऊपर आ गए और उस समय तक उसके पिता उनकी सहायता से मृतक को फर्श पर लिटाने का प्रयत्न कर

रहे थे, उसके पिता ने उसकी मां से कहा "इसने यह क्या कर दिया है इसने घर बरबाद कर दिया", वे रो रहे थे और वे अपनी मां से कह रहे थे कि उसने यह क्या कर दिया है, किंतु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। बाकी वृत्तांत उसने वही बताया है, जो कि अभियोजन साक्षी-7 ने बताया है। किंतु उसने यह कहा है कि मृतक को अस्पताल ले जाते समय अभियुक्त ने उससे कहा था कि वह अपने मामा को टेलीफोन कर दे और उसने इस घटना के बारे में अपने मामाओं को टेलीफोन कर दिया था। उसने इस तथ्य से पूर्णतः इनकार किया है कि घटना की रात से पूर्व घर में किसी प्रकार का कोई झगड़ा हुआ था अथवा सुरेन्द्र मल्होत्रा वहां थे। उसने इस संकेत से भी पूर्णतः इनकार किया है कि उसके पिता ने अस्पताल से लौटने के बाद उसे यह सलाह दी थी कि वह कोई कथन न करे। किंतु उसने यह स्वीकार किया है कि वह अस्पताल भी जाया करती थी और अपने पिता को देखने जेल भी जाया करती थी। उसने इस इंगित से पूर्णतः इनकार किया है कि वह ऐसा कथन अपने पिता को बचाने के लिए कर रही है। उसने यह भी कहा है कि यह कहना गलत है कि उनके पास पैसे का अभाव था अथवा उन्हें उनकी नानी आर्थिक सहायता दिया करती थी। उसे यह बात पता नहीं है कि उसकी मां ने सोने की दो चूड़ियां बेची थीं अथवा नहीं और इस कारण उसकी मां और उसके पिता के बीच झगड़ा था। उसने इस इंगित से भी पूर्णतः इनकार किया है कि उसने अपने मामा को यह टेलीफोन किया था कि उसके पिता ने उसकी मां को मार डाला था, बल्कि वह यह कहती है कि उसकी मां ने अपने ऊपर मिट्टी का तेल छिड़क लिया था और आत्महत्या करने की कोशिश की थी तथा उसके पिता भी गंभीर रूप से घायल हो गए थे। उसने इस इंगित से भी इनकार किया कि जब वह उठी तो उसने मां को जलते हुए पाया और उसके पिता उसे दीवाल में दबाए हुए थे, ताकि वह भाग न सके और इसी प्रक्रिया में वह भी जल गए। किंतु उसने यह जोड़ा है कि उसके पिता उस समय जले, जब वे उसकी मां की आग बुझाने की कोशिश कर रहे थे।

17. तीन गवाहों का एक और भी संवर्ग है, जिनका अभिसाक्ष्य जांच के लिए सुसंगत है और वे हैं, अभियोजन साक्षी 24 डा० वी० ठकराल, अभियोजन साक्षी 25 डा० आर० पी० शर्मा और अभियोजन साक्षी 26 सब-इंस्पेक्टर सुरेन्द्र देव। उनके कथन इस सीमित प्रयोजन के लिए सुसंगत हैं कि वे मृत्युकालिक कथन के साक्षी हैं। अतः यह आवश्यक है कि

इस बात की परीक्षा की जाए कि इस तथ्य के संबंध में उन्होंने क्या कहा है ?

18. अभियोजन साक्षी 25 डा० आर० पी० शर्मा आपात ड्यूटी पर थे। उन्होंने यह साक्ष्य दिया है कि मृतक के अस्पताल में आने के तुरन्त पश्चात् उसने यह कथन किया कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया है और डा० शर्मा ने इस बात को अभिलिखित किया। प्रदर्श अभियोजन साक्षी-24/ए-1। डाक्टर का कहना है कि मृतक उस समय होश में थी और उसने रोगी को शल्य चिकित्सा विभाग में भेज दिया और उपस्थित सिपाही को कहा कि वह संबद्ध पुलिस थाने में इत्तिला भेज दे। वह मृत्युकालिक कथन प्रदर्श पी० डब्ल्यू० 24/ए का भी साक्षी है, जो अभियोजन साक्षी 26 सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव द्वारा अभिलिखित किया गया है। उनका कहना है कि कथन करते समय रोगी होश में थी और कथन उसकी उपस्थिति में और डा० अनिल मेंहदीरत्ता तथा डा० वी० ठुकराल की उपस्थिति में अभिलिखित किया गया था। उसका कहना है कि उसने अभियुक्त की भी परीक्षा की थी और जलने से हुए घावों के संबंध में अभियुक्त ने कहा था कि ये घाव उसे अपनी पत्नी को बचाने में हुए हैं।

19. अभियोजन साक्षी 24 श्री ठुकराल भी मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए के साक्षी हैं। उसने यह साक्ष्य दिया है कि जब रोगी ने कथन किया तो वह होश में थी और उसने स्वयं रोगी से प्रश्न पूछे थे और प्रश्नों के उत्तर सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने अभिलिखित किए थे। उसने यह भी साक्ष्य दिया है कि मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करते समय डा० आर० पी० शर्मा तथा डा० अनिल मेंहदीरत्ता भी उपस्थित थे। किंतु उसने यह कहा कि संक्षेप में जो कुछ भी उसे याद है, वह यह है कि मृतक ने यह कहा था कि बिल्कुल सबेरे वह शौचालय लघुशंका हेतु गई हुई थी और उसके पीछे से उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी।

20. अभियोजन साक्षी 26 सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि अस्पताल पहुंचने पर वह डा० आर० पी० शर्मा, डा० अनिल मेंहदीरत्ता और डा० वी० ठुकराल के पास गया और इस बात का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के पश्चात् कि मृतक कथन करने में समर्थ थी, उसने उसका कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए डाक्टरों की उपस्थिति में अभिलिखित किया।

21. हमने विद्वान् काउन्सेलों को विस्तारपूर्वक सुना है। राज्य के विद्वान् काउन्सेल श्री सोढी ने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि मृत्युकालिक कथन के अतिरिक्त मृतक की मृत्यु के कारण के संबंध में उनके पास कोई और प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है। किंतु उन्होंने हमारा ध्यान अभियोजन साक्षी-1 से 6 के साक्ष्य के प्रति आकर्षित किया, जो मृतक के भाई, बहन तथा उसकी मां हैं, और यह इंगित किया कि अभियुक्त अपीलार्थी के पास मृतक को मार डालने का हेतुक था, जैसा कि इन साक्षियों के अभिसाक्ष्य से स्पष्ट है। उसने हमारा ध्यान पत्र प्रदर्श अभियोजन साक्षी 2/बी, अभियोजन साक्षी 2/सी तथा अभियोजन साक्षी 2/डी के प्रति भी यह उपदर्शित करने के लिए आकर्षित किया है कि अभियुक्त लालची व्यक्ति था और उसके अपनी पत्नी से संबंध यह जानकर और भी तनावपूर्ण हो गए कि उसने अपने पिता की संपदा में अपने अधिकार अपीलार्थी अभियुक्त के परामर्श के बिना ही छोड़ दिए थे। उसने कतिपय ऐसे साक्ष्य के प्रति इंगित किया है, जिससे यह उपदर्शित होता है कि अभियुक्त मृतक से विवाह के तुरन्त पश्चात् ही अपने ससुराल वालों से नकद तथा सामान निकलवाने के लिए सन्नद्ध हो गया था।

22. यह स्वीकार करते हुए कि पक्षकारों के बीच एक प्रकार का तनाव था, हम यह उचित नहीं समझते कि हम अभियुक्त की लालच की बाबत तथा अपने ससुर की संपदा के विषय में विवाद की बाबत साक्ष्य का उपयोग अभियुक्त के विरुद्ध करें। इन विषयों में अभियुक्त के आचरण की बाबत अभियोजन का साक्ष्य समय की दृष्टि से इतना दूरस्थ है कि उसे हिसाब में नहीं लिया जा सकता। अभियोजन ने हमें इस बात के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न किया है कि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें कि अभियुक्त शुरू से ही लालची व्यक्ति रहा है और उसकी ससुराल वाले उसकी अयुक्तियुक्त मांग को भी पूरा करते रहे हैं। हमारी दृष्टि से यह बहुत पुरानी कहानी है और हम इस बात पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं कि इसके कारण अभियुक्त ने यह अपराध किया है, किंतु हमारा यह निष्कर्ष है कि इस तथ्य के कारण कि अभियुक्त ने इस बात को बहुत गंभीरतापूर्वक लिया कि उसकी पत्नी मृतक संतोष ने दो सोने की चूड़ियों के अतिरिक्त सोने के 30 और आभूषण बेच दिए थे और इसके कारण पति-पत्नी के बीच संबंध में दरार पड़ गई थी। ये आभूषण बेंक के लाकर में 27 जनवरी, 1979 को विद्यमान नहीं थे। जब उसे पति-पत्नी अभियोजन साक्षी 20 धर्मबीर तथा अभियुक्त के भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा की उपस्थिति में खोला गया था।

मृतक इस बात का स्पष्टीकरण देने में असफल रही थी, यद्यपि कि अपनी बहनों अभियोजन साक्षी 5 तथा अभियोजन साक्षी 6 की उपस्थिति में 21 अक्तूबर, 1979 को उसने कहा था कि ये आभूषण उसने अपनी सास को दे दिए थे। कुछ भी हो, विवाद की प्रकृति चाहे जो भी हो, यह तथ्य तो है ही कि पक्षकारों के संबंधों में तनाव था और 21 अक्तूबर, 1979 को यह तनाव और भी बढ़ गया और मृतक की बहनों, अर्थात् अभियोजन साक्षी 5 तथा 6 के बीच-बचाव का कारण भी यही है।

23. जैसा कि हमने पहले कहा है, इस मामले का भाग्य इस तथ्य पर आधारित है कि मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए पर विश्वास किया जाना है अथवा नहीं, और यदि मृत्युकालिक कथन पर विश्वास कर लिया जाता है, तो अभियुक्त अपीलार्थी का बचना संभव नहीं। राज्य के काउंसेल मिस्टर सोढी ने बड़ी तीव्रतापूर्वक यह दलील दी है कि मृतक ने एक के बाद एक मृत्युकालिक कथन किए थे और इन मृत्युकालिक कथनों से पूर्व और मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए के अभिलिखित किए जाने से पूर्व न्यायालय को इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि मृतक के अस्पताल में 5-00 बजे सवेरे आने पर तुरन्त उसने डा० आर० पी० शर्मा से भी कहा था कि उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था।

24. उन्होंने यह भी निवेदन किया है कि मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए को तीन डाक्टरों ने देखा है, अर्थात् डा० आर० पी० शर्मा, डा० वी० ठुकराल तथा डा० मेंहदीरत्ता और किसी भी कल्पना के आधार पर उन्हें हितबद्ध साक्षी के रूप में अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। उन्होंने यह भी निवेदन किया है कि चूंकि वह औरत मर रही थी, अतः यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने पति को अनावश्यक रूप से फंसाएगी। उनकी यह भी दलील है कि अन्वेषण अधिकारी के पास इस बात के लिए समय नहीं था कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने हेतु मजिस्ट्रेट को बुलाए और इसलिए उसके पास कोई विकल्प नहीं था। अतः मृत्युकालिक कथन पर विचार इन परिस्थितियों के प्रकाश में करना होगा।

25. किंतु श्री फ्रैंक एन्थनी ने इन दलीलों का उत्तर यह दिया कि मृत्युकालिक कथन को अन्वेषण अधिकारी ने अभिलिखित किया है, जो स्वभावतः अन्वेषण की सफलता में हितबद्ध है और ऐसे कथन का स्वयं अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित किया जाना विधि की दृष्टि में उचित नहीं होता और इसलिए

इसे ध्यान में नहीं रखा जाना चाहिए। उन्होंने यह भी दलील दी है कि मृत्युकालिक कथन की अभियुक्त के आचरण तथा अभियोजन साक्षी 7 तथा प्रतिरक्षा साक्षी 2 के कथनों के प्रकाश में पूर्णतः परीक्षा की जानी चाहिए। उन्होंने यह भी दलील दी है कि यदि अभियुक्त ने अपराध किया होता तो वह अपनी पत्नी को जलते देखकर तुरन्त शोर नहीं मचाता और जो कुछ भी बच्चों और अपीलार्थी ने मृतक से घटना के समय कहा उससे यह पर्याप्त रूप से दर्शित होता है कि मृतक ने आत्महत्या की थी। जिस प्रकार का आचरण अभियुक्त ने किया है, उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसी अपराधी का आचरण है। उन्होंने यह भी निवेदन किया है कि मृतक को अस्पताल ले जाते समय भी अभियुक्त ने अपनी पुत्री अनुराधा प्रतिरक्षा साक्षी 2 से यह कहा कि वह घटना के बारे में अपने मामा को टेलीफोन कर दे। उन्होंने गंभीरतापूर्वक यह दलील दी कि राज्य के विद्वान् काउंसेल की इस दलील को गंभीरता से नहीं लिया जाना चाहिए कि प्रतिरक्षा साक्षी 2 अनुराधा सच नहीं बोल रही है, क्योंकि उसने घटना के तुरन्त पश्चात् जलने के कारण के संबंध में अपने मामा को बताया और यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय वह अपने पिता की प्रतिरक्षा बनाने के संबंध में सोच सकती थी। श्री फ्रैंक एंथनी ने हमारा ध्यान **मुन्नूराजा और एक अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[1] के प्रति आकर्षित किया है, जिसमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

> "उस अन्वेषण अधिकारी ने, जिसने मृत्युकालिक कथन अभिलिखित किया, निस्संदेह डाक्टर को उपस्थित रखने की सावधानी बरती थी और ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक के कुछ मित्र और संबंधी भी कथन अभिलिखित करने के समय उपस्थित थे किन्तु यदि अन्वेषण अधिकारी ने यह सोचा कि बहादुर सिंह खतरनाक स्थिति में था तो उसे मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने हेतु मजिस्ट्रेट को बुलाना चाहिए था। अन्वेषण अधिकारी स्वभावतः ही अन्वेषण की सफलता में हितबद्ध होते हैं और अन्वेषण के दौरान मृत्युकालिक कथन स्वयं अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित किए जाने की प्रणाली को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। अतः हमने अस्पताल में अभिलिखित मृत्युकालिक कथन प्रदर्श पी-2 को ध्यान में नहीं रखा है।"

[1] एस० सी० आर० 1976 (2) 764.

श्री फ्रैंक एंथनी ने **दलीप सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य**[1] के मामले को भी प्रोद्धृत किया, जिसमें निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :—

"यद्यपि कि अन्वेषण के दौरान पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन साक्ष्य अधिनियम की धारा 32 के अधीन ग्राह्य है, किंतु दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 162 की उपधारा (2) में उपबंधित अपवाद को दृष्टि में रखते हुए यह बेहतर होता कि ऐसे मृत्युकालिक कथन को उस समय तक विचार में न लिया जाए, जब तक कि अभियोजन इस सम्बन्ध में न्यायालय का समाधान न कर दे कि मृत्युकालिक कथन किसी मजिस्ट्रेट द्वारा या किसी डाक्टर द्वारा क्यों नहीं अभिलिखित किया गया। अन्वेषण के दौरान मृत्युकालिक कथन का स्वयं अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित किए जाने की प्रणाली को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसे कथन हमेशा ही अविश्वसनीय होते हैं, किंतु हम बल इस बात पर दे रहे हैं कि किसी क्षतिग्रस्त व्यक्ति के मृत्युकालिक कथन के अभिलिखित करने के बेहतर और अधिक विश्वसनीय मार्ग अपनाए जाने चाहिएं, यद्यपि पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन पर विश्वास उस दशा में किया जा सकता है, यदि कोई बेहतर मार्ग अपनाने के लिए समय या सुविधा उपलब्ध न रही हो।

अभिनिर्धारित—किसी हत्या के मामले में मृत्युकालिक कथन को यद्यपि कि इस आधार पर अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसे पुलिस अधिकारी ने अभिलिखित किया था, क्योंकि मृतक खतरनाक स्थिति में था और गांव में मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के लिए कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सकता था। इस मामले में मृत्युकालिक कथन को विचार में इसलिए नहीं लिया गया कि वह कुछ संदेहास्पद था।"

थूरुकन्नीपोम्परया और एक अन्य बनाम मैसूर राज्य[2] के प्रति भी निर्देश किया गया, जिसमें निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है :—

"हमलावरों के अभियोजन में मृत्युकालिक कथन सुसंगत तथा तात्त्विक साक्ष्य होता है और सही और विश्वसनीय मृत्युकालिक

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1173.
[2] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 939.

कथन दोषसिद्धि का एकमात्र आधार हो सकता है, यद्यपि कि उसकी संपुष्टि न हुई हो, किन्तु न्यायालय का यह समाधान अवश्य होना चाहिए कि कथन सही है। मृत्युकालिक कथन की विश्वसनीयता की सूक्ष्म संवीक्षा की जानी चाहिए और ऐसी संवीक्षा इस बात को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए कि मृत्युकालिक कथन अभियुक्त की अनुपस्थिति में किया गया था, जिसे प्रतिपरीक्षा द्वारा उसकी सत्यता को चुनौती देने का अवसर नहीं मिला था। यदि न्यायालय का निष्कर्ष यह है कि कथन पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है और संपूर्ण घटना के संबंध में मृतक के वृत्तांत का तात्त्विक और अभिन्न भाग गलत है, तो न्यायालय मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह मत अपना सकता है कि मात्र घोषणा के आधार पर और उसकी संपुष्टि के अभाव में अभियुक्त को सिद्धदोष करना निरापद नहीं होगा।"

26. राज्य के विद्वान् काउंसेल सोढी तेजा सिंह ने हमारा ध्यान **अम्बा शंकर देव** बनाम **राजस्थान राज्य**[1] के प्रति आकर्षित किया। इस मामले में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :—

"यद्यपि कि 'समान शब्दावली' नियम हितकारी होता है, किन्तु यह नहीं अभिनिर्धारित किया जा सकता कि जब तक कि कथन का प्रत्येक साक्षी वास्तविक शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं करता तब तक न्यायालय के लिए इस निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं होगा कि कथनकर्त्ता ने क्या कथन किया था या कथन का तात्पर्य या अर्थ क्या था। कभी-कभी सभी साक्षियों के लिए यह कठिन होता है कि वे उन शब्दों की सही-सही पुनरावृत्ति कर सकें, जिन्हें उन्होंने कथनकर्त्ता द्वारा बोले जाते समय सुना था। उनसे मात्र यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वे उन शब्दों के समान ही शब्दों का प्रयोग करें, जिनका उच्चारण मृतक द्वारा तात्पर्यित था और इस सीमा तक साक्षियों पर विश्वास निरापद रूप में किया जा सकता है।"

27. इस नजीर के प्रति सोढी तेजा सिंह ने निर्देश इस बात को ध्यान में रखते हुए किया कि मृत्युकालिक कथन के साक्षी डा० वी० ठुकराल या डा० आर० पी० शर्मा ने उसके सम्बन्ध में ब्यौरे नहीं दिए हैं और डा० वी० ठुकराल ने मात्र इतना कहा है कि "संक्षेप में जो कुछ भी उसे याद है

[1] इंडियन लॉ रिपोर्ट्स 1971 (21) राजस्थान 541.

वह यह है कि मृतक ने यह कहा था कि बिल्कुल सवेरे वह शौचालय लघुशंका हेतु गई हुई थी और उसके पीछे से उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी।"

28. हम यह इंगित कर सकते हैं कि नजीरों पर विचार करने के पश्चात् हमारा यह पक्का विश्वास है कि विधि के सम्बन्ध में तो नजीरें हो सकती हैं, किन्तु तथ्यों के सम्बन्ध में कोई नजीर नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक मामले पर उसके अपने तथ्यों और परिस्थितियों के प्रकाश में तथा विधि की अपेक्षाओं के प्रकाश में विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मृत्युकालिक कथन के संबंध में सुस्थिर विधि यह है कि ऐसे कथनों पर विचार सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए और ऐसे कथन को स्वीकार करने से पूर्व उसकी परीक्षा ब्यौरेवार तथा सांगोपांग रूप में की जानी चाहिए। विधि का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है, जो मृत्युकालिक कथन को संपुष्टि के अभाव में अपवर्जित करता हो। अभियोजन का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण कथन को न्यायालय के समक्ष उसी रूप में रखे, जिस रूप में वह किया गया था और उसकी शब्दावली या उसके तात्पर्य को किसी भी रूप में विकृत न करे। न्यायालयों से भी यह अपेक्षित है कि वे इस बात को ध्यान में रखें कि अन्वेषण अधिकारी, जो अन्वेषण की सफलता में हितबद्ध होते हैं इस बात के लिए प्रोत्साहित न किए जाएं कि वे ऐसे मृत्युकालिक कथनों को स्वयं अभिलिखित करें और यदि यह न्यायालय को प्रतीत होता है कि अन्वेषण अधिकारी के पास पर्याप्त समय और साधन था कि वह मृत्युकालिक कथन अभिलिखित करने के लिए मजिस्ट्रेट को बुला सके, तो उस दशा में अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन पर विचार नहीं किया जाना चाहिए। अन्वेषण अधिकारी के पास मजिस्ट्रेट को बुलाने के लिए पर्याप्त समय या साधन था अथवा नहीं यह तथ्य का प्रश्न है और इसका अवधारण प्रत्येक मामले के अपने तथ्यों और उनकी परिस्थितियों के प्रकाश में किया जाना चाहिए। यदि मृत्युकालिक कथन में किया गया तथ्यों का व्यापक कथन उनके सम्बन्ध में अभियोजन के अन्य साक्ष्य से भिन्न है और यदि जो कुछ अभियोजन ने अन्य साक्ष्य द्वारा सिद्ध किया है, वह मृत्युकालिक कथन में वर्णित तथ्यों का खंडन करता है तो मृत्युकालिक कथन अविश्वसनीय और संदेहास्पद हो जायेगा।

29. किन्तु हम श्री फ्रैंक एंथनी से इस सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं कि इस मामले में अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन

को केवल इसलिए विचार में नहीं लिया जाना चाहिए कि वह अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित किया गया है न कि किसी मजिस्ट्रेट द्वारा। इस मामले में हमारे समक्ष इस बात का साक्ष्य है, जो उपचार पत्र (ट्रीटमैंट-शीट) से भी समर्थित है कि अन्वेषण अधिकारी के पास मजिस्ट्रेट को बुलाने का समय नहीं था और डाक्टर ने कथन अभिलिखित करने के लिए तुरन्त व्यवस्था करने की मांग की थी किंतु हमारी यह राय है कि इस मामले में मृत्युकालिक कथन को विचार में इसलिए नहीं लिया जाना चाहिए कि इसमें ऐसे कथन हैं, जो इसे संदेहास्पद बनाते हैं।

30. अतः इस संदर्भ में हम प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 तथा प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए की परीक्षा करेंगे। प्रथम मृत्युकालिक कथन जो अस्तित्व में आया वह प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 है। यह डा० आर० पी० शर्मा द्वारा एक वाक्य में लिखा गया है कि रोगी ने यह बात प्रकट की कि उसे उसके पति द्वारा जला दिया गया था। द्वितीय मृत्युकालिक कथन अर्थात् प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए अन्वेषण अधिकारी सब-इन्स्पैक्टर सुरेन्द्र देव द्वारा डा० आर० पी० शर्मा, डा० वी० ठुकराल तथा डा० अनिल मेंहदीरत्ता की उपस्थिति में अभिलिखित किया गया है और ब्यौरेवार है। प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 लगभग 4.30 बजे पूर्वाह्न में अभिलिखित किया गया है जबकि प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए-1 लगभग 5.30 तथा 6.30 बजे पूर्वाह्न के बीच किसी समय अभिलिखित किया गया है। अन्वेषण अधिकारी ने ठीक-ठीक समय अभिलिखित नहीं किया है, यद्यपि ऐसे मामलों में समय का तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस कथन को पुलिस स्टेशन में 6.30 बजे पूर्वाह्न में वायरलेस द्वारा भेज दिया गया था। यह स्वीकार किया गया है कि यह मृत्युकालिक कथन अर्थात् प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए ऐसे समय पर लिखा गया था, जब रोगी की हालत बद से बदतर होती जा रही थी। हमने उपचार-पत्र में देखा है कि वह प्रत्येक परीक्षा के साथ मृत्यु के निकट आती जा रही थी और वह 7.55 बजे पूर्वाह्न में वस्तुतः पूर्णतः दिवंगत हो गई। उपचारपत्र से, जिसे प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24-सी की दूसरी ओर उद्धृत किया गया है, यह दर्शित होता है कि 7.55 पूर्वाह्न में रोगी की नाड़ी, श्वांस, हृदय की गति तथा रक्त-चाप समाप्त हो गए थे। जैसा कि उपचार में उल्लिखित है, रोगी की हालत 6.30 बजे पूर्वाह्न से लगातार बिगड़ती जा रही थी। इससे यह दर्शित होगा कि वह 7.55 बजे पूर्वाह्न में पूर्णतः दिवंगत हो गई थी, यद्यपि कि डाक्टरों द्वारा उसे मृत 8.15 बजे पूर्वाह्न में घोषित किया गया था। जैसा कि इस

उपचार-पत्र से स्पष्ट है, रोगी की हालत 6.30 बजे सवेरे ऐसी थी कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि वह इतनी सचेत थी कि बातों को समझ सके और उनका उत्तर दे सके। कुछ भी हो, 6.30 बजे सवेरे रोगी की हालत ऐसी नहीं थी कि वह प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए जैसा मृत्युकालिक कथन कर सके। हमें 6.30 बजे सवेरे से पूर्व की उसकी दशा की कल्पना करनी होगी। हमें डाक्टर वी० ठकराल द्वारा बताया गया है कि उसके पूछने पर उत्तर सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव द्वारा अभिलिखित किए गए। इससे यह उपदर्शित होता है कि मृत्युकालिक कथन डा० वी० ठुकराल द्वारा प्रश्न किए जाने पर लिखे गए थे यद्यपि केवल प्रश्नों के उत्तर ही उद्धृत किए गए हैं। चूंकि मृत्युकालिक कथन को प्रश्न और उत्तर के रूप में नहीं अभिलिखित किया गया है, इसलिए यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि कौन-से प्रश्न और किस रूप में पूछे गए? हमें इस संबंध में मात्र अनुमान ही लगाना होगा कि परीक्षक द्वारा क्या-क्या इंगित किया गया और कथन करने वाले व्यक्ति द्वारा क्या कहा गया। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि यह कथन मृतक का सही कथन है। इसके अतिरिक्त कथन का रूप ऐसा है जो उसे संदेहास्पद बना देता है। यह कहा गया है कि उसने कहा था कि "मैं ऊपर वर्णित पते पर रहती हूं।" यह ज्ञात नहीं है कि उसे उस पते का कैसे पता लगा, जो अन्वेषण अधिकारी द्वारा अभिलिखित किया गया था। मृत्युकालिक कथन में यह भी कहा गया है कि "पैसे की कमी के कारण मेरे पति जगदीश मल्होत्रा और मेरे देवर सुरेन्द्र मल्होत्रा झगड़ा किया करते थे।" (संभवतः उसका आशय यह था कि उसके साथ झगड़ा किया करते थे)। यह कथन स्पष्टतः गलत है। हमने उसके तीनों भाइयों, दोनों बहनों तथा मां अर्थात् अभियोजन साक्षी 1 से 6 तक के साक्ष्य का अवलोकन किया है, जिसमें उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि पति-पत्नी के संबंध तनावपूर्ण इसलिए थे कि पत्नी ने सोने की दो चूड़ियां बेच दी थीं। किसी भी प्रक्रम पर उन्होंने यह इंगित नहीं किया है कि अभियुक्त अपीलार्थी के भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा ने पति-पत्नी के बीच झगड़े में कभी भी हस्तक्षेप किया था। ये सभी अभियोजन साक्षी 1 से 6 बलपूर्वक यह कहते हैं कि यह सूचना उन्हें समय-समय पर स्वयं मृतक द्वारा दी गई थी। यह बात समझ में नहीं आती कि उसने कभी भी उनसे यह क्यों नहीं कहा कि अपीलार्थी का भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा भी उसके साथ झगड़ा किया करता था। वस्तुतः मृतक के बच्चों, विशेष रूप से बड़ी बच्ची प्रतिरक्षा साक्षी 2 अनुराधा को, यह बात

मालूम होनी चाहिए थी, किंतु उसने अपनी प्रतिपरीक्षा के दौरान स्पष्टतः कहा है कि सुरेन्द्र मल्होत्रा ने मृतक के साथ कभी भी झगड़ा नहीं किया था। हम यह भी निश्चित रूप से जानते हैं कि पति-पत्नी के बीच संबंधों को तनावपूर्ण बनाने वाला मूलभूत तथ्य यह था कि मृतक ने अपने आभूषणों का अधिकांश बेच डाला था और उसकी अंतिम कड़ी दो सोने की चूड़ियां थीं। यह तथ्य अभियोजन साक्षी-5 सुशीला सबलोक, अभियोजन साक्षी-6 कृष्णा और अभियोजन साक्षी-20 धर्मबीर, जो मृतक का बहनोई है, के अभिसाक्ष्य से पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है। मृतक ने अपनी बहन अभियोजन साक्षी-6 कृष्णा की उपस्थिति में यह स्वीकार किया था कि अभियुक्त यह कह रहा था कि उसने अपने आभूषण बेच डाले हैं जबकि वह कहती थी कि उसने अपने आभूषण अपनी सास को दे दिए थे। यदि अभियोजन के पक्षकथन की यह मूल प्रस्थापना है तो मृत्युकालिक कथन को विश्वासप्रद कैसे माना जा सकता है, विशेषतः तब जबकि उसमें यह कहा गया है कि उसके पति ने उससे सभी आभूषण ले लिए थे, जिनमें से सोने की दो चूड़ियां बेच दी गई थीं। वस्तुतः हमें अभियोजन साक्षी धर्मबीर ने यह बताया है कि अभियुक्त ने केवल यह किया था कि मृतक द्वारा बंद किए गए लाकर में पड़े आभूषणों को सत्यापित कराया था। सूचीपत्र प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12/ए, जो लाकर से निकाला गया था और प्रदर्श अभियोजन साक्षी 6/ए जो लाकर में पड़ी चीजों के संबंध में तैयार किया गया था, यह स्पष्टतः दर्शित करते हैं कि आभूषणों में 30 चीजें कम थीं। मृत्युकालिक कथन में उसने यह भी कहा है कि घटना की रात को भी उसके पति ने इस विवाद्यक के संबंध में झगड़ा किया था। (संभवतः उससे)। यह भी बात सही नहीं है। बच्चे इस कहानी का समर्थन नहीं करते। यदि इस प्रकार बार-बार झगड़े होते और यदि अभियुक्त का भाई सुरेन्द्र मल्होत्रा अपने भाई के घर पर बार-बार झगड़ा करने आता तो अभियोजन साक्षी-7 टेकचंद कौड़ा को यह बात निश्चित रूप से मालूम होती। यह घोषणा कि "संक्षेप में, जो कुछ भी उसे याद है वह यह है कि मृतक ने यह कहा था कि बिल्कुल सवेरे वह शौचालय लघुशंका हेतु गई हुई थी और उसके पीछे से उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी।" यह कथन भी स्पष्टतः गलत है। वस्तुतः उसकी पुत्री अभियोजन साक्षी 2 अनुराधा अपनी मां की चिल्लाहट 'हाय-हाय' सुनकर सबसे पहले उठी थी। अभियुक्त भी तुरंत ही उठ गया और उन दोनों ने ही उसे जलते देखा।

अभियुक्त ने पहले अपने हाथों से आग बुझाई और लड़की से कंबल लाने को कहा। प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा और उसकी बहन कंबल ले आई, जिसमें अभियुक्त ने मृतक को आग बुझाने के लिए लपेट दिया और इस प्रक्रिया में वह स्वयं भी जल गया। प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा तथा प्रतिरक्षा साक्षी-7 टेकचंद कौड़ा का यह साक्ष्य है कि अभियुक्त यथाशक्ति ऊंची आवाज में चिल्ला रहा था और सहायता की पुकार कर रहा था और जब टेकचंद कौड़ा पहुंचा तो उसने यह पाया कि पूरा परिवार रो रहा था और करुण क्रन्दन कर रहा था। वे यह कह रहे थे कि "इसने यह क्या कर दिया है" और अपीलार्थी भी यह चिल्ला रहा था कि "इसने घर को बर्बाद कर दिया है।" यह स्मरण रखना होगा कि प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा मृतक की पुत्री है और यदि उसने अपने पिता को अपनी मां के प्रति इतना क्रूर कार्य करते हुए देखा होता, तो उस प्रक्रम पर उसकी सहानुभूति संभवतः आहत मां के प्रति हो गई होती। यह दलील देना बिलकुल भी मान्य नहीं है कि उस पर दबाव डाला गया है। हमें खेद है कि पुलिस ने उसका कथन अभिलिखित नहीं किया। यदि अपराध घर के भीतर हुआ था, तो घर के रहने वाले स्वाभाविक साक्षी थे। हमें यह विश्वास करने का कारण है कि न तो उसे प्रतिरक्षा ने अपनी ओर मिला लिया है और न ही वह प्रतिरक्षा में अपने पिता को बचाने की दृष्टि से अभिसाक्ष्य देने आई है। कारण यह है कि घटना के तुरंत पश्चात् उसके पिता ने उससे कहा कि वह अपने मामा को टेलीफोन कर दे और उसने तुरंत ही अपने मामा को टेलीफोन पर यह संदेश दिया कि उसकी मां आग दुर्घटना में जल गई है और उसे अस्पताल ले जाया गया है। यदि उसने अपने पिता को अपनी मां को आग में जलाते देखा होता, तो उस समय उस प्रक्रम पर उसे अपने पिता से घृणा हो गई होती और उसने निश्चित रूप से उस पर अपराध का अभियोग लगाया होता। यही कारण है कि अनुराधा को अन्वेषण अधिकारी ने दृश्यपटल से बाहर रखा। यदि केस बनाया जाना था तो उसकी उपस्थिति को अपवर्जित करना आवश्यक था। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रत्यक्ष साक्षी नहीं थी क्योंकि उसी ने अत्यंत शीघ्र घटना की प्रकृति के संबंध में अपने मामा को सूचना दी थी। हमारे पास अभियोजन साक्षी-7 टेकचंद कौड़ा के अभिसाक्ष्य पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। वह सर्वाधिक स्वतंत्र तथा अहितबद्ध साक्षी है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम अभियोजन साक्षी-7 टेकचंद कौड़ा तथा प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा के अभिसाक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मृतक ने अपने मृत्युकालिक कथन में कहा है कि "उसको जलाने के बाद

अपीलार्थी उसे विलिंगडन अस्पताल ले गया।" हमें उस हालत का पता है, जिसमें उसे अस्पताल ले जाया गया था। उसका हम यह कहना समझ सकते हैं कि उसे अस्पताल ले जाया गया था, किंतु यह नहीं समझ आता कि उसे कैसे पता लगा कि उसे विलिंगडन अस्पताल ले जाया गया है। स्पष्ट है इन सभी बातों से यह दर्शित होता है कि उसे ये सब बातें बताई गई थीं और हमें उस समय उसकी मानसिक स्थिति का पता नहीं है और न ही यह पता है कि उसने उत्तर कैसे दिए थे। किंतु यदि मान लें कि उसे यह पता था कि वह विलिंगडन अस्पताल लाई गई है, यह उपधारणा करनी होगी कि वह होश में थी और यह जान सकती थी कि उसे कहां ले जाया जा रहा है। इससे भी मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए संदेहास्पद हो जाता है। कारण यह है कि यदि वह होश में थी और उसे यह पता था कि उसे विलिंगडन अस्पताल उसके पति द्वारा ले जाया जा रहा है तो एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि उसने बच्चों, मकान-मालिक तथा अन्य पड़ोसियों की उपस्थिति में अपने पति पर अपराध का अभियोग उस समय क्यों नहीं लगाया जबकि वे क्रन्दन कर रहे थे और उससे बार-बार पूछ रहे थे कि यह उसने क्या किया। यदि वह होश में थी, तो वह बिल्कुल मौन क्यों रही। अतः हमारी दृष्टि से, ऐसा प्रयत्न किया गया है कि यह कथन अत्यंत मान्य प्रश्न बन जाए। यदि डाक्टर ने यह प्रमाणपत्र दिया था कि वह कथन करने योग्य थी तो इस बात की आवश्यकता थी कि सब-इस्पैक्टर सुरेन्द्र देव, जिसने मृत्युकालिक कथन लिखा था, मृतक से यह उत्तर निकलवाता कि वह कथन अपने पूरे होश-हवास में कर रही है। मामूली तौर पर और सामान्यतया यह कहने के बाद कि कथन को सुन लिया है और यह सही है, कथन समाप्त हो जाता है, किंतु इस मामले में वहीं नहीं समाप्त होता। अन्वेषण अधिकारी इस बात के प्रति सजग है कि बच्चे इस वृत्तांत का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए वह उन्हें निश्चित रूप से अलग रखता है और इसीलिए मृत्युकालिक कथन की अंतिम पंक्ति है कि "जब उसे आग लगाई गई, उस समय तीनों ही बच्चे सो रहे थे।"

31. हमने मृत्युकालिक कथन प्रदर्श अभियोजन साक्षी 24/ए की परीक्षा उसके आवश्यक तत्वों तथा स्वयं अभियोजन साक्ष्य के प्रकाश में की है। इससे यह पर्याप्त रूप से दर्शित होता है कि कथन संदेहग्रस्त है और केवल उस पर दोषसिद्धि को आधारित करना निरापद नहीं है। हमारे समक्ष इस मामले में डा० वी० ठुकराल, अभियोजन साक्षी 24 का यह साक्ष्य है

कि मृतक के कथन को अभियोजन साक्षी 26 सब-इंस्पैक्टर सुरेन्द्र देव ने रोगी से प्रश्न पूछ-पूछ कर लिखा था, किंतु हमारे समक्ष वे प्रश्न नहीं रखे गए हैं। यह बात भी नहीं बताई गई है कि वे किस रूप में रखे गए थे और किस प्रकार के इंगित, यदि कोई थे, किए गए थे और उत्तर किस प्रकार दिए गए तथा लिखे गए थे। इसी कठिनाई के कारण अभियोजन साक्षी 24 डा० वी० ठुकराल मृत्युकालिक कथन के सामान्य लक्षणों के संबंध में, अभिसाक्ष्य देने में समर्थ नहीं हुआ है और वह मात्र इतना कहकर संतुष्ट हो गया है कि "संक्षेप में जो कुछ भी उसे याद है वह यह है कि मृतक ने यह कहा था कि बिल्कुल सवेरे वह शौचालय हेतु गई हुई थी और उसके पीछे से उसके पति ने उसके शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी।" यह अत्यंत आश्चर्य की बात है कि "उसके पीछे से" शब्द कथन में इस बात के बावजूद पहली बार आए हैं, कि स्वयं कथन में ये शब्द नहीं आए हैं। कुछ भी हो, यदि कोई कथन प्रश्न पूछने के आधार पर किया जाता है, तो उसे अभिलिखित करने का उचित मार्ग यह है कि प्रश्न और उत्तर दोनों ही अभिलिखित किए जाएं ताकि न्यायालय उनके साक्ष्यात्मक मूल्य को समझ सके। राज्य के विद्वान् काउंसेल श्री सोढ़ी की यह दलील कि इस मृत्युकालिक कथन का मूल्यांकन अभियोजन साक्षी 25 डा० आर० पी० शर्मा के समक्ष मृतक द्वारा किए गए पूर्वतर इस मृत्युकालिक कथन के प्रकाश में किया जाना चाहिए था कि "उसे उसके पति द्वारा जलाया गया था", मामले की परिस्थितियों में विधिमान्य नहीं प्रतीत होता। हम परिस्थितियों की समग्रता पर ध्यान दिए बिना केवल मृत्युकालिक कथन को ही क्यों ध्यान में रखें। हमें अभियोजन के अन्य साक्ष्य को भी ध्यान में रखना होगा, विशेष रूप से तब जबकि हमें यह बात पता है कि उसकी मुख्य बातें काफी सीमा तक अभियोजन साक्ष्य से ही खंडित हो जाती हैं।

32. इसके अतिरिक्त हमारे पास इस मृत्युकालिक कथन की सत्यता पर संदेह करने के अन्य कारण भी हैं। हमें यह पूर्ण विश्वास है कि इस मामले के तथ्य और परिस्थितियां स्पष्टतः दर्शित करती हैं कि यह कथन संदेह से परे नहीं है। हमें यह बात ज्ञात है कि पति-पत्नी के संबंधों में कुछ तनाव था किन्तु हमारे पास यह उपदर्शित करने का कि झगड़े प्रायः हुआ करते थे, अत्यंत ही निर्बल साक्ष्य उपलब्ध है। इस संबंध में अभिसाक्ष्य देने के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति घर में रहने वाले ही थे, किंतु उन्होंने इस बात का समर्थन नहीं किया है। घटनाक्रम तथा अभियोजन द्वारा न्यायालय के समक्ष

प्रस्तुत सामग्री के आधार पर यह विश्वास करना असंभव है कि अभियुक्त ने मृतक पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी, जबकि वह शौचालय में लघुशंका करने हेतु गई हुई थी। हमसे यह विश्वास करने की अपेक्षा कि यह शौचालय में हुआ, इसलिए की जाती है कि मिट्टी के तेल का टिन, दियासलाई की डिबिया तथा जली हुई तीलियां शौचालय से ही बरामद हुई थीं। यह कहा गया है कि इस टिन में मिट्टी का कुछ तेल था। टिन के फोटोग्राफ से यह देखा जा सकता है कि उसमें एक इंच व्यास का सुराख मुश्किल से था। यह ऐसा मामला नहीं है, जिसमें तेल बाल्टी में रहा हो और अचानक मृतक पर डाल दिया गया हो। यदि इस टिन से तेल छिड़का जाए तो उसे छिड़कने में 1-2 मिनट लग जायेंगे। यदि यह दृष्टिकोण सही है, तो यह कैसे हो सकता है कि उसने प्रतिरोध न किया हो, शोर न मचाया हो या भागने का प्रयत्न न किया हो। सामान्यत: और मामूली तौर पर अपने पति के बुरे षड्यंत्र को समझते हुए ही उसकी तुरन्त प्रक्रिया यह होती कि वह उसका प्रतिरोध करती, शोर मचाती या भागने का प्रयत्न करती। यह तथ्य कि उसे जलते हुए गली में देखा गया था, यह दर्शित करता है कि शौचालय का दरवाजा बंद नहीं किया गया था, इसलिए प्रतिरोध करने से उसे निवारित करने का प्रश्न ही नहीं था। यदि पति को उसे शौचालय में जलाना था तो वह यह बात भी सुनिश्चित करता कि वह शौचालय से बाहर न आ सके। जलन शत-प्रतिशत है। इसका अभिप्राय यह है कि पूरा शरीर ही मिट्टी के तेल से भीगा हुआ था और टिन के सुराख को दृष्टि में रखते हुए तेल आराम से छिड़का गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कांच की चूड़ियां भी नहीं टूटी थीं। इससे स्पष्टत: यह प्रतीत होता है कि किसी प्रकार का कोई प्रतिरोध नहीं किया गया था। एक छोटी-सी अन्य घटना भी अवेक्षणीय है और वह यह है कि मृतक की खोपड़ी के बाल केन्द्रीय न्याय विज्ञान प्रयोगशाला (सेन्ट्रल फोरेन्जिक साइंस लेबोरेटरी) में परीक्षा के लिए भेजे गए थे और बालों में मिट्टी का तेल पाया गया था। इससे यह दर्शित होगा कि अधिसंभाव्यत: मिट्टी का तेल स्वयं मृतक द्वारा अपने ऊपर उंडेला गया था। इन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्टत: दर्शित होता है कि उसने स्वयं अपने ऊपर आराम से मिट्टी का तेल डाला था। साफ है कि स्वयं को आग लगाने के पश्चात् वह अत्यंत त्रस्त हो गई और शौचालय से चिल्लाते हुए दौड़ी। उसकी चिल्लाहट पर प्रतिरक्षा साक्षी-2 अनुराधा तथा अभियुक्त पति उठ गए। वे बाहर आए और उन्होंने उसे जलते हुए देखा। अभियुक्त अपनी पूरी शक्ति भर चिल्लाया और

अपनी लड़की से कंबल लाने के लिए कहा। इससे पूर्व उसने अपने हाथों से आग बुझाने का प्रयत्न किया और इस प्रक्रिया में जल भी गया। बच्ची कंबल लाई और उसने मृतक को आग बुझाने के लिए लपेट दिया और इस प्रक्रिया में उसका मुंह भी जल गया। पति ने उसे अस्पताल ले जाने से तुरंत पूर्व अपनी पुत्री से दुर्घटना के संबंध में अपने मामा को टेलीफोन करने के लिए कहा और उसने टेलीफोन कर दिया और अपने प्रथम वृत्तांत में उसने यह कहा कि उसकी मां आज दुर्घटना में जल गई। अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री फ्रैंक एंथनी की यह दलील कि अपराधी का इस प्रकार का व्यवहार कभी भी नहीं होता, अत्यंत सशक्त है। ऐसा देखा गया है कि वे क्रन्दन कर रहे थे और बार-बार उससे पूछ रहे थे कि उसने यह क्या कर दिया तथा यह कह रहे थे कि उसने घर बर्बाद कर दिया। मृतक ने मुंह नहीं खोला, यद्यपि कि हमारे समक्ष यह साक्ष्य है कि वह होश में थी और उसे उसके पति द्वारा अस्पताल ले जाया जा रहा था। इन परिस्थितियों में, हमारी यह राय है कि यदि यह पति द्वारा जलाए जाने का मामला होता, तो मृतक ने तुरंत ही बच्चों, मकान-मालिक तथा पड़ौसियों से, जो वहां थे, यह बात कही होती।

33. मृत्युकालिक कथन के संबंध में अपनी मताभिव्यक्ति के आधार पर हमारी यह राय है कि मृत्युकालिक कथन सही नहीं है और संदेहग्रस्त है। चूंकि हमारे समक्ष कोई और अन्य साक्ष्य नहीं है, जो अभियुक्त को अपराध करने से संबद्ध करे, अतः हमारा यह विचार है कि अभियुक्त को संदेह का लाभ मिलना चाहिए।

34. तदनुसार हम अपील मंजूर करते हैं। विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा पारित दोषसिद्धि तथा दंड अपास्त करते हैं और अभियुक्त की दोषमुक्ति का निदेश देते हैं।

न्या० आर० एन० अग्रवाल :

मैं सहमत हूं।

अह् अपील मंजूर की गई।

नि० प० 1984 : दिल्ली—47

फ्रैंक एन्थनी पब्लिक स्कूल, लाजपत नगर, 4, नई दिल्ली बनाम श्रीमती अमर कौर

(Frank Anthony Public School Lajpat Nager-IV,) New Delhi *Vs.* Smt. Amar Kaur)

तारीख 3 अक्तूबर, 1983

[न्या० अवध बिहारी रोहतगी]

दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958—धारा 25-ख—उक्त धारा 25-ख के अधीन कानून ने नियंत्रक द्वारा जारी किए जाने वाले समनों की तामील के दोनों ही ढंगों को एक-सा महत्व दिया गया है। समय की गणना द्वितीय तामील से की जानी चाहिए, जो कालक्रम की दृष्टि से बाद में होती है।

प्रत्यर्थी मकान-मालकिन ने दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 (अधिनियम) की धारा 25-ख के अधीन वेदखली पिटीशन फाइल किया। आधार यह था कि उसे परिसर की स्वयं के लिए तथा अपने परिवार के सदस्यों के लिए वास्तविक अपेक्षा थी। किराया नियंत्रक ने समन मामूली रीति में तथा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भी भेजे। किराएदार ने बेदखली के मामले का प्रतिरोध करने के लिए इजाज़त हेतु आवेदन किया। नियंत्रक ने यह अभिनिर्धारित किया कि इजाज़त हेतु आवेदन समयवर्जित था। बेदखली आदेश के विरुद्ध किरायेदार ने उच्च न्यायालय में अधिनियम की धारा 25-ख (8) के अधीन पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया। यह निर्विवाद है कि किरायेदार पर समन की तामील रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा 11-5-82 को की गई थी और समन की तामील मामूली रीति में 12-5-82 को की गई थी। तारीख़ 12-5-82 से 15 दिन की गणना करके किरायेदार ने मामले का प्रतिरोध करने के लिए 17-5-82 को इजाज़त हेतु आवेदन किया। अतिरिक्त नियंत्रक ने यह अभिनिर्धारित किया कि किरायेदार पर समन की तामील 11-5-82 को उस समय हो गई थी जब उसे रजिस्ट्रीकृत पत्र दे दिया गया था और 15 दिन की अवधि की गणना 11-5-82 से की ज़ानी है और इसलिए 15 दिन का समय समाप्त होने के बाद किया गया आवेदन समय-वर्जित था।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 25-ख के अधीन नियंत्रक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मामूली समन के अतिरिक्त और उसके साथ-साथ रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भी समन जारी करे। यदि तामील के दोनों ही ढंग समान रूप से सक्षम हैं, तो किरायेदार पर द्वितीय तामील की अपेक्षा करने का कोई कारण नहीं है। कुछ भी हो, समन प्राधिकारी का आह्वान होते हैं। समन न्यायालय या अधिकरण के कार्यालय द्वारा जारी किया गया दस्तावेज होता है, जो उस व्यक्ति से, जिसके प्रति वह निदिष्ट होता है, यह अपेक्षा करता है कि वह न्यायाधीश या अधिकरण के समक्ष किसी निश्चित प्रयोजन के लिए उपस्थित हो। तामील के दोनों ढंगों की कानूनी मंजूरी को दृष्टि में रखते हुए किराएदार को पूर्णतः यह अधिकार है कि वह यह कह सके कि उसने 15 दिन की गणना समन की द्वितीय तामील से अर्थात् 12-5-1982 से की। किसी तामील के समाप्त करने का प्रश्न नहीं है। विधानमंडल ने नियंत्रक को समादेश दिया है कि "आप मामूली प्ररूप में समन के अतिरिक्त और उसके साथ-साथ रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा समन जारी करेंगे।" किराएदार कह सकता है कि यदि उसे दो समन भिन्न-भिन्न तारीखों पर मिलते हैं, तो वह 15 दिन की गणना बाद वाले समन की तारीख से, जो उसे 12-5-1982 को मिला, कर सकता है। हम प्रथम तामील को समाप्त नहीं करते और न ही द्वितीय तामील को। प्रथम तामील दूसरे तामील को समाप्त नहीं कर देती, न ही द्वितीय तामील से प्रथम तामील का प्रभाव रद्द हो जायेगा। विधानमंडल ने मान्य कारणों से यह समादेश दिया है कि तामील दोनों ही ढंगों से की जाए। अतः दोनों ही ढंगों का समान महत्व माना जाना चाहिए। एक दूसरे से वरिष्ठ नहीं है। द्वितीय समन की वही शक्ति है, उसमें वही गुण हैं, जो पहले में। द्वितीयतः, यह अभिनिर्धारित करने का कोई कारण नहीं है कि 15 दिन की अवधि उस तारीख से प्रारम्भ होगी, जिस तारीख को किराएदार पर पहली बार तामील की जा चुकी है। उसे एक ही कानूनी प्ररूप में दो बार समन मिलते हैं। जब उसे दूसरा समन मिलता है, तो नियंत्रक उसे कोई ऐसी चेतावनी नहीं देता कि "श्री किराएदार आप द्वितीय समन की उपेक्षा कर दें, यदि वह आपको मिले। आपको समन की प्रथम तामील के अनुसार कार्यवाही करनी होगी।" कोई संकेत नहीं है। कोई संकेत-स्तम्भ नहीं है। यदि उसे कोई चेतावनी-संकेत नहीं है कि वह द्वितीय समन की उपेक्षा कर दे तो उसे यह पूर्ण हक है कि वह यह सोचे कि दोनों ही समनों का समान मूल्य और समान भार है, क्योंकि दोनों एक ही प्राधिकारी और एक ही कानून के अधीन जारी किए गए हैं। द्वितीय समन में यह उपदर्शित करने

के लिए कुछ नहीं है कि समय की गणना प्रथम तामील से की जाएगी अथवा द्वितीय तामील की उपेक्षा कर दी जाएगी। तृतीयतः, यह दूसरे कारण की ही निष्पत्ति है, यदि 15 दिन की गणना प्रथम तामील से की जाती है तो किराएदार के प्रति अन्याय होगा। यह न केवल विधि के प्रतिकूल होगा बल्कि यह न्याय, साम्या तथा ऋजु व्यवहार के सिद्धान्तों के भी विरुद्ध होगा। यदि नियंत्रक किराएदार से यह कहता है कि "मैं 15 दिन की गणना प्रथम तामील से करूंगा। आप हमारे द्वितीय समन द्वारा अपनीत हो गए। आपको उस समन की पूर्णतः उपेक्षा कर देनी चाहिए थी।" ऐसी स्थिति में विधि न्याय का उपकरण नहीं बल्कि अजागरूक व्यक्ति के लिए एक जाल बन जाती है और अनेक इस जाल में फंस जाएंगे। एक उपकारी उपबंध, ऐसे अनेक सादे किराएदारों के सर्वनाश का कारण बन जाएगा, जिन्हें विधि की जटिलताएं ज्ञात नहीं हैं। यह मामला इस बात का ज्वलंत दृष्टान्त है। यह दोहरी तामील संदिग्ध है। न्यायाधीशों का यह कर्त्तव्य है कि वह इसे धोखे में न परिवर्तित होने दें। यह मकान-मालिक के लिए सरल मार्ग नहीं बन जाना चाहिए और किराएदार को निःसहाय स्थिति में डालने वाला उपबंध नहीं माना जाना चाहिए। जरूरतमंद व्यक्ति, जैसे कि किराएदार होते हैं, वस्तुतः स्वतंत्र व्यक्ति नहीं होते। अपनी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के लिए वे मकान-मालिकों के उन सभी निबंधनों के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, जो वे किराएदारों पर अधिरोपित करते हैं, तर्क, क्षेम, तथा न्याय हमसे यह कहते हैं कि हम 15 दिन की गणना द्वितीय समन की तामील से करें। "इसकी तामील से" शब्दों का यही अभिप्राय है। "इसकी तालीम से" का अभिप्राय उस प्रारम्भिक बिन्दु से है, जिससे गणना की जानी है। ये अत्यंन्त दृढ़ शब्द हैं। ये शब्द सतर्कता तथा सावधानी द्योतित करते हैं। ये शब्द आरम्भ बिन्दु भी द्योतित करते हैं। निश्चय ही इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चूंकि किराएदार पर एक बार पहले ही तामील हो गई है, अतः द्वितीय तामील की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। विधानमंडल ने वास्तविक अपेक्षा के आधार पर बेदखली के लिए आवेदन के निपटारे के लिए विशेष प्रक्रिया का विधान किया है। इसे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 37 के अनुसार प्रारूपित किया गया है। इसका उद्देश्य मुकदमेबाजी में होने वाले बिलंब को कम करना है। उद्देश्य पूर्णतः विस्तृत विचारण के स्थान पर संक्षेप विचारण का विधान करना है। किन्तु विधानमंडल का यह उद्देश्य नहीं है कि प्रतिरोध करने की इजाजत के लिए आवेदन देने के अवसर से किरायेदार को मात्र इस आधार पर वंचित कर दिया जाए कि उसे द्वितीय समन द्वारा अपनीत (मिसगाइडेड) नहीं होना चाहिए था। इस मामले में विलंब एक दिन का था।

उद्देश्य यह नहीं है कि ऐसे कठिन समय में, किराएदारों को मात्र इस तर्क के आधार पर सड़क पर फैंक दिया जाए कि प्रथम तामील कभी भी समाप्त नहीं होती और द्वितीय तामील निष्फल होती है। (पैरा 18, 19, 20, 21, 22)

कानून ने नियंत्रक द्वारा जारी किए जाने वाले समनों की तामील के दोनों ही ढंगों को एक-सा ही महत्व दिया है। यह उसका क़ानूनी कर्त्तव्य है। प्रथम तामील समाप्त नहीं होती और न ही द्वितीय तामील समाप्त होती है। घटनास्थल से कुछ भी शून्य नहीं हो जाता। दोनों ही तामीलें विधिमान्य और प्रभावी तामीलें हैं। कानून ने दोनों को ही एक-सा महत्व दिया है। समय की गणना द्वितीय तामील से की जानी चाहिए, जो कालक्रम की दृष्टि से बाद में होती है। क्योंकि समन में "उसकी तामील से 15 दिन के भीतर" पद का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि द्वितीय समन से, जो किराएदार बाद की तारीख में प्राप्त करता है, 15 दिन की गणना की जानी है। हम कानून के आज्ञापक शब्दों की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? यह कहना कि 'इससे' का अभिप्राय 'उससे' होता है, भाषा का दुरुपयोग होगा और यदि हम प्रथम तामील से न कि द्वितीय तामील से समय की गणना करते हैं तो यह भाषा का ऐसा ही दुरुपयोग होगा। अत: हम किसी भी चीज को समाप्त नहीं करते। न हम कुछ जोड़ते हैं और न घटाते हैं। 'इससे' का अभिप्राय सामान्य हिन्दी में 'इस समन की तामील की तारीख से 15 दिन' होता है। ऐसी गणना द्वितीय समन की तामील से की जाएगी। अतः संविदा और धारा की भाषा—दोनों ही एक ही ओर इंगित करती हैं। तृतीय अनुसूची में प्रयुक्त कानून की भाषा को पूर्णतः प्रभावी किया जाना चाहिए। द्वितीय तामील को इस आधार पर न मानने का कोई कारण नहीं है कि वह प्रथम तामील को समाप्त नहीं कर सकती। (पैरा 23, 24)

दिन के किसी भाग की गणना नहीं की जाती। अत: 12-5-1982 की अर्थात् उस दिन की, जिस दिन मामूली समन प्रिन्सिपल को परिदत्त किए गए थे, उपेक्षा करनी होगी। पंद्रह दिन 13-5-1982 से प्रारम्भ होंगे। इस प्रकार गणना करने पर आवेदन अंतिम दिन को, अर्थात् 27-5-1982 को किया गया था। उपस्थित होने तथा प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन समय के भीतर है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि किराएदार को द्वितीय समन 12-5-1982 की प्राप्ति से 15 दिन की गणना करने का हक था।

पैरा

[1981] (2) रेण्ट ला रिपोर्टर 542 : श्रीमती कमल भंडारी बनाम ब्रिगेडियर शमशेर सिंह मल्होत्रा (Smt. Kamal Bhandari *Vs.* Brig. Shamsher Singh Malhotra) — 6
असहमति प्रकट की गई।

[1980] राजधानी ला रिपोर्टर 621 (622) : सुरेन्द्र कुमार बनाम प्रेम कुमार (Surender Kumar *Vs.* Prem Kumar) — 7
सहमति प्रकट की गई।

28 एल० जे० चांसरी 886 : विलियम्स **बनाम** नैश (Williams *Vs.* Nash) — 25
का अवलम्ब लिया गया।

[1962] 2 क्यू० बी० 641 : हेअर **बनाम** गोशर (Hare *Vs.* Gacher); — 27

[1910] 1 के० बी० 346, पृ० 359 : आर० **बनाम** टर्नर (R. *Vs.* Turner); — 27

[1843] 152 ई० आर० 1085 : चैम्बर्स **बनाम** स्मिथ (Chambers *Vs.* Smith); — 26

[1840] 113 ई० आर० 955 : विलियम्स **बनाम** बर्गेस (Williams *Vs.* Burgess) — 27
निर्दिष्ट किए गए।

पुनरीक्षण (सिविल) अधिकारिता : सिविल पुनरीक्षण पिटीशन सं० 1983 का 580.

दिल्ली किराया नियन्त्रण अधिनियम की धारा 25-ख(8) के अधीन पुनरीक्षण पिटीशन। दिल्ली के अपर किराया नियंत्रक श्री ओ० पी० गोगने के तारीख 17-3-83 के बेदखली आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री अरुण कुमार, अधिवक्ता
प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री एच० एस० वधवा, अधिवक्ता

न्या० अवध बिहारी रोहतगी :

भारतीय विधानमंडल के किसी अन्य अधिनियम ने न्यायाधीशों तथा विधिवेत्ताओं के लिए इतनी जटिल समस्याएं हल करने हेतु नहीं प्रस्तुत की हैं, जितनी कि किराया तथा बेदखली नियन्त्रण अधिनियमों ने। इंग्लैंड की एक प्रख्यात पाठ्य पुस्तक अधिनियमों के प्रारूपकार को "त्रास तथा स्नेहपूर्वक और जो उनका प्रशासन करते हैं उन न्यायाधीशों को जितने आदरपूर्वक उतने ही सहानुभूतिपूर्वक" समर्पित की गई है। (सर राबर्ट मैगारी : दि रैण्ट ऐक्ट्स)

2. इस मामले के तथ्य निर्विवाद हैं। प्रत्यर्थी मकान-मालकिन ने दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 (अधिनियम) की धारा 25-ख के अधीन बेदखली पिटीशन फाइल किया, जिसके द्वारा नई दिल्ली के ग्रेटर कैलाश के मकान सं० आर-231 की प्रथम मंजिल से किराएदार फ्रैंक एंथनी पब्लिक स्कूल की बेदखली ईप्सित थी। स्कूल ने इस परिसर को मकान-मालकिन से 747 रुपये प्रतिमास किराए पर लिया था। मकान-मालकिन ने किराएदार पर इस आधार पर वाद किया कि उसे परिसर की स्वयं के लिए तथा अपने परिवार के सदस्यों के लिए सद्भावी अपेक्षा है। [अधिनियम की धारा 14(1)(ङ)]

3. अपर किराया नियन्त्रक ने समन मामूली रीति में तथा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भी भेजे। किराएदार ने उपस्थित होने तथा बेदखली के मामले का प्रतिरोध करने के लिए इजाज़त हेतु आवेदन किया। अपर नियंत्रक ने यह अभिनिर्धारित किया कि इजाज़त हेतु आवेदन समयवर्जित था। तारीख 17 मार्च, 1983 को उसने बेदखली आदेश कर दिया। बेदखली आदेश के विरुद्ध किराएदार ने अधिनियम की धारा 25-ख(8) के अधीन पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया है।

4. किराएदार पर समन की तामील रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा 11-5-1982 को की गई थी। प्रिन्सिपल पर समन की तामील मामूली रीति में 12-5-1982 को की गई थी। तारीख 12-5-1982 से 15 दिन की गणना करके किराएदार ने मामले का प्रतिरोध करने के लिए 17-5-1982 को इजाज़त हेतु आवेदन किया। अतिरिक्त नियंत्रक ने यह अभिनिर्धारित किया कि किराएदार पर समन की तामील 11-5-1982 को उस समय हो गई थी, जब उसे रजिस्ट्रीकृत पत्र दे दिया गया था और 15 दिन की

अवधि की गणना 11-5-1982 से की जानी है। इस दृष्टिकोण के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि 27-5-1982 को किया गया इजाज़त हेतु आवेदन समयवर्जित था, क्योंकि 15 दिन का समय 26-5-1982 को ही समाप्त हो गया था।

5. इस मामले में विनिश्चय के लिए एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या 15 दिन का समय 11-5-1982 से, जबकि तामील रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा की गई थी या 12-5-1982 से, जबकि समन की तामील किराएदार पर मामूली रीति में की गई थी, संगणित किया जाना है। किराएदार के काउंसेल का कहना है कि समय की संगणना द्वितीय समन की 12-5-82 को तामील से की जानी है। दूसरी ओर मकान-मालकिन के काउंसेल का कहना है कि समय की संगणना प्रथम समन के 11-5-1982 को तामील से की जानी है।

6. मकान-मालकिन के काउंसेल ने मेरा ध्यान न्यायाधीश सुल्तान सिंह के श्रीमती **कमल भंडारी बनाम ब्रिगेडियर शमशेर सिंह मल्होत्रा**[1] के विनिश्चय के प्रति दिलाया। विद्वान् न्यायाधीश ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि "यदि किसी किराएदार पर दो रीतियों से तामील की गई हो और समन की तामील दोनों ही रीतियों में सम्यक्तया कर दी गई हो तो 15 दिन की अवधि उस तारीख से प्रारंभ होगी, जब उस पर प्रथम तामील हुई थी।" उन्होंने कहा : "प्रथम तामील द्वितीय तामील से समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए 15 दिन की अवधि प्रथम इत्तिला से प्रारम्भ होगी।" उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि किराएदार का उपस्थित होने के लिए इजाज़त हेतु आवेदन समयवर्जित था। अतः उन्होंने किराएदार के पुनरीक्षण पिटीशन को खारिज कर दिया और नियंत्रक द्वारा उसके विरुद्ध किए गए बेदखली आदेश को कायम रखा।

7. दूसरी ओर किराएदार के काउंसेल ने न्यायाधीश एम० एल० जैन के विनिश्चय **सुरेन्द्र कुमार** बनाम **प्रेम कुमार**[2] को प्रोद्धृत किया। न्यायाधीश जैन का यह विचार था कि समय की गणना उचित रूप में वाद की तामील की तारीख से की जानी चाहिए। इस निर्णय को न्यायाधीश सुल्तान सिंह के समक्ष प्रोद्धृत किया गया था, किन्तु उन्होंने इससे इस आधार पर प्रभेद बतलाया था कि न्यायाधीश जैन के समक्ष मामले के तथ्य भिन्न थे।

---

[1] 1981 (2) रैण्ट ला रिपोर्टर 542,
[2] 1980 राजधानी ला रिपोर्टर 621 (622).

8. मकान मालकिन के काउंसेल ने हमारे समक्ष तीन दलीलें दी हैं, जिन पर हम बारी-बारी से विचार करेंगे।

तामील का ढंग :

9. प्रथमतः उन्होंने यह कहा कि न्यायाधीश सुल्तान सिंह के मत का न्यायाधीश एम० एल० जैन के मत की अपेक्षा अधिमानतः अनुसरण किया जाना चाहिए। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने यह कारण बतलाए कि यदि किराएदार पर पहले रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा तामील की जाती है और फिर मामूली रीति में, तो द्वितीय तामील से प्रथम तामील समाप्त नहीं हो जाती और यदि किराएदार पर एक बार तामील कर दी गई है तो वह काफी है। दूसरी तामील सभी आशयों एवं प्रयोजनों के लिए निरर्थक है।

10. मेरी राय में धारा 25-ख उस निर्वचन का समर्थन नहीं कर सकती, जिसके लिए काउंसेल ने दलील दी है। धारा 25-ख की उपधारा के शब्द ये हैं : "......के अतिरिक्त और उसके साथ"। अतः नियंत्रक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समन मामूली रीति में एवं रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा, दोनों ही रीतियों में जारी करे। तामील के ये दोनों ही ढंग आज्ञापक हैं। वह, यदि मामले की परिस्थितियां ऐसी अपेक्षा करें तो, समाचारपत्र में प्रकाशन द्वारा तामील के तीसरे ढंग का भी आश्रय ले सकता है। इस मामले में, हमारा सीधा सम्बन्ध (1) मामूली रीति में (2) रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा तामील से है। यदि किराएदार पर तामील इन दोनों ही ढंगों से भिन्न-भिन्न तारीखों पर की जाती है तो प्रश्न यह उठता है कि प्रतिरोध करने की इजाज़त हेतु 15 दिन का समय प्रथम इत्तिला की तारीख से अथवा द्वितीय तामील की तारीख से गिना जाएगा।

11. प्रस्तुत मामले में रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा तामील 11-5-82 को की गई थी। मामूली रीति में तामील 12-5-1982 को की गई थी। किराएदार ने यह सोचा कि 15 दिन का समय 12-5-1982 से प्रारम्भ होगा। नियंत्रक ने यह अभिनिर्धारित किया कि समय 11-5-1982 से प्रारम्भ हो गया। मेरी राय में 15 दिन की अवधि द्वितीय तामील की तारीख से अर्थात् 12-5-1982 से प्रारम्भ होगी, जबकि किराएदार पर मामूली रीति में तामील हुई थी, अर्थात् समन उसके प्रिन्सिपल (प्रधानाचार्य) को दिए गए थे।

12. मामूली रीति तथा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा दोनों ही प्रकार से

समन कानूनी प्ररूप में भेजे जाने होते हैं। समन का कानूनी प्ररूप तृतीय अनुसूची में विहित है। जब किराएदार को रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा 11-5-1982 को प्रथम समन मिले, तो वे विहित प्ररूप में थे। दूसरे दिन अर्थात् 12-5-1982 को भी उसे समन विहित प्ररूप में मिले। इन दोनों ही समनों द्वारा उससे निम्नलिखित कहा गया :—

> "इस समन की तामील से 15 दिन के भीतर किराया नियंत्रक के समक्ष उपस्थित होना है और पूर्वोक्त आधार पर बेदखली के लिए आवेदन का प्रतिरोध करने के लिए नियंत्रक से इजाजत अभिप्राप्त करनी है, जिसमें व्यतिक्रम होने पर आवेदक उक्त 15 दिन की अवधि की समाप्ति के पश्चात् किसी भी समय आपकी उक्त परिसर से बेदखली के लिए आदेश अभिप्राप्त करने का हकदार होगा।"

13. रजिस्ट्रीकृत समन 11-5-1982 को और मामूली समन 12-5-82 को प्राप्त करने के पश्चात्, जैसा कि इस मामले में हुआ है, किराएदार क्या सोचेगा ? वह न्यायोचित रूप में यह सोचेगा कि यदि वह 12-5-1982 से 15 दिन के भीतर उपस्थित होने और आवेदन का प्रतिरोध करने की इजाजत के लिए आवेदन देता है तो आवेदन समय के भीतर होगा। इस दृष्टिकोण के लिए मेरे पास तीन कारण हैं।

14. प्रथमत: तामील के दोनों ही ढंग अर्थात् मामूली तामील तथा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा तामील कानून की अपेक्षाएं हैं। किराएदार को समन दोनों ही ढंगों से दिया जाना है। उस पर तामील दोनों ही ढंगों से हो सकती है अथवा एक ढंग से हो सकती है या नहीं ही हो सकती है यदि उस पर तामील सम्यक् रूप में मामूली रीति में हो जाए या रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा हो जाए, तो नियंत्रक समन की तामील से 15 दिन के भीतर इजाजत के लिए आवेदन की सुनवाई करने के लिए अग्रसर हो सकता है। किन्तु यदि उस पर तामील दोनों ही रीतियों में की जाती है तो प्रश्न यह उठता है कि हम किस तामील को—पहली या दूसरी को—प्राथमिकता देंगे। यह स्मरणीय है कि द्वितीय तामील को भी कानून की मंजूरी प्राप्त है। प्रथम तामील तथा द्वितीय तामील दोनों ही समान आधार पर स्थित हैं। दोनों ही समान रूप से सक्षम हैं तथा दोनों का वजन भी समान है। इसलिए 15 दिन की गणना प्रथम इत्तिला से ही क्यों की जाए, क्यों न द्वितीय इत्तिला से की जाए। कानून का उद्देश्य यह है कि समन दो रीतियों में जारी किए जाएं, जिनमें किराएदार को यह

निदेश दिया जाए कि वह नियंत्रक के समक्ष उपस्थित हो और उस वाद का उत्तर दे, जो उसके विरुद्ध लाया गया है। किराएदार को यह अधिसूचित किया जाता है कि उसके विरुद्ध कार्यवाही संस्थित की गई है और उसे समन में वर्णित समय तथा स्थान पर उसका उत्तर देना है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह उपस्थित हो और शपथपत्र द्वारा समर्पित आवेदन नियंत्रक को देकर उपस्थित होने तथा दावे का प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन दे।

15. समन किराएदार को नोटिस होता है कि उसके विरुद्ध मकान-मालिक द्वारा कार्यवाही प्रारंभ कर दी गई है और यदि वह समन की तामील से 15 दिन के भीतर प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन करने में असफल रहता है तो उसके विरुद्ध निर्णय दे दिया जाएगा। दूसरे शब्दों में, किराएदार को यह अधिसूचित किया जाता है कि वह समन की तामील से 15 दिन के भीतर अवश्य आवेदन कर दे। पन्द्रह दिन की अवधि वह कानूनी अवधि है, जो समन में ही दी गई है। किराएदार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इजाज़त के लिए आवेदन करके मकान-मालिक के दावे का उत्तर दे। इस प्रकार मामूली रीति में तथा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा तामील में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में ही किराएदार के लिए एक ही संदेश होता है, किन्तु तारीखें भिन्न-भिन्न हैं। यदि वह उन समनों को भिन्न-भिन्न तारीखों पर प्राप्त करता है तो क्या वह यह कहने का हकदार होगा कि "मैं द्वितीय समन की-जो मुझे 12-5-1982 को मिला, तामील की तारीख से 15 दिन के भीतर उपस्थित होने की इजाज़त के लिए आया हूं"? यही इस मामले में हुआ है। द्वितीय तामील का भी वही उद्देश्य है जो प्रथम तामील का। दोनों में गुण की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। इसलिए 15 दिन की गणना द्वितीय तामील की तारीख से क्यों न की जाए। **कमल भंडारी के मामले**[1] में विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा था कि द्वितीय तामील की तारीख से गणना नहीं की जा सकती क्योंकि द्वितीय तामील प्रथम तामील को समाप्त नहीं कर देती। यह सही है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि प्रथम तामील समाप्त हो जाती है, किन्तु साथ ही कानून में यह नहीं कहा गया है कि आप द्वितीय तामील की उपेक्षा कर दें। जैसा कि मैंने कहा है, कानून ने तामील के दोनों ही ढंगों को समान स्तर पर रखा है।

[1] 1981 (2) रैण्ट ला रिपोर्टर 542.

16. नियंत्रक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मामूली समन के अतिरिक्त और उसके साथ-साथ रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा भी समन जारी करे। यदि तामील के दोनों ही ढंग समान रूप से सक्षम हैं, तो किराएदार पर द्वितीय तामील की उपेक्षा करने का कोई कारण नहीं है। हम द्वितीय तामील की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम यह नहीं मान सकते कि द्वितीय तामील का कोई महत्त्व नहीं है। कुछ भी हो, समन प्राधिकारी का आह्वान होते हैं। समन न्यायालय या अधिकरण के कार्यालय द्वारा जारी किया गया दस्तावेज होता है, जो उस व्यक्ति से, जिसके प्रति वह निदिष्ट होता है, यह अपेक्षा करता है कि वह न्यायाधीश या अधिकरण के समक्ष किसी निश्चित प्रयोजन के लिए उपस्थित हो। तामील के दोनों ढंगों की कानूनी मंजूरी को दृष्टि में रखते हुए किराएदार को पूर्णत: यह अधिकार है कि वह यह कह सके कि उसने 15 दिन की गणना समन की द्वितीय तामील से अर्थात् 12-5-1982 से की।

17 किसी तामील के समाप्त करने का प्रश्न नहीं है, जैसा कि **कमल भंडारी के मामले**[1] में दृष्टिकोण अपनाया गया था। उस तर्क-शृंखला में यह भ्रांति थी, यदि मैं ऐसा सादर कह सकता हूं, कि वह द्वितीय समन के प्रभाव तथा सक्षमता की उपेक्षा करती है। यह द्वितीय तामील की कानूनी संस्वीकृति के बावजूद भी उसकी उपेक्षा करती है। विधानमंडल ने नियंत्रक को समादेश दिया है कि "आप मामूली प्ररूप में समन के अतिरिक्त और उसके साथ-साथ रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा समन जारी करेंगे।" किराएदार कह सकता है कि यदि उसे दो समन भिन्न-भिन्न तारीखों पर मिलते हैं, तो वह 15 दिन की गणना बाद वाले समन की तारीख से, जो उसे 12-5-1982 को मिला, कर सकता है।

18. हम प्रथम तामील को समाप्त नहीं करते और न ही द्वितीय तामील को। **कमल भंडारी के मामले**[1] में यह हुआ है कि उसने द्वितीय तामील के प्रभाव को समाप्त कर दिया है। उसने प्रथम तामील को अध्यारोही महत्त्व दिया है। उसने द्वितीय तामील के महत्व को कम कर दिया है। वस्तुत: किसी को भी मिटाना या खुरचना नहीं है। प्रथम तामील दूसरे तामील को समाप्त नहीं कर देती, न ही द्वितीय तामील से प्रथम तामील का प्रभाव रद्द हो जाएगा। विधानमंडल ने मान्य कारणों से यह समादेश दिया है कि

[1] 1981 (2) रेण्ट ला रिपोर्टस 542.

तामील दोनों ही ढंगों से की जाए। अतः दोनों ही ढंगों को समान महत्व का माना जाना चाहिए। एक-दूसरे से वरिष्ठ नहीं है। द्वितीय समन की वही शक्ति है, उसमें वही गुण हैं जो पहले में।

19. द्वितीयतः, मेरे विचार से यह अभिनिर्धारित करने का कोई कारण नहीं है कि 15 दिन की अवधि उस तारीख से प्रारम्भ होगी, जिस तारीख को किरायेदार पर पहली बार तामील की जा चुकी है। उसे एक ही कानूनी प्ररूप में दो बार समन मिलते हैं। जब उसे दूसरा समन मिलता है, तो नियंत्रक उसे कोई ऐसी चेतावनी नहीं देता कि "श्री किराएदार आप द्वितीय समन की उपेक्षा कर दें, यदि वह आपको मिले। आपको समन की प्रथम तामील के अनुसार कार्यवाही करनी होगी।" कोई संकेत नहीं है। कोई संकेत-स्तंभ नहीं है। यदि उसे कोई चेतावनी-संकेत नहीं है कि वह द्वितीय समन की उपेक्षा कर दे तो उसे यह पूर्ण हक है कि वह यह सोचे कि दोनों ही समनों का समान मूल्य और समान भार है, क्योंकि दोनों ही एक ही प्राधिकारी और एक ही कानून के अधीन जारी किए गए हैं। द्वितीय समन में यह उपदर्शित करने के लिए कुछ भी नहीं है कि समय की गणना प्रथम तामील से की जाएगी अथवा द्वितीय तामील की उपेक्षा कर दी जाएगी।

20. तृतीयतः, यह दूसरे कारण की ही निष्पत्ति है, यदि 15 दिन की गणना प्रथम तामील से की जाती है तो किराएदार के प्रति अन्याय होगा। यह न केवल विधि के प्रतिकूल होगा बल्कि यह न्याय, साम्या तथा ऋजु व्यवहार के सिद्धांतों के भी विरुद्ध होगा यदि नियंत्रक किराएदार से यह कहता है कि "मैं 15 दिन की गणना प्रथम तामील से करूंगा। आप हमारे द्वितीय समन द्वारा अपनीत हो गए। आपको उस समय की पूर्णतः उपेक्षा कर देनी चाहिए थी।" ऐसी स्थिति में विधि न्याय का उपकरण नहीं बल्कि अजागरूक व्यक्ति के लिए एक जाल बन जाता है और अनेक इस जाल में फंस जायेंगे। एक उपकारी उपबंध, ऐसे अनेक सादे किराएदारों के सर्वनाश का कारण बन जाएगा, जिन्हें विधि की जटिलतायें ज्ञात नहीं हैं। यह मामला इस बात का ज्वलंत दृष्टांत है।

21. यह दोहरी तामील संदिग्ध है। न्यायाधीशों का यह कर्तव्य है कि वह इसे धोखे में न परिवर्तित होने दें। यह मकान-मालिक के लिए सरल मार्ग नहीं बन जाना चाहिए और किराएदार को निःसहाय स्थिति में डालने वाला उपबन्ध नहीं माना जाना चाहिए। जरूरतमंद व्यक्ति, जैसे

कि किराएदार होते हैं, वस्तुतः स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं होते। अपनी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के लिए वे मकान-मालिकों के उन सभी निबंधनों के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, जो वे किराएदारों पर अधिरोपित करते हैं, तर्क, क्षेम तथा न्याय हमसे यह मांग करते हैं कि हम 15 दिन की गणना द्वितीय समन की तामील से करें। "इसकी तामील से" शब्दों का यही अभिप्राय है। "इसकी तामील से" का अभिप्राय उस प्रारंभिक बिन्दु से है, जिससे गणना की जानी है। ये अत्यन्त दृढ़ शब्द हैं। ये शब्द सतर्कता तथा सावधानी द्योतित करते हैं। ये शब्द आरम्भ बिन्दु भी द्योतित करते हैं। निश्चय ही इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चूंकि किराएदार पर एक बार पहले ही तामील हो गई है, अतः द्वितीय तामील की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं है।

22. विधानमंडल ने वास्तविक अपेक्षा के आधार पर बेदखली के लिए आवेदन के निपटारे के लिए विशेष प्रक्रिया का विधान किया है। इसे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 37 के अनुसार प्रारूपित किया गया है। इसका उद्देश्य मुकदमेबाजी में होने वाले विलंब को कम करना है। उद्देश्य पूर्णतः विस्तृत विचारण के स्थान पर संक्षिप्त विचारण का विधान करना है। किंतु विधानमंडल का यह उद्देश्य नहीं है कि प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन देने के अवसर से किराएदार को मात्र इस आधार पर वंचित कर दिया जाए कि उसे द्वितीय समन द्वारा अपनीत (मिसगाइडेड) नहीं होना चाहिए था। इस मामले में विलंब एक दिन का था। उद्देश्य यह नहीं है कि ऐसे कठिन समय में किराएदारों को मात्र इस तर्क के आधार पर सड़क पर फेंक दिया जाए कि प्रथम तामील कभी भी समाप्त नहीं होती और द्वितीय तामील निष्फल होती है।

23. **कमल भंडारी के मामले**[1] में दिए गए तर्क का आधार यह है कि तामील एक बार ही होती है और केवल एक बार और यदि दूसरी तामील होती है, तो उसका कोई मूल्य नहीं होता। कानून ने नियंत्रक द्वारा जारी किए जाने वाले समनों की तामील के दोनों ही ढंगों को एक-सा ही महत्व दिया है। यह उसका कानूनी कर्त्तव्य है। प्रथम तामील समाप्त नहीं होती और न ही द्वितीय तामील समाप्त होती है। घटनास्थल से कुछ भी शून्य नहीं हो जाता। दोनों ही तामीलें विधिमान्य और प्रभावी तामीलें हैं। कानून ने दोनों को ही एक-सा महत्व

---

[1] 1981 (2) रैण्ट ला रिपोर्टर 542.

दिया है। समय की गणना द्वितीय तामील से की जानी चाहिए, जो कालक्रम की दृष्टि से बाद में होती है। क्योंकि समन में "उसकी तामील से 15 दिन के भीतर" पद का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि द्वितीय समन से, जो किराएदार वाद की तारीख में प्राप्त करता है, 15 दिन की गणना की जानी है। हम कानून के आज्ञापक शब्दों की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? यह कहना कि 'इससे' का अभिप्राय 'उससे' होता है, भाषा का दुरुपयोग होगा और यदि हम प्रथम तामील से न कि द्वितीय तामील से समय की गणना करते हैं तो यह भाषा का ऐसा ही दुरुपयोग होगा। अतः हम किसी भी चीज को समाप्त नहीं मानते। न हम कुछ जोड़ते हैं और न घटाते। 'इससे' का अभिप्राय सामान्य हिन्दी में 'इस समन की तामील की तारीख से 15 दिन' होता है। ऐसी गणना द्वितीय समन की तामील से की जाएगी।

24. अतः संविदा और धारा की भाषा—दोनों ही एक ही ओर इंगित करती हैं। तृतीय अनुसूची में प्रयुक्त कानून की भाषा को पूर्णतः प्रभावी किया जाना चाहिए। द्वितीय तामील को इस आधार पर न मानने का कोई कारण नहीं है कि वह प्रथम तामील को समाप्त नहीं कर सकती। न्यायाधीश एम० एल० जैन ने कहा था "किराएदार को यह अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए कि वह अपने विरुद्ध समय की गणना पश्चात्वर्ती तारीख से करे ?" इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

"इसकी तामील से 15 दिन के भीतर" का अभिप्राय :

25. 'दिन' शब्द को विभिन्न देशों में विभिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न समझा गया है। लार्ड कोक ने कहा था "यहूदी, चैल्डियन्स तथा बेबीलोनियन 'दिन' की गणना सूर्योदय से करते हैं, एथेन्सवासी सूर्यास्त से। इटली के उम्बरी दोपहर से, मिश्र तथा रोमवासी आधी रात से और ऐसा ही इंग्लैंड की विधि अनेक मामलों में करती है। अंग्रेजी दिन उसी क्षण प्रारम्भ होता है, जब गत दिन के रात के 12.00 बजते हैं।" (**विलियम बनाम मैश**[1])

हाल्सबरी के लाज आफ इंग्लैंड, तृतीय संस्करण जिल्द 37, पृष्ठ 84 पर निम्नलिखित कहा गया है :—

> 'दिन' शब्द का प्रयोग 'वर्ष' तथा 'मास' शब्द की भांति ही एकाधिक अर्थों में किया जाता है। 'दिन' ऐसी कालावधि है जो एक आधी-रात को प्रारम्भ होकर दूसरी आधी रात को समाप्त होता है।

[1] **28 एल० जे० चांसरी 886.**

इससे 24 घन्टे की कोई भी अवधि द्योतित हो सकती है और फिर 'इससे सूर्योदय से सूर्यास्त का समय भी द्योतित हो सकता है। "

26. मकान-मालकिन के [illegible] ने यह दलील दी है कि समय की गणना 12-5-198[illegible] से की ज[illegible] चाहिए और इस प्रकार 15 दिन की अवधि 26-5-1982 को समाप्त [illegible] का कहना है कि किसी भी दशा में 27-5-1982 को किया गया [illegible] हेतु आवेदन समयवर्जित था। मुझे इस दलील को अस्वीकार कर[illegible] कोई संकोच नहीं है। प्रश्न यह है कि 'इसकी तामील से 15 दिन के [illegible]' पद का अभिप्राय क्या है। मेरी राय में, तृतीय अनुसूची का समुचित अर्थान्वयन यह है कि 'दिन' शब्द का अभिप्राय "कैलण्डर दिन" माना जाना चाहिए। मैं अपने विनिश्चय के लिए **आर० बनाम टर्नर**[1] और **जेम्स बनाम स्मिथ**[2] का अवलंब लेना चाहता हूं और यह विनिश्चय करता हूं कि इस पद का अभिप्राय तामील के दिन को अपवर्जित करते हुए पूरे 15 दिन हैं। तृतीय अनुसूची में विहित समय के प्ररूप में प्रयुक्त "इसकी तामील से 15 दिन के भीतर" शब्दों का यह अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि समन की तामील के पश्चात् 24 घन्टे की 15 लगातार अवधियां।

27. यह सुविदित सिद्धान्त है कि विधि पूर्णांक के अंशों की उपेक्षा करता है कैलण्डर के अनुसार दिन आधी रात को प्रारम्भ होता है और अधिकांश राष्ट्र दिन की गणना इसी प्रकार करते हैं। अंग्रेज ऐसा ही करते हैं। हमने भी इसी पद्धति को अपनाया है। पूरे दिन में सामान्यतः 24 घन्टे की गणना की जाती है और विधि विवाद से बचने के उद्देश्य से साधारणतः दिन के अंशों की उपेक्षा कर देती है। यदि कोई कार्य किसी निश्चित समय के भीतर किया जाना हो या किसी अन्य बात के या घटना के पश्चात् किया जाना हो तो, जब तक कि संदर्भ से इसके विपरीत न प्रतीत हो, वह दिन गणना से अपवर्जित कर दिया जाता है जिसको प्रथम कार्य या घटना होती है। **विलियम्स बनाम बर्गेस**[3], **हेअर बनाम गोशर**[4]। सामान्य नियम यह है कि जहां कतिपय दिन विनिर्दिष्ट हो, वहां उनकी गणना उन दिनों में से एक को छोड़कर और अन्य को सम्मिलित करते हुए की जाती है। **आर० बनाम टर्नर**[5]।

---

[1] (1910) 1 के० बी० 46 (सी० सी० ए०).
[2] (1843) 152 ई० आर० 1085.
[3] (1840) 113 ई० आर० 955.
[4] (1962) 2 क्यू० बी० 641.
[5] (1910) 1 के० बी० 346, पृष्ठ 359.

28. दिन के किसी भाग की गणना नहीं की जाती। अतः मैं 12-5-1982 की अर्थात् उस दिन की, जिस दिन मामूली समन प्रिन्सिपल को परिदत्त किए गए थे, उपेक्षा करूंगा। पन्द्रह दिन 13-5-1982 से प्रारंभ होंगे। इस प्रकार गणना करने पर आवेदन अन्तिम दिन को, अर्थात् 27-5-1982 को किया गया था। उपस्थित तथा प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन समय के भीतर है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि किरायेदार को द्वितीय समन 12-5-1982 की प्राप्ति से 15 दिन की गणना करने का हक था।

प्रिन्सिपल का प्राधिकार :

29. मकान मालिक के काउंसेल ने यह मुद्दा प्रारंभिक आक्षेप के रूप में उठाया था। उन्होंने कहा कि फ्रैंक एंथनीं पब्लिक स्कूल के उक्त प्रिन्सिपल ने यह पुनरीक्षण पिटीशन बिना किसी प्राधिकार के किया है। यह तर्क तुरन्त अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। मकान-मालकिन ने यह पिटीशन इस रूप में अर्थात् "फ्रैंक एंथनी पब्लिक स्कूल, अपने प्रिन्सिपल मेयर की मार्फत" स्वयं ही फाइल किया था। समन की तामील प्रिन्सिपल पर 12-5-1982 को की गई थी। उन्होंने बेदखली के मामले में उपस्थित होने तथा उसका प्रतिरोध करने की इजाज़त के लिए आवेदन तथा शपथपत्र फाइल किया था। नियंत्रक ने इजाज़त नहीं दी और उसके विरुद्ध बेदखली का आदेश कर दिया। प्रिन्सिपल ने प्रस्तुत पुनरीक्षण पिटीशन उसी रूप में फाइल किया है, जिस रूप में वाद किया गया था, अर्थात् "फ्रैंक एंथनी पब्लिक स्कूल, अपने प्रिन्सिपल कर्नल टुलेट की मार्फत।" मकान-मालकिन पिटीशन फाइल करने के प्रिन्सिपल के अधिकार पर आक्षेप कैसे कर सकती है? विबंध का सिद्धान्त उसे यह आक्षेप उठाने से निवारित करेगा। मुझे इस दलील में कोई सार नहीं प्रतीत होता। मैं इसे अस्वीकार करता हूं।

30. इन कारणों से पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया जाता है। 17 मार्च, 1983 का बेदखली आदेश अपास्त किया जाता है। पक्षकार तृतीय अपर किराया नियंत्रक के समक्ष 11-10-1983 को उपस्थित होंगे। नियंत्रक इजाज़त के लिए आवेदन का विनिश्चय गुणागुण के आधार पर करेगा। पक्षकार अपने-अपने खर्च वहन करेंगे।

पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

क्षा

नि० प० 1984 : दिल्ली—63

रूफराइट प्रा० लि० बनाम भारत संघ और अन्य

(Roofrite Pvt. Ltd. *Vs.* Union of India and others)

तारीख 6 अक्तूबर, 1983

[न्या० जगदीश चन्द्र]

माध्यस्थम करार—सरकारी संविदा—सरकार नुकसानी के लिए अपने दावे का समायोजन अन्य संविदा से संबंधित पक्षकार की धनराशि में से नहीं कर सकती है—"उसे संविदा से उद्भूत होने वाले" पद से यह अभिप्रेत है कि विवादग्रस्त विषय का विनिश्चय करने के प्रयोजनार्थ संविदा की शर्तों का अवलम्ब लेना आवश्यक है तो मामला माध्यस्थम् खण्ड के अन्तर्गत आता है।

2. संविधान, 1950—अनुच्छेद 299—सरकारी संविदा यदि उसकी निविदा की जाती है और भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है तो इसे पूरा किया जा सकता है।

वादी-पिटीशनर आई० एस० आई० अनुज्ञप्ति के अधीन तार-फैल्ट का विनिर्माता है और एम० ई० एस० में रजिस्टर्ड ठेकेदार है। प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से वादी पिटीशनर की निविदा स्वीकार कर ली गई किन्तु वादी पिटीशनर ने प्रश्नगत ठेका पूरा नहीं किया। प्रत्यर्थियों ने वादी-पिटीशनर के ठेके को रद्द करने के पश्चात् उसे किसी अन्य व्यक्ति से पूरा करवाया। प्रत्यर्थियों ने यह चाहा कि वे प्रत्यर्थियों के अन्य संकर्म से वादी-पिटीशनर को देय राशि के विरुद्ध उपर्युक्त अभिकथित संविदा भंग के लिए नुकसानी मद्दे कतिपय राशि समायोजित कर ले। पिटीशनर ने उन्हें ऐसा समायोजन करने से अवरुद्ध करने के लिए स्थायी व्यादेश के लिए एक वाद प्रस्तुत किया। विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय ने यह विनिश्चय किया कि पक्षकारों के बीच विधिमान्य रूप से पूरित संविदा थी और उसमें ऐसा माध्यस्थम् खण्ड था जो दोनों पक्षकारों पर आबद्धकर है और यह विवाद उक्त माध्यस्थम् खण्ड के अन्तर्गत आता है। उक्त दोनों न्यायालयों के निष्कर्षों के विरुद्ध यह पुनरीक्षण पिटीशन प्रस्तुत किया गया है।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

ठेकेदार द्वारा सविदा के अभिकथित भंग के लिए नुकसानी के लिए सरकार का दावा ऐसा दावा नहीं है जो किसी ऐसी राशि के लिए हो जो इस

समय देय है और यह ठेकेदार को देय अन्य राशियों के विरुद्ध इसका विनियोजन नहीं कर सकती । यदि यह ऐसा करती है तो उसे माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 41 के अधीन, अनुसूची 11 और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 39 के अधीन व्यादेश द्वारा अवरुद्ध किया जा सकता है। नुकसानी अथवा प्रतिकर का दावा, जिसके बारे में सरकार का यह विचार है कि यह उसको उसी संविदा या किसी अन्य संविदा के बारे में देय है, केवल वाद लाने का अधिकार प्रदत्त करता है और यदि वह दावा स्वीकार नहीं किया जाता है और उस पर विवाद किया जाता है तो यह ऋण नहीं है और इसका एकपक्षीय रूप से समायोजन अथवा सरकार द्वारा मनमाने तौर पर विनियोजन नहीं किया जा सकता । पिटीशनर द्वारा वाद में चाहा गया स्थायी व्यादेश अनुतोष विधि की सुस्थिर प्रतिपादना पर आधारित है और उसका प्रश्नगत संविदा से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसके प्रतिकूल यह पक्षकारों के बीच प्रश्नगत संविदा से स्वतंत्र और पृथक् है। इस प्रश्न के अवधारण की कसौटी यह है कि क्या प्रत्यर्थी का दावा न्यायोचित है अथवा नहीं । यह अवधारित करने के लिए संविदा का, जिससे दोनों ही पक्षकार आबद्ध हैं, आश्रय लेना आवश्यक है । यदि विवादग्रस्त विषय पर विनिश्चय देने के प्रयोजन के लिए संविदा की शर्तों का अवलम्ब लेना आवश्यक हो तो यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि मामला माध्यस्थम् खण्ड के विस्तार के अन्तर्गत है और मध्यस्थ को उस पर विनिश्चय देने की अधिकारिता प्राप्त है । यह बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रत्यर्थियों द्वारा पिटीशनर से पूर्वोक्त अन्यायनिर्णीत और अनिश्चित रकम के बारे में मांग किए जाने का अथवा प्रत्यर्थियों के साथ की गई अन्य संविदाओं में पिटीनशर की राशियों के विरुद्ध विनियोजन और समायोजन के प्रश्न को विनिश्चित करने के लिए संविदा के निबन्धनों के प्रति निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इसके प्रतिकूल पक्षकारों के बीच संविदा का अवलम्ब लिया जाना बिल्कुल अन्यायोचित है और पिटीशनर द्वारा प्रत्यर्थियों के विरुद्ध किए गए वाद में स्थायी व्यादेश अनुदत्त किए जाने की प्रार्थना के बारे में विनिश्चय प्रश्नगत संविदा पर दृष्टिपात किए बिना ही किया जा सकता है ।(पैरा 7)

यह आवश्यक नहीं है कि सभी संविदाएं भारत के संविधान के अनुच्छेद 299 में आदिष्ट रूप में पूरी की जानी चाहिए बल्कि कोई संविदा, यदि उसकी निविदा की जाती है और भारत के राष्ट्रपति द्वारा इस निमित्त सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है तो इसे पूरा किया जा सकता है । अभी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या वह अधिकारी जिसने

इस मामले में पिटीशनर व्यक्ति की निविदा स्वीकार की, वह ऐसा व्यक्ति था जिसे भारत के राष्ट्रपति ने इस निमित प्राधिकृत किया था । (पैरा 8)

		पैरा
[1974]	1974 आर० एल० आर० 218 : मारवाड़ टैन्ट फैक्टरी बनाम भारत संघ (Marwar Tent Factory *Vs*: Union of India);	7
[1974]	[1974] 2 उम० नि० प० 310=ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1265 : भारत संघ बनाम रमन आइरन फाउण्डरी (Union of India *Vs.* Raman Iron Foundry);	7
[1972]	[1972] 2 उम० नि० प० नि० सा० 40=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 915 : भारत संघ और अन्य बनाम एन० के० प्राइवेट लिमिटेड और एक अन्य (Union of India and others *Vs.* N. K. Private Limited and another;	8
[1969]	[1969] 2 उम० नि० प० 94=ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 488 : भारत संघ बनाम सालवीन टिम्बर एण्ड कन्स्ट्रक्शन कं० (इंडिया) और अन्य [Union of India *Vs.* Salween Timber and Construction Co. (India) and others]	7

का अवलम्ब लिया गया ।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1979 का सिविल पुनरीक्षण सं० 57.

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री अमर जीत सिंह

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री रतन लाल

न्या० जगदीश चन्द्र :

यह सिविल पुनरीक्षण श्री पी० के० जैन दिल्ली के तत्कालीन अपर वरिष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश के तारीख 9 अगस्त, 1977 के आदेश के

विरुद्ध किया गया है । उक्त आदेश द्वारा उन्होंने श्री के० सी० लोहिया, दिल्ली के अधीनस्थ न्यायाधीश प्रथम वर्ग के तारीख 24 फरवरी, 1976 के आदेश के विरुद्ध वादी-पिटीशनर मै० रूफराइट प्रा० लि०, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली द्वारा प्रस्तुत की गई अपील खारिज कर दी थी ।

2. निचले दोनों न्यायालयों के सहमतिपूर्ण निष्कर्ष इस भाव के हैं कि पक्षकारों के बीच आबद्धकर माध्यस्थम् करार था और इस मुकदमेबाजी में जो संविवाद उठाये गए हैं उन्हें माध्यस्थम् करार के अधीन मध्यस्थ को निर्देशित किया जाना था ।

3. उपर्युक्त दोनों ही निष्कर्षों को अब इस पुनरीक्षण पिटीशन में वादी/पुनरीक्षण-पिटीशनर ने यह कहते हुए चुनौती दी हैं कि वे भ्रामक हैं ।

4. वादी-पिटीशनर आई० एस० आई० अनुज्ञप्ति के अधीन तार-फैल्ट का विनिर्माता है और एम० ई० एस० में जलसह (वाटर प्रूफिंग) और नमीसह (डैम प्रूफिंग) का रजिस्टर्ड ठेकेदार है । गैरिसन इंजीनियर, एम० ई० एस०, सागर छावनी में प्रत्यर्थी सं० 2 ने प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से धन्ना में कतिपय इमारतों की छतों को जलसह बनाने की व्यवस्था करने की बाबत वादी-पिटीशनर को कतिपय निविदत दस्तावेज भेजी । वादी-पिटीशनर ने अपनी निविदा भेजकर उसका अनुपालन किया जो निविदा प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा प्रत्यर्थी सं० 1, भारत संघ की ओर से पत्र सं० 8472/13/ई० 8 तारीख 15 जनवरी, 1974 द्वारा स्वीकार कर ली गई । वादी-पिटीशनर ने प्रश्नगत ठेका पूरा नहीं किया और उसे प्रत्यर्थियों ने वादी-पिटीशनर के ठेके को रद्द करने के पश्चात् किसी अन्य व्यक्ति से पूरा करवाया । पक्षकारों के बीच इस कारण विवाद उद्भूत हुए कि प्रत्यर्थियों ने उपर्युक्त अभिकथित संविदा भंग के लिए नुकसानी मद्धे 21,426 रु० 50 पैसे की मांग की और उन्होंने यह चाहा कि वे उसको प्रत्यर्थियों के अन्य संकर्म से वादी-पिटीशनर को देय राशियों के विरुद्ध समायोजित कर लें । इस पर पिटीशनर-प्रतिवादी प्रत्यर्थियों के विरुद्ध स्थायी व्यादेश के लिए एक वाद लाया जिसमें उसने यह प्रार्थना की कि पश्चात्कथित को नुकसानी मद्धे 21,426 रु० 50 पैसे की उपर्युक्त मांग करने से और साथ ही प्रतिवादी प्रत्यर्थियों के अन्य संकर्मों से वादी-पिटीशनर की अन्य देय राशियों के विरुद्ध विनियोजित और समायोजित करने से अवरुद्ध किया जाए ।

5. वाद में लिखित कथन फाइल करने से पूर्व प्रतिवादी-प्रत्यर्थियों ने माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 34 के अधीन एक आवेदन यह

अभिकथन करते हुए फाइल किया कि पक्षकारों केबीच माध्यस्थम् खण्ड विद्यमान हैं और यह कि वाद में आगे की कार्यवाहियों को रोक दिया जाए।

6. जैसा कि ऊपर पहले ही इंगित किया जा चुका है विद्वान विचारण न्यायालय और साथ ही विद्वान् प्रथम अपील न्यायालय ने भी यह विनिश्चय किया था कि पक्षकारों के बीच विधिमान्य रूप से पूरित संविदा थी और उसमें ऐसा माध्यस्थम् खण्ड था जो दोनों पक्षकारों पर आबद्धकर है और यह भी कि पक्षकारों के बीच विवाद, जो इस वाद की विषयवस्तु है, माध्यस्थम् खण्ड के अन्तर्गत आते हैं और उन्हें मध्यस्थ को निर्देशित किया जाना था।

7. पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने बहस के दौरान यह दलील दी कि इस मुकदमेबाजी में जो संविवाद उठाया गया है उसका प्रश्नगत संविदा से कोई सम्बन्ध नहीं है और परिणामतः मध्यस्थ को इसे विनिश्चित करने की कोई अधिकारिता नहीं है और मध्यस्थ को निर्देशित नहीं किया जा सकता। पुनरीक्षक-पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की यह दलील सही है क्योंकि प्रत्यर्थियों द्वारा पिटीशनर से नुकसानी के लिए की गई मांग और साथ ही प्रत्यर्थियों के अन्य संकर्म से पिटीशनर को देय कुछ अन्य राशि मद्धे उसका विनियोजन और समायोजन की मांग भी इस कारण मान्य नहीं है कि नुकसानी मद्धे यह मांग अनिश्चित है और यह दावा अभी तक अनिर्णीत है और यह कोई डिक्री की रकम नहीं है और जब तक दावे पर डिक्री नहीं दे दी जाती उसका दावा नहीं किया जा सकता और न ही उसके समायोजन और विनियोजन का दावा किया जा सकता है। विधि की इस प्रतिपादना के बारे में दो स्पष्ट नजीरें हैं और यह **मारवाड़ टैन्ट फैक्ट्री** बनाम **भारत संघ**[1] और **भारत संघ** बनाम **रमन आइरन फाउण्डरी**[2] वाले मामलों में संप्रकाशित की गई हैं। पूर्वकथित नजीर दिल्ली उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ की नजीर है जबकि पश्चात्कथित नजीर उच्चतम न्यायालय की है। पश्चातकथित नजीर में यह अधिकथित किया गया है :—

> "ठेकेदार द्वारा संविदा के अभिकथित भंग के लिए नुकसानी के लिए सरकार का दावा ऐसा दावा नहीं है जो किसी ऐसी राशि के लिए हो जो इस समय देय है और यह ठेकेदार को देय अन्य राशियों के

[1] 1974 आर० एल० आर० 218.

[2] (1974) 2 उम० नि० प० 310=ए० आई० आर० 1974 एस० सी०.

> विरुद्ध इसका विनियोजन नहीं कर सकती । यदि यह ऐसा करती है तो उसे माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 41 के अधीन, अनुसूची II और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 39 के अधीन व्यादेश द्वारा अवरुद्ध किया जा सकता है ।"

पूर्वकथित नजीर में यह अधिकथित किया गया है कि नुकसानी अथवा प्रतिकर का दावा, जिसके बारे में सरकार का यह विचार है कि यह उसको उसी संविदा या किसी अन्य संविदा के बारे में देय है, केवल वाद लाने का अधिकार प्रदत्त करता है और यदि वह दावा स्वीकार नहीं किया जाता है और उस पर विवाद किया जाता है तो यह ऋण नहीं है और इसका एकपक्षीय रूप से समायोजन अथवा सरकार द्वारा मनमाने तौर पर विनियोजन नहीं किया जा सकता । इस प्रकार पिटीशनर द्वारा वाद में चाहा गया स्थायी व्यादेश का अनुतोष विधि की सुस्थिर प्रतिपादना पर आधारित है और उसका प्रश्नगत संविदा से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसके प्रतिकूल वह पक्षकारों के बीच प्रश्नगत संविदा से स्वतंत्र और पृथक् है । **भारत संघ** बनाम **सालवीन टिम्बर एण्ड कन्स्ट्रक्शन कं० (इंडिया) और अन्य**[1] के रूप में सम्प्रकाशित उच्चतम न्यायालय की नजीर में, और जिसका विद्वान् निचले अपील न्यायालय ने भी अवलम्ब लिया है, यह विनिश्चित करने की कसौटी अधिकथित की गई है कि क्या पक्षकारों के बीच विद्यमान विवाद संविदा के माध्यस्थम् खण्ड के अन्तर्गत आता है या नहीं । इसमें यह कहा गया है कि —

> "इस प्रश्न के अवधारण की कसौटी यह है कि क्या प्रत्यर्थी का दावा न्यायोचित है अथवा नहीं । यह अवधारित करने के लिए संविदा का, जिससे दोनों ही पक्षकार आबद्ध हैं, आश्रय लेना आवश्यक है । यदि विवादग्रस्त विषय पर विनिश्चय देने के प्रयोजन के लिए संविदा की शर्तों का अवलम्ब लेना आवश्यक हो तो यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि मामला माध्यस्थम् खण्ड के विस्तार के अन्तर्गत है और मध्यस्थ को उस पर विनिश्चय देने की अधिकारिता प्राप्त है ।"

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रत्यर्थियों द्वारा पिटीशनर से पूर्वोक्त अन्यायनिर्णीत और अनिश्चित रकम के बारे में मांग किए जाने का अथवा प्रत्यर्थियोंके साथ की गई अन्य संविदाओं में पिटीशनर की राशियों के विरुद्ध विनियोजन और समायोजन के प्रश्न को विनिश्चित करने के लिए संविदा के निबन्धनों के प्रति

---

[1] (1969) 2 उम० नि० प० 94=ए० आई० आर० 1969 एम० सी० 488.

निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इसके प्रतिकूल पक्षकारों के बीच संविदा का अवलम्ब लिया जाना बिल्कुल अन्यायोचित है और पिटीशनर द्वारा प्रत्यर्थियों के विरुद्ध किए गए वाद में स्थायी व्यादेश अनुदत्त किए जाने की प्रार्थना के बारे में विनिश्चय प्रश्नगत संविदा पर दृष्टिपात किए बिना ही किया जा सकता है। मामले को इस दृष्टि से देखते हुए इस मुद्दे पर निचले न्यायालय का निर्वचन भ्रामक है और उसे अस्वीकार किया जाता है।

8. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने पक्षकारों के बीच अभिकथित संविदा के अस्तित्व में आने के तथ्य के बारे में भी विवाद यह प्रकथन करते हुए किया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 299 में अन्तर्विष्ट विधि के आज्ञापक उपबंध का अनुपालन नहीं किया गया है। विद्वान् काउन्सेल की इस दलील का **भारत संघ और अन्य** बनाम **एन० के० प्राइवेट लिमिटेड और एक अन्य**[1] वाले मामले में संप्रकाशित उच्चतम न्यायालय की नजीर से खण्डन हो जाता है और इस नजीर के पैरा 8 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :—

> "अवधारणार्थ जो न्यायिक प्रश्न उद्भूत होता है यह है कि क्या निष्पन्न संविदा थी और यदि थी तो क्या विधिमान्य और आबद्धकर संविदा करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 299 की आज्ञापक अपेक्षाओं की पूर्ति की गई है। इस न्यायालय ने यह स्थिर किया है कि यद्यपि अनुच्छेद 299(1) में प्रयुक्त 'कही जाएंगी' और 'निष्पादित' शब्द का यह अर्थ हो सकता है कि यह किसी विलेख द्वारा अथवा प्ररूपिक लिखित संविदा द्वारा होनी चाहिए। यदि इसे भारत के राष्ट्रपति द्वारा इस निमित्त सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा स्वीकार किया जाता है तो निविदा द्वारा आबद्धकर संविदा और उसकी स्वीकृति अस्तित्व में आ सकती है। कोई संविदा चाहे वह प्ररूपिक विलेख द्वारा हो अथवा अन्यथा राष्ट्रपति द्वारा प्राधिकृत न किए गए व्यक्तियों द्वारा आबद्धकर नहीं हो सकती और यह पूर्णतः शून्य है।"

इस प्रकार इस नजीर से यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह आवश्यक नहीं है कि सभी संविदाएं भारत के संविधान के अनुच्छेद 299 में आदिष्ट रूप में पूरी की जानी चाहिएं बल्कि कोई संविदा, यदि उसकी निविदा की जाती है और भारत के राष्ट्रपति द्वारा इस निमित्त सम्यक्तः प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा

[1] (1972) 2 उम० नि० प० नि० सा० 40=ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 915

उसे स्वीकार किया जाता है तो इसे पूरा किया जा सकता है। अभी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या वह अधिकारी, जिसने इस मामले में पिटीशनर-व्यक्ति की निविदा स्वीकार की वह ऐसा व्यक्ति था जिसे भारत के राष्ट्रपति ने इस निमित्त प्राधिकृत किया था। इस समय मामले के अभिलेख के परिशीलन से यह पता नहीं चलता कि जिस अधिकारी ने इस मामले में निविदा को स्वीकार किया था वह भारत के राष्ट्रपति द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किया गया व्यक्ति था। यह साक्ष्य का मामला है और वाद के किसी पक्षकार ने अभी तक कोई साक्ष्य पेश नहीं किया है क्योंकि माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 34 के अधीन वाद को रोके जाने के लिए पूर्वतम आवेदन फाइल करने के कारण साक्ष्य का प्रक्रम उद्भूत नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त पक्षकारों के बीच आबद्धकर संविदा के अस्तित्व-विषयक यह प्रश्न और जो माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 34 के अधीन आवेदन के अभिवाकों और उसके उत्तर में उठाया गया है, उस पर, इस प्रश्न पर कि क्या पक्षकारों के बीच विवादों को मध्यस्थ को निर्देशित किया जा सकता है, मेरे निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

9. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए पुनरीक्षण पिटीशन सफल होता है और परिणामतः निचले दोनों न्यायालयों के आक्षेपित आदेश अपास्त किए जाते हैं और उसके आवश्यक परिणामस्वरूप माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 34 के अधीन आवेदन, आद्योपान्त खर्चे सहित, खारिज किया जाता है। काउन्सेल की फीस 500 रु० है।

10. पक्षकारों को 24 अक्तूबर, 1983 को विद्वान् विचारण न्यायालय के समक्ष हाजिर होने का निदेश दिया जाता है।

पुनरीक्षण पिटीशन मंजूर किया गया।

श०

नि० प० 1984 : दिल्ली—71

राज्य (दिल्ली प्रशासन) बनाम मित्रसेन और अन्य

[State (Delhi Administration) *Vs.* Mittar Sain and others]

तारीख 6 अक्तूबर, 1983

[न्या० आर० एन० अग्रवाल और न्या० मलिक शरीफुद्दीन]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 378—उक्त धारा 378 के अधीन दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में यदि साक्ष्य के संबंध में दो प्रकार के विचार संभव हों और विचारण न्यायालय ने अभियुक्त के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया हो और उसे दोषमुक्त कर दिया हो, तो अपील न्यायालय दोषमुक्ति को मात्र इस आधार पर नहीं बदलेगा कि वह साक्ष्य के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण अपनाना चाहता है।

प्रत्यर्थियों पर नव वधू की विष द्वारा हत्या करने का आरोप लगाया गया। विचारण न्यायालय ने साक्ष्य पर विचार करने के उपरान्त उन्हें दोषमुक्त कर दिया। राज्य द्वारा अपील पर उच्च न्यायालय ने साक्ष्य पर विस्तारपूर्वक विचार किया और उच्च न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मृत्यु आत्महत्या या दुर्घटना के कारण नहीं हुई थी बल्कि उसका कारण विषदान ही था। किन्तु वस्तुतः विषदान किसने किया था, इस सम्बन्ध में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

मृतक द्वारा लिए गए मिथिल अल्कोहल की मात्रा के संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पति और उसकी सास दोनों ही किसी बहाने मिथिल अल्कोहल दे सकते थे। इस मामले की परिस्थितियों में इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि सास ने मृतक को मिथिल अल्कोहल टानिक कहकर दिया हो। हम इस बात के प्रति सजग हैं कि ऐसा चिकित्सीय साक्ष्य नहीं है कि मिथिल अल्कोहल टानिक के रूप में अथवा मूर्च्छा के लिए दवा के रूप में दिया जाता है, किन्तु गांव में हर प्रकार के नीम-हकीम होते हैं, जो तरह-तरह की दवाएं बताते हैं। हमारे समक्ष ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि मृतक की मृत्यु से पूर्व या उसके पश्चात् सभी अभियुक्तों के पास या किसी एक अभियुक्त के पास मिथिल अल्कोहल था। अभिलेख का सावधानीपूर्वक अनुशीलन करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि यह अभिनिर्धारित

करना निरापद नहीं होगा कि साबित परिस्थितियों की श्रृंखला इस दोष से भिन्न कल्पना की ओर इंगित नहीं करती। यह भी ज्ञातव्य है कि यह दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील है। उच्चतम न्यायालय ने बार-बार यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि साक्ष्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार सम्भव हों और विचारण न्यायालय ने अभियुक्त के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया हो और उसे छोड़ दिया हो तो अपील न्यायालय दोषमुक्ति को मात्र इस आधार पर नहीं बदलेगा कि वह दूसरा दृष्टिकोण अपनाना चाहता है। (पैरा 64, 65).

		पैरा
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1213 : जिम्मी होमी भड़ूचा बनाम महाराष्ट्र राज्य (Jimmy Homi Bharucha *Vs.* State of Maharashtra);	65
[1972]	ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 656 : राम गोपाल बनाम महाराष्ट्र राज्य (Ram Gpoal *Vs.* State of Maharashtra)	60

निर्दिष्ट किए गए।

अपीली (दाण्डिक) अधिकारिता : 1976 की दाण्डिक अपील सं० 129.

दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री डी० सी० अग्रवाल के 29 नवम्बर, 1975 के आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री डी० आर० सेठी, अधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री बावा गुरचरण सिंह, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० आर० एन० अग्रवाल ने दिया।

न्या० अग्रवाल :

दिल्ली प्रशासन द्वारा की गई यह अपील अपर सेशन न्यायाधीश के 29 नवंबर, 1975 के उस निर्णय के विरुद्ध है, जिसके द्वारा विद्वान न्यायाधीश ने अपीलार्थी मित्रसेन, उसके पिता अतर सिंह और उसकी मां श्रीमती नाथो को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन अपराध से दोषमुक्त कर दिया था। उपर्युक्त सभी अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप यह था कि उन्होंने 9 सितम्बर, 1972 को अपने सामान्य आशय के अनुसरण में मित्रसेन की पत्नी केसर रानी की हत्या की थी।

2. हमें श्री गुरचरण सिंह ने यह बताया है कि अपील के लंबित रहने के दौरान अतर सिंह मर गया। अतर सिंह का मृत्यु प्रमाणपत्र फाइल कर दिया गया है। परिणामतः अतर सिंह के विरुद्ध अपील उपशमित हो गई।

3. मृतक केसर रानी जो बदरपुर निवासी रामचन्द्र (अभियोजन साक्षी-3) की पुत्री थी, दिल्ली के नरेला गांव के निवासी मित्रसेन से 19 जुलाई, 1972 को ब्याही गई थी। हमें बताया गया है कि बदरपुर और नरेला गांव के बीच की दूरी लगभग 30 किलोमीटर है। अभियोजन साक्षी-3 उत्तर रेलवे में गार्ड के रूप में नौकरी करता था। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि ठाका उत्सव के समय मृतक के माता-पिता ने मिठाई और फल के अतिरिक्त 2,100 रुपये नकद तथा ऊनी सूट दिया था। माता-पिता ने विवाह में लगभग 11,000 रुपये खर्च किए थे। हमें इस संबंध में संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि उपर्युक्त रकम विवाह में खर्च की गई थी।

4. 18 जुलाई, 1972 तथा 9 सितंबर, 1972 के दौरान केसर रानी अपने माता-पिता से मिलने दो बार गई थी। पहली बार 22 जुलाई, 1972 को और फिर 25 अगस्त, 1972 को, जो रक्षाबंधन का दिन था। अभियोजन का पक्षकथन यह है कि उपर्युक्त दोनों बार ही केसर रानी ने यह शिकायत की थी कि उसकी सास तथा श्वसुर दहेज से खुश नहीं थे, जो विवाह में दिया गया था और वे चाहते थे कि केसर रानी और भी उपहार लाए। अभियोजन साक्षी-3 रामचन्द्र ने यह साक्ष्य दिया कि वह 1 सितंबर को अभियुक्तों के घर गया था, क्योंकि वह अपनी पुत्री को लाना चाहता था, किन्तु अभियुक्तों ने उसकी पुत्री को आने नहीं दिया। उसने यह भी साक्ष्य दिया है कि केसर रानी उससे अकेले में बात करना चाहती थी, किन्तु उसकी सास ने केसर रानी से कहा कि जो कुछ भी वह कहना चाहती है उसे सास की उपस्थिति में ही कहना होगा।

5. अभियोजन साक्षी-3 के अनुसार अभियोजन का पक्षकथन यह है कि 9 सितंबर को लगभग 12 बजे रात को मित्रसेन एक और आदमी तथा ड्राइवर के साथ आया और अभियोजन साक्षी-3 को यह सूचना दी कि केसर रानी बीमार थी और उसे तुरंत ही उसके साथ जाना चाहिए। उसने मित्रसेन से यह पूछा कि बीमारी कैसी थी, किन्तु उसने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। वह तथा उसकी पत्नी मित्रसेन के साथ कार में गए और रास्ते में उन्होंने अपने दामाद अमींचन्द को भी कालकाजी से ले लिया। रास्ते में कार चुंगी पर रुकी और मित्रसेन ने चुंगी के इन्चार्ज से बात की। उनके यह पूछने पर कि मित्रसेन चुंगी पर क्यों रुका था, उसने बताया कि केसर रानी मर गई थी। उसने यह भी कहा कि केसर रानी मासिक रोग से पीड़ित थी और इसी

कारण मर गई। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि अभियोजन साक्षी-3 ने 11 अक्तूबर, 1972 को पुलिस को की गई रिपोर्ट में तथा अपने परिवाद प्रदर्श अभियोजन साक्षी-3/सी में भी यह कहा था कि मित्रसेन रात में एक बजे से तीन बजे पूर्वाह्न में आया था और केसर रानी की मृत्यु के सम्बन्ध में सूचना दी थी और मृत्यु के कारण के संबंध में पूछने पर उसने कोई समाधानप्रद जानकारी नहीं दी थी।

6. आगे अभियोजन का पक्षकथन यह था कि 9 सितंबर को लगभग 10-00 बजे अपराह्न में मित्रसेन, उसका पिता अतर सिंह और कुछ अन्य व्यक्ति शव को दाह के लिए ले जा रहे थे। चूंगी के पास शव को पुलिस ने रोक लिया। (ऐसा प्रतीत होता है कि अभियुक्तों के पड़ौस के किसी व्यक्ति ने पुलिस को यह सूचना दी थी कि वह स्त्री, जिसका शव दाह के लिए ले जाया जा रहा था, संदेहास्पद परिस्थितियों में मरी थी। पुलिस शव को चुंगी पर ले आई और फिर वहां से पुलिस थाने ले आई। मित्रसेन कार से मृतक के माता-पिता के घर गया और उन्हें अपने साथ लाया।

7. 10 सितंबर, 1972 को 12·00 बजे दोपहर को डा० भरत सिंह अभियोजन साक्षी-4 ने केसर रानी, जिसकी उम्र 17-18 वर्ष थी, के शव की परीक्षा की। डाक्टर को निम्नलिखित तथ्य मिले :—

> "शव धोती से ढका हुआ था और उस पर पेटीकोट, ब्लाउज तथा ब्रेजियर भी थे। कपड़ों में फटने के कोई निशान नहीं थे। पेटीकोट के निचले भाग पर उल्टी की तरह की सूखी हुई खाद्य सामग्री मौजूद थी। बाईं कलाई पर दो कांच की चूड़ियां थीं और बाईं नासिका में एक लौंग थी। शरीर सामान्य गठन का था। रिगर मार्टिस संपूर्ण शरीर में मौजूद था। आंखें बंद थीं और दोनों ओर से ही सिकुड़ी हुई थीं। कोई उप नेत्र श्लेष्मिका रक्तस्राव नहीं था। मुंह के कोनों से खून मिश्रित द्रव बाहर आ रहा था। जीभ सामान्य स्थिति में थी। जीभ के बाईं ओर के ऊपरी सिरे पर दांत के निशान थे, जिससे खून रिस रहा था। ठुड्डी के बाईं ओर लाल रंग के धब्बे थे। नाखून सामान्य रूप से कुतरे हुए थे। योनि से रक्तस्राव नहीं हो रहा था और न ही योनि में किसी प्रकार की कोई क्षति थी। स्तनों पर भी कोई क्षति नहीं थी। बाईं जांघ के ऊपरी हिस्से पर पुरानी खरौंच थी जिस पर सूखी हुई खुरंड थी। शरीर पर और कोई क्षति नहीं थी। गले के टिशू

सामान्य थे। गले के कोमल टिशुओं में किसी प्रकार का रक्तस्राव नहीं था। श्वांस नली सामान्य थी। गल ग्रन्थि उपास्थि, स्वरयंत्रीय उपास्थि तथा कंठिका अस्थि सामान्य थीं। दोनों फेफड़े सामान्य थे। फेफड़ों के काटने पर द्रव रक्त रिस रहा था। दिल सामान्य था। पसलियां अक्षुण्ण थीं। पेट में लगभग 4 औंस अर्धपचित सामग्री थी। टट्टी पूर्णतः रक्तस्रावयुक्त थी। छोटी आंतें गहराई तक सिकुड़ी हुई थीं। बड़ी आंतें सामान्य थीं। जिगर तथा तिल्ली सामान्य थीं। गुर्दे गहराई तक लाल रंग के थे। ऐडेनल तथा पैंक्रियाज सामान्य थे। गर्भाशय खाली था। सर्विक्स में कोई क्षति नहीं थी। ओवरी में कोई रोग का साक्ष्य नहीं था। खोपड़ी की हड्डियां सामान्य थीं। कपाल के निचले तल में कोई हैमोटोमा नहीं था। मस्तिष्क सामान्य था। कोई रक्तस्राव नहीं था। रैक्टम और ब्लैडर आधे भरे थे। खून और मल साधारण थे और मेरी उपस्थिति में रासायनिक विश्लेषण के लिए दिल्ली के पुलिस सर्जन की मुद्रा सहित लिए गए। मृत्यूपरान्त परीक्षा के समय मृत्यु का कारण नहीं बताया गया। मृत्यु से लगभग 18 घंटे बीत चुके थे। मेरी रिपोर्ट अभियोजन साक्षी 4/ए है, जिस पर मैंने हस्ताक्षर कर दिए हैं।"

8. मल, अर्थात् पेट की अंतर्वस्तुओं, आंतों, गुर्दों, जिगर, तिल्ली तथा रक्त के रासायनिक विश्लेषण पर इथिल अल्कोहल और मिथिल अल्कोहल पाए गए। सैन्ट्रल फौरैंजिक साइंस लैबोरेटरी की रिपोर्ट प्राप्त होने पर डाक्टर ने यह राय जाहिर की कि मृत्यु अल्कोहल विष के कारण हुई थी।

9. अन्वेषण अधिकारी द्वारा इस संबंध में पूछताछ पर कि क्या इथिल अल्कोहल और मिथिल अल्कोहल आतमघात या मानवघात के प्रयोजनों के लिए लिए जाते हैं, डाक्टर ने यह राय जाहिर की कि अल्कोहल विषदान अधिकांशतः दुर्घटनाजन्य या आत्महत्याजन्य होता है।

10. ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर की इस रिपोर्ट के पश्चात् भी कि मृत्यु अल्कोहल विषदान के कारण हुई थी, अन्वेषण अधिकारी ने आगे कोई कार्यवाही नहीं की।

11. 24 फरवरी, 1973 को रामचंद्र (मृतक का पिता) ने मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट के न्यायालय में प्रत्यर्थियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन परिवाद फाइल किया।

12. अभियुक्तों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अपने बयानों में अभियोजन के पक्षकथन का प्रत्याख्यान किया। मित्रसेन ने कहा कि 9/10 सितंबर, 1972 की रात को वह लगभग 12 बजे रामचंद्र के घर गया था और रामचंद्र से बताया था कि उसकी पुत्री की मृत्यु हो गई है। मित्रसेन ने इस इंगित का भी प्रत्याख्यान किया कि उसने रामचंद्र से मात्र इतना ही कहा था कि केसर रानी बीमार थी। मित्रसेन ने इस बात से भी इनकार किया कि चुंगी पर उसने रामचंद्र से कहा था कि केसर रानी किसी मासिक रोग के कारण मरी थी। जहां तक मृतक के मुंह से खून आने का संबंध है, मित्रसेन ने कहा था कि वह खून नहीं था, बल्कि सिंदूर था, जो उन्होंने अपनी प्रथा के अनुसार केसर रानी को लगाया था। जहां तक इस बात का प्रश्न है कि केसर रानी के उपचार के लिए कोई डाक्टर नहीं बुलाया गया था, मित्रसेन ने कहा कि उसे इस संबंध में कुछ भी मालूम नहीं है, क्योंकि वह घर पर नहीं था। मित्रसेन ने यह भी कहा कि वह यह नहीं जानता कि केसर रानी अल्कोहल-विष के कारण मरी थी या किसी अन्य कारण। मित्रसेन ने आगे यह भी कहा कि वह अपने श्वसुर के घर केसर रानी की मृत्यु के संबंध में उसे सूचित करने लगभग 5 बजे शाम को गया था, किंतु चूंकि उसके श्वसुर के घर में कोई नहीं था, वह एक पड़ौसी के पास यह संदेश छोड़ आया था कि केसर रानी मर गई थी और उसके माता-पिता को तुरंत पहुंचना चाहिए। मित्रसेन ने यह भी कहा कि वह रात को लगभग 11 बजे अपने श्वसुर के घर फिर गया था।

13. अतर सिंह ने कहा कि मित्रसेन रामचंद्र के घर दो बार गया था। पहली बार लगभग 5 बजे शाम को, जब रामचंद्र के घर पर कोई भी नहीं मिला था, और दूसरी बार लगभग 12 बजे रात को। अतर सिंह ने इस बात से भी इनकार किया कि केसर रानी के मुंह से खून आ रहा था। उसने कहा कि उनकी प्रथा के अनुसार केसर रानी को सिंदूर लगाया गया था और सिंदूर को ही खून समझ लिया गया। अतर सिंह ने यह भी कहा कि वह यह नहीं जानता कि केसर रानी अल्कोहल-विष के कारण मरी थी या किसी अन्य कारण।

14. अभियुक्त नाथो देवी ने अपने पति अतर सिंह के बयान की तरह ही बयान दिया। नाथो ने यह कहा कि एक वैद्य को बुलाया गया था जिसने केसर रानी को देखने के बाद उसे मृत घोषित कर दिया था। किसी भी अभियुक्त ने अपनी प्रतिरक्षा में कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है।

15. अपील की सुनवाई के दौरान हमारा यह विचार था कि साक्ष्यगत सभी परिस्थितियां अभियुक्तों के समक्ष नहीं रखी गई हैं । अतः हमने यह विनिश्चय किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्तों की आगे भी परीक्षा की जाए ।

16. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अपने बयान में मित्रसेन ने कहा कि केसर रानी का शव दाह के लिए 10 बजे शाम को निकाला गया और शव को पुलिस ने चुंगी के पास रोक लिया । अभियुक्त ने इस बात से इनकार किया कि यज्ञदत्त गौतम (अभियोजन साक्षी-1) से यह कहा गया था कि मृतक की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी । मित्रसेन ने यह भी कहा कि केसर रानी की मृत्यु के दो मास पश्चात् ही उसे यह पता लगा कि वह शराब में विष के कारण मरी थी । अभियुक्त ने कहा कि उसे उस दिन केसर रानी की मृत्यु का कारण नहीं पता लगा था, जिस दिन उसकी मृत्यु हुई थी । मित्रसेन ने कहा कि ऐसी परिस्थितियों में उसने किसी से भी इस संबंध में नहीं बताया था कि केसर रानी की मृत्यु किन परिस्थितियों में हुई थी । मित्रसेन ने आगे निम्नलिखित कहा :—

> "मेरी दुकान मेरे घर से दो फ़र्लांग दूर है । मैं दुकान के लिए 9 बजे सवेरे घर से जाता हूं और 7-30 बजे शाम को घर वापस लौटता हूं । सदा की भांति मेरी पत्नी ने एक बजे दिन में मेरा खाना भेजा और मैंने उसे खा लिया । लगभग 4-30 बजे या 5 बजे शाम को मेरा छोटा भाई भारत भूषण मेरी दुकान में आया और मुझसे कहा कि मेरी पत्नी की मृत्यु हो गई है और मेरी मां रो रही है । मैं तुरंत घर गया । मैंने अपनी मां से पूछा कि क्या डाक्टर को बुलाया गया था । मेरी मां ने यह कहा कि वैद्य कर्मवीर (अभियोजन साक्षी-2) को बुलाया गया था और वैद्य ने केसर रानी को देखने के बाद उसे मृत घोषित कर दिया था । मैं अपने श्वसुर को केसर रानी की मृत्यु के संबंध में सूचना देने हेतु बदरपुर चला गया । वहां मुझे घर में कोई नहीं मिला । पड़ौसियों से पूछने पर पता लगा कि मेरे श्वसुर और सास अम्बाला गए हुए थे । मैंने पड़ौसियों से कह दिया कि वे मेरे श्वसुर को यह बता दें कि केसर रानी मर गई । मैं अपने घर वापस लौट आया और वहां अपने श्वसुर का लगभग 10 बजे रात तक इंतजार करता रहा । हमसे यह कहा गया कि चौमासा (सितंबर मास) में शव जल्दी सड़ने लगता है, इसलिए शव को सारी रात रखना

उचित नहीं होगा क्योंकि उससे दुर्गन्ध आनी शुरु हो सकती है। अतः हम लोगों ने यह निश्चय किया कि रात को 10 बजे दाह के लिए शव को ले जाया जाए। पड़ौस के और गांव के लगभग सौ-डेढ़ सौ व्यक्ति शव-यात्रा में सम्मिलित थे। चुंगी के पास पुलिस आ गई और हमसे कहा कि उन्हें सूचना मिली थी कि उस स्त्री की मृत्यु अचानक हुई थी और वे चाहते थे कि उसकी मृत्यूपरांत परीक्षा की जाए। मेरे पिता ने कहा कि मुझे जाना चाहिए और यह देखना चाहिए कि मृतक के माता-पिता आ गए थे अथवा नहीं। मैं मृतक के माता-पिता के साथ लगभग दो बजे रात को पुलिस थाने पहुंच गया था। मुझसे कहा गया कि मैं घर चला जाऊं। इसलिए मैं मृतक के माता-पिता के साथ अपने घर चला आया। चुंगी से हम लोग पहले पुलिस थाने गए थे और पुलिस थाने से नरेला चले गए थे। मुझसे कहा गया कि पुलिस थाने में रात को ठहरने का कोई मतलब नहीं है और हमें सवेरे आना चाहिए। हम पुलिस थाने लगभग 7 या 8 बजे सवेरे गए।"

17. नाथो देवी ने कहा कि उसने केसर रानी के माता-पिता को उन परिस्थितियों के संबंध में नहीं बताया, जिसमें उसकी मृत्यु हुई थी क्योंकि उसे स्वयं ही इस बात का पता नहीं था कि केसर रानी कैसे मरी थी। नाथो देवी ने आगे निम्नलिखित कहा :—

"मैं अपने पशुओं की रखवाली के लिए खेतों में गई थी। मैं अपने घर लगभग 4 या 4-30 बजे शाम को लौटी। मैंने पाया कि केसर रानी बेहोश पड़ी थी। मैंने केसर रानी के मुंह में पानी डालने की कोशिश की किंतु मैं उसका मुंह खोलने में सफल न हो सकी। मैंने पहले भी एक बार केसर रानी को मूर्च्छा आते देखा था। मैंने सोचा कि उसे फिर मूर्च्छा आ गई है। मैंने अपने लड़के को वैद्य जी को बुलाने भेजा। वैद्य जी आए और उन्होंने केसर रानी को मृत घोषित कर दिया। मैंने अपने लड़के को मित्रसेन को बुलाने भेजा। मित्रसेन आ गया। मैंने उससे कहा कि केसर रानी मर गई है और मैंने वैद्य बुलाया था। पड़ौस की औरतें आ गईं और रोने-चिल्लाने लगीं। मित्रसेन केसर रानी के माता-पिता को बुलाने चला गया किंतु वह अपने घर पर नहीं मिला। हम उन्हें फिर रात को बुलाने गए। जब केसर रानी के माता-पिता नहीं मिले थे तो उन लोगों ने, जो हमारे घर पर इकट्ठे हुए थे, हमें यह सलाह दी कि

शव का दाह कर दिया जाना चाहिए और शव को सारी रात घर में रखना उचित नहीं होगा। शव दाह के लिए ले जाया जा रहा था; किंतु रास्ते में पुलिस ने रोक लिया।"

18. इस बार अभियुक्तों ने अपनी प्रतिरक्षा में 5 साक्षियों की परीक्षा की। दो साक्षी पड़ौस के हैं, तीसरा रामफल उस कार का मालिक है, जिसमें मित्रसेन अपने श्वसुर के घर गया था, चौथा कृष्ण स्वरूप अतर सिंह के कुटुम्ब का पुरोहित है और प्रतिरक्षा साक्षी 5 भारत भूषण नाथो देवी का छोटा लड़का है, जो घटना के समय लगभग 10 वर्ष का था।

19. प्रतिरक्षा साक्षी-1 और 2 ने यह साक्ष्य दिया कि केसर रानी की मृत्यु का समाचार पाकर वे अतर सिंह के घर गए थे। उन्होंने यह कहा कि मित्रसेन अपने सास-श्वसुर को लाने गया था और मित्रसेन लगभग 7 या 7-15 बजे शाम को वापस लौटा और उसने कहा कि उसके सास-श्वसुर अम्बाला गए थे और उसने पड़ौसियों को यह संदेश दिया है कि उनके लौटते ही वे उन्हें सूचना दे दें कि केसर रानी मर गई थी और उन्हें तुरन्त आ जाना चाहिए। प्रतिरक्षा साक्षी-1 ने यह साक्ष्य दिया कि उसके पूछने पर नाथो देवी ने उससे कहा कि वह लगभग 2 बजे दिन में खेतों में गई थी और उस समय केसर रानी पूर्णतः स्वस्थ थी, किन्तु जब वह 4 बजे शाम को लौटी तो उसने पाया कि केसर रानी बेहोश थी। इस साक्षी ने आगे यह भी अभिसाक्ष्य दिया कि केसर रानी की अचानक मृत्यु के कारण के संबंध में उसने किसी भी व्यक्ति से कोई बात नहीं की थी।

20. अभियोजन साक्षी 2 ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि मित्रसेन के घर अनेक बार जाने पर उसने केसर रानी को देखा था और उसे पूर्णतः स्वस्थ पाया था। उसने यह भी कहा कि उसने किसी से यह नहीं पूछा कि केसर रानी की मृत्यु कैसे हुई थी। साक्षी ने यह भी कहा है कि उसने मित्रसेन तथा उसके माता-पिता से यह पूछा था कि केसर रानी की मृत्यु कैसे हुई थी। किन्तु उन्होंने मात्र इतना उत्तर दिया था कि वह मर गई थी और उन्होंने केसर रानी के मरने का कारण नहीं बताया था। इस साक्षी ने यह भी साक्ष्य दिया है कि मित्रसेन के संबंध अपनी पत्नी से अच्छे थे और नाथो देवी के अपनी पुत्रवधू से संबंध अच्छे थे।

21. प्रतिरक्षा साक्षी-3 ने यह साक्ष्य दिया है कि 1972 में उसके पास एक एम्बैसेडर कार थी, जिसका रजिस्ट्रेशन नं० 3993 था और लगभग

10 या 12 वर्ष पहले एक दिन मित्रसेन उसके पास आया था और अपनी पत्नी की मृत्यु के बारे में बताया था। वह मित्रसेन को अपनी कार में लगभग 4-30 बजे या 4-45 बजे शाम को फरीदाबाद के निकट बदरपुर में उसके सास-श्वसुर के पास उसके घर ले गया था। मित्रसेन ने उसे कहा था कि केसर रानी के माता-पिता अम्बाला चले गए थे और फिर लगभग 10-30 या 10-45 बजे शाम को वह मित्रसेन को उसके सास-श्वसुर के घर ले गया था और केसर रानी के माता-पिता को वह कार में ले आया था और उन्हें पुलिस थाने पर छोड़ दिया था। प्रतिपरीक्षा में इस साक्षी ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि वह मित्रसेन को गत 20 या 25 वर्ष से जानता है और उसने बदरपुर (केसर रानी के माता-पिता का निवास स्थान) जाने का कुछ भी किराया नहीं लिया। इस साक्षी ने यह भी कहा है कि उसके यह पूछने पर कि केसर रानी कैसे मरी थी मित्रसेन ने उससे कहा कि कुछ "गड़बड़ हो गई है" और वह नहीं जानता कि उसकी मृत्यु कैसे हुई।

22. अभियोजन साक्षी 4 कृष्ण स्वरूप ने कहा कि डाक घर में नौकरी करने के अतिरिक्त वह पुरोहित-कर्म भी करता है और वह मित्रसेन का पुरोहित है। लगभग 6 या 7 वर्ष पूर्व वह मित्रसेन के घर 6-15 या 6-30 बजे शाम को गया था। उसने पूजा की थी और शव पर कफन उढ़ाया था और मृतक के मुंह में गंगाजल भी डाला था।

23. प्रतिरक्षा साक्षी-5 भारत भूषण ने यह साक्ष्य दिया कि जिस दिन केसर रानी की मृत्यु हुई थी उस दिन लगभग एक बजे अपराह्न में वह मित्रसेन के लिए खाना ले गया था और खाना मित्रसेन को देने के बाद वह टिफिन कैरियर लेकर वापस लौट आया था और उसे केसर रानी को दिया था। वह जब लगभग 1-30 बजे अपराह्न में घर लौटा तो केसर रानी पूर्णतः स्वस्थ थी। इस साक्षी ने यह भी अभिसाक्ष्य दिया है कि उसकी मां खेतों में गई थी। भारत भूषण ने यह भी साक्ष्य दिया है कि खेलने के बाद वह लगभग 4 बजे शाम को घर लौटा था और उसकी मां भी उसी समय लौटी थी। तथा उसकी मां ने उससे कहा था कि केसर रानी की हालत खराब थी और उसे वैद्य को बुलाना चाहिए। वह गया और कर्मवीर वैद्य को बुला लाया। उसकी मां ने उसे मित्रसेन को बुलाने को कहा और वह जाकर मित्रसेन को भी बुला लाया। वैद्य ने केसर रानी को मृत घोषित कर दिया था। इस साक्षी ने यह भी साक्ष्य दिया है कि उसका पिता लगभग 11-30 बजे दिन में दिल्ली गया था। और 7-00 बजे शाम को वापस लौटा था। प्रतिपरीक्षा में भारत भूषण नें यह

कहा है कि केसर रानी ने खाना बनाया था और टिफिन कैरियर में रखा था और खाना देने के बाद वह टिफन कैरियर 1-30 बजे दिन में वापस ले आया था। भारत भूषण ने यह भी कहा है कि जब केसर रानी ने खाना बनाया था और उसे टिफिन कैरियर में दिया था तो वह पूर्णत: स्वस्थ थी। उसने यह भी कहा है कि उसने केसर रानी के शव के समीप कोई बोतल पड़ी हुई नहीं पाई थी।

24. अभियोजन के पक्षकथन से इस संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि केसर रानी की मृत्यु 9 सितंबर को लगभग 4 या 5 बजे शाम को इथिल एंड मिथिल विषदान के कारण हुई थी। केसर रानी का विवाह 19 जुलाई, 1972 को मित्रसेन से हुआ था और उसकी मृत्यु 9 सितंबर को हुई थी। इस अल्पावधि के दौरान वह अपने माता-पिता के घर दो बार गई थी। पहली बार 22 जुलाई को और दूसरी बार 25 अगस्त को रक्षाबन्धन के दिन।

मृतक का स्वास्थ्य :

25. अभियोजन साक्षी-3 रामचन्द्र ने यह साक्ष्य दिया है कि उसकी पुत्री केसर रानी कभी भी मासिक धर्मजन्य रोग से पीड़ित नहीं थी और न ही किसी अन्य स्त्री रोग से पीड़ित थी। साक्षी ने आगे यह भी अभिसाक्ष्य दिया हैं कि अभियुक्तों ने उससे कभी भी नहीं कहा था कि उसकी पुत्री बीमार थी या किसी बीमारी से पीड़ित थी।

26. अभियोजन साक्षी-8 लक्ष्मी देवी ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसकी पुत्री केसर रानी काफी स्वस्थ थी और वह कभी किसी रोग से पीड़ित नहीं थी।

27. अभियोजन साक्षी 3 तथा 8 की प्रतिपरीक्षा उनके उपर्युक्त कथनों के संबंध में नहीं की गई। अभियोजन साक्षी 9 अमींचन्द, जो अभियोजन साक्षी 3 का दूसरा दामाद है, अभियोजन साक्षी 10 निरंजन लाल, जो अभियोजन साक्षी 3 का भाई है और अभियोजन साक्षी 14 शिवलाल, जो अभियोजन साक्षी 8 का भाई है, अभियोजन की ओर से गवाह बनाए गए। उक्त साक्षी मृतक के निकट संबंधी हैं और उन्हें यदि मृतक को कोई रोग था, तो उसका पता होता। उक्त साक्षियों की प्रतिपरीक्षा केसर रानी के स्वास्थ्य के संबंध में नहीं की गई।

28. अभियुक्त मित्रसेन मृतक के साथ डेढ़ मास से अधिक रहा था और यदि केसर रानी को कोई रोग होता तो उसे इस बात का पता होता।

मित्रसेन ने यह नहीं कहा है कि केसर रानी को कोई विशेष रोग था। प्रतिरक्षा साक्षी 2 ने, जो अभियुक्तों का पड़ौसी है, यह अभिसाक्ष्य दिया है कि अभियुक्तों के परिवार में उसका आना-जाना था और उसने कुछ बार मृतक को देखा था और उसे पूर्ण स्वस्थ पाया था।

29. अभियुक्त नाथो देवी ने मात्र इतना कहा है कि एक बार केसर रानी को मूर्च्छा आई थी। इसके अलावा वह यह नहीं कहती कि केसर रानी को कोई अन्य रोग था। उपर्युक्त साक्ष्य से हम यह पाते हैं कि इस बात के अतिरिक्त कि केसर रानी को एक बार मूर्च्छा आई थी, उसका स्वास्थ्य सामान्यत: अच्छा था। उसके विगत रोग के सबंध में कोई वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। केसर रानी लगभग 17 या 18 वर्ष की थी और स्वस्थ नारी थी।

दहेज :

30. अभियोजन साक्षी 3 रामचन्द्र तथा अभियोजन साक्षी 8 लक्ष्मी देवी ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि केसर रानी ने 22 जुलाई को आने पर उनसे यह कहा था कि उसके सास-श्वसुर यह कह रहे थे कि उन्हें समुचित दहेज नहीं मिला था। अभियोजन साक्षी 3 तथा 8 ने यह भी अभिसाक्ष्य दिया है कि उनकी पुत्री 25 अगस्त को आई थी और उसने उनसे कहा था कि उसकी सास उसे हमेशा ताना दिया करती थी कि उसके पिता ने कुछ भी नहीं दिया है। उन्होंने यह भी अभिसाक्ष्य दिया कि केसर रानी ने उनसे कहा था कि उसके सास-श्वसुर और मित्रसेन यह कह रहे थे कि विवाह उनकी पसंद का नहीं था और इस विवाह को समाप्त करना होगा।

31. अभियोजन साक्षी 9, 10, 11 तथा 14 ने भी यह साक्ष्य दिया है कि केसर रानी यह कह रही थी कि उसके सास-श्वसुर और मित्रसेन दहेज से संतुष्ट नहीं थे।

32. विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने अभियोजन के इस पक्षकथन पर विश्वास किया है कि सास-श्वसुर और पति दहेज से संतुष्ट नहीं थे। हमने अभियोजन साक्षी 3, 8, 9, 10, 11 तथा 14 के बयानों का सावधानीपूर्वक अनुशीलन किया है और हमें विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के उपर्युक्त निष्कर्ष से असहमत होने का कोई पर्याप्त कारण नहीं मिलता।

33. विद्वान् अपर सेशन न्शायाधीश ने चिकित्सक की राय को ध्यान में रखते हुए कि इथिल तथा मिथिल विषदान के कारण मृत्यु साधारणतया

आत्मघाती या दुर्घटनाजन्य होती है और इस बात को भी ध्यान में रखते हुए कि दहेज के संबध में असंतोष था, यह निष्कर्ष निकाला है कि यह संभव है कि केसर रानी ने आत्महत्या की हो। हम यह स्पष्टतः कहना चाहते हैं कि इस निष्कर्ष का कोई आधार नहीं है।

34. केसर रानी युवा नारी थी और उसका विवाह उसकी मृत्यु से लगभग 50 दिन पूर्व हुआ था। इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि केसर रानी की मृत्यु इथिल और मिथिल अल्कोहल विषदान के कारण हुई थी। हमें इस बात का कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि इस युवा नारी ने आत्महत्या की थी। मात्र यह तथ्य कि पति और उसके माता-पिता ने दहेज के संबंध में नाराजगी जाहिर की थी, मृतक को ऐसी असहाय स्थिति में नहीं ला सकता था, जो उसे अपना जीवन समाप्त करने को विवश कर दे। इस निष्कर्ष पर पहुंचने में एक अन्य परिस्थिति भी हमें प्रेरित करती है और वह यह है कि 17-18 वर्ष की नारी, जैसी कि वह थी, इथिल और मिथिल अल्कोहल के संबंध में जानकारी नहीं रख सकती थी। दो प्रकार की सभावनाएं हैं, या तो अल्कोहल घर में था या वह उसके द्वारा बाजार से लाया गया था, हमें इस बात का निश्चय है कि मृतक को इथिल और मिथिल अल्कोहल की जानकारी नहीं हो सकती थी और बाजार से उसके द्वारा इसके खरीदे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

35. अन्य विकल्प यह है कि उसने इथिल और मिथिल अल्कोहल संयोगवश ले लिया हो। हमें इस निष्कर्ष के लिए भी कोई कारण नहीं मिलता। अभियुक्तों ने यह नहीं कहा है कि इथिल या मिथिल अल्कोहल घर में था। वह यह नहीं कह सकते हैं कि उन्होंने कोई ऐसी बोतल देखी थी, जिसमें अल्कोहल रही हो और जो मृतक के पास पड़ी हो या घर में किसी अन्य स्थान पर पड़ी हो। मिथिल अल्कोहल की दुर्गन्ध वमनकारी होती है और उसका स्वाद ज्वलनशील होता है। और उसे गलती से या दुर्घटनावश नहीं लिया जा सकता।

36. मात्र अन्य निष्कर्ष यह हो सकता है कि इथिल और मिथिल अल्कोहल मृतक को दिया गया हो। मित्रसेन के दो भाई और तीन बहनें हैं। प्रतिरक्षा साक्षी 5 ने यह साक्ष्य दिया है कि 1972 में उसकी सभी बहनों का विवाह हो चुका था। मित्रसेन सबसे बड़ा लड़का है और प्रतिरक्षा साक्षी 5 भारत भूषण छोटा लड़का है। घटना के समय भारत भूषण की आयु लगभग दस वर्ष थी। अतः उसके द्वारा मृतक को अल्कोहल विष दिए जाने की संभावना नहीं हो सकती। घर में अन्य व्यक्ति मात्र मित्रसेन, नाथो देवी और अतर सिंह थे।

37. प्रतिरक्षा साक्षी-5 ने यह साक्ष्य दिया है कि वह विद्यालय से लगभग 12-30 बजे अपराह्न में घर आया था और एक बजे अपराह्न में वह मित्रसेन के लिए खाना ले गया था और उसकी मां खेतों में गई हुई थी, तथा उसके पिता लगभग 11-30 बजे दिन में दिल्ली गए थे। प्रतिरक्षा साक्षी 5 ने यह भी अभिसाक्ष्य दिया है कि जब वह मित्रसेन के लिए खाना ले गया था और उसके पश्चात् मित्रसेन को खाना देने के बाद टिफिन कैरियर के साथ वापस लौटा तो उसने केसर रानी को पूर्णतः स्वस्थ पाया था। यह सुसंगत है कि अभियुक्तों द्वारा यह प्रयास किया गया है कि दो बजे से चार बजे अपराह्न में, जो निश्चायक समय है, घर में केसर रानी के अलावा और कोई नहीं था।

38. नाथो देवी ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन इस न्यायालय के समक्ष अपने बयान में 8 सितंबर, 1983 को यह कहा है कि वह जब लगभग चार/साढ़े चार बजे शाम को खेतों से घर वापस लौटी, उसने केसर रानी को बेहोश पड़े पाया। उसने केसर रानी के मुंह में पानी रखने का प्रयत्न किया, किंतु वह उसका मुंह खोलने में सफल न हो सकी। उसने अपने पुत्र प्रतिरक्षा साक्षी 5 को वैद्य जी को बुलाने के लिए भेजा। वैद्य जी आए और उन्होंने केसर रानी को मृत घोषित कर दिया।

39. अभियोजन साक्षी 2 कर्मवीर वादी है, जिसके संबंध में कहा गया है कि वह केसर रानी को देखने गया था। अभियोजन साक्षी 2 ने यह साक्ष्य दिया है कि 9 सितंबर, 1972 को लगभग 4/5 बजे शाम को एक बच्चा (अतर सिंह का पुत्र) आया और कहा कि उसके पिता अतर सिंह ने उसे बुलवाया है। वह बच्चे के साथ अतर सिंह के घर गया, उस घर में केवल अतर सिंह की पत्नी मिली। अतर सिंह की पत्नी ने उससे कहा कि वह उसकी पुत्रवधू की परीक्षा करे, जो बेहोश पड़ी थी। उसने उससे यह भी कहा कि वह चारा लाने गई थी और लौटने पर उसने अपनी पुत्रवधू को उस हालत में पाया था। उसने (साक्षी ने) अतर सिंह की पत्नी से कहा कि चूंकि उससे यह नहीं कहा गया था कि उसे किसी रोगी का उपचार करना था, इसलिए वह उसकी परीक्षा नहीं कर सकता या उसके लिए दवा नहीं लिख सकता। अतर सिंह की पत्नी ने कहा कि उसके पति या उसका पुत्र घर में नहीं थे। वह उस स्त्री के समीप गया और पाया कि वह तो पहले ही मरी पड़ी है और उसने नाथो देवी को बता दिया कि वह स्त्री मर गई है। इस साक्षी ने आगे यह साक्ष्य दिया है कि उसके पूछने पर नाथो देवी ने उसे

बताया कि उसे मूर्च्छा आती थी और वह बेहोश हो जाया करती थी और नाथो देवी ने यह सोचा था कि केसर रानी को फिर मूर्च्छा आ गई थी और वह बेहोश हो गई थी। इस साक्षी ने आगे यह भी कहा कि नाथो देवी ने रोना-चिल्लाना शुरु कर दिया और वह अपने घर लौट आया। अभियुक्तों द्वारा प्रतिपरीक्षा पर इस साक्षी ने यह कहा कि उसने नाथो देवी से कहा था कि वह कोई उपकरण नहीं लाया था, किंतु उसकी जिद करने पर उसने केसर रानी की परीक्षा की और उसे तुरंत मृत घोषित कर दिया।

40. अभियोजन साक्षी 2 से पुलिस द्वारा 14 नवंबर, 1972 को पहली बार पूछताछ की गई थी और फिर 14 जनवरी, 1973 को पूछताछ की गई थी। हमने अभियोजन साक्षी 2 के बयान को सावधानीपूर्वक पढ़ लिया था और हम यह पाते हैं कि उसका साक्ष्य स्पष्टवादितापूर्ण नहीं है और ऐसा संभव है कि उसे अभियुक्तों ने साक्षी होने के लिए तैयार किया हो। यह बात पूर्णत: समझ में आती है कि जब अभियोजन साक्षी से मृतक की परीक्षा करने को कहा गया तो उसने केसर रानी की परीक्षा करने में संकोच क्यों दिखाया। हम इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि जब अभियोजन साक्षी 2 अतर सिंह के घर आया, तो केसर रानी की स्थिति गंभीर थी अथवा वह मर चुकी थी। हम इस बात को भी मानने को तैयार नहीं हैं कि उसने नाथो देवी से यह कहा था कि चूंकि वह किसी रोगी की परीक्षा करने नहीं आया था, इसलिए वह उस स्त्री की परीक्षा करने या उसके लिए दवा लिखने में असमर्थ था। इससे अभियोजन साक्षी 2 का आचरण अस्वाभाविक हो जाता है और उसका आना भी संदेहास्पद।

41. उपर्युक्त दृष्टिकोण में अभियोजन साक्षी 3 तथा 8 का परिसाक्ष्य कि नाथो देवी ने उनसे कहा था कि कोई भी डाक्टर या वैद्य नहीं बुलाया गया था, सच हो सकता है।

42. अन्य महत्वपूर्ण परिस्थिति, जो अभियोजन साक्षी 2 के साक्ष्य को अविश्वसनीय बनाती है, यह है कि यदि उसने मृतक की परीक्षा की होती तो यह विश्वास करना असंभव है कि उसे इस बात का पता नहीं लगता कि मृत्यु अनैसर्गिक थी। उसे निश्चित रूप से वमन से अल्कोहल की गंध आई होती, जो मृतक के पेटीकोट पर पाया गया था। उस समय वमन ताजा था और उससे अवश्य ही दुर्गन्ध आ रही होगी। अभियुक्तों को इस बात का भी पता अवश्य लगता कि मृतक के मुंह के कोनों से खून रिस रहा था।

43. उस तारीख को भी जब अभियुक्तों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन विचारण न्यायालय के समक्ष बयान दिए थे, उन्होंने यह कहा था कि उन्हें मृत्यु का कारण पता नहीं था। इस न्यायालय में भी नाथो देवी ने कहा कि उसे स्वयं इस बात का पता नहीं था कि केसर रानी कैसे मरी थी और इसलिए उस परिस्थिति के संबंध में, जिसमें केसर रानी की मृत्यु हुई थी, उसके माता-पिता को बुलाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

44. मित्रसेन ने कहा था कि उसकी पत्नी की मृत्यु के दो मास बाद ही उसे इस बात का पता लगा कि वह मदिरा विषदान के कारण मरी थी और चूंकि उसे केसर रानी की मृत्यु के दिन उसकी मृत्यु के कारण का पता नहीं लगा, इसलिए उस परिस्थिति के संबंध में, जिसमें केसर रानी की मृत्यु हुई थी, किसी को कुछ बताने का प्रश्न ही नहीं उठता।

45. यह स्वीकार किया गया है कि केसर रानी डेढ़ बजे दिन में पूर्णतः स्वस्थ थी और उसे 4 बजे अपराह्न में मृत पाया गया। मृत्यूपरांत परीक्षा के समय यह पाया गया कि मृतक के मुंह के कोनों से खून आ रहा था। मृतक के मुंह से खून आना अभियुक्तों द्वारा तथा अभियोजन साक्षी 2 द्वारा अवश्य ही देखा गया होगा, जबकि उन्होंने मृतक को देखा था। पेटीकोट पर वमन से, जो उस समय ताजा रहा होगा, शराब की दुर्गन्ध अवश्य ही आ रही होगी। यह विश्वास करना असंभव है कि अभियुक्तों को इस बात का पता नहीं चला था कि मृत्यु अनैसर्गिक थी।

46. मित्रसेन ने डाक्टर बुलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यदि हम यह विश्वास भी कर लें कि अभियोजन साक्षी-2 ने मृतक को देखा था और उसे मृत घोषित किया था तो हमें यह निश्चय है कि मित्रसेन घर आने पर मात्र उस राय से संतुष्ट नहीं होता और दूसरा डाक्टर बुलाता और यह जानने का प्रयत्न करता कि उसकी पत्नी को हो क्या गया था। घर आने पर मित्रसेन का आचरण (यदि यह मान भी लिया जाए कि उसे बुलाया गया था और वह दुकान से घर आया था) पूर्णतः अनैसर्गिक और उसकी निर्दोषिता से असंगत है।

यह प्रतिरक्षा कि मित्रसेन मृतक के माता-पिता को 5 बजे शाम को बुलाने गया था, पूर्णतः झूठ है :

47. मित्रसेन ने कहा कि जब उससे कहा गया कि केसर रानी मर गई है तो वह प्रतिरक्षा साक्षी 2 रामफल की कार में फरीदाबाद के निकट

बदरपुर केसर रानी के माता-पिता को यह दुःखद समाचार बताने गया। किंतु अपने सास-श्वसुर के घर पहुंचने पर उसे पता चला कि उसके सास-श्वसुर अम्बाला गए हुए थे, इसलिए उसने पड़ौसियों से यह कहा कि वह उसके श्वसुर को यह बता दें कि केसर रानी मर गई थी।

48. अभियोजन साक्षी 8 लक्ष्मी देवी ने मुख्य परीक्षा में यह अभिसाक्ष्य दिया कि 9 सितंबर को उसका पति रात में आया था और खाना खाने के बाद उसने कहा कि वह अगले दिन सवेरे केसर रानी को लाने नरेला जाएगा। लगभग 1-00 बजे रात को मित्रसेन कार में आया, उसके साथ ड्राइवर और एक अन्य व्यक्ति ही था और उसने बताया कि केसर रानी गंभीर रूप से बीमार थी।

49. प्रतिपरीक्षा में अभियोजन साक्षी 8 को ऐसा इंगित नहीं किया गया कि वह 5 तथा 6 बजे शाम को घर में नहीं थी। अभियोजन साक्षी 3 रामचंद्र से भी इस संबंध में प्रतिपरीक्षा नहीं की गई कि वह तथा उसकी पत्नी 9 सितंबर को बदरपुर से बाहर गए थे और वे 9 सितंबर की शाम को अपने घर में नहीं थे।

50. प्रतिरक्षा साक्षी-1 तथा 2 ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि जब वे 9 सितंबर को अतर सिंह की पुत्रवधू की मृत्यु का समाचार पाकर उसके घर गए, तो उन्होंने मित्रसेन को नहीं पाया और उन्हें यह बताया गया कि वह अपने सास-श्वसुर को लाने गया था और लौटने पर मित्रसेन ने यह बताया था कि उसके सास-श्वसुर अम्बाला गए हुए थे। प्रतिरक्षा साक्षी-3 रामफल ने यह साक्ष्य दिया है कि 9 सितंबर को वह मित्रसेन के साथ दो बार बदरपुर गया था। पहली बार 4-30 बजे अथवा 4-45 बजे अपराह्न में तथा दूसरी बार 10-30 या 10-45 बजे अपराह्न में। हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि प्रतिरक्षा साक्षियों के उपर्युक्त बयान सही नहीं हैं और उन्होंने उक्त बयान मात्र अभियुक्तों का पक्षपोषण करने के उद्देश्य से किया है। यदि यह सही होता कि मित्रसेन अपने सास-श्वसुर के घर 5 बजे शाम को गया था तो अभियोजन साक्षी-3 तथा 8 की प्रतिपरीक्षा इस संबंध में प्रतिरक्षा के पक्षकथन के इस पहलू के संबंध में अवश्य ही की गई होती। ऐसा इसलिए और भी किया जाना चाहिए था कि अभियोजन साक्षी 8 ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उसका पति 9-00 बजे शाम को वापस लौट आया था जिसकी विवक्षा यह है कि वह घर से बाहर नहीं गई थी।

51. अभियुक्त केसर रानी के शव को दाह के लिए 10-00 तथा

11-00 बजे रात में ले जा रहे थे। यह निश्चय ही अप्रायिक है। वे स्पष्टत: ही यह चाहते थे कि केसर रानी का शव-दाह उसके माता-पिता को बताए बिना कर दिया जाए, ताकि केसर रानी की मृत्यु का कारण गुप्त बना रहे और उसको केवल केसर रानी के ससुराल के घर वाले ही जानें। हमें इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि यदि मृत्यु नैसर्गिक होती (जैसा कि अभियुक्तों ने दावा किया है) तो अभियुक्त उसे जल्दी में शव-दाह के लिए नहीं ले जाते और उसके माता-पिता तथा अन्य संबंधियों की प्रतीक्षा करते। यदि मित्रसेन का यह कथन कि वह अपने सास-श्वसुर के घर 5-00 बजें शाम को गया था, सही होता तो वह या तो उनके लौटने की प्रतीक्षा करता या किसी को उन्हें संदेश देने के लिए वहां छोड़ देता। अभियुक्तों द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण कि वे केसर रानी के शव को इतनी अधिक रात को दाह के लिए उसके माता-पिता की प्रतीक्षा किए बिना क्यों ले जा रहे थे, विश्वसनीय नहीं है।

52. यह स्पष्ट है कि किसी पड़ौसी ने पुलिस को यह सूचना दी थी कि केसर रानी की मृत्यु संदिग्ध परिस्थितियों में हुई थी। यदि यह सूचना समय पर नहीं मिलती तो अभियुक्त चुपचाप केसर रानी का शव दाह कर देते और इस प्रकार उसकी मृत्यु के कारण का कोई भी सूत्र नहीं बचता और वे उसके माता-पिता को दूसरे दिन सबेरे उसकी बीमारी के पूर्वकल्पित-वृत्तान्त सहित बताते।

मासिक धर्म बिगड़ने से मृत्यु :

53. हमारे समक्ष यह साक्ष्य है कि मित्रसेन और अतर सिंह के पास मृत्यु के कारण के संबंध में सुगम स्पष्टीकरण था। इस संबंध में अभियोजन साक्षी-1 का साक्ष्य महत्वपूर्ण है। अभियोजन साक्षी-1 यज्ञदत्त गौतम सुसंगत समय पर नरेला की चुंगी पर तैनात था। अभियोजन साक्षी-1 ने यह साक्ष्य दिया कि 9 सितंबर, 1972 को लगभग 9-30/9-45 बजे शाम को उसने कुछ व्यक्तियों को दाह के लिए नरेला के श्मशान की ओर शव ले जाते हुए देखा। अतर सिंह और मित्रसेन शव यात्रा में थे। शवयात्रा के बैरिअर पार करने के पश्चात् पुलिस आई और शव-यात्रा को आगे बढ़ने से रोक दिया। बाद में उसे पता चला कि शव केसर रानी का था और पूछताछ करने पर यह कहा गया कि मृत्यु 8 बजे रात को मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी। पुलिस शव को बैरिअर पर ले आई और उसने मृत्यु समीक्षा कार्यवाही की। प्रतिपरीक्षा में इस साक्षी ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि यह बात उसकी जानकारी में नहीं आई है कि खून आना बंद नहीं हुआ था और इसी कारण

मृत्यु हुई थी। साक्षी ने यह भी कहा कि उसे यह पता लगा है कि यह एक प्रकार की मासिक धर्म से संबंधित बीमारी थी। साक्षी ने यह साक्ष्य दिया कि शव यात्रा में नरेला के बहुत से व्यक्ति थे।

54. अभियोजन साक्षी-1 के साक्ष्य से इस संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि जब पुलिस ने शव को रोका और बैरिअर पर ले आए तो अभियोजन साक्षी-1 से कहा गया कि संबद्ध स्त्री की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी। प्रतिपरीक्षा की प्रवृत्ति यह इंगित करती है कि अभियुक्तों का पक्षकथन उस समय यह था कि केसर रानी की मृत्यु अत्यधिक रक्तस्राव के कारण हुई थी।

55. अभियोजन साक्षी-3 ने यह साक्ष्य दिया है कि चुंगी पर मित्रसेन ने उससे कहा था कि केसर रानी की मृत्यु हुई थी और उसके द्वारा बताया गया मृत्यु का कारण मासिक धर्म संबंधी बीमारी थी। अभियोजन साक्षी-8 अर्थात् मां ने यह साक्ष्य दिया था कि अभियुक्तों के घर पहुंचने पर अभियुक्त मित्रसेन की मां ने उससे कहा था कि केसर रानी के गुप्तांगों से खून आ रहा था और उसी के परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हुई थी। मां ने यह भी अभिसाक्ष्य दिया है कि उसकी पुत्री मासिक धर्म संबंधी बीमारी से कभी भी पीड़ित नहीं रही।

56. अभियोजन साक्षी 3 तथा 8 के उपर्युक्त अभिसाक्ष्य का विरोध इस आधार पर किया गया कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में तथा मजिस्ट्रेट को दिए गए परिवाद में भी अभियोजन साक्षी-3 द्वारा यह नहीं कहा गया कि मित्रसेन या उसकी मां ने उनसे यह कहा था कि केसर रानी की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने (अत्यधिक रक्तस्राव होने) के कारण हुई थी। काउंसेल ने यह भी दलील दी कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तथा परिवाद में अभियोजन साक्षी 3 ने मात्र इतना कहा था कि मित्रसेन ने रात में उनके घर में आने के बाद यह कहा था कि केसर रानी की मृत्यु हो गई थी और मृत्यु का कारण पूछने पर उसने कोई समाधानप्रद उत्तर नहीं दिया था। काउंसेल ने यह दलील दी है कि अभियोजन साक्षी-3 तथा 8 का न्यायालय में यह बयान कि उनके घर पर मित्रसेन ने यह कहा था कि केसर रानी गंभीर रूप से बीमार थी और मात्र चुंगी पर ही उसने यह कहा था कि केसर रानी की मृत्यु हो गई थी और मृत्यु का कारण मासिक धर्म बिगड़ना बताया था। यह पक्षकथन में अपवृद्धि है और पश्चात्चिन्तन का परिणाम है, जो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तथा परिवाद में दिए गए वृत्तांत से असंगत है।

57. इस तथ्य से निरपेक्षत: कि मित्रसेन ने अभियोजन साक्षी-3 तथा 8 से उनके घर पर मृत्यु के संबंध में बताया था या चुंगी पर बताया था, अभियोजन साक्षी-3 तथा 8 बीमारी या मृत्यु के कारण के संबंध में अवश्य ही पूछते। हम अभियोजन साक्षी 3 तथा 8 का इस संबंध में विश्वास करने के लिए प्रवृत्त हैं कि मित्रसेन ने अभियोजन साक्षी-3 से कहा था कि मृतक की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी और मित्रसेन की मां ने अभियोजन साक्षी-8 से कहा था कि केसर रानी की मृत्यु अत्यधिक रक्तस्राव के कारण हुई थी। इस मत को इस साक्ष्य से समर्थन मिलता है कि जब शव को रोका गया था तो अभियोजन साक्षी-1 से यह कहा गया था कि केसर रानी की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी। यह सही है कि अभियोजन साक्षी यह नहीं कहता कि मित्रसेन या उसके पिता ने उससे यह कहा था कि केसर रानी की मृत्यु मासिक धर्म बिगड़ने के कारण हुई थी। किंतु ऐसी सूचना मित्रसेन या उसके पिता द्वारा ही दी जा सकती थी, क्योंकि यह बात उनकी अनन्य जानकारी में थी।

58. शव परीक्षा के समय डा० भरत सिंह ने यह पाया कि मृतक के मुंह के कोनों से खून आ रहा था। अभियोजन साक्षी-4 ने भी यह कहा है कि उसने केसर रानी के मुंह से खून आते देखा था। सभी अभियुक्तों ने विचारण के दौरान अपने बयानों में इस बात से इनकार किया था कि मृतक के मूंह से खून आ रहा था। अभियुक्तों ने यह कहा था कि मृतक को सिन्दूर लगाया गया था और उसे ही खून समझ लिया गया था। यह स्पष्टीकरण पूर्णत: मिथ्या है।

59. आत्महत्या या दुर्घटनाजन्य मृत्यु की संभावना का प्रत्याख्यान करने के बाद निश्चायक प्रश्न यह उठता है कि किसने मृतक को मिथिल अल्कोहल विष दिया था। हमने पहले ही यह अभिनिर्धारित किया है कि मृतक को अल्कोहल विष देने का अवसर केवल मित्रसेन को, उसकी मां नाथो देवी को, और उसके पिता अतर सिंह को (जिसकी अब मृत्यु हो गई है) प्राप्त था।

60. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री गुरचरन सिंह ने यह दलील दी कि विषदान के कारण हत्या की दशा में हेतुक के अतिरिक्त अभियोजन को यह भी साबित करना चाहिए कि (क) मृतक की मृत्यु संबद्ध विष के कारण हुई थी, (ख) अभियुक्त के पास वह विष था, (ग) उसे यह अवसर प्राप्त था कि वह मृतक को विष दे सके और यदि उपर्युक्त तथ्य

साबित हो जाएं, तभी न्यायालय यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि अभियुक्त ने मृतक को विष दिया था जिसके कारण मृत्यु हुई थी। काउंसेल ने **राम गोपाल बनाम महाराष्ट्र राज्य**[1] के प्रति निर्देश किया जिसमें निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "विषदान के कारण मृत्यु की दशा में हेतुक होने पर ही यह साबित हो सकता है कि मृतक की मृत्यु संबद्ध विष के कारण हुई थी। वह विष अभियुक्त के पास था और उसे यह अवसर प्राप्त था कि वह मृतक को विष दे सके। तभी न्यायालय यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि अभियुक्त ने मृतक को विष दिया था, जिसके कारण उसकी मृत्यु हुई थी।
>
> प्रस्तुत मामले में न तो हेतुक, न विषदान और न ही उसका कब्जा साबित किया गया है। अतः अभियुक्त दोषमुक्त कर दिया गया।"

61. उपर्युक्त दलील पर विचार-विमर्श करने से पूर्व हम साक्ष्यगत कुछ और तथ्यों की अवेक्षा करना चाहेंगे। नाथो देवी ने विचारण के दौरान यह कहा कि केसर रानी को एक बार मूर्च्छा आई थी इस बयान को अभियोजन साक्षी-2 का बयान सपुष्ट करता है। अभियोजन साक्षी-2 ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि नाथो देवी ने उससे कहा था कि केसर रानी को मूर्च्छा आया करती थी और वह बेहोश हो जाया करती थी और उस दिन भी उसने यह सोचा था कि केसर रानी को मूर्च्छा आई थी और वह बेहोश हो गई थी। निस्संदेह अभियोजन साक्षी-2 के साक्ष्य पर विचार करते समय हमने इस संबंध में संदेह व्यक्त किया है कि उसे मृतक की परीक्षा करने के लिए बुलाया गया था। किंतु जब अभियोजन साक्षी-2 अभियोजन साक्षी के रूप में उपस्थित हुआ है तो उसके साक्ष्य की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती।

62. अभिलेख पर ऐसी सामग्री है, जिससे यह उपदर्शित होता है कि नाथो देवी का उपर्युक्त कथन सही हो सकता है। अभियोजन साक्षी-3 रामचन्द्र ने यह कहा है कि उसने एक पत्र सभी अभियुक्तों को लिखा था (स्पष्टतः ही 25 अगस्त के बाद) कि उसकी पुत्री छोटी उम्र की थी और वह उन्हें उनके घर में अधिक समय तक नहीं छोड़ सकता। उसने यह भी अभिसाक्ष्य दिया है कि 1 सितंबर, 1972 को वह अभियुक्त के घर गया

---

[1] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 656.

और केसर रानी को अपने साथ लाना चाहता था, किन्तु उन्होंने केसर रानी को यह कह कर भेजने से इनकार कर दिया कि वह अभी जल्दी ही रक्षा-बंधन के अवसर पर अपने मां-बाप के घर गई थी। अभियोजन साक्षी-3 द्वारा दर्शित अपनी पुत्री को उसके अपने पति के साथ एक सप्ताह रहने के बाद ही वापस लाने की चिंता आश्चर्यजनक है और सामान्य आचरण नहीं है। ामान्यत: नवविवाहित दंपत्ति साथ-साथ रहना चाहते हैं।

63. एक अन्य छोटी-सी परिस्थिति, जो अभियोजन साक्षी-8 के साक्ष्य में आई है, यह है कि वह 9/10 सितंबर को अभियुक्तों के घर गई थी तो उसे किसी स्त्री ने बताया था कि उसने केसर रानी को लगभग 2-00 बजे अपराह्न बाहर से उपले लाते देखा था। यह बात यदि सही थी तो इससे यह दर्शित होगा कि केसर रानी लगभग 2-00 बजे अपराह्न में पूर्णतः स्वस्थ थी। एक अन्य परिस्थिति भी है जो उल्लेखनीय है वह यह है कि अभियोजन साक्षी-8 ने यह साक्ष्य दिया कि उसकी पुत्री ने उससे कहा था कि उसकी सास ने उससे कहा था कि वह उसे एक ऐसी दवा देगी जिसको लेने से वह अत्यंत स्वस्थ महसूस करेगी।

64. अब श्री गुरुचरन सिंह की दलील को लें। अभियोजन ने संदेह से परे यह साबित कर दिया है कि मृतक मिथिल अल्कोहल विषपान के कारण मरी थी। मिथिल अल्कोहल पानी में सरलता से घुल जाता है। मिथिल अल्कोहल से वमनकारी गन्ध आती है और उसका स्वाद ज्वलनशील है। चिकित्सीय साक्ष्य में हमें मिथिल अल्कोहल की मात्रा का पता नहीं लगता जो मृतक द्वारा ली गई थी। श्री गुरचरन सिंह ने यह दलील दी है कि मृत्युपरांत परीक्षा के दौरान डाक्टर को अल्कोहल की गंध नहीं आई और इससे यह दर्शित होता है कि ली गई मिथिल अल्कोहल की मात्रा ज्यादा नहीं थी। रासायनिक विश्लेषण से यह दर्शित होता है कि मिथिल अल्कोहल विष पेट की अन्तर्वस्तुओं, आंतों, गुर्दों, जिगर, तिल्ली और खून में थी। हम अभिलेखगत साक्ष्य से यह पाते हैं कि मृतक द्वारा लिए गए मिथिल अल्कोहल की मात्रा के संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पति और उसकी सास दोनों ही किसी बहाने मिथिल अल्कोहल दे सकते थे। इस मामले की परिस्थितियों में इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि सास ने मृतक को अल्कोहल टॉनिक कहकर दिया हो। हम इस बात के प्रति सजग हैं कि ऐसा चिकित्सीय साक्ष्य नहीं है कि मिथिल अल्कोहल टॉनिक के रूप में अथवा मूर्च्छा के लिए दवा के रूप में दिया जाता है किन्तु गांव में

हर प्रकार के नीम-हकीम होते हैं जो तरह-तरह की दवायें बताते हैं। हमारे समक्ष ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि केसर रानी की मृत्यु से पूर्व या उसके पश्चात् सभी अभियुक्तों के पास या किसी एक अभियुक्त के पास मिथिल अल्कोहल था।

65. अभिलेख का सावधानीपूर्वक अनुशीलन करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि यह अभिनिर्धारित करना निरापद नहीं होगा कि साबित परिस्थितियों की शृंखला इस दोष से भिन्न कल्पना की ओर इंगित नहीं करती। यह भी ज्ञातव्य है कि यह दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील है। उच्चतम न्यायालय ने बार-बार यह अभिनिर्धारत किया है कि यदि साक्ष्य के संबंध में दो प्रकार के विचार संभव हों और विचारण न्यायालय ने अभियुक्त के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया हो और उसे छोड़ दिया हो तो अपील न्यायालय दोषमुक्ति को मात्र इस आधार पर नहीं बदलेगा कि वह दूसरा दृष्टिकोण अपनाना चाहता है। देखें **जिम्मी होमी भडूचा** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1]। हमारा यह निष्कर्ष है कि यह अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है कि विचारण न्यायालय द्वारा साक्ष्य के संबंध में अपनाया गया दृष्टिकोण अयुक्तियुक्त और निराधार है।

66. उपर्युक्त कारणों से हम अपील खारिज करते हैं।

अन्वेषण :

67. इस मामले का विवेचन समाप्त करने से पूर्व हम अन्वेषण के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करेंगे। हमारा निष्कर्ष है कि अन्वेषण अधिकारी ने यह रिपोर्ट प्राप्त करने पर कि केसर रानी की मृत्यु संदेहास्पद परिस्थितियों में हुई थी, शव को अपने कब्जे में लेने के अलावा कोई अन्वेषण नहीं किया। अन्वेषण अधिकारी को चाहिए था कि वह कम से कम अभियुक्तों तथा उसके निकट संबंधियों एवं मित्रों से उन परिस्थितियों के संबंध में पूछताछ करता जिनमें केसर रानी की मृत्यु हुई थी। उसने ऐसा कुछ भी नहीं किया। 11 अक्तूबर, 1972 को अभियोजन साक्षी 3 द्वारा रिपोर्ट करने के बाद भी अन्वेषण अधिकारी ने कोई कार्यवाही नहीं की। उसने डाक्टर को यह पता लगाने के लिए आवेदन मात्र दिया कि मिथिल अल्कोहल का प्रयोग आत्महत्या के लिए या मानव-वध के लिए किया जाता है। डक्टर की राय जानने के

---

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1213.

पश्चात् कि अल्कोहल विषदान अधिकांशत: आत्महत्यात्मक या दुर्घटनाजन्य होता है। अन्वेषण अधिकारी ने अन्वेषण में कोई रुचि नहीं ली। व्यथित पक्षकार के पास परिवाद फाइल करने के अलावा और कोई भी विकल्प नहीं बचा। यदि अन्वेषण अधिकारी ने तत्परतापूर्वक कार्य किया होता, अपराध-स्थल का निरीक्षण किया होता, अभियुक्तों तथा अन्य साक्षियों से पूछताछ की होती तो हमें यह निश्चय है कि इस मामले का भाग्य और ही होता और अभियुक्त दोषी पा जाने पर दंडित किए जाते।

68. हम यह भी कहना चाहेंगे कि इस मामले में यह दर्शित होता है कि उच्चतर अधिकारियों ने इस मामले के संबंध में कोई रुचि नहीं ली। हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि इस तरह के मामलों में, जहां अपराध चुपके-चुपके किए जाते हैं, अन्वेषण कम से कम पुलिस के इंस्पैक्टर की पंक्ति के अधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में अपराध-स्थल की परीक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण होती है और यदि बुद्धिमत्तापूर्वक की जाए तो उससे न्यायालय को सत्य का पता लगाने में काफी सहायता मिलेगी। हमारा यह विचार है कि राज्य के विद्वान् काउंसेल श्री सेठी की यह दलील बिल्कुल गलत नहीं है कि इस केस से अन्वेषण अधिकारी और अभियुक्त के बीच दुस्संधि की गंध आती है। हम इस आशा के साथ विवेचन समाप्त करते हैं कि भविष्य में वरिष्ठ पुलिस अधिकारी ऐसे मामलों के अन्वेषण में अधिक रुचि लेंगे।

69. निर्णय की एक प्रति दिल्ली के पुलिस आयुक्त को उनकी सूचना के लिए भेजी जाए।

न्या० सफरुद्दीन :

69. अपने विद्वान् भ्राता न्या० अग्रवाल से पूर्णत: सहमत होते हुए भी मैं कुछ शब्द जोड़ना चाहता हूं। इस मामले में हमारा सरोकार इस प्रश्न की परीक्षा से भी है कि क्या किसी युवती की, जिसे पहले किसी प्रकार की बीमारी नहीं थी, संदिग्ध परिस्थितियों में मृत्यु की सूचना पाने के पश्चात् भी पुलिस प्राधिकारियों ने ऐसा आचरण किया है जो विधि और न्याय द्वारा उनसे अपेक्षित था।

70. इस मामले में अन्वेषण अभिकरण ने अपने कानूनी कृत्यों का सद्भावी रूप में पालन नहीं किया और जानबूझकर निष्क्रिय रहे मानो कुछ

भी न हुआ हो। यह अभिकरण अन्वेषण में इस परिकल्पना के अनुसार देर करता रहा ताकि यह सुनिश्चित हो जाए कि इस मामले में कोई कार्यवाही न करनी पड़े। मृतक के कपड़ों पर वमन की विद्यमानता के बावजूद भी अभिकरण ने घटनास्थल का निरीक्षण इस उद्देश्य से करने में उपेक्षा की कि अपराध में लिप्त करने वाली वस्तु वहां से प्राप्त हो सकती थी। ऐसा उन्होंने इस बात के बावजूद भी किया कि इस प्रकार का निरीक्षण उनके सामान्य और दैनन्दिन कर्त्तव्य के अनुसार होता। यदि अन्वेषण अभिकरण ने सामान्य रूप से कार्य किया होता तो कदाचित उसे अपराध में फंसाने वाली कोई न कोई वस्तु मिल गई होती। यदि यह मान भी लें, यद्यपि कि यह अभिनिर्धारित नहीं कर रहे हैं कि अभियुक्तों के परिवार में ऐसी प्रथा थी कि शव को नहलाया नहीं जाता था और उसे अंतिम संस्कार के लिए काठी में नहीं भेजा जाता यह प्रश्न फिर भी बचा रहता है कि संदिग्ध परिस्थितियों में मृत्यु की सूचना पाकर क्या यह प्रथा पुलिस संबद्ध पुलिस अधिकारी की जानकारी में तुरन्त आ गई। यदि यह उसकी जानकारी में नहीं थी तो जिस स्थिति में शव दाह के लिए ले जाया जा रहा था और यह तथ्य कि ऐसा रात की निस्तब्ध घड़ी में किया जा रहा था, सामान्यत: पुलिस अधिकारी के संदेह को जागृत करता। किन्तु दुःख है कि ऐसा नहीं हुआ। इससे मृतक के पिता, जो रेल विभाग में गार्ड है, के इस कथन को समर्थन मिलता है कि यद्यपि कि वह राहत के लिए छोटे-बड़े सभी अधिकारियों के पास दौड़ता रहा किन्तु उसकी दुःखपूर्ण व्यथा किसी ने नहीं सुनी और प्रत्येक अधिकारी उदासीन रहा। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि सुसंगत समय पर भार-साधक पुलिस अधिकारी शीघ्र ही सेवानिवृत्त होने वाला था। कदाचित यह कारण हो सकता है कि पुलिस ने उस लड़की की मृत्यु के कारण की छानबीन करने में उत्साह नहीं दिखाया और ऐसा उन्होंने इस बात के बावजूद किया कि जब शव को कब्जे में लिया गया था तो यह निश्चय किया गया था कि मृत्यु के कारण का पता लगाया जाए।

71. इस मामले में ऐसा बहुत कुछ है जिसके संबंध में टिप्पणी की जाए। पुलिस शव को कब्जे में लेने के लिए आतुर है। वह मृत्यु का कारण पता लगाने के लिए दृढ़ निश्चय है किन्तु इस मामले के संबंध में आगे छानबीन करने की उसकी इच्छा अचानक उड़ जाती है। हम यह भी कह सकते हैं कि मृतक के शव को लेने के पश्चात् पुलिस द्वारा मृत्यु के कारण के संबंध में संबद्ध व्यक्तियों से पूछताछ करने का प्रयत्न नहीं किया गया। और ऐसा इस तथ्य के बावजूद किया गया कि लड़की को दाह के लिए उसके माता-पिता की अनुपस्थिति में और उनकी जानकारी के बिना तथा रात की निस्तब्ध घड़ी में

ले जाया जा रहा था। यह बात अभिलेख से पूर्णतः स्पष्ट है कि शव को जल्दी से जल्दी जला देने की अनुचित जल्दबाजी की जा रही थी। पुलिस अधिकारियों के उदासीन और आकस्मिक रवैये से मात्र सामान्य और तार्किक निष्कर्ष यही होगा कि पुलिस अधिकारी मामले का अन्वेषण करने का शुरु में विनिश्चय करने के पश्चात् शीघ्र ही पूर्णतः उदासीन हो गए। उन्होंने ऐसा क्यों किया, इसका पता लगाने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।

72. हमारे समक्ष अपीलार्थी के काउन्सेल श्री सेठी ने एक अत्यन्त सशक्त सुझाव यह रखा है कि शव को कब्जे में लेने के पश्चात् और यह जानने के पश्चात् कि मृतक की मृत्यु संदिग्ध परिस्थितियों में हुई थी, पुलिस सामान्यतः और मामूली तौर पर इतनी उदासीन नहीं होती और न ही संदिग्ध व्यक्तियों को निश्चिन्त सोने के लिए घर जाने देती। उसका सुझाव अत्यंत अर्थपूर्ण है। स्पष्टतः अन्वेषण अधिकारी सब-इंस्पैक्टर बल्लू राम ने, जो शीघ्र ही सेवानिवृत्त होने वाला था, जोरदार रूप में अन्वेषण करने की बजाय किसी और उद्देश्य की प्राप्ति में ही लग गया। कुछ भी सही हो, यह बात तो है ही कि इस मामले के तथ्यों से यह बात पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गई है कि अन्वेषण अधिकारी अचानक उदासीन हो गया। मृतक के पिता द्वारा सतत प्रयत्न करने पर ही केस कुछ आगे बढ़ सका। किन्तु इतनी गफलत के बाद कुछ खास लाभ नहीं हो सका। अतः हमें यह मत सखेद व्यक्त करना पड़ रहा है कि इस निष्कर्ष से बचना असंभव है कि इस मामले में एक युवती पत्नी की मृत्यु का कारण या तो अपराध हो सकता है अथवा यह हो सकता है कि अत्यधिक मानसिक यंत्रणा के परिणामस्वरूप उसने आत्महत्या कर ली हो। यदि हम मान लें कि यह आत्महत्या का मामला था, तो भी पुलिस इस बात से मुक्त नहीं हो जाती कि वह सही-सही तथ्यों का पता लगाए। पत्नी की मृत्यु किसी के द्वारा प्रकोपन तथा विवशकारी कार्यों का भी परिणाम हो सकती है जिसने उसे ऐसा निरुपाय मार्ग अपनाने के लिए विवश किया।

73. प्रस्तुत मामले जैसे मामले में पुलिस को यह बात समझनी चाहिए थी कि यह एक नव-वधू की उसके सास-श्वसुर के घर में मृत्यु है और उसे मृत्यु के मार्ग पर ले जाने वाले संभाव्य व्यक्ति उस घर में रहने वाले ही हो सकते हैं। यदि यह घटना पति या उसके परिवार के सदस्यों द्वारा अपराध का परिणाम थी तो साक्ष्य का पता लगाने के लिए शीघ्र-अति-शीघ्र कार्यवाही करनी चाहिए थी। ऐसा क्यों नहीं किया गया, यह हर व्यक्ति जानता है। यह विचित्र बात है कि पुलिस अधिकारी शव को पुलिस थाने एक उद्देश्य से लाता है किन्तु तुरन्त ही उदासीन हो जाता है और संदिग्ध व्यक्तियों को निश्चिन्त

सोने के लिए घर जाने देता है । हम ऐसे तथ्यों की उपेक्षा करके अंधेर-गर्दी और अराजकता की स्थितियां पैदा करने का खतरा मोल लेंगे । हम इन तथ्यों को उभार कर सामने इस उद्देश्य से नहीं रख रहे हैं कि हमारे में इन तथ्यों का पता लगाने की योग्यता है बल्कि मात्र इस उद्देश्य से कि ये बातें राज्य को पता लगें ताकि ऐसी घटनाओं के पुन: घटित होने को निवारित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सकें और नागरिक को सुरक्षा का अश्वासन मिल सके । मैं प्रस्थापित आदेश से सहमत हूं ।

अपील खारिज की गई ।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : दिल्ली—97

राम प्रसाद बनाम राज्य

(Ram Parsad *Vs.* State)

तारीख 14 नवम्बर, 1984

[न्या० आर० एन० अग्रवाल और मलिक शरीफुद्दीन]

दण्ड संहिता, 1860—धारा 302 और धारा 304 का भाग II—अभियुक्त का क्षणिक आवेश में कसौले से एक ही वार किया जाना—अभियुक्त को इस बात का ज्ञान होना कि वह ऐसी क्षति कारित कर रहा था जिससे मृत्यु कारित हो सकती है किन्तु उसका घातक क्षति कारित करने का कोई आशय न होना—यदि अभियुक्त द्वारा मारने के आशय के बिना एक ही वार किया गया हो अथवा ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना वार किया गया हो जिससे मृतक के मरने की सम्भावना हो तो ऐसे मामले को भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 के उपबन्ध लागू नहीं होंगे और निष्पक्ष रूप से वह धारा 304 के भाग II की परिधि के अन्तर्गत आएगा ।

इस अपील में विधि का मुख्य विचारार्थ मुद्दा यह है कि यदि मारने के आशय के बिना एक ही वार किया गया हो अथवा ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना वार किया गया हो जिससे मृतक के मरने की सम्भावना हो तो क्या ऐसे मामले को दण्ड संहिता की धारा 302 के उपबन्ध लागू होंगे अथवा 304 के भाग II के उपबन्ध ?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई ।

प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि मृतक और उसकी पत्नी का सामान्य दीवार पर गाय के गोबर के उपले पाथने के जिदपूर्ण दृष्टिकोण के कारण पक्षकारों के सम्बन्धों में कुछ तनाव था। अभियुक्त इसे पसन्द नहीं करता था और इसके लिए वह अनिवार्यतः आक्षेप कर रहा था। घटना के दिन अपीलार्थी अपने मकान की छत पर गाय के गोबर के उपलों को फैंकने के लिए गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दूसरे पक्षकार को गालियां देना प्रारम्भ कर दिया जिससे मृतक और तीन अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी जो उसके पीछे-पीछे पहुंचे, आ गए। मृतक ने गाय के गोबर के उपलों को फैंकने के लिए आक्षेप किया और गाली देने के लिए आक्षेप किया और यह कहा गया कि उसके तुरन्त पश्चात् अपीलार्थी ने मृतक अपीलार्थी को मृतक को पकड़ने के लिए कहा और उसके साथ-साथ उसने मृतक के सिर पर कसौले से वार किया। इस मामले में कोई ऐसा स्पष्ट साक्ष्य नहीं है कि क्या अपीलार्थी छत पर कसौले के साथ गया था या क्या उसने उसको क्षणिक आवेश में वहां पाया और न ही इस तथ्य के बारे में कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं है कि क्या मृतक के आक्षेप करने के बाद पक्षकारों के बीच में क्या हुआ। इस सम्बन्ध में न्यायालय केवल अंदाजा ही लगा सकता है किन्तु सम्भवतः चूंकि, अपीलार्थी और मृतक अपीलार्थी गाय के गोबर के उपलों को साफ करने के विचार से छत पर गए थे इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि मृतक को मारने की बात तो क्या उस पर हमला करने का बिल्कुल भी आशय नहीं था। सम्भवतः मृतक द्वारा आक्षेप करने पर कुछ गरमागरमी हुई और उसी प्रक्रिया में अपीलार्थी ने मृतक पर कसौले से वार किया और वह कसौला उसके सिर पर पड़ा जिसके परिणामस्वरूप मृतक की मृत्यु कारित करने वाली क्षति हुई। ऐसे मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि अभियुक्त द्वारा अचानक गरमा गरमी में क्षणिक आवेश में मृतक के सिर पर वार किया गया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हुई। किन्तु यह भी सुस्पष्ट है कि यह क्षति सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी। इस मामले के तथ्यों से यह दर्शित होता है कि साक्ष्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अभियुक्त का उस विशिष्ट क्षति को कारित करने का आशय था जिससे मृतक की मृत्यु हुई। प्रस्तुत मामले में अधिक से अधिक अभियुक्त को उसके ज्ञान होने की सम्भावना की जा सकती है कि वह ऐसी क्षति कारित कर रहा था जिससे मृत्यु हो सकती है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका घातक क्षति कारित करने का कोई आशय था। वह पृष्ठभूमि और परिस्थितियां जिनमें हमला किया गया

था और जिसमें वह सिर पर लगा यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि अभियुक्त का उस विशिष्ट क्षति को कारित करने का कोई आशय था। ऐसा विशेषतः उस समय हुआ जब यह दर्शित किया गया कि केवल एक ही वार किया गया और अभियुक्त वहां से बच भागा। अतः पक्षकारों के बीच मतभेद की तुच्छ प्रकृति और ऐसे घटना के साधन जिनमें यह घटना घटित हुई, और यह सम्भावना कि पक्षकारों के बीच गरमा-गरमी हुई और यह तथ्य कि मारने के आशय के बिना एक ही वार किया गया अथवा ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना वार किया गया जिससे उसके मारने की सम्भावना हो। इस मामले को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के उपबन्ध लागू नहीं होते किन्तु निष्पक्ष रूप से यह धारा 304 के भाग 2 की परिधि के अंतर्गत आता है। अतः न्यायालय का यह मत है कि इस सम्बन्ध में काउन्सेल द्वारा दिया गया तर्क ही कायम रहना चाहिए और तद्नुसार हम अपीलार्थी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन अभिनिर्धारित करते हैं। अतः न्यायालय भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन अभियुक्त की दोषसिद्धि और दण्डादेश को अपास्त करते हैं और उसके बजाए उसको भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन दोषी अभिनिर्धारित करते हैं। एक मूल्यवान जीवन समाप्त हो गया है और तकनीकी रूप से केवल यह कि अभियुक्त को मृत्यु कारित करने के आशय के साथ मृत्यु कारित करने का दोषी अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता। उसको धारा 304 के भाग 2 के अधीन अभिनिर्धारित करते हुए न्यायालय उसको विधि का वह लाभ देता है जिसके लिए इस मामले की परिस्थितियों के अधीन वह हकदार है। यह तथ्य कि वह सरकारी सेवक था और उसने अपना रोजगार खो दिया है, ऐसा विषय नहीं है जो कि न्यायालय को ऐसे मामले में विचार करने से रोके। अभियुक्त एक परिपक्व व्यक्ति है। अतः न्यायालय अपीलार्थी को 7 वर्ष की अवधि के कठोर कारावास का दण्डादेश देते हैं। निश्चय ही वह उस कारावास के समायोजन का हकदार होगा जो कि उसने अब तक भोगा है। (पैरा 18, 19)

		पैरा
[1958]	ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 455 : विरसा सिंह बनाम पंजाब राज्य (Virsa Singh *Vs.* State of Punjab)	9

का अवलम्ब लिया गया।

[1983] (1983) 1 एस० सी० सी० 193 : हरि राम बनाम हरियाणा राज्य (Hari Ram *Vs.* State of Haryana); 10

[1983] (1983) 3 एस० सी० सी० 266 : शीतल सिंह बनाम पंजाब राज्य (Sital Singh *Vs.* State of Punjab); 10

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 284 : जवाहर लाल और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य (Jawahar Lal and another *Vs.* State of Punjab); 10

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 463 : जगतार सिंह बनाम पंजाब राज्य (Jagtar Singh *Vs.* State of Punjab); 10

[1982] (1982) 3 एस० सी० सी० 185 : गुरमेल सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य (Gurmail Singh and others *Vs.* State of Punjab); 10

[1982] (1982) 1 एस० सी० सी० 496 : मदन लाल बनाम महाराष्ट्र राज्य (Madan Lal *Vs.* State of Maharashtra); 10

[1981] (1981) 3 एस० सी० सी० 616 : जगरूप सिंह बनाम हरियाणा राज्य (Jagrup Singh *Vs.* State of Haryana); 10

[1981] (1981) 4 एस० सी० सी० 484 : रणधीर सिंह उर्फ धीरे बनाम पंजाब राज्य (Randhir Singh *alias* Dhire *Vs.* State of Punjab) 10

सहमति प्रकट की गई।

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1981 की दाण्डिक अपील सं० 109.

दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री जी० एस० ढाका के तारीख 18 मार्च, 1981 के आदेश से अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री ए० एन० मुल्ला, अधिवक्ता और श्री सी० एम० नैयर, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री डी० आर० सेठी, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० मलिक शरीफुद्दीन ने दिया।

न्या० मलिक शरीफुद्दीन :

दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री जी० एस० ढाका ने अपने उस निर्णय, जो कि अपीलाधीन है, द्वारा अपीलार्थियों को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दोषी पाया था और उन्हें आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किया था। अपीलार्थी राम प्रसाद को 5,000 रुपये की राशि जुर्माने के रूप में संदत्त करने के लिए भी आदेश दिया गया था और उसके अदा न करने पर उसे दो वर्ष के कठोर कारावास को भोगने की अपेक्षा की गई थी। यह अपील इस निर्णय के विरुद्ध की गई है।

2. हम आरम्भ में ही इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अपीलार्थियों में से एक अपीलार्थी राम कुमार की दोषसिद्धि और इस अपील के लम्बित रहने के दौरान मृत्यु हुई बताया गया है। अतः हम केवल अपीलार्थी राम प्रसाद के मामले से सम्बद्ध हैं।

3. इस प्रक्रम पर हम घटना का संक्षिप्त सार देते हैं जो कि अपराध के किए जाने की दशा में ले जाता है। अभियुक्त राम प्रसाद घटना के समय सीमा-शुल्क विभाग में नियोजित था और 400 रुपये का सम्बलम् ले रहा था। मामले में मृतक कप्तान नामक व्यक्ति है। पक्षकारों के मकान एक सामान्य दीवार से पृथक होते हैं और मृतक कप्तान की पत्नी श्रीमती हुकम कौर इस दीवार पर गाय के गोबर के उपले पाथा करती थी। अपीलार्थी राम प्रसाद और राम कुमार (अब मृतक) इस बारे में आक्षेप उठाया करते थे जिसके परिणामस्वरूप पक्षकारों के सम्बन्ध में कुछ तनाव था।

4. अभियोजन पक्ष यह है कि 13 अक्तूबर, 1979 को लगभग साढ़े आठ बजे अपराह्न में अपीलार्थी अपने मकान की छत पर गए और गाय के गोबर के उपलों को फैंकना शुरु कर दिया। इसके साथ-साथ उन्होंने मृतक और उसके परिवार को गालियां दीं। इस पर मृतक कप्तान अपनी छत पर गया ताकि वह इस रीति में अभियुक्त के व्यवहार करने को रोक सके। राम स्वरूप, ईश्वर सिंह और दयानन्द भी उसके पीछे-पीछे गए। छत पर ही मृतक कप्तान ने अभियुक्त को गाली बन्द करने और गाय के गोबर के उपलों को फैंकने से मना किया। ज्यों ही मृतक कप्तान ने यह आक्षेप उठाया तो राम प्रसाद ने अभियुक्त राम कुमार को कप्तान को पकड़ने के लिए प्रेरित किया जो कि उसने किया और तत्पश्चात् अभियुक्त राम प्रसाद ने मृतक कप्तान के सिर पर कसौले से एक वार किया। ऐसा करके वे घटनास्थल से गायब हो गए। मृतक कप्तान को अस्पताल ले जाया गया जहां उसे डाक्टर द्वारा मृत घोषित किया

गया। पुलिस को शव देने के पश्चात् शव परीक्षा की गई। दोनों अभियुक्तों को 14 अक्तूबर, 1980 को गिरफ्तार किया गया। उसी दिन अर्थात् 13 अक्तूबर, 1979 को लगभग 10.42 अपराह्न में नजफगढ़ पुलिस थाने द्वारा नजफगढ़ के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के प्रभारी डाक्टर अशोक सिंघन से एक जानकारी प्राप्त हुई जो कि दैनिक डायरी सं० 22-क के रूप में अभिलिखित की गई थी जिसके अनुसरण में निरीक्षक गुरमेल सिंह, थाना अधिकारी अन्य पुलिस कर्मचारियों के साथ स्वास्थ्य केन्द्र गए। पुलिस थाने में पहुंचने पर उन्हें रामस्वरूप मिला जिसने घटित घटना के होनें के बारे में कथन किया। यही वह कथन है जो कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं० 470 पुलिस थाना नजफगढ़ के तारीख 13 अक्तूबर, 1979 का आधार है जो कि 11.40 अपराह्न में अभिलिखित की गई थी और उसे प्रदर्श अभियोजन साक्षी 12-क के रूप में चिन्हित किया गया है। घटना अनुक्रम को प्रकट करने के अलावा रामस्वरूप ने इस कथन में यह भी कहा है कि जब कभी सामान्य दीवार पर गाय के गोबर के उपले रखने के लिए पक्षकारों के बीच झगड़ा होता था तो अभियुक्त यह कहता था कि मृतक कप्तान और उसकी पत्नी गाय के गोबर के उपले दीवार पर तब तक पाथते रहेंगे जब तक उनको खत्म नहीं कर दिया जाता।

5. मृतक कप्तान के शव की शव-परीक्षा अभियोजन साक्षी 4 डा० भरत सिंह ने की जिसमें यह बताया गया कि कसौले से वार किया गया था। मृतक के शरीर की परीक्षा करने पर उसने खोपड़ी के दाएं पार्श्विक क्षेत्र पर लम्बवत तिरछेपन दीखने वाला छिन्न घाव था जिसमें खोपड़ी के निकट की मध्य रेखा के पीछे का भाग अंतर्वलित था और घाव का आकार $2\frac{1}{2}$ इंच $\times \frac{3}{4}$ इंच गहरा था। घाव के दोनों कोण समान रूप से नुकीले थे। घाव के मध्य भाग में स्पष्ट रीति में कोशिकाएं कटी हुई थीं किन्तु कोण पर मांसपेशियां एक सिरे से दूसरे सिर पर पहुंची हुई थीं। घाव रक्त के जमाव से आच्छादित था।

6. शरीर की आंतरिक परीक्षा से यह पता चला कि घाव के पार्श्व पर शिरोवल्क में जमे हुए रक्त का वहाव था। खोपड़ी पर $\frac{1}{2}$ इंच लम्बा घाव के मध्य भाग में पार्श्विक हड्डी पर कृत्रिम कटाव था। खोपड़ी के बाह्य भाग की केवल हड्डी कटी हुई थी। पूरे दायीं और संकुलित डिक्री का हल्का तनाव था। मस्तिष्क संकुचित था। खोपड़ी का आधार सामान्य था। गरदन की कोशिकाएं सामान्य थीं। दोनों फेफड़े सामान्य थे। हृदय सामान्य था। पसलियां और गुर्दे सामान्य थे। अभियोजन साक्षी 4 डा० भरत सिंह की राय यह थी कि क्षति मृत्यु

पूर्व थी और वह एक अर्ध तेज हथियार या कसौली से सम्भवतः कारित की गई थी जैसा कि अभिकथित किया गया है और वह सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी। मृत्यु अचेतन अवस्था के कारण हुई थी जो कि सिर में क्षति के परिणामस्वरूप थी और उसकी अवधि लगभग 14 घंटे थी।

7. अभियोजन मामला भी अभियोजन साक्षी 5 रामस्वरूप, अभियोजन साक्षी 8 ईश्वर सिंह और अभियोजन साथी 9 दयानन्द के परिसाक्ष्य पर आधारित है जिनकी घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के रूप में विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष परीक्षा की गई थी। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने साक्ष्य का विश्वास किया और अभियुक्त को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दोषी पाने पर अभियुक्त को उपर्युक्त कारावास और जुर्माने से दण्डादिष्ट किया। इस तथ्य के बावजूद कि विद्वान् प्रतिरक्षा काउन्सेल श्री ए० एन० मुल्ला ने हमें इस सीमित मुद्दे के बारे में सम्बोधित किया कि क्या मामला भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन आएगा या धारा 304 के भाग 2 के अधीन आएगा। मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों की दृष्टि से हमने विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के निर्णय का अध्ययन किया। हमने यह पाया कि विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने तथ्यों पर उसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष के लिए उसने पर्याप्त कारण दिए हैं और उसने विचारण के समय परीक्षा किए गए साक्षियों के परिसाक्ष्य के संबंध में उठाए गए सभी आक्षेपों पर विचार किया है। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के निर्णय में ठीक कारण दिए गए हैं और उसके द्वारा तथ्यों पर निकाले गए निष्कर्ष तर्कसम्मत और औचित्यपूर्ण हैं। अतः हम तथ्यों पर अभियुक्त के दोष के सम्बन्ध में जहां तक उसके निष्कर्षों का सम्बन्ध है विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के निर्णय में हस्तक्षेप करने के लिए कोई कारण नहीं पाते हैं।

8. किन्तु हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री मुल्ला ने यह निवेदन किया है कि इस मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों की दृष्टि से और अभियोजन पक्ष द्वारा पेश किए गए साक्ष्य की दृष्टि से विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने अभियुक्त को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दोषी अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की है और यह कि यह एक ऐसा मामला था जिसमें कि निष्पक्ष रूप से भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 का भाग 2 लागू होता है। अतः हमें विधि के इस मुद्दे की परीक्षा करने के लिए कहा गया है कि क्या अपीलार्थी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन ठीक ही दोषी पाया गया

है या क्या इस मामले के तथ्यों को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 का भाग 2 लागू होता है। श्री ए० एन० मुल्ला द्वारा यह निवेदन किया गया कि मृतक और उसकी पत्नी सामान्यतः सामान्य दीवार पर गाय के गोबर के उपले पाथते थे और इसके लिए अनिवार्यतः अपीलार्थी द्वारा यह आक्षेप किया जा रहा था कि यद्यपि पक्षकारों के बीच इस सम्बन्ध में कुछ गरमागर्मी हुई थी किन्तु इससे इस सीमा तक उनके सम्बन्धों में तनाव नहीं आया था कि अभियुक्त अपीलार्थी ने कभी मृतक को मारने की तो बात ही क्या उस पर हमला करने की कभी सोची हो। इसके अतिरिक्त उसने यह निवेदन किया कि अभियुक्त सामान्य दीवार पर गाय के गोबर के उपले पाथने के लिए आक्षेप करने में औचित्यपूर्ण था और यह कि वास्तव में अभियुक्त अपने मकान की छत पर केवल गाय के गोबर के उपलों को साफ करने के लिए ही गया था और इस प्रक्रिया में उसने दूसरे पक्षकार को गालियां दी थीं। वास्तव में विवाद इतना तुच्छ था कि यह मारने के लिए कोई आधार नहीं हो सकता था। न्यायालय उस स्तर को ध्यान में रखता है जिस पर ये गांव वाले एक दूसरे के साथ बातचीत करते हैं। सम्भवतः यह संकेत करने के लिए कहा गया है कि एक दूसरे को गाली देना इन गांव वालों के लिए बहुत ही छोटी बात थी। इसके अतिरिक्त यह निवेदन किया गया कि केवल एक ही प्रहार किया गया था और यह कि सम्भवतः कुछ झगड़ा हुआ था जिसमें सिर पर वार किया गया था और यह कि इस मामले के तथ्यों पर यह नहीं कहा जा सकता कि अभियुक्त का ऐसी क्षति कारित करने का आशय था जो वास्तव में कारित की गई थी और मृतक कप्तान की मृत्यु का कारण हुई।

9. किन्तु राज्य की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री डी० आर० सेठी ने यह निवेदन किया कि इस मुद्दे पर विधि वस्तुतः **विरसा सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में अधिकथित की गई थी जिससे अभी तक विचलन नहीं किया गया है और यह कि इस बात की कसौटी कि क्या मामला भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अन्तर्गत आएगा या नहीं इस बात पर होगा कि क्या अभियुक्त का उस क्षति को कारित करने का आशय था जो कि वस्तुतः कारित की गई थी या किसी तरह से सिर पर क्षति कारित की गई थी।

10. हमारा यह मत है कि श्री डी० आर० सेठी द्वारा दी गई प्रतिपादना के बारे में बिल्कुल भी विवाद नहीं है। इस मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों की दृष्टि से जो बात देखी जानी है वह यह है कि क्या

[1] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 455.

अभियुक्त की दोषसिद्धि धारा 302 के अधीन कायम रखी जा सकती है या नहीं। अपनी दलील के समर्थन में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री ए० एन० मुल्ला ने हमारा ध्यान उच्चतम न्यायालय के अनेक मामलों की ओर आकर्षित किया है अर्थात् **जगरूप सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य**[1], **रणधीर सिंह उर्फ धीरे** बनाम **पंजाब राज्य**[2], **मदन लाल** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[3], **गुरमेल सिंह और अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[4], **हरि राम** बनाम **हरियाणा राज्य**[5], **शीतल सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[6], **जवाहर लाल और एक अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[7] **जगतार सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[8]।

11. श्री ए० एन० मुल्ला ने हमारा ध्यान उच्चतम न्यायालय के उन निर्णयों की ओर मात्र अपने इस मुद्दे के प्रयोजन से आकर्षित किया है कि ये मामले इस मामले के तथ्यों को लागू होते हैं और इस न्यायालय के लिए ऐसी परिस्थितियों के अधीन उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से विचलित होने का कोई कारण नहीं है।

12. **जगतार सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[8] वाले उपरोक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यदि क्षणिक आवेश में अचानक झगड़ा होता है जो कि एक तुच्छ कारण से उद्‌भूत हो, पक्षकारों के बीच में ऐसा झगड़ा हुआ और मृतक की छाती पर चाकू का एक ही वार जिससे मृत्यु हुई हो, कारित करने के लिए पूर्वचिन्तन या विद्वेष नहीं है, से मृत्यु कारित करने या विशिष्ट क्षति कारित करने के लिए लांछन लगाया जाना ठीक नहीं होगा। इस बात का ज्ञान कि इससे ऐसी क्षति कारित हो सकती है जिससे मृत्यु कारित हो सकती हैं किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है और अपराध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अन्तर्गत आएगा न कि धारा 300 के अधीन।

---

[1] (1981) 3 एस० सी० सी० 616.
[2] (1981) 4 एस० सी० सी० 484.
[3] (1982) 1 एस० सी० सी० 496.
[4] (1982) 3 एस० सी० सी० 185.
[5] (1983) 1 एस० सी० सी० 193.
[6] (1983) 3 एस० सी० सी० 266.
[7] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 284.
[8] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 463.

13. **जवाहर लाल और एक अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले उपरोक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां पर अभियुक्त 19 वर्ष की आयु का एक अपरिपक्व बालक था और क के साथ तुच्छ झगड़े में उसने मृतक को चाकू का एक ही वार किया था जो कि उसकी छाती पर लगा था तो अभियुक्त का मृतक के विरुद्ध कोई विद्वेष नहीं था। उसका मृतक के साथ कोई झगड़ा नहीं था और अभियुक्त ने घटना के समय सुलभ धुंधली रोशनी में दूसरा वार करने का कोई प्रयास नहीं किया था तो अभियुक्त को उस विशिष्ट क्षति को कारित करने का कोई आशय नहीं कहा जा सकता था। यद्यपि क्षति घातक साबित हो तो भी मामला धारा 300 के अन्तर्गत नहीं आएगा। किन्तु चूंकि अभियुक्त को उस ज्ञान का होना कहा जा सकता है कि उससे मृत्यु कारित हो सकती है। अभियुक्त को धारा 304 के भाग 2 के अधीन दोषसिद्ध किया जा सकता है न कि धारा 302 के अधीन।

14. **शीतल सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले उपरोक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि अभियुक्त की कार्यवाही बिना सोचे-समझे है और उनके बीच झगड़ा हो जाता है तो मामला धारा 304 के भाग 1 के अधीन आएगा।

15. **हरि राम** बनाम **हरियाणा राज्य**[3] वाले उपरोक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि यदि अपीलार्थी क्षणिक आवेश में अपीलार्थी मृतक को पीटने का आशय रखता था तो उसने उसकी छाती पर जैली फैंक दी जिससे उसकी मृत्यु हो गई। उसमें भी मारने के आशय का अभाव था इसलिए मामला धारा 304 के भाग 2 के अन्तर्गत आता है।

16. **गुरमेल सिंह और अन्य** बनाम **पंजाब राज्य**[4] वाले उपरोक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि यदि मृत्यु छाती में भाला मारने द्वारा कारित की जाती है जबकि मृतक ने हमले से अपने आपको बचाने के लिए हस्तक्षेप करने का प्रयास किया और अभियुक्त और मृतक के बीच में कोई शत्रुता नहीं थी तो अभियुक्त को मृत्यु कारित करने का आशय नहीं कहा जा

---

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 284.
[2] (1983) 3 एस० सी० सी० 266.
[3] (1983) 1 एस० सी० सी० 193.
[4] (1982) 3 एस० सी० सी० 185.

सकता और यद्यपि क्षति सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त साबित हो, चूंकि ऐसी क्षति कारित करने का आशय नहीं था, इसलिए धारा 304 का भाग 2 ही लागू होगा।

17. ऐसा ही मत **मदन लाल** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] **कुलवंत राय** बनाम **पंजाब राज्य**[2], **रणधीर सिंह उर्फ धीरे** बनाम **पंजाब राज्य**[3] और **जगरूप सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य**[4] वाले उपरोक्त मामलों में अभिव्यक्त किया गया।

18. प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मृतक कप्तान और उसकी पत्नी का सामान्य दीवार पर गाय के गोबर के उपले पाथने के जिदपूर्ण दृष्टिकोण के कारण पक्षकारों के सम्बन्धों में कुछ तनाव था। अभियुक्त इसे पसंद नहीं करता था और इसके लिए वह अनिवार्यतः आक्षेप कर रहा था। घटना के दिन अपीलार्थी अपने मकान की छत पर गाय के गोबर के उपलों को फैंकने के लिए गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दूसरे पक्षकार को गालियां देना प्रारम्भ कर दिया जिससे कप्तान और तीन अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी, जो उसके पीछे-पीछे पहुंचे, आ गए। कप्तान ने गाय के गोबर के उपलों को फैंकने के लिए आक्षेप किया और गाली देने के लिए आक्षेप किया और यह कहा गया कि उसके तुरन्त पश्चात् अपीलार्थी राम प्रसाद ने राम नारायण अपीलार्थी को मृतक को पकड़ने के लिए कहा और उसके साथ-साथ उसने मृतक के सिर पर कसौले से वार किया। इस मामले में कोई ऐसा स्पष्ट साक्ष्य नहीं है कि क्या अपीलार्थी राम प्रसाद छत पर कसौले के साथ गया था या क्या उसने उसको क्षणिक आवेश में वहां पाया और न ही इस तथ्य के बारे में कोई स्पष्ट साक्ष्य है कि क्या मृतक के आक्षेप करने के बाद पक्षकारों के बीच में क्या हुआ। इस सम्बन्ध में हम केवल अंदाजा ही लगा सकते हैं किन्तु सम्भवतः चूंकि अपीलार्थी और मृतक राम नारायण गाय के गोबर के उपलों को साफ करने के विचार से छत पर गए थे इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि मृतक को मारने की बात तो क्या उस पर हमला करने का बिल्कुल भी आशय नहीं था। सम्भवतः मृतक द्वारा आक्षेप करने पर कुछ गरमा-गरमी हुई और उसी प्रक्रिया में अपीलार्थी राम प्रसाद ने मृतक पर कसौले से

---

1 (1982) 1 एस० सी० सी० 496.
2 (1982) एस० सी० सी० 496.
3 (1981) 4 एस० सी० सी० 484.
4 (1981) 3 एस० सी० सी० 616.

वार किया और वह कसौला उसके सिर पर पड़ा जिसके परिणामस्वरूप मृतक की मृत्यु कारित करने वाली क्षति हुई। ऐसे मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि अभियुक्त द्वारा अचानक गरमा-गरमी में क्षणिक आवेश में मृतक के सिर पर वार किया गया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हुई किन्तु यह भी सुस्पष्ट है कि यह क्षति सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त थी। इस मामले के तथ्यों से यह दर्शित होता है कि साक्ष्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अभियुक्त का उस विशिष्ट क्षति को कारित करने का आशय था जिससे मृतक की मृत्यु हुई। प्रस्तुत मामले में अधिक से अधिक अभियुक्त को उसके ज्ञान होने की सम्भावना की जा सकती है कि वह ऐसी क्षति कारित कर रहा था जिससे मृत्यु हो सकती है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका घातक क्षति कारित करने का कोई आशय था। वह पृष्ठभूमि और परिस्थितियां, जिनमें हमला किया गया था और जिसमें वह सिर पर लगा यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि अभियुक्त का उस विशिष्ट क्षति को कारित करने का कोई आशय था। ऐसा विशेषतः उस समय हुआ जब यह दर्शित किया गया कि केवल एक ही वार किया गया और अभियुक्त वहां से बच भागा। अतः पक्षकारों के बीच मतभेद की तुच्छ प्रकृति और ऐसे घटना के साधन जिनमें यह घटना घटित हुई, और यह सम्भावना कि पक्षकारों के बीच गरमा-गरमी हुई और यह तथ्य कि मारने के आशय के बिना एक ही वार किया गया अथवा ऐसी क्षति कारित करने के आशय के बिना वार किया गया जिससे उसके मारने की सम्भावना हो। इस मामले को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के उपबन्ध लागू नहीं होते किन्तु निष्पक्ष रूप से यह धारा 304 के भाग 2 की परिधि के अंतर्गत आता है। अतः हमारा यह मत है कि इस सम्बन्ध में श्री ए० एन० मुल्ला द्वारा दिया गया तर्क ही कायम रहना चाहिए और तद्नुसार हम अपीलार्थी राम प्रसाद को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन अभिनिर्धारित करते हैं। अतः हम भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन अभियुक्त की दोषसिद्धि और दण्डादेश को अपास्त करते हैं और उसके बजाय उसको भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन दोषी अभिनिर्धारित करते हैं।

19. विचारार्थ अगला मुद्दा यह है कि अपीलार्थी जो कि हमारे द्वारा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के भाग 2 के अधीन दोषी पाया गया है, उस पर विचार किया जाता है। विद्वान् प्रतिरक्षा काउन्सेल श्री ए० एन० मुल्ला ने यह तर्क दिया कि एक आध मामले को छोड़कर लगभग सभी मामलों में उच्चतम न्यायालय लगातार संगत रूप से ऐसे मामले में पांच वर्ष के कारावास के

दण्डादेश दे रहा है और इसलिए इस न्यायालय को यह विचार करना है कि क्या अपीलार्थी द्वारा पहले ही भोगे गए कारावास न्याय के हित में पर्याप्त है। इस तथ्य की दृष्टि से विशेषतः यह कहा गया है कि अपीलार्थी, जो कि एक सरकारी कर्मचारी था, अपनी नौकरी भी गंवा दी है। किन्तु इस मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के कारण हम श्री मुल्ला के साथ सहमत नहीं हैं। एक मूल्यवान जीवन समाप्त हो गया है और तकनीकी रूप से केवल यह कि अभियुक्त की मृत्यु कारित करने के आशय के साथ मृत्यु कारित करने का दोषी अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता । उसको धारा 304 के भाग 2 के अधीन अभिनिर्धारित करते हुए हम उसकी विधि का वह लाभ देते हैं जिसके लिए इस मामले की परिस्थितियों के अधीन वह हक़दार है। यह तथ्य कि वह सरकारी सेवक था और उसने अपना रोजगार खो दिया है, ऐसा विषय नहीं है जो कि न्यायालय को ऐसे मामले में विचार करने से रोके। अभियुक्त एक परिपक्व व्यक्ति है। अतः हम अपीलार्थी राम प्रसाद को 7 वर्ष की अवधि के कठोर कारावास का दण्डादेश देते हैं । निश्चय ही वह उस कारावास के समायोजन का हकदार होगा जो कि उसने अब तक भोगा है।

20. विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने राम प्रसाद पर 5,000 रुपये का जुर्माना भी अधिरोपित किया था और जुर्माने के संदाय न करने की दशा में उसे दो वर्ष की अवधि के लिए कठोर कारावास भोगने का आदेश दिया था। हम जुर्माने के अधिरोपित करने के उसके आदेश कायम रखते हैं और जुर्माने के संदाय न करने पर वह केवल डेढ़ वर्ष की अवधि का कारावास ही भोगेगा। इसके अतिरिक्त हम यह निदेश देते हैं कि जुर्माना वसूल करने पर विधवा और बच्चों, यदि मृतक के कोई हों, को दिया जाएगा। राम कुमार की मृत्यु के कारण उसकी अपील का स्वतः ही उपशमन हो गया है। तद्नुसार अपील का निपटारा किया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

चन्द

नि० प० 184 : दिल्ली—110

श्री कुलदीप कुमार बनाम श्रीमती चन्द्र कांता

(Shri Kuldip Kumar *Vs* Smt. Chander Kanta)

तारीख 17 नवम्बर, 1983

[न्या० एम० एल० जैन]

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 125 सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 125—सक्षम सिविल न्यायालय द्वारा हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 25 के अधीन पत्नी को भरण-पोषण मंजूर किया जाना—उक्त भरण-पोषण के आदेश के बावजूद मजिस्ट्रेट द्वारा संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन में भरण-पोषण मंजूर किया जाना—पिटीशनर (पति) द्वारा मजिस्ट्रेट के भरण-पोषण के आदेश पर यह आक्षेप वैध नहीं है कि सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद वह (मजिस्ट्रेट) संहिता के अधीन भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता है—ये दोनों अधिकारिताएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, अतः सक्षम सिविल न्यायालय का भरण-पोषण का आदेश संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन के लिए कोई वर्जन नहीं है।

2. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 125 सपठित हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, धारा 25—मजिस्ट्रेट द्वारा संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन में भरण-पोषण मंजूर किया जाना—पिटीशनर (पति) द्वारा मजिस्ट्रेट के भरण-पोषण के आदेश पर यह आक्षेप वैध नहीं है कि सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद वह (मजिस्ट्रेट) संहिता के अधीन भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता है—ये दोनों अधिकारिताएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, अतः सक्षम सिविल न्यायालय का भरण-पोषण का आदेश संहिता की धारा 125 के अधीन पिटीशन के लिए कोई वर्जन नहीं है।

3. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 482 सपठित धारा 397 और 399—अन्तर्निहित अधिकारिता—जहां उच्च न्यायालय किसी आदेश का पुनरीक्षण नहीं कर सकता वहां यह धारा 482 के अधीन मामले की परीक्षा कर सकता है।

पक्षकारों का विवाह 20 फरवरी, 1980 को हुआ था। अपर जिला न्यायाधीश ने 6 जनवरी, 1982 को उनका विवाह विघटित कर दिया। पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के अधीन 21 सितम्बर, 1981 से 200 रुपये प्रतिमास का भरण-पोषण मंजूर किया गया। इस आदेश

के बावजूद महानगर मजिस्ट्रेट ने दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन पिटीशन में 20 नवम्बर, 1980 से 300 रुपये प्रतिमास की दर पर भरण-पोषण मंजूर किया। मजिस्ट्रेट के समक्ष यह दलील दी गई कि वह सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के रहते हुए भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता किन्तु मजिस्ट्रेट ने इस तर्क को नामंजूर कर दिया। अपील किए जाने पर अपर सेशन न्यायाधीश पिटीशनर की दलील से सहमत हो गया। किन्तु उसने भरण-पोषण की 300 रुपये की प्रतिमास की रकम को घटा कर 200 रुपये प्रतिमास कर दिया जिससे कि सिविल न्यायालय और मजिस्ट्रेट के आदेश के बीच विरोध का समाधान हो जाए। पति अब भी उस आदेश से व्यथित है, अतः उसने संहिता की धारा 397 के अधीन यह पिटीशन फाइल किया है।

प्रत्यर्थी पत्नी की ओर से यह आक्षेप किया गया कि संहिता की धारा 397 और 399 को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर द्वितीय पुनरीक्षण पिटीशन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में पिटीशनर ने यह प्रार्थना की कि उसके पिटीशन को संहिता की धारा 482 के अधीन पिटीशन मान लिया जाए। पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि सक्षम सिविल न्यायालय के आदेश के पश्चात् मजिस्ट्रेट को भरण-पोषण का आदेश नहीं करना चाहिए था।

अभिनिर्धारित—पिटीशन नामंजूर किया गया।

वास्तव में यदि मजिस्ट्रेट में कोई विवेकाधिकार निहित किया गया है तो उसके ऊपर सक्षम सिविल न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करने की बाध्यता अधिरोपित नहीं की जा सकती। ये दोनों अधिकारिताएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं और जहां कोई व्यक्ति माता-पिता, पत्नी भले ही उससे विवाह-विच्छेद हो चुका हो और बच्चों का, भले ही वे अधर्मज हों, भरण-पोषण करने से इनकार करता है अथवा करने की उपेक्षा करता है तो मजिस्ट्रेट, संहिता में कथित शर्तों और परिसीमाओं के अधीन रहते हुए दरिद्रता, आवारागर्दी और दुर्दशा को निवारित करने की दृष्टि से उनके लिए व्यवस्था करने की बाध्यता के अधीन हैं। यह हितकर उपबंध 1861 के अधिनियम सं० 25 द्वारा अधिनियमित किए गए थे। उस अधिनियम की धारा 4 भी इसमें आड़े नहीं आती है। उस धारा के आधार पर ऐसी सभी विधियां अधिनियम से पूर्व बनाई गई हों और अधिनियम के किन्हीं उपबंधों से असंगत हैं, लागू नहीं रह जाती हैं। धारा 125 अधिनियम के पश्चात् अधिनियमित की गई थी और अधिनियम की धारा 25 से असंगत नहीं थी और संहिता की धारा 125 साथ-साथ लागू की जा सकती है। मजिस्ट्रेट को वास्तविक विवेकाधिकार प्राप्त है भले ही उसे इसका प्रयोग न्यायिक रूप से करना चाहिए। उससे यह नहीं कहा

जा सकता कि वह इसे उस दशा में अभ्यर्पित कर दे जब सिविल न्यायालय का इस बाबत समाधान हो गया हो कि पति सद्भाविक रूप से पत्नी का भरण-पोषण करने के लिए तैयार है। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया है कि दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री जो भरण-पोषण के लिए मजिस्ट्रेट के आदेश को रद्द करने के उद्देश्य से अभिप्राप्त की गई हो, मजिस्ट्रेट को अपने आदेश रद्द करने के लिए न्यायोचित नहीं ठहराएगी। धारा 125 न तो यह अधिकथित करती है कि सिविल न्यायालय द्वारा पारित भरण-पोषण की डिक्री का अस्तित्व होना मजिस्ट्रेट को भरण-पोषण के लिए पिटीशन ग्रहण करने की अधिकारिता को वर्जित करता है और न ही यह कि यदि सिविल न्यायालय द्वारा कोई पूर्ववर्ती डिक्री हो तो मजिस्ट्रेट को अपना अधिनिर्णय केवल सिविल न्यायालय द्वारा नियत की गई राशि तक ही सीमित रखना चाहिए। संहिता की धारा 125 का प्रयोजन और जोर इस बात पर है कि यदि किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन हैं तो भी अपनी पत्नी, बच्चों और ऐसे माता-पिता का, जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हैं, भरण-पोषण करने से उपेक्षा अथवा इनकार करता है तो उसे उनके भरण-पोषण के लिए मासिक भत्ता देने के लिए विवश किया जा सकता है। इसका उनके भरण-पोषण के अधिकारों से कोई सरोकार नहीं है। सिविल न्यायालय के अवधारण पर सम्बन्ध और भरण-पोषण के बारे में तब विचार किया जा सकता है जब आदेश किया जाए, उसमें फेरफार किया जाए अथवा उसे रद्द किया जाए। इस मामले में विद्वान् मजिस्ट्रेट का आदेश बहुत ही न्यायोचित था क्योंकि पति अधिनियम की धारा 25 के अधीन सिविल न्यायालय के आदेश के बावजूद भरण-पोषण का संदाय करने से लगातार इनकार कर रहा था और उसके वेतन की कुर्की भी उस आदेश का अनुपालन करने के लिए अपर्याप्त थी। (पैरा 7)

जहां उच्च न्यायालय भी किसी आदेश का पुनरीक्षण नहीं कर सकता यह धारा 482 के अधीन मामले की परीक्षा कर सकता है। (पैरा 3)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 258 : राजकपूर और अन्य **बनाम** बिनयेन्द्र नाथ चटर्जी (Raj Kapoor and others *Vs.* Benoyendra Nath Chatterjee);	3
[1979]	1979 ए० एल० जे० 1344 : चन्द्र प्रकाश गुप्ता **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (Chandra Prakash Gupta *Vs.* State of U. P. and others);	3

[1978] [1979] 3 उम० नि० प० 261=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1807 : कैप्टन रमेश चन्द्र **बनाम** वीना कौशल (Capt. Ramesh Chander *Vs.* Veena Kaushal); 7

[1978] 1978 क्रिमिनल लॉ जर्नल 469 : लिंगा गौंडर **बनाम** रमन (Linga Gounder *Vs.* Raman); 7

[1970] [1970] 2 उम० नि० प० 532=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 446 : नानक चन्द **बनाम** चन्द्र किशोर अग्रवाल और अन्य (Nanak Chand *Vs.* Chandra Kisore Aggarwal and others); 7

[1938] ए० आई० आर० 1938 मुम्बई 499 : तारा लक्ष्मी मनुप्रसाद वाला मामला। (In re. Taralakshmi Manuprasad); 7

[1926] ए० आई० आर० 1926 मद्रास 59 : ई० सी० कैण्ट **बनाम** ई० ई० एल० कैण्ट (E. C. Kent *Vs.* E. E. L. Kent); 7

[1902] आई० एल० आर० (1902) 25 इलाहाबाद 165 : प्रभु लाल **बनाम** रामी (Prabhu Lal *Vs.* Rami) 7

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1966] 1966 क्रिमिनल लॉ जर्नल 732 : गोविन्दसामी मुदलियार **बनाम** मुथुलक्ष्मी अम्माल (Govindasami Mudaliar *Vs.* Muthulakshmi Ammal); 7

[1955] ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 108 : कुन्ती बाला दासी **बनाम** नवीनचन्द्र दास (Kunti Bala Dassi *Vs.* Nabin Chandra Das); 7

[1944] ए० आई० आर० 1944 मुम्बई 11 : फकरुद्दीन शमसुद्दीन सैयद **बनाम** बाई जेनब (Fakruddin Shamsuddin Saiyed *Vs.* Bai Jenab); 7

[1930] ए० आई० आर० 1930 मुम्बई 130 : मोहम्मद अली मीठाभाई वाला मामला (In re. Mohammed Ali Mithabai); 7

[1925] ए० आई० आर० 1925 मद्रास 1218 : पवक्कल **बनाम** अथप्पा गौंडन (Pavakkal *Vs.* Athappa Goundan) से **सहमति** प्रकट की गई। 7

[1981] 1981 क्रिमिनल लॉ जर्नल 151 : भगवंत सिन्हा **बनाम** सुरजीत कौर (Bhagwant Sinha *Vs.* Surjit Kaur) से **असहमति** प्रकट की गई। 7

[1981] [1981] 4 उम० नि० प० 1089=[1981] 2 एस० सी० आर० 485 : श्रीमती सूरज देवी **बनाम** प्यारे लाल और एक अन्य (Smt. Sooraj Devi *Vs.* Pyare Lal and another); 2

[1979] [1979] 4 उम० नि० प० 208=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 87 : उड़ीसा राज्य **बनाम** रामचन्द्र (State of Orissa *Vs.* Ram Chander); 2

[1977] [1977] 3 एस० सी० आर० 132 : पलानी अप्पा गौंडर **बनाम** तमिलनाडु राज्य (Palaniappa Gounder *Vs.* State of Tamil Nadu); 2

[1975] 1975 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1581 : पचीगोल्ला श्रीनिवास राव **बनाम** पचीगोल्ला समुद्रम और अन्य (Pachigolla Srinivasarao *Vs.* Pachigolla Samudram and others); 7

[1974] (1974) 2 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 469 : भगवान दत्त **बनाम** कमला देवी और एक अन्य (Bhagwan Dutt *Vs.* Kamala Devi and another); 7

[1970] (1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 589 : सेतुरतिनम पिल्लै **बनाम** बारबरा उर्फ डोली सेतुरतिनम (Seteurathinam Pillai *Vs.* Barabara Dolly Sethurathinam); 7

[1966] [1966] सप्ली० एस० सी० आर० 477 : पम्पापति **बनाम** मैसूर राज्य (Pampapathy *Vs.* State of Mysore); 2

[1960]	[1960] 3 एस० सी० आर० 388 : आर० पी० कपूर **बनाम** पंजाब राज्य (R.P. Kapur *Vs.* The State of Punjab);	2
[1956]	1956 एम० एल० जे० 480 : पार्वती अम्माल **बनाम** गोपाल गौंडर और एक अन्य (Parvathy Ammal *Vs.* Gopal Gounder and another);	7
[1923]	ए० आई० आर० 1923 मद्रास 707 : वेंकय्या **बनाम** पैदन्ना और एक अन्य (Venkayya *Vs.* Paidanna and another);	7
[1915]	ए० आई० आर० 1915 अवर 113 : रघुवर **बनाम** एम्परर (Raghubar *Vs.* Emperor)	7

वाले मामले **निर्दिष्ट** किए गए।

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1982 का दाण्डिक पुनरीक्षण सं० 334.

दिल्ली के अपर सेशन न्यायाधीश श्री एम० के० चावला के तारीख 17 नवम्बर, 1982 के और नई दिल्ली के महानगर मजिस्ट्रेट, श्री वी० के० जैन के तारीख 1 जुलाई, 1982 के आदेश के विरुद्ध की गई अपील।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० जे० नैय्यर

प्रत्यर्थी की ओर से ... कुमारी सुषमा रल्हन

न्या० एम० एल० जैन :

पक्षकारों का विवाह 20 फरवरी, 1980 को हुआ था। अपर जिला न्यायाधीश ने 6 जनवरी, 1982 को उनका विवाह विघटित कर दिया। पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (जिसे इसमें अधिनियम कहा गया है) की धारा 25 के अधीन तारीख 21 सितम्बर, 1981 से 200 रु० प्रति मास का भरण-पोषण मंजूर किया गया। इस आदेश के बाबजूद विद्वान् महानगर मजिस्ट्रेट ने दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे संहिता कहा गया है) की धारा 125 के अधीन पिटीशन में अपने तारीख 1 जुलाई, 1982 के आदेश द्वारा 20 नवम्बर, 1980 से 300 रु० प्रति मास की दर पर भरण-पोषण मंजूर किया। विद्वान् मजिस्ट्रेट के समक्ष यह दलील दी गई कि वह भरण-पोषण का आदेश नहीं कर सकता था क्योंकि सक्षम सिविल न्यायालय पहले ही मामले का न्यायनिर्णयन कर चुका है

और पत्नी को भरण-पोषण मंजूर कर चुका है। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने इस तर्क को नामंजूर कर दिया। अपील किए जाने पर विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश अपने तारीख 13 नवम्बर, 1982 वाले आदेश में पति की इस दलील से सहमत हो गया कि अधिनियम के अधीन सिविल न्यायालय द्वारा स्थायी निर्वाहिका नियत किए जाने के पश्चात् संहिता की धारा 125 के अधीन कार्यवाहियां शुरू नहीं की जा सकतीं और न ही भरण-पोषण नियत किया जा सकता है। किन्तु उसका यह विचार था कि इस मामले में उस प्रश्न पर गंभीर रूप से विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं है और उसने अपर सेशन न्यायाधीश और महानगर मजिस्ट्रेट के आदेश के बीच विरोध का समाधान मजिस्ट्रेट द्वारा मंजूर की गई भरण-पोषण की 300 प्रति मास की रकम को घटाकर 200 रु० प्रति मास करके किया है। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने ऐसा इसलिए किया जिससे कि किसी भी आदेश के साथ-साथ अथवा एक के पश्चात् दूसरे के निष्पादन में किसी कठिनाई से बचा जा सके। पति इस आदेश से अब भी व्यथित है और उसने संहिता की धारा 397 के अधीन यह पिटीशन फाइल किया है।

2. मुख्य दलील पर विचार करने से पूर्व प्रत्यर्थी-पत्नी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा किए गए प्रारम्भिक आक्षेप का निपटारा करना आवश्यक है। उसने यह निवेदन किया है कि संहिता की धारा 397 की उपधारा (3) और 399 की उपधारा (3) को ध्यान में रखते हुए पति पुनरीक्षण का लाभ उठा चुका है और अब वह पुनरीक्षण का उपचार खो चुका है और द्वितीय पुनरीक्षण पिटीशन नहीं कर सकता। इस कठिनाई की स्थिति में पति के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि उसके पिटीशन को संहिता की धारा 482 के अधीन पिटीशन मान लिया जाए। उसने यह दावा किया कि संहिता की धारा 397(3) और 399(3) के अधीन वर्जन के बावजूद ऐसा पिटीशन किया जा सकता है। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि **उड़ीसा राज्य** बनाम **रामचन्द्र**[1], **श्रीमती सूरज देवी** बनाम **प्यारे लाल और एक अन्य**[2] को ध्यान में रखते हुए यह अनुज्ञेय नहीं है जिन (मामलों) में यह अधिकथित किया गया है कि संहिता की धारा 561-क (नई धारा 482) के उपबंधों का अवलम्ब ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए नहीं लिया जा सकता जिसका प्रयोग संहिता द्वारा अभिव्यक्त रूप से प्रतिषिद्ध है। **आर० पी० कपूर बनाम पंजाब राज्य**[3] और **पम्पापित बनाम मैसूर**

---

[1] [1979] 4 उम० नि० प० 208= ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 87.

[2] [1981] 4 उम० नि० प० 1089=[1981] 2 एस० सी० आर० 485.

[3] [1960] 3 एस० सी० आर० 388.

राज्य[1] वाले मामलों में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग ऐसे मामलों के बारे में नहीं किया जा सकता जो संहिता के किसी अन्य विनिर्दिष्ट उपबंध के अन्तर्गत विनिर्दिष्ट रूप से आ जाते हैं अथवा उससे असंगत हैं। न्यायालय को कानून के उन उपबंधों को लागू करना चाहिए जो जान-बूझकर किसी विषय-वस्तु को लागू होने के लिए बनाए गए हैं : देखें **पलानीअप्पा गौंडर** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[2]।

3. इसके विपरीत पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने **चन्द्रप्रकाश गुप्ता** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[3] वाले मामले का अवलम्ब लिया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संहिता की धारा 397 और 399 के उपबंध धारा 482 के अधीन आवेदन के लिए वर्जन नहीं हो सकते। यह सही स्थिति प्रतीत होती है। इस न्यायालय को प्रक्रिया का कैदी नहीं बनाया जा सकता। **राज कपूर** और अन्य बनाम **विनयेन्द्र नाथ चटर्जी**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि जहां उच्च न्यायालय भी किसी आदेश का पुनरीक्षण नहीं कर सकता, यह धारा 482 के अधीन मामले की परीक्षा कर सकता है। अतः मैं इस आक्षेप को अस्वीकार करता हूं।

4. इसके पश्चात् प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि पिटीशनर सुनवाई किए जाने का हकदार नहीं है क्योंकि उसने निचले न्यायालयों के और इस न्यायालय द्वारा 8 मार्च, 1983 को दिए गए विनिर्दिष्ट निदेश के बावजूद 703 रु० के अलावा प्रत्यर्थी को कुछ भी संदाय नहीं किया है। इसके विपरीत पिटीशनर ने यह प्रकथन किया कि अपर जिला न्यायाधीश के आदेश द्वारा पिटीशनर के वेतन का 1/3 भाग कुर्की के अधीन है और उसमें से 116 रु० की कटौती 30 जून, 1982 से हर मास की जाती है और इसके अलावा उसके नियोजकों ने चैक द्वारा कुछ और रकम अपर जिला न्यायाधीश के न्यायालय को भेजी है। किन्तु यदि यह सब कुछ सत्य भी हो तो भी यह विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश अथवा विद्वान् मजिस्ट्रेट के आदेशों को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अतः सामान्य अनुक्रम में मैंने अन्तर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए पिटीशनर की सुनवाई न की होती। किन्तु चूंकि उठाया गया मुद्दा विधिक महत्त्व का है अतः मैंने विद्वान् काउन्सेल की सविस्तार सुनवाई की है।

---

[1] [1966] सप्ली० एस० सी० आर० 477.
[2] [1977] 3 एस० सी० आर० 132.
[3] 1979 ए० एल० जे० 1344.
[4] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 258.

5. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की प्रथम दलील यह है कि सक्षम सिविल न्यायालय के तारीख 6 जनवरी, 1982 के आदेश के पश्चात् विद्वान् मजिस्ट्रेट को 1 जुलाई, 1982 को भरण-पोषण का आदेश नहीं करना चाहिए था। उसने संहिता की धारा 127(2) से अपनी दलील का समर्थन करना चाहा है, जो धारा इस प्रकार है :—

> "जहां मजिस्ट्रेट को यह प्रतीत होता है कि धारा 125 के अधीन दिया गया कोई आदेश किसी सक्षम सिविल न्यायालय के किसी विनिश्चय के परिणामस्वरूप रद्द या परिवर्तित किया जाना चाहिए वहां वह, यथास्थिति, उस आदेश को तद्नुसार रद्द कर देगा या परिवर्तित कर देगा।"

6. यह बात ध्यान दिए जाने योग्य है कि धारा 127(2) यह अपेक्षा नहीं करती कि सिविल न्यायालय का आदेश मजिस्ट्रेट के पश्चात् किया गया होना चाहिए। उपधारा लागू होगी भले ही सिविल न्यायालय का आदेश पूर्ववर्ती हो किन्तु उसे मजिस्ट्रेट की अवेक्षा में बाद में लाया गया हो। इस आधार पर यह दलील दी गई कि यदि संहिता की धारा 125 के अधीन किसी आदेश में फेर-फार करना पड़े अथवा सक्षम सिविल न्यायालय के विनिश्चय के परिणाम-स्वरूप उसे रद्द करना पड़े तो ऐसा आदेश कतई नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए।

7. निरसित संहिता की धारा 488 की बाबत, जो धारा 125 की पूर्ववर्ती है, यह कहा गया कि भरण-पोषण तय करने की मजिस्ट्रेट की अधिकारिता सिविल न्यायालय की केवल आनुषंगिक अधिकारिता है : देखें **रघुवर बनाम एम्परर**[1]। संहिता की धारा 125 के अधीन मजिस्ट्रेट का आदेश संक्षिप्त आदेश होता है। मजिस्ट्रेट किसी वैवाहिक विवाद में सिविल न्यायालय को, जो अधिकारिता प्राप्त है, उसका अनधिकृत रूप से प्रयोग नहीं कर सकता और संहिता के अध्याय IX (नए) के उपबंध सिविल न्यायालय द्वारा प्रास्थिति और सिविल अधिकार के बारे में पक्षकार के बीच किए गए किसी अंतिम न्यायनिर्णयन के अधीन होते हैं : देखें **सेतुरतिनम पिल्लै** बनाम **बारबरा** उर्फ **डोली सेतुरतिनम**[2], **भगवान दत्त** बनाम **कमला देवी और एक अन्य**[3] और **बैंकय्या** बनाम

---

[1] ए० आई० आर० 1914 अवर 113.

[2] (1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 589.

[3] (1974) 2 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 469.

पैदन्ना और एक अन्य[1]। कैप्टन रमेश चन्द्र बनाम वीना कौशल[2] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि मोटे तौर पर सिविल न्यायालय द्वारा सिविल अधिकार का अंतिम अवधारण दाण्डिक न्यायालय द्वारा किए गए वैसे ही विनिश्चय के विरुद्ध अभिभावी होना चाहिए। किन्तु संहिता की धारा 125 के उपबंध सामाजिक न्याय के अध्युपाय हैं और संविधान के अनुच्छेद 12 की परिधि के भीतर आते हैं जो अनुच्छेद 39 द्वारा पुष्ट है। इस प्रकार संहिता की धारा 125 के अधीन आदेश के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह अधिनियम की धारा 24 के अधीन अन्तरिम आदेश पर अभिभावी होगा क्योंकि पश्चात्कथित आदेश अंतिम अवधारण नहीं है जैसा कि हिन्दू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम, 1956 के अधीन है। यह दलील दी गई कि चूंकि अधिनियम की धारा 25 के अधीन आदेश अंतिम अवधारण था अतः उसे संहिता की धारा 125 के अधीन किए गए आदेश को उलट देना चाहिए और यदि इसे उलटा जाना है तो यह बेहतर होगा कि यह किया हीं न जाए। इसके अतिरिक्त विद्वान् काउन्सेल ने भगवंत सिन्हा बनाम सुरजीत कौर[3] वाले मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया है। उस मामले में मजिस्ट्रेट ने पत्नी को 50 रु० प्रति मास का भरण-पोषण दिया था जिसे बाद में अपर सेशन न्यायाधीश ने बढ़ाकर 65 रु० प्रति मास कर दिया। उक्त निर्णय से असंतुष्ट होकर पत्नी ने भरण पोषण के लिए नियमित वाद फाइल किया किन्तु वह खारिज कर दिया गया था। इसके पश्चात् [illegible] संहिता की धारा 127(2) के अधीन एक आवेदन दिया। अपर मुख्य न्[illegible] मजिस्ट्रेट ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि उसे सिविल न्यायालय की डिक्री [illegible] अनुसरण करने या न करने का विवेकाधिकार प्राप्त है और पति का आवेदन खारिज कर दिया। व्यथित होकर पति ने दाण्डिक पुनरीक्षन पिटीशन प्रस्तुत किया जिसे खण्ड न्यायपीठ के समक्ष विनिश्चय के लिए रखा गया। विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि संहिता की धारा 127(2) का आरम्भिक भाग निस्संदेह रूप से मजिस्ट्रेट को कतिपय विवेकाधिकार देता है तो भी उस धारा की भाषा के और साथ ही सिद्धांत और पूर्वोदाहरण के आधार पर मजिस्ट्रेट के लिए सक्षम सिविल न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करना बाध्यकर है। इस विनिश्चय का एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पत्नी, मजिस्ट्रेट द्वारा दी गई मामूली राशि से भी वंचित हो गई। वह ऐसा

---

[1] ए० आई० आर० 1923 मद्रास 707.

[2] [1979] 3 उम० नि० प० 261=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 1807.

[3] 1981 क्रिमिनल ला जर्नल 151.

निर्वचन था जिससे त्यक्तों का मामला अग्रसर नहीं होता जैसा कि कैप्टन रमेश चन्द्र वाले पूर्वोक्त मामले में अधिकथित किया गया है और अत्यधिक सम्मान-पूर्वक में यह कहना चाहूंगा कि मुझे खेद है कि मैं पंजाब वाले निर्णय का अनुसरण करने में असमर्थ हूं। वास्तव में यदि मजिस्ट्रेट में कोई विवेकाधिकार निहित किया गया है तो उसके ऊपर सक्षम सिविल न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करने की बाध्यता अधिरोपित नहीं की जा सकती। ये दोनों अधिकारिताएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं और जहां कोई व्यक्ति माता-पिता, पत्नी भले ही उससे विवाह-विच्छेद हो चुका हो और बच्चों का, भले ही वे अधर्मज हों, भरण-पोषण करने से इनकार करता है अथवा करने की उपेक्षा करता है तो मजिस्ट्रेट, संहिता में कथित शर्तों और परिसीमाओं के अधीन रहते हुए दरिद्रता, आवारागर्दी और दुर्दशा को निवारित करने की दृष्टि से उनके लिए व्यवस्था करने की बाध्यता के अधीन है। यह हितकर उपबंध 1861 के अधिनियम सं० 25 द्वारा अधिनियमित किए गए थे। उस अधिनियम की धारा 4 भी इसमें आड़े नहीं आती है। उस धारा के आधार पर ऐसी सभी विधियां अधिनियम से पूर्व बनाई गई हों और अधिनियम के किन्ही उपबंधों से असंगत हैं, लागू नहीं रह जाती हैं। धारा 125 अधिनियम के पश्चात् अधिनियमित की गई थी और अधिनियम की धारा 25 से असंगत नहीं थी और संहिता की धारा 125 साथ-साथ लागू की जा सकती हैं : देखें **नानक चन्द** बनाम **चन्द्रकिशोर अग्रवाल और अन्य**[1]। उनके प्रविषय और प्रयोजन भिन्न हैं। स्थायी निर्वाहिका अथवा भरण-पोषण का आदेश मात्र पत्नी का भरण-पोषण करने के समतुल्य नहीं है और वह मजिस्ट्रेट की अधिकारिता को समाप्त नहीं कर सकता अथवा छीन नहीं सकता : देखें **ई० सी० कैन्ट बनाम ई० ई० एल० कैन्ट**[2]। वास्तव में ऐसा आदेश केवल यह विचार करने के प्रयोजनार्थ सुसंगत होगा कि मजिस्ट्रेट को किस प्रकार का आदेश करना चाहिए। धारा 125 में ऐसा कोई निदेश नहीं है कि उस धारा के अधीन आदेश उस दशा में नहीं किया जा सकता है यदि भरण-पोषण के लिए सिविल न्यायालय की कोई डिक्री हो : देखें **तारा लक्ष्मी सनुप्रसाद वाला मामला**[3]। यहां तक कि पक्षकारों के बीच कोई करार भी संहिता की धारा 125 के अधीन किसी आदेश के लिए कोई वर्जन नहीं होगा : देखें **प्रभु लाल बनाम रामी**[4]।

---

[1] [1970] 2 उम० नि० प० 532=ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 446.
[2] ए० आई० आर० 1926 मद्रास 59.
[3] ए० आई० आर० 1938 मुम्बई 499.
[4] आई० एल० आर० (1902) 25 इलाहाबाद 165.

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—1

मैसर्स कुलभूषण कुमार एण्ड कं० बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य

(M/s. Kulbhushan Kumar & Co. *Vs.* State of Punjab and another)

तारीख 23 अगस्त, 1983

[मु० न्या० एस० एस० संधांवालिया, न्या० प्रेम चन्द जैन और न्या० एस० सी० मित्तल]

संविधान, 1950 अनुच्छेद 141—पक्षकारों की सम्मति मात्र से न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के सिद्धान्त निराकृत नहीं होंगे, जब तक कि उसे उच्चतम न्यायालय द्वारा उलट नहीं दिया जाता है। पक्षकारों या उनके काउंसेलों द्वारा विधि की किसी रियायत से विद्यमान नजीर का आधार प्रभावित नहीं होगा क्योंकि निर्णय का आधार उसका तर्क और युक्तिसंगतता होता है, न कि मात्र उसका निष्कर्ष निर्णय का परिणाम सम्मति या समझौते द्वारा भिन्न हो सकता है किन्तु उसकी युक्तिसंगतता और तर्क वरिष्ठ न्यायालय के विपरीत निर्णायक निष्कर्ष द्वारा ही निराकृत किया जा सकता है।

रिट पिटीशनरों ने सूती धागे (काटन यार्न) के विनिर्माण के लिए सलूजा स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स के विस्तार के लोक प्रयोजन के लिए भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन अधिसूचना द्वारा आरम्भ की गई अर्जन कार्यवाहियों को और अधिनियम की धारा 6 के अधीन पश्चात्वर्ती घोषणा को चुनौती दी थी। बाद में मैसर्स सलूजा स्पीनिंग एण्ड वीविंग मिल्स प्रा० लि० ने, जिसके फायदे के लिए अर्जन कार्रवाई की जाती थी, सिविल रिट पिटीशन में प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाए जाने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन प्रस्तुत आवेदन फाइल किया। रिट पिटीशनरों की ओर से इस आवेदन का विरोध किया गया। निस्संदेह, इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा आवेदकों के विरुद्ध मामला समाप्त कर दिया गया था। वस्तुतः निर्देशकारी न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया—"उपर्युक्त पूर्ण न्यायपीठ निश्चय को देखते हुए, स्पीनिंग मिल्स द्वारा फाइल किए गए आवेदन का न्यायपीठ विनिश्चय के आधार के अनुसार निपटारा किया जा सकता था।" किन्तु, स्पिनिंग मिल्स की ओर से पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० बनाम पूर्ण सिंह वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों की एक संक्षिप्त मताभिव्यक्ति का

अवलम्ब लेने का प्रयास किया गया। हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि० **बनाम** फ्रांसिस विक्टर कोर्टीनम वाले मामले में पूर्वतर निर्णय की उसमें अभिपुष्टि को देखते हुए, निर्देशकारी न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि यह प्रश्न उद्भूत हुआ है कि क्या विनिर्दिष्ट मुद्दे पर इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का विधि की प्रतिपादना के सम्बन्ध में सही मत के रूप में अनुसरण किया जा सकता है और इसलिए उसने बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा मामले पर आधिकारिक (प्रामाणिक) रूप से विचार किए जाने का सुझाव दिया।

अभिनिर्धारित—निर्देशित प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

पूर्ण न्यायपीठ निर्णय के अभिव्यक्त रूप से उलट दिए जाने की उपधारणा नहीं की जा सकती है, जिसके प्रति (विचार किए जाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है) वरिष्ठ न्यायालय द्वारा निर्देश भी नहीं किया गया है। परिणामतः पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले में माननीय न्यायाधीशों का आदेश अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले को उलटने वाला आदेश नहीं है। (पैरा 4)

समकक्ष न्यायपीठ द्वारा पूर्वोत्तर निर्णय का अनुसरण करने या उसकी पुष्टि कर देने मात्र से, अनेक समकक्ष न्यायपीठों से उसके स्पष्ट विरोध की स्थिति में, उसका महत्त्व बढ़ नहीं जाता है या उसकी प्रकृति आबद्धकर नहीं हो जाती है। इन अतिरिक्त कारणों से भी पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले में व्यक्त किए गए मत द्वारा अहमदाबाद नगर निगम वाले मामले में विनिश्चय के पूर्वतर आधार को और न इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले में बहुमत द्वारा व्यक्त की गई राय को उलटा या समाप्त किया गया है, जिसमें स्पष्ट रूप से उसका अनुसरण किया गया था। (पैरा 5)

पक्षकारों की सहमति मात्र से न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के सिद्धान्त निराकृत नहीं होंगे, जब तक कि उसे उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट रूप से उलट नहीं दिया जाता है। पक्षकारों या उनके काउन्सेलों द्वारा विधि की किसी रियायत से (इससे अधिक कुछ नहीं) विद्यमान नजीर का आधार प्रभावित नहीं होगा। ऐसी स्थिति में, सम्मति-आदेश चाहते हुए, सहमति या समझौते के रूप में संयुक्त रियायत से सम्भवतः निर्णय का नजीर होने का मूल्य (महत्त्व) समाप्त नहीं हो सकता है। निर्णय का आधार उसका तर्क और युक्तिसंगतता होता है, न कि मात्र उसका निष्कर्ष। निर्णय का परिणाम सहमति या समझौते द्वारा भिन्न हो सकता है किन्तु उसकी युक्तिसंगतता और तर्क वरिष्ठ

न्यायालय के विपरीत निर्णायक निष्कर्ष या वैसे ही प्रयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। (पैरा 6)

		पैरा
[1982]	1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय तारीख 11 जनवरी, 1982 को किया गया : पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० **बनाम** पूर्ण सिंह (Punjab United Pesticides and Chemicals Limited *Vs.* Puran Singh);	2
[1982]	1982 पंजाब ला जर्नल 407 : इण्डो-स्विस टाइम लि० **बनाम** छेलू राम (Indo-Swiss Time Ltd. *Vs.* Chhelu Ram);	6
[1981]	ए० आई० आर० 1981 पंजाब एण्ड हरियाणा 213 : इण्डो-स्विस टाइम लि० **बनाम** उमराव (Indo-Swiss Time Limited *Vs.* Umrao);	1
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118 : हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि० **बनाम** फ्रांसिस विक्टर कोर्टीनम [Himalaya Tiles and Marbles (P) Limited *Vs.* Francis Victor Courtinnom];	2
[1970]	(1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 183 : म्युनिसिपल कारपोरेशन आफ दि सिटी आफ अहमदाबाद **बनाम** चन्दू लाल श्यामल दास पटेल (Municipal Corporation of the City of Ahmadabad *Vs.* Chandu Lal Shamal Das Patel);	3
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 647 : उड़ीसा राज्य **बनाम** सुधांशु शेखर मिश्र (State of Orissa *Vs.* Sudhansu Sekhar Misra);	6
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 997 (रिपोर्ट का पैरा 10) : सुपरिंटेंडेंट एण्ड रिमेम्ब्रेंसर आफ लीगल	6

अफेयर्स, वैस्ट बगाल **बनाम** कारपोरेशन आफ कलकत्ता (Superintendent & Remembrancer of Legal Affairs, West Bengal *Vs.* Corporation of Calcutta);

[1954] ए० आई० आर० 1954 मुम्बई 518 (पैरा 13): प्रमोद सी० भट्ट **बनाम** कंवर राज नाथ (Pramod C. Bhat *Vs.* Kanvar Raj Nath); 6

[1951] ए० आई० आर० 1951 मुम्बई 57 (पैरा 15): वेंकन्ना नरसिंह **बनाम** लक्ष्मी सन्नप्पा (Venkanna Narasinha *Vs.* Laxmi Sannappa); 6

[1901] (1901) ए० सी० 495 : क्विन **बनाम** लीथम (Quinn *Vs.* Leathem) 6

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का सिविल प्रकीर्ण आवेदन सं० 1279.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री लखीन्द्र सिंह

रिट पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एच० एल० सरीन और एम० एल० सरीन

राज्य की ओर से ... श्री ए० एस० सन्धू, अपर महाधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया ने दिया ।

मु० न्या० संधानवालिया :

क्या **इण्डो-स्विस टाइम लि०** बनाम **उमराव**[1] वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय में लिए गए विनिश्चयाधारों में से एक विनिश्चयाधार अब भी प्रभावी है—यही वह प्रश्न है जिसके कारण बृहत्तर न्यायपीठ को यह निर्देश आवश्यक हुआ है ।

2. पूर्वोक्त प्रश्न को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए तथ्यों की कुछ विस्तृत अवेक्षा आवश्यक है । मैसर्स कुलभूषण कुमार एण्ड कं०—रिट पिटीशनरों

[1] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

ने सूती धागे (काटन यार्न) के विनिर्माण के लिए सलूजा स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स के विस्तार के लोक प्रयोजन के लिए भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 4 के अधीन अधिसूचना (उपाबन्ध पी/3) द्वारा आरम्भ की गई अर्जन कार्यवाहियों को और अधिनियम की धारा 6 के अधीन पश्चात्वर्ती घोषणा को (तारीख 17/18 मार्च, 1982 की अधिसूचना—उपाबन्ध पी/5 देखें) चुनौती दी थी। बाद में **मैसर्स सलूजा** स्पीनिंग एण्ड वीविंग मिल्स प्रा० लि० ने, जिसके फायदे के लिए अर्जन-कार्यवाही की जानी थी, सिविल रिट पिटीशन में प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाए जाने के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन प्रस्तुत आवेदन फाइल किया। रिट पिटीशनरों की ओर से इस आवेदन का विरोध किया गया। निस्संदेह, **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा आवेदकों के विरुद्ध मामला समाप्त कर दिया गया था। वस्तुतः निर्देशकारी न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया :—

> "उपर्युक्त पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय को देखते हुए, स्पिनिंग मिल्स द्वारा फाइल किए गए आवेदन का न्यायपीठ विनिश्चय के आधार के अनुसार निपटारा किया जा सकता था।"

किन्तु, स्पिनिंग मिल्स की ओर से **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० बनाम पूर्ण सिंह**[2] वाले मामले में, उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों की एक संक्षिप्त मताभिव्यक्ति का अवलम्ब लेने का प्रयास किया गया। **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स प्रा० लि०** बनाम **फ्रांसिस विक्टर कोटीनम**[3] वाले मामले में पूर्वतर निर्णय की उसमें अभिपुष्टि को देखते हुए, निर्देशकारी न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि यह प्रश्न उद्भूत हुआ है कि क्या विनिर्दिष्ट मुद्दे पर **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का विधि की प्रतिपादना के सम्बन्ध में सही मत के रूप में अनुसरण किया जा सकता है और इसलिए उसने बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा मामले पर आधिकारिक (प्रामाणिक) रूप से विचार किए जाने का सुझाव दिया।

3. सर्वप्रथम **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले में**[1] पूर्ण न्यायपीठ के सही विनिश्चयाधार के प्रति निर्देश करना अनिवार्य है। उसमें मामले पर व्यापक

---

[1] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

[2] 1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय ता० 11 जनवरी, 1982 को किया गया।

[3] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118.

रूप से विचार किए जाने के पश्चात् पांच स्पष्ट प्रतिपादनाएं अधिकथित की गई थीं। उक्त मामले में सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया गया :—

(i) जहां वरिष्ठ न्यायालय के दो समकक्ष न्यायपीठों के बीच प्रत्यक्ष विरोध है, वहां निचले न्यायालयों के लिए उस निर्णय पर विचार करना और उसका अनुसरण करना आवश्यक है, जिसमें विधि अधिक सही रूप से अधिकथित की गई हो;

(ii) यह तथ्य कि परस्पर विरोधी निर्णयों में से कोई भी निर्णय पहले या बाद में दिया गया है, विवाद्यक से असंगत और असम्बद्ध है;

(iii) **म्युनिसिपल कारपोरेशन आफ दि सिटी आफ अहमदाबाद** बनाम **चन्दू लाल श्यामलदास पटेल**[1] वाले मामले में और **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि०** बनाम **फ्रांसिस विक्टर कोर्टीनम**[2] वाले मामले में माननीय न्यायधीशों के समकक्ष न्यायपीठों के निर्णयों के विनिश्चयाधार एक दूसरे के प्रत्यक्ष विरोध में थे और वे परस्पर असंधेय थे;

बहुमत द्वारा यह भी अभिनिर्धारित किया गया—

(iv) **अहमदाबाद नगर निगम वाला मामला**[1] उच्च न्यायालयों की पूर्वतर नजीरों की लम्बी श्रृंखला के अनुरूप था और उसमें विधि अधिक सही रूप से अधिकथित की गई थी तथा उसका **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स लि० वाले मामले**[2] में अपनाए गए मत पर अधिमान देते हुए अनुसरण किया जाना चाहिए; और

(v) कम्पनी या फर्म, जिसके फायदे के लिए अधिनियम के अधीन भूमि अर्जित की जा रही थी, सम्बद्ध व्यक्ति नहीं थी और कार्यवाही में पक्षकार बनाए जाने के लिए उसकी ओर से फाइल किया गया आवेदन विधिक रूप से चलने योग्य नहीं था।

4. स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि केवल प्रतिपादना सं० (iv) और (v) विवाद का विषय है और प्रारम्भिक प्रश्न यह है—**क्या इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[3] में पूर्ण न्यायपीठ के यह सुविचारित विनिश्चयाधार **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि०**

---

[1] (1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 183.

[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118.

[3] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

वाले मामले[1] में संक्षिप्त मताभिव्यक्ति द्वारा उलट दिए गए हैं। उक्त मामले में, अपील करने के लिए विशेष इजाज़त देते समय, माननीय न्यायाधीशों ने मामले में आगे और विलम्ब से बचने के लिए अपील एकपक्षीय ढंग से मंजूर की क्योंकि प्रत्यर्थियों की ओर से न तो कोई व्यक्ति हाजिर ही हुआ था और न कोई विरोध ही किया गया था। आदेश में केवल यही अभिलिखित किया गया :—

> "तामील के बावजूद अन्य पक्षकार की ओर से कोई भी व्यक्ति हाजिर नहीं हुआ है। चूंकि हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि० **बनाम** फ्रांसिस विक्टर कोर्टीनम (मृत) (विधिक प्रतिनिधियों द्वारा) [1980) 3 एस० सी० आर० 235=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118] वाले मामले में हमारे विनिश्चय द्वारा मामला समाप्त हो गया है, जिसमें स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई भी कम्पनी, जिसके फायदे के लिए भूमि अर्जित की जाती है, निस्संदेह हितबद्ध व्यक्ति है, अतः पिटीशनर को कार्यवाहियों में पक्षकार बनाए जाने का अधिकार प्राप्त था और एल० पी० ए० न्यायपीठ का पिटीशनर की प्रार्थना को आरम्भ में ही खारिज कर देना गलत था। ऊपर निर्दिष्ट विनिश्चय को देखते हुए, पिटीशनर, हितबद्ध व्यक्ति होने के नाते, जिला न्यायाधीश के समक्ष वाली कार्यवाहियों में प्रतिकर के परिमाण के प्रश्न पर भाग लेने के लिए हकदार है और अधिक विलम्ब से बचने के लिए हम यह अपील मंजूर करते हैं, उच्च न्यायालय के आदेश को अपास्त करते हैं और जिला न्यायाधीश को मामला प्रतिप्रेषित करते हैं जो, पिटीशनर को सुनने के पश्चात्, प्रतिकर का परिमाण नियत करेंगे। जिला न्यायाधीश पक्षकारों को सूचना जारी करने के पश्चात् मामले का विनिश्चय करेंगे। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है और अन्यथा भी यह स्वीकृत स्थिति है कि **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में विशेष इजाज़त पिटीशन और अपील इस न्यायालय के लैटर्स पेटेण्ट न्यायपीठ द्वारा खारिजी के आरम्भिक आदेश के विरुद्ध फाइल की गई थी। माननीय न्यायाधीशों की ऊपर उद्धृत संक्षिप्त मताभिव्यक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[2] में पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय की शुद्धता या अशुद्धता

---

[1] 1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय 11 जनवरी, 1982 को किया गया।

[2] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

की बात माननीय न्यायाधीशों के समक्ष परोक्ष रूप से भी नहीं उठाई गई थी। वस्तुतः, उसके प्रति कोई उल्लेख ही नहीं किया गया है और स्पष्टतः उसे माननीय न्यायाधीशों की जानकारी में कभी लाया भी नहीं गया था। यह सुस्थापित है कि पूर्ण न्यायपीठ निर्णय के अभिव्यक्त रूप से उलट दिए जाने की उपधारणा नहीं की जा सकती है, जिसके प्रति (विचार किए जाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है) वरिष्ठ न्यायालय द्वारा निर्देश भी नहीं किया गया है। परिणामतः हम ऊपर निर्दिष्ट **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में माननीय न्यायाधीशों के आदेश को अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से ऊपर निर्दिष्ट **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[2] को उलटने वाला आदेश नहीं समझते हैं।

5. तत्पश्चात्, यह तथ्य ध्यान में रखे जाने योग्य है कि ऊपर निर्दिष्ट **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में आदेश, पुनः, केवल दो न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा ही पारित किया गया था। यहां इस तथ्य का भी स्मरण रखा जाना होगा कि ऊपर निर्दिष्ट **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[2] में यह स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया गया था कि वरिष्ठ न्यायालय के समकक्ष न्यायपीठों के बीच मतभेद की दशा म किसी निर्णय को इस आकस्मिक परिस्थिति से कि वह पहले किया गया था या बाद में, उसका महत्त्व नहीं बढ़ जाता है या समय के संयोग से वह अधिक आबद्धकर नहीं हो जाता है। अतः एक ओर **अहमदाबाद नगर निगम वाले मामले**[3] में समकक्ष न्यायपीठों के विनिश्चयाधारों के बीच और दूसरी ओर **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि०**[4] वाले मामले में विनिश्चयाधार के विरोध का आधारभूत प्रश्न बना हुआ था। यह सामान्य आधार है कि **अहमदाबाद नगर निगम वाले मामले**[3] पर **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स (प्रा०) लि० वाले मामले**[4] में न तो विचार ही किया गया था और न उसके प्रति कोई निर्देश ही किया गया था। और ऊपर निर्दिष्ट **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में तो परोक्ष रूप से भी नहीं। परिणामतः **अहमदाबाद नगर निगम वाले मामले**[3] का विनिश्चयाधार (और उच्च न्यायालय नजीरों की लम्बी शृंखला, जिन पर वह अवलम्बित था) समकक्ष न्यायपीठों द्वारा उलटा नहीं जा सकता

---

[1] 1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय 11 जनवरी, 1982 को किया गया।

[2] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

[3] (1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 183.

[4] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118.

था। मुझे यह तथ्य स्वयंसिद्ध प्रतीत होता है कि समकक्ष न्यायपीठ द्वारा पूर्वतर निर्णय का अनुसरण करने या उसकी पुष्टि कर देने मात्र से, अनेक समकक्ष न्यायपीठों से उसके स्पष्ट विरोध की स्थिति में, उसका महत्त्व बढ़ नहीं जाता है या उसकी प्रकृति आबद्धकर नहीं हो जाती है। इन अतिरिक्त कारणों से भी हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि न तो **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में व्यक्त किए गए मत द्वारा अहमदाबाद नगरनिगम वाले मामले में विनिश्चय के पूर्वतर आधार को और न **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[2] में बहुमत द्वारा व्यक्त की गई राय को उलटा या समाप्त किया गया है, जिसमें स्पष्ट रूप से उसका अनुसरण किया गया था।

6. तथापि, इस तथ्य को पुनः उजागर करना उचित होगा कि इसमें निर्देश आदेश तारीख 28 मई, 1982 को किया गया था और वह पूर्णतः **पंजाब यूनाइटेड पैस्टीसाइड्स एण्ड कैमिकल्स लि० वाले मामले**[1] में व्यक्त किए गए मत पर अवलम्बित था। तथापि, पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल हमारी जानकारी में यह तथ्य लाए कि लगभग एक वर्ष पूर्व **इण्डो-स्विस टाइम लि०** बनाम **छेलू राम**[3] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों के समक्ष पूर्ण न्यायपीठ निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत पिटीशन का विनिश्चय समझौते द्वारा किया गया था। उसमें अभिलिखित संक्षिप्त आदेश इस प्रकार था :—

> "सभी पक्षकारों ने इस बात से सहमति व्यक्त की है कि कम्पनी, जिसके फायदे के लिए अर्जन किया गया है, अर्थात् इण्डो-स्विस टाइम लि०, को कार्यवाहियों में पक्षकार बनाया जा सकता है। अपीलार्थी द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 द्वारा जिला न्यायाधीश के समक्ष फाइल किया गया आवेदन मंजूर माना जाएगा। मामले का विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा शीघ्रतापूर्वक निपटारा किया जाए।
>
> अपील के लिए विशेष इजाजत दी जाती है और ऊपर उपदर्शित रीति में अपीलें मंजूर की जाती हैं। खर्चे के सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।"

---

[1] 1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय 11 जनवरी, 1982 को किया गया।

[2] ए० आई० आर० 1981 पंजाब-हरियाणा 213.

[3] 1982 पंजाब ला जर्नल 407.

पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर भी हमारे समक्ष यह दलील देने का प्रयास किया गया कि पक्षकारों द्वारा समझौते के परिणामस्वरूप उक्त सहमतिगत आदेश के कारण, **इण्डो-स्विस टाइम लि० वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का आधार प्रभावी नहीं रह गया था। हम इससे सहमत होने में असमर्थ हैं। उक्त निर्णय में नजीर के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कतिपय आधारभूत सिद्धान्त अधिकथित किए गए थे और उसमें भूमि अर्जन अधिनियम के अधीन "हितबद्ध व्यक्ति" के अर्थ की भी व्याख्या की गई थी, जो तदधीन कार्यवाहियों में पक्षकार बनाए जाने का दावा कर सकता था। पश्चात्वर्ती प्रश्न के सम्बन्ध में बहुमत ने (पूर्वतर प्रश्न पर पूर्ण न्यायपीठ में सर्वसम्मति थी) **हिमालय टाइल्स एण्ड मार्बल्स लि० वाले मामले**[2] पर अधिमान देते हुए, **अहमदाबाद नगरनिगम वाले मामले**[3] का अनुसरण करना उचित समझा था। यदि मामले से सम्बद्ध सभी पक्षकारों को सहमति द्वारा, कम्पनी को कार्यवाहियों में पक्षकार होने की अनुज्ञा दे दी गई थी, तो यह समझना कठिन है कि पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का आधार और युक्तिसंगतता किस प्रकार समाप्त हो गई। हमारी राय में पक्षकारों की सहमति मात्र से न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के सिद्धान्त निराकृत नहीं होंगे, जब तक कि उसे उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट रूप से उलट नहीं दिया जाता है। हमें सिद्धान्ततः यह बात स्पष्ट सी प्रतीत होती है, और **सुपरिंटेंडेंट एंड रिमेम्ब्रेंसर आफ लीगल अफेयर्स, वैस्ट बंगाल** बनाम **कारपोरेशन आफ कलकत्ता**[4], **वेंकन्ना नरसिंह** बनाम **लक्ष्मी सन्नप्पा**[5] और **प्रमोद सी० भट्ट** बनाम **कंवर राज नाथ**[6] वाले मामलों के सादृश्य के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। तद्द्वारा यह अधिकथित किया गया है कि पक्षकारों या काउन्सेलों द्वारा विधि की किसी रियायत से (इससे अधिक कुछ नहीं) विद्यमान नजीर का आधार प्रभावित नहीं होगा। ऐसी स्थिति में, सम्मति-आदेश चाहते हुए, सहमति या समझौते के रूप में संयुक्त रियायत से सम्भवतः निर्णय का नजीर होने का मूल्य (महत्त्व) समाप्त नहीं हो सकता है। **क्विन** बनाम **लीथम**[7] वाले मामले में आधिकारिक रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है, जिसका **उड़ीसा राज्य**

---

[1] ए० आई० आर० 1981 पंजाब एण्ड हरियाणा 213.
[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118.
[3] (1970) 1 एस० सी० डब्ल्यू० आर० 183.
[4] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 997 (रिपोर्ट का पैरा 10).
[5] ए० आई० आर० 1951 मुम्बई 57 (पैरा 15).
[6] ए० आई० आर० 1954 मुम्बई 518 (पैरा 13).
[7] (1901) ए० सी० 495.

बनाम **सुधांशु शेखर मिश्र**[1] वाले मामले में अनुसरण किया गया है, कि निर्णय का आधार उसका तर्क और युक्तिसंगतता होता है, न कि मात्र उसका निष्कर्ष। निर्णय का परिणाम सहमति या समझौते द्वारा भिन्न हो सकता है किन्तु उसकी युक्तिसंगतता और तर्क वरिष्ठ न्यायालय के विपरीत निर्णायक निष्कर्ष या वैसे ही प्रयोग द्वारा अकृत किया जा सकता है। अतः उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों के समक्ष ऊपर निर्दिष्ट **इण्डो-स्विस टाइम्स लि० वाले मामले**[2] में सहमति-आदेश से, मेरी राय में, पूर्वतर पूर्ण न्यायपीठ का नजीर होने का महत्त्व प्रभावित नहीं होता है और उससे स्थिति में परोक्ष रूप से भी कोई परिवर्तन नहीं आता है। हम स्पष्ट रूप से यह कहना चाहेंगे कि हमारे समक्ष पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेलों ने **इण्डो-स्विस टाइम्स लि० वाले मामले**[2] में विनिश्चय के आधार की शुद्धता या अशुद्धता की चुनौती देने का कोई संकेत भी नहीं दिया।

7. इस स्थल पर हम यह मत व्यक्त किए बिना नहीं रह सकते हैं कि पक्षकारों के काउन्सेलों ने **पंजाब यूनाइटेट पेस्टीसाइड्स एण्ड केमिकल्स लि० वाले मामले**[3] और प्रत्यक्षतः **इण्डो-स्विस टाइम्स** लि० बनाम **छेलू राम**[4] वाले मामले, दोनों ही में माननीय न्यायाधीशों की जानकारी में **अहमदाबाद नगरनिगम वाले मामले**[5] में समकक्ष न्यायपीठों और **हिमालय टाइम्स एण्ड मार्बल्स लि० वाले मामले**[6] में भी समकक्ष न्यायपीठों के बीच विरोध उपदर्शित न करके उदासीनता का ही परिचय दिया। **मैसर्स इण्डो-स्विस टाइम्स लि० वाले मामले**[2] में बहुमत की राय पूर्णतः **अहमदाबाद नगर निगम वाले मामले**[5] पर अवलम्बित थी। यह आशा की जानी चाहिए कि मामला विचारार्थ माननीय न्यायाधीशों के समक्ष आया है, अतः उन्हें निकट भविष्य में विरोध को दूर करने और दिन प्रतिदिन घटित होने वाले इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर अन्तिमता के साथ विधि अधिकथित करने का अवसर प्राप्त होगा।

8. परिणामतः, आरम्भ में उठाए गए प्रश्न का उत्तर सकारात्मक

---

[1] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 647.

[2] ए० आई० आर० 1981 पंजाब एण्ड हरियाणा 213.

[3] 1981 का विशेष इजाजत पिटीशन सं० 5389 जिसका विनिश्चय 11 जनवरी, 1982 को किया गया।

[4] 1982 पंजाब ला जर्नल 407 (एससी).

[5] (1970) एस० सी० डब्ल्यू० आर० 183.

[6] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1118.

है। यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि इण्डो-स्विस टाइम्स लि० वाले मामले[1] में विनिश्चय का आधार अब भी प्रभावी है।

9. ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि खण्ड न्यायपीठ ऊपर निर्दिष्ट **इण्डो-स्विस टाइम्स लि० वाले मामले**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय के आधार से आबद्ध होगा। वस्तुत: हम यह बात अभिलेख में लेना चाहते हैं कि हमारे समक्ष पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय पर पुन: विचार किए जाने के लिए या उसके औचित्य पर आपत्ति उठाने के लिए कोई स्वतन्त्र अभिवाक् नहीं किया गया। जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, स्वयं निर्देशकारी न्यायपीठ ने यह राय व्यक्त की थी कि स्पिनिंग मिल्स द्वारा फाइल किए गए आवेदन का पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय के आधार के अनुसार निपटारा नहीं किया जा सकता था। तदनुसार हम यह निदेश करते हैं कि गुणागुण के आधार पर विनिश्चय के लिए मामला अब खण्ड न्यायपीठ को वापस भेजा जाएगा।

न्या० प्रेम चन्द जैन :

मैं सहमत हूं।

न्या० एस० सी० मित्तल :

मैं सहमत हूं।

निर्देशित प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

न०

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—12

नवल सिंह बनाम प्रशासक, नगरपालिका, चरखी दादरी और अन्य

(Nawal Singh *Vs*. The Administrator, Municipal Committee, Charkhi Dadri and others)

तारीख 11 अक्तूबर, 1983

[मु० न्या० एस० एस० संधांवालिया, न्या० प्रेम चन्द जैन और न्या० एस० सी० मित्तल]

पंजाब टाउन इम्प्रूवमेण्ट ऐक्ट, 1922 धारा 42 और 44क—उक्त धारा 44क में अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से स्कीम के पूरा किए जाने के लिए अनन्यत: पांच वर्ष की अवधि का उपबन्ध किया गया

---

[1] ए० आई० आर० 1981 पंजाब एण्ड हरियाणा 213.

है, जब तक कि उसके परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा उसका सम्यक् रूप से विस्तार नहीं कर दिया जाता है। तथापि, स्कीम का वह भाग जो पांच वर्ष की अवधि से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं माना जाएगा।

1973 के हरियाणा अधिनियम सं० 17 द्वारा संशोधन के माध्यम से अन्तःस्थापित, पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क का सही अर्थ क्या है—यही वह प्रश्न है जो चारों सम्बद्ध सिविल रिट पिटीशनों में पूर्ण न्यायपीठ को इस निर्देश में अवधारणार्थ उद्भूत हुआ है। उक्त मुद्दे पर इस न्यायालय में कुछ प्रकट मतभेद भी इस निर्देश में विवाद का विषय है।

अभिनिर्धारित—निर्देशित प्रश्न का उत्तर दिया गया।

पंजाब टाउन इम्प्रूवमेण्ट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क के शीर्षक से ही उपदर्शित होता है, विधानमण्डल का आशय अध्याय 4 के अधीन स्कीमों के निष्पादन के लिए समय-सीमा निर्धारित करना है। उक्त धारा की भाषा से यह स्पष्ट है कि स्कीम के निष्पादन में होने वाले लम्बे विलम्बों की बुराई को जड़ से ही उखाड़ फेंकने के लिए विधानमण्डल ने दो स्पष्ट सीमाएं नियत की हैं। प्रथम सीमा अधिनियम की धारा 42 के अधीन राजपत्र में उसकी अधिसूचना की तारीख से स्कीम के आरम्भ और मंजूरी के सम्बन्ध में है। इस प्रकार समय का यह बिन्दु स्पष्टतः और अनम्य रूप से नियत किया गया है। उक्त स्कीम के निष्पादन के लिए दूसरी सीमा ऐसी अधिसूचना की तारीख से ठीक 5 वर्ष की अवधि पर नियत की गई है। इस प्रकार, साधारण नियम के रूप में, अधिनियम के अध्याय 4 में परिकल्पित स्कीमों के आरम्भ और पूरा किए जाने के लिए युक्ति-युक्त अवधि का उपबन्ध किया गया है। केवल अपवाद के रूप में ही मुख्य उपबन्ध के परन्तुक में वे दशाएं वर्णित की गई हैं, जिनमें इस विहित समय-सीमा में विस्तार किया जा सकेगा। विस्तार की यह शक्ति स्वयं न्यास में निहित नहीं है, बल्कि राज्य सरकार में निहित है और उसे इस शर्त के पूरा होने के कार्य द्वारा और सुरक्षित किया गया है कि अधिकथित अवधि के भीतर स्कीम का निष्पादन न्यास के नियंत्रण से परे था। उक्त धारा के समग्र परिशीलन से, परिणामतः, यह उपदर्शित होगा कि आधारभूत नियम 5 वर्ष के भीतर स्कीम के पूरा किए जाने का है और सरकार द्वारा समय-सीमा के विस्तार किए जाने का अपवाद पूर्व शर्त द्वारा सीमित किया गया है। इस प्रकार विधायी पृष्ठिभूमि, उस बुराई से, जिसे दूर करने का विधानमण्डल का इरादा था और अधिनियम की धारा 44 की स्पष्ट भाषा और उस आदेश के सही निर्वचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कीम का 5 वर्ष की विहित अवधि या सम्यक्

रूप से विस्तारित अवधि के भीतर, यदि कोई हो, स्कीम को निष्पादित और पूरा किया जाना चाहिए। (पैरा 9)

उक्त धारा में प्रयुक्त 'निष्पादित करना' और उसके व्याकरणिक रूप-भेदों का स्कीम के पूरा किए जाने का अर्थ नहीं है बल्कि उक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए कुछ आधारभूत कार्यवाही के आरम्भ किए जाने का अर्थ है। विशेष रूप से यह तर्क देने का प्रयास किया गया कि अधिनियम की अनुसूची के अधीन अर्जन कार्यवाहियां सम्यक् रूप से आरम्भ की जा चुकी हैं और अधिनिर्णय घोषित किया जा चुका है। अतः स्कीम निष्पादित मानी जानी चाहिए, उससे अधिक कुछ नहीं, और पिटीशनरों के वाद को इस आधार पर ही खारिज कर दिया जाना चाहिए। पूर्वोक्त दलील से विद्वान् महाधिवक्ता की पटुता को कुछ श्रेय तो अवश्य जाता है किन्तु यह अभिनिर्धारित करने के लिए किसी विद्वत्ता की आवश्यकता नहीं है कि वह स्पष्टतः अस्वीकार्य है। पूरे संदर्भ से यह उपदर्शित होता है कि संशोधन द्वारा धारा 44-क अन्तःस्थापित करने में विधानमण्डल का उद्देश्य और आशय विहित समय के भीतर स्कीमों के निष्पादन और उसके पूरा किए जाने को सुनिश्चित करना और इस संदर्भ में होने वाले लम्बे विलम्ब की बुराई को दूर करना था। विद्वान् महाधिवक्ता के तर्क को स्वीकार करने का अर्थ उपबंध में निहित उद्देश्य को ही निरर्थक बनाना होगा। ऐसा इसलिए है कि यदि एक बार यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि स्कीम के आरम्भ किए जाने और उसके पूरा किए जाने के लिए कुछ कार्यवाही करने से विधि की अपेक्षाओं की पूर्ति हो जाती है, तो कोई भी विलम्ब, चाहे वह कितना भी अनियमित और अहितकर क्यों न हो, विधि की परिधि से परे होगा और उसके विरुद्ध नागरिक को कोई भी उपचार उपलब्ध नहीं होगा। इस विनिर्दिष्ट आधार पर भी, प्रत्यर्थियों की ओर से दिया गया तर्क स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है। (पैरा 10)

यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि अधिनियम की धारा 44-क में अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से स्कीम के पूरा किए जाने के लिए अनम्यतः 5 वर्ष की अवधि का उपबन्ध किया गया है, जब तक कि उसके परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा उसका सम्यक् रूप से विस्तार नहीं किया जाता है। (पैरा 14)

पूर्वोक्त नियम के लागू किए जाने पर, इसमें रिट पिटीशनर सफल रहने के लिए पूर्णतः हकदार है। यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के भीतर स्कीम पूरी नहीं की गई है

और न उसका परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा कोई विधिमान्य विस्तार ही किया गया है। इस प्रकार उक्त समय-सीमा के पश्चात् की गई कार्यवाहियों से अधिनियम की धारा 44-क का स्पष्ट रूप से उल्लंघन हुआ हैं और वे एतद्द्वारा अभिखण्डित की जाती हैं। (पैरा 15)

स्कीम का भाग, जो 5 वर्ष की समाप्ति से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं माना जाएगा। धारा 44-क के उपबन्धों में केवल यही अधिकथित किया गया है कि स्कीम का भाग, जो 5 वर्ष के भीतर निष्पादित नहीं किया जा सका, उक्त अवधि की समाप्ति के पश्चात् निष्पादित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि विधि के अनुसार समय का विस्तार नहीं किया जाता है। (पैरा 16)

स्पष्टतः धारा 44-क दो भागों में है। अधिनियमनकारी भाग में अधिनियम की धारा 42के अधीन उसकी अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के भीतर न्यास द्वारा स्कीम के निष्पादन का उपबन्ध किया गया है। परन्तुक द्वारा राज्य सरकार को उस स्थिति में 5 वर्ष की विहित अवधि को विस्तारित करने के लिए सशक्त किया गया है, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उक्त 5 वर्ष की अवधि के भीतर स्कीम को निष्पादित करना न्यास के नियंत्रण से परे है। जहां तक अधिनियम की धारा 44-क के प्रथम भाग का सम्बन्ध है, अब इस न्यायालय द्वारा यह सुस्थापित किया जा चुका है (ब्रज लाल वाला मामला देखें) कि स्कीम का वह भाग, जो 5 वर्ष की समाप्ति से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं समझा जाएगा। अधिनियम की धारा 44-क के परन्तुक के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में राज्य सरकार से 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व ही उसे विस्तारित करने की अपेक्षा की गई है; उक्त 5 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् मंजूर किया गया कोई भी समय-विस्तार अवैध होगा। परिणामतः, अविधिमान्य विस्तार अभिप्राप्त करने के पश्चात् स्कीम के निष्पादन के लिए न्यास द्वारा किया गया कोई भी कार्य अवैध होगा। इस विवेचन से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायालय से इस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की जाती है कि क्या विनिश्चित किया जाने वाला मामला उक्त धारा के अधिनियमनकारी भाग की परिधि के अन्तर्गत आता है या उसके परन्तुक की परिधि के अन्तर्गत। (पैरा 20)

		पैरा
[1981]	1981 का सिविल रिट पिटीशन सं० 3790, जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया	7

गया : त्रिलोक सिंह जैन **बनाम** हरियाणा राज्य (Tirlok Singh Jain *Vs.* State of Haryana) **उलट** दिया गया।

[1982] ए० आई० आर० 1982 पंजाब एण्ड हरियाणा 519 : राधे श्याम गुप्त **बनाम** हरियाणा राज्य (Radhey Sham Gupta *Vs.* State of Haryana); 8

[1981] 1981 पंजाब लॉ जर्नल 145 : बक्शी राम **बनाम** हरियाणा राज्य (Bakshi Ram *Vs.* State of Haryana); 12

[1980] 1980 पंजाब लॉ जर्नल 436 : ब्रज लाल **बनाम** सिरसा इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, सिरसा (Brij Lal *Vs.* Sirsa Improvement Trust, Sirsa); 12

[1979] 1979 पंजाब लॉ जर्नल 430 : सूरत राम **बनाम** हरियाणा राज्य (Surat Ram *Vs.* State of Haryana); 12

[1979] 1979 का सिविल रिट पिटीशन सं० 1087, जिसका विनिश्चय तारीख 24 मई, 1979 को किया गया : राजेश्वर प्रसाद **बनाम** हरियाणा राज्य (Rajeshwar Parshad *Vs.* State of Haryana); 12

[1968] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 647 : उड़ीसा राज्य **बनाम** सुधांशु शेखर मिश्र (State of Orissa *Vs.* Sudhansu Sekhar Misra) 22

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का सिविल रिट पिटीशन सं० 467.

पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क के अर्थ के संबंध में निर्देश।

पिटीशनर की ओर से ... श्री आर० एल० सरीन

प्रत्यर्थी सं० 1 और 3 की ओर से ... श्री हरभगवान् सिंह, महाधिवक्ता

प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से ... श्री जी० एल० बतरा, ज्येष्ठ उप-महाधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया ने दिया।

मु० न्या० संधानवालिया :

1973 के हरियाणा अधिनयम सं० 17 द्वारा संशोधन के माध्यम से अन्तःस्थापित, पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क का सही अर्थ क्या है—यही वह प्रश्न है जो चारों सम्बद्ध सिविल रिट पिटीशनों में पूर्ण न्यायपीठ को इस निर्देश में अवधारणार्थ उद्‌भूत हुआ है। उक्त मुद्दे पर इस न्यायालय में कुछ प्रकट मतभेद भी इस निर्देश में विवाद का विषय है।

2. पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल उक्त मामलों में तथ्यों की समानता और विधिक विवाद्यकों की एकरूपता (अनन्यता) पर सहमत हैं और इसलिए यह निर्णय उन सभी मामलों को लागू होगा। परिणामतः नवल सिंह बनाम प्रशासक, नगरपालिका (1982 का सिविल रिट पिटीशन सं० 467) के तथ्यों का उल्लेख ही पर्याप्त होगा।

3. चर्खी दादरी सुधार न्यास, चर्खी दादरी ने तारीख 23 जनवरी, 1976 को पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट (पंजाब नगर सुधार अधिनियम), 1922 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 24 और 28 के अधीन गोशाला गांधी आश्रम और दिल्ली नारनौल मार्ग के निकट हरिजन कालोनी बनाने के लिए "दि डेवेलपमेंट स्कीम सं० आई० बी०" नामक एक स्कीम तैयार की। उक्त स्कीम अधिनियम की धारा 42(1) के अधीन तारीख 6 फरवरी, 1976 के राजपत्र में सम्यक् रूप से प्रकाशित की गई। चर्खी दादरी की नगरपालिक सीमाओं के भीतर स्थित पिटीशनर की भूमि, जिस पर पिटीशनर ने आवासीय गृह का सन्निर्माण कर लिया था, उक्त स्कीम के अन्तर्गत आती थी। उसके अनुसरण में तारीख 3 नवम्बर, 1976 को कलक्टर का अधिनिर्णय घोषित किया गया।

4. किन्तु रिट पिटीशनर का यह पक्षकथन है कि प्रत्यर्थी-न्यास ने तत्पश्चात् इस स्कीम को निष्पादित करने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की है और न तो पिटीशनर को उसकी भूमि और मकान से बेकब्जा किया गया है और न उसी प्रकार प्रभावित अन्य स्वामियों से भूमि और मकान का कब्जा ही लिया गया है। यह प्रकथन किया गया है कि स्कीम को कार्यान्वित करने के बजाय प्रत्यर्थियों नें नीलाम द्वारा साधारण जनता को 302 मकानों, 44 बूथों और

17 शाप-कम-फ्लैटों के लिए प्लाट (भूखण्ड) बेचने की योजना बनाई और वस्तुतः तारीख 26 दिसम्बर, 1981 को प्रथम नीलाम किया गया, जब मकानों के लिए 91 भूखण्ड साधारण जनता को बेचे गए और बाद में तारीख 8 जनवरी, 1982 को दूसरा नीलाम किया गया। पिटीशनर ने पूर्वोक्त तारीखों को प्रत्यर्थियों को यह सूचित किया कि साधारण जनता को भूखण्डों का नीलाम स्कीम के विपरीत था, स्वयं जिसे न तो निष्पादित ही किया गया है और न तारीख 23 जनवरी, 1981 को समाप्त होने वाली 5 वर्ष की अवधि से परे विस्तारित ही किया गया है। किन्तु, पिटीशनर को गलत ढंग से यह सूचित किया गया कि स्कीम को उक्त तारीख से परे सम्यक् रूप से और विधिपूर्ण रूप से विस्तारित किया गया है। बाद में पिटीशनर तारीख 29 जनवरी, 1981 के संकल्प सं० 1 की प्रति (उपाबंध पी-3) प्राप्त करने में सफल रहा, जिसमें इस तथ्य का विनिर्दिष्ट उल्लेख किया गया है कि स्कीम को कार्यान्वित नहीं किया जा सका और उसे कार्यान्वित करने के लिए तारीख 5 जनवरी, 1983 तक दो वर्ष के विस्तार के लिए हरियाणा सरकार से मंजूरी प्राप्त की जानी चाहिए। बाद में (उपाबंध पी-5 देखें) प्रशासक द्वारा सरकार को तारीख 27 अगस्त, 1981 का स्मरण-पत्र 2 वर्ष के उक्त विस्तार की मंजूरी के लिए जारी किया गया। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि निसंस्देह स्कीम बिल्कुल भी निष्पादित नहीं की गई है और उसे तारीख 23 जनवरी, 1981 से परे विस्तारित नहीं किया गया है और इस प्रकार अधिनियम की धारा 44-क का उल्लंघन हुआ है। अतः उसे अभिखण्डित कर दिया जाना चाहिए।

5. प्रतिरक्षा में ऊपर से युक्तियुक्त लगने वाले अभिवाकों के बावजूद, रिट पिटीशन के प्रत्यर्थियों के उत्तर में मोटे रूप से ताथ्यिक पृष्ठभूमि अविवाद्य बनी हुई है। स्कीम का विरचित किया जाना और तारीख 6 फरवरी, 1976 को राजपत्र में उसका प्रकाशन स्वीकार किया गया है और उसके साथ ही यह तथ्य भी स्वीकार किया गया है कि पिटीशनर की भूमि और मकान उसकी परिधि के अन्तर्गत आते थे। उत्तर के पैरा 6 में यह प्रकथन किया गया है कि स्कीम के अन्तर्गत आने वाली भूमि बच्चों के लिए विद्यालय भवन का निर्माण करने के लिए पारस राम नेत राम कलानिया बालिका विद्या मन्दिर को आबंटित कर दी गई है और कमजोर वर्गों के लोगों को बसाने के लिए सैम्पल के रूप में दो मकान भी निर्माणाधीन हैं। तारीख 26 दिसम्बर, 1981 और तारीख 8 जनवरी, 1982 को साधारण जनता को पश्चात्वर्ती नीलामों का तथ्य स्वीकार किया गया है, किन्तु यह आधार लिया गया है कि इस स्कीम के अधीन क्षेत्र का एक भाग अभी हरिजनों को आबंटित किया जाना है। यह स्वीकार

किया गया है कि खुले नीलाम में क्रेताओं के पक्ष में किए जाने वाले विक्रयों की, इस न्यायालय द्वारा मंजूर किए गए रोक आदेश को देखते हुए, पुष्टि नहीं की गई है। तारीख 29 जनवरी, 1981 को पारित संकल्प सं० 1, जिसमें विनिर्दिष्ट रूप से यह कहा गया है कि स्कीम का निष्पादन नहीं किया गया था, स्वीकार किया गया है किन्तु उसके लिए यह स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया गया है कि वह सामान्य अनुक्रम में पारित किया गया था और इसी प्रकार तारीख 27 अगस्त, 1981 का स्मरण पत्र (उपाबंध पी-5) स्वीकार किया गया है, यद्यपि अब यह कहा गया है कि किसी प्रकार का विस्तार आवश्यक नहीं था।

6. अभिवचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि स्कीम अधिनियम की धारा 42 के अधीन तारीख 6 फरवरी, 1976 को प्रकाशित की गई थी, फिर भी 6 वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो जाने के बावजूद उसे निष्पादित या पूरा करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्कीम के मूल प्रयोजन में परिवर्तन करने का, कमजोर वर्गों के लोगों के लिए कालोनियों के निर्माण से भिन्न प्रयोजनों के लिए सार्वजनिक नीलाम करके, परिवर्तन (यदि पूर्ण रूपान्तरण नहीं) किए जाने का प्रयास किया जा रहा है। स्वयं प्रत्यर्थी-न्यास के अपने संकल्प और दस्तावेजों से यह बात संदेह से परे सिद्ध हो जाता है कि स्कीम निष्पादित नहीं की जा सकी और उसके लिए 2 वर्ष की अवधि का विस्तार चाहा गया तथा उसे प्राप्त करने के लिए स्मरण-पत्र दिए गए। यह सामान्य आधार है कि 5 वर्ष की अवधि के भीतर या उसके पश्चात् भी ऐसा कोई विस्तार या मंजूरी नहीं दी गई है।

7. यह मामला मूलतः खण्ड न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए आया, जिसमें मेरे विद्वान् बन्धु न्या० पी० सी० जैन और न्या० एस० पी० गोयल थे। उनके समक्ष प्रत्यर्थी-राज्य ने **त्रिलोक सिंह जैन बनाम हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया और यह दलील दी कि रिट पिटीशन उस आधार पर ही खारिज किए जाने योग्य थे। ऊपर निर्दिष्ट **त्रिलोक सिंह जैन वाले मामले**[1] और खण्ड न्यायपीठ के पूर्वतर निर्णयों में मतभेद देखते हुए, मामला बृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित किया गया।

8. यह स्पष्ट है कि इस मामले में विवाद का विषय अनिवार्यतः अधिनियम की धारा 44-क के उपबन्धों के सही निर्बचन से ही संबंधित है।

---

[1] 1981 का सिविल रिट पिटीशन सं० 3790 जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया गया।

तथापि, उसकी स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा का अर्थान्वयन करने से पूर्व, मामले को उसके सही विधायी संदर्भ में देखना उचित होगा। पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट मूलतः वर्ष 1922 में अधिनियमित किया गया था और उसके अध्याय 4 में (जिसमें धारा 22 से 44 हैं) अधिनियम के अधीन विभिन्न स्कीमों के विरचित और निष्पादित किए जाने का उपबंध किया गया था। मूलतः अधिनियमित रूप में, इस अध्याय में तद्द्वारा प्रकल्पित स्कीमों के लिए कोई सीमा विनिर्दिष्ट नहीं की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि उससे ऐसी स्कीमों के निष्पादन में काफी समय की बर्बादी हुई और वस्तुतः उसके परिणामस्वरूप नागरिकों को परेशानी हुई तथा इन उपबंधों का दुरुपयोग हुआ, क्योंकि निकट भविष्य में इन स्कीमों के निष्पादन और उनके अन्तिम रूप दिए जाने के संबंध में किसी सार्थक आशा के बिना, ये स्कीमें आरम्भ की गईं और अर्जन की कीमतें नियंत्रित की गईं। इस संदर्भ में नागरिकों को जो घोर कठिनाई होती है उस पर **राधे श्याम गुप्त बनाम हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा अभी हाल ही में प्रकाश डाला गया है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अर्जन कार्यवाहियों को अन्तिम रूप दिए जाने के कार्य में ऐसे असाधारण विलम्ब से, जिसके लिए कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, शक्ति के आभासी प्रयोग का दोष आ सकता है और उससे कार्यवाही पूर्णतः दूषित हो सकती है।

9. प्रकटतः इस बुराई को दूर करने के लिए ही, उक्त कानून में किए गए अन्य संशोधनों के साथ, 1973 के अधिनियम सं० 17 द्वारा हरियाणा विधानमण्डल द्वारा अधिनियम की धारा 44-क अन्तःस्थापित की गई और विशेष रूप से उक्त संशोधनों के साथ अध्याय 5-क उसमें जोड़ा गया। इसी पृष्ठभूमि में धारा 44-क के विनिर्दिष्ट उपबंधों का विश्लेषण किया जाना चाहिए, जो इस प्रकार है :—

> *"44-क. **स्कीमों के निष्पादन के लिए समय-सीमा**—ऐसी कोई भी स्कीम, जिसकी बाबत धारा 42 के अधीन अधिसूचना प्रकाशित

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "44A. **Time limit for execution of schemes**—Any scheme in respect of which a notification has been published under Section 42, shall be executed by the

---

[1] ए० आई० आर० 1982 पंजाब-हरियाणा 519.

की गई है, न्यास द्वारा ऐसी अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के भीतर निष्पादित की जाएगी :

परन्तु राज्य सरकार, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उक्त अवधि के भीतर स्कीम का निष्पादन न्यास के नियंत्रण से परे है, उसमें ऐसा विस्तार कर सकेगी, जैसा वह ठीक समझे।"

जैसा कि उक्त धारा के शीर्षक से ही उपदर्शित होता है, विधानमण्डल का आशय अध्याय 4 के अधीन स्कीमों के निष्पादन के लिए समय-सीमा निर्धारित करना है। उक्त धारा की भाषा से यह स्पष्ट है कि स्कीम के निष्पादन में होने वाले लम्बे विलम्बों की बुराई को जड़ से ही उखाड़ फेंकने के लिए विधानमण्डल ने दो स्पष्ट सीमाएं नियत की हैं। प्रथम सीमा अधिनियम की धारा 42 के अधीन राजपत्र में उसकी अधिसूचना की तारीख से स्कीम के आरम्भ और मंजूरी के संबंध में है। इस प्रकार समय का यह बिन्दु स्पष्टतः और अनन्य रूप से नियत किया गया है। उक्त स्कीम के निष्पादन के लिए दूसरी सीमा ऐसी अधिसूचना की तारीख से ठीक 5 वर्ष की अवधि पर नियत की गई है। इस प्रकार, साधारण नियम के रूप में, अधिनियम के अध्याय 4 में परिकल्पित स्कीमों के आरम्भ और पूरा किए जाने के लिए युक्तियुक्त अवधि का उपबंध किया गया है। केवल अपवाद के रूप में ही मुख्य उपबंध के परन्तुक में वे दशाएं वर्णित की गई हैं जिनमें इस विहित समय-सीमा में विस्तार किया जा सकेगा। विस्तार की यह शक्ति स्वयं न्यास में निहित नहीं है, बल्कि राज्य सरकार में निहित है और उसे इस शर्त के पूरा होने के कार्य द्वारा और सुरक्षित किया गया है कि अधिकथित अवधि के भीतर स्कीम का निष्पादन न्यास के नियंत्रण से परे था। उक्त धारा के समग्र परिशीलन से, परिणामतः, यह उपदर्शित होगा कि आधारभूत नियम 5 वर्ष के भीतर स्कीम के पूरा किए जाने का है और सरकार द्वारा समय-सीमा के विस्तार किए जाने का अपवाद पूर्व शर्त द्वारा सीमित किया गया है। इस प्रकार विधायी पृष्ठभूमि, उस बुराई से, जिसे दूर करने का विधानमण्डल का इरादा था और अधिनियम की धारा 44 की स्पष्ट भाषा और उस आदेश के सही निर्वचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कीम का

---

trust within a period of five years from the date of such notification :

Provided that the State Government may, if it is satisfied, that it is beyond the control of the trust to execute the scheme within the said period, extend the same, as it may deem fit."

5 वर्ष की विहित अवधि या सम्यक् रूप से विस्तारित अवधि के भीतर, यदि कोई हो, स्कीम को निष्पादित और पूरा किया जाना चाहिए।

10. किन्तु हरियाणा के विद्वान महाधिवक्ता ने यह अभिवाक् किया कि धारा में प्रयुक्त 'निष्पादित करना' और उसके व्याकरणिक रूपभेदों का स्कीम के पूरा किए जाने का अर्थ नहीं है बल्कि उक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए कुछ आधारभूत कार्यवाही के आरम्भ किए जाने का अर्थ है। विशेष रूप से यह तर्क देने का प्रयास किया गया कि अधिनियम की अनुसूची के अधीन अर्जन कार्यवाहियां सम्यक् रूप से आरम्भ की जा चुकी हैं और अधिनिर्णय घोषित किया जा चुका है। अतः स्कीम निष्पादित मानी जानी चाहिए, उससे अधिक कुछ नहीं, और पिटीशनरों के वाद को इस आधार पर ही खारिज कर दिया जाना चाहिए। पूर्वोक्त दलील से विद्वान् महाधिवक्ता की पटुता को कुछ श्रेय तो अवश्य जाता है किन्तु यह अभिनिर्धारित करने के लिए किसी विद्वत्ता की आवश्यकता नहीं है कि वह स्पष्टतः अस्वीकार्य है। जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, पूरे संदर्भ से यह उपदर्शित होता है कि संशोधन द्वारा धारा 4-क अन्तःस्थापित करने में विधानमण्डल का उद्देश्य और आशय विहित समय के भीतर स्कीमों के निष्पादन और उसके पूरा किए जाने को सुनिश्चित करना और इस संदर्भ में होने वाले लम्बे विलम्ब की बुराई को दूर करना था। विद्वान् महाधिवक्ता के तर्क को स्वीकार करने का अर्थ उपबंध में निहित उद्देश्य को ही निरर्थक बनाना होगा। ऐसा इसलिए है कि यदि एक बार यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि स्कीम के आरम्भ किए जाने और उसके पूरा किए जाने के लिए कुछ कार्यवाही करने से विधि की अपेक्षाओं की पूर्ति हो जाती है, तो कोई भी विलम्ब, चाहे वह कितना भी अनियमित और अहितकर क्यों न हो, विधि की परिधि से परे होगा और उसके विरुद्ध नागरिक को कोई भी उपचार उपलब्ध नहीं होगा। इस विनिर्दिष्ट आधार पर भी, प्रत्यर्थियों की ओर से दिया गया तर्क स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है।

11. व्याकरणिक अर्थान्वयन के कठोर स्तरों पर भी पूर्वोक्त बृहत्तर विचारणाओं के अतिरिक्त, यह प्रकट होता है कि 'एक्जीक्यूट' (निष्पादन करना) या 'एक्जीक्यूशन' (निष्पादन) शब्द की परिधि के अन्तर्गत स्कीम का पूरा किया जाना आता है, न कि उसका मात्र आरम्भ किया जाना। बेब्स्टर कृत 'थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी' में 'एक्जीक्यूट' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—'प्रभावी बनाना, पूर्णतः कार्यान्वित करना' और चैम्बर्स ट्वैंटीयथ सैन्चुरी डिक्शनरी में भी 'एक्जीक्यूट' शब्द 'निर्वहन करना (निष्पादन करना), प्रभावी बनाना' का समतुल्य है। इस प्रकार इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

'एक्जीक्यूट' शब्द के सरल शब्दकोषीय अर्थ के आधार पर भी धारा 44-क को दिए जाने वाले अर्थ में स्कीम में वर्णित समय-सीमा के भीतर स्कीम का पूरा किया जाना विवक्षित है।

12. इस न्यायालय में पूर्वोक्त रीति में धारा 44-क का निर्वचन करने की एकरूप नजीर-शृंखला चली आ रही प्रतीत होती है। **सूरत राम** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया :—

> "हमें यह प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त उपबंध के अन्तःस्थापन द्वारा एक बहुत बड़े दोष को दूर किए जाने का प्रयास किया गया है, अर्थात् यह कि अब सुधार न्यास स्कीम को अनिश्चित अवधि तक लम्बित पड़ा नहीं रहने दे सकता है और उसे 5 वर्ष की समाप्ति से पूर्व ही स्कीम को निष्पादित और पूरा करना होगा। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विलम्ब की दशा में साधारणतः स्कीम का प्रयोजन निरर्थक हो जाता है और भूस्वामियों या अन्य व्यक्तियों को, जो स्कीम से प्रभावित होते हैं, बड़ी असुविधा होती है।"

राजेश्वर प्रसाद बनाम **हरियाणा राज्य**[2] वाले मामले में भी यही मत अपनाया गया है। **ब्रज लाल** बनाम **सिरसा इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, सिरसा**[3] वाले मामले में इन निर्णयों की शुद्धता को चुनौती देने का प्रयास किया गया है किन्तु खण्ड न्यायपीठ ने उक्त चुनौती को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया। इस निर्णय का **बक्शी राम** बनाम **हरियाणा राज्य**[4] वाले मामले में अनुसरण किया गया है। हम पूर्वोक्त मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं देखते हैं और वस्तुतः उससे पूर्ण सहमति व्यक्त करते हुए उसकी पुष्टि करते हैं।

13. अब हम अनिवार्यतः ऊपर निर्दिष्ट **त्रिलोक सिंह जैन वाले मामले**[5] में किए गए कुछ-कुछ विसम्मति-टिप्पण के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं, जिसके कारण, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, पूर्ण न्यायपीठ को यह निर्देश आवश्यक हुआ था। उसमें चर्खी दादरी में इसी स्कीम को दी गई चुनौती स्वयं

---

[1] 1979 पंजाब ला जर्नल 430.

[2] 1979 का सिविल रिट पिटीशन सं० 1087 जिसका विनिश्चय तारीख 24 मई, 1979 को किया गया।

[3] 1980 पंजाब ला जर्नल 436.

[4] 1981 पंजाब ला जर्नल 145.

[5] 1981 का सिविल रिट पिटीशन सं० 3790, जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया गया।

मामले के ग्रहण किए जाने के प्रक्रम पर ही संक्षिप्त रूप से अस्वीकार कर दी गई थी। तथापि, यदि उसमें व्यक्त किए गए मत का इस प्रतिपादना के लिए किसी वारण्टी (औचित्य) के रूप में अर्थान्वयन किया जाना है कि किसी स्कीम के निष्पादन के लिए किसी कार्यवाही का आरम्भ किया जाना मात्र अधिनियम की धारा 44-क के प्रयोजन के लिए पर्याप्त है, तो हमारी राय में वह स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है। संक्षिप्त निर्णय के प्रति निर्देश से यह दर्शित होगा कि समावेदन प्रक्रम पर मामले पर सिद्धान्त के आधार पर पर्याप्त रूप से जोर नहीं दिया गया था या उसकी विधायी पृष्ठभूमि के संदर्भ में भी पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था और न खण्ड न्यायपीठ के पूर्वतर निर्णय ही समावेदन न्यायपीठ की जानकारी में लाए गए थे। ऊपर अभिलिखित विस्तृत कारणों से हम सम्यक् सम्मान प्रदर्शित करते हुए यह महसूस करते हैं कि इस मामले में विधि को सही रूप से अधिकथित नहीं किया गया है और उसे एतद्द्वारा उलटा जा रहा है।

14. अन्त में यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि अधिनियम की धारा 44-क में अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से स्कीम के पूरा किए जाने के लिए अनम्यत: 5 वर्ष की अवधि का उपबंध किया गया है, जब तक कि उसके परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा उसका सम्यक् रूप से विस्तार नहीं किया जाता है।

15. पूर्वोक्त नियम के लागू किए जाने पर, इसमें रिट पिटीशनर सफल रहने के लिए पूर्णतः हकदार है। यह स्पष्ट है कि अधिनियम की धारा 42 के अधीन अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के भीतर स्कीम पूरी नहीं की गई है और न उसका परन्तुक के अधीन राज्य सरकार द्वारा कोई विधिमान्य विस्तार ही किया गया है। इस प्रकार उक्त समय-सीमा के पश्चात् की गई कार्यवाहियों से अधिनियम की धारा 44-क का स्पष्ट रूप से उल्लंघन हुआ है और वे एतद्द्वारा अभिखण्डित की जाती हैं। रिट पिटीशन, खर्चे सहित, मंजूर किया जाता है।

16. तथापि, इस निर्णय को समाप्त करने से पूर्व हम स्पष्टीकरण के रूप में, **ब्रज लाल वाले मामले**[1] में खण्ड न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किए गए मत पर पुनः जोर देना उचित समझते हैं :—

"तथापि, यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि स्कीम का भाग,

---

[1] 1980 पंजाब ला जर्नल 436.

जो 5 वर्ष की समाप्ति से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं माना जाएगा। धारा 44-क के उपबंधों में केवल यही अधिकथित किया गया है कि स्कीम का भाग, जो 5 वर्ष के भीतर निष्पादित नहीं किया जा सका उक्त अवधि की समाप्ति के पश्चात् निष्पादित नहीं किया जा सकता है, जब तक कि विधि के अनुसार समय का विस्तार नहीं किया जाता है।"

न्या० प्रेम चन्द जैन :

17. मैं सहमत हूं।

न्या० एस० सी० मित्तल :

18. मैं पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क के सही अर्थ के संबंध में माननीय मुख्य न्यायाधिपति के मत से ससम्मान सहमति व्यक्त करता हूं। तथापि, मैं यह और कहना चाहूंगा कि अब तक धारा 44-क का निर्वचन अधिनियम के अधीन स्कीमों को निष्पादित करने के प्रयोजन के लिए भूमियों के अर्जन के संबंध में किया गया है। इस प्रकार, **राधे श्याम वाले मामले**[1] में पूर्ण न्यायपीठ विनिश्चय के आधार द्वारा **सूरत राम** बनाम **हरियाणा राज्य**[2] और **ब्रज लाल** बनाम **सिरसा इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट**[3], तथा माननीय मुख्य न्यायाधिपति द्वारा निर्दिष्ट अन्य मामलों में खण्ड न्यायपीठों द्वारा पहले व्यक्त किए गए मत की भी पुष्टि की गई है। किन्तु **त्रिलोक सिंह जैन** बनाम **हरियाणा राज्य**[4] वाला मामला खण्ड न्यायपीठ का, जिसका मैं सदस्य था, विनिश्चय (सम्यक् सम्मान प्रदर्शित करते हुए) न केवल ऊपर प्रोद्धृत **सूरत राम**[2] और **ब्रज लाल**[3] वाले मामलों से ही स्पष्टतः प्रभेद्य है बल्कि इस समय विचाराधीन नवल सिंह और अन्य वाले मामले से भी स्पष्टतः प्रभेद्य है।

19. अब हम अधिनियम की धारा 44-क द्वारा यथाअनुध्यात, स्कीम के निष्पादन के प्रति निर्देश करेंगे। वर्तमान विकास स्कीम के प्रति, जो 19 पृष्ठों में है, संक्षिप्त निर्देश भी आवश्यक है। उसके आरम्भ में स्कीम के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र और उसकी सीमाओं का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् क्षेत्र के अर्जन और स्थल की सफाई के लिए, क्षेत्र पर किसी भवन या उसके भाग

---

1 ए० आई० आर० 1982 पंजाब-हरियाणा 519.

2 1979 पंजाब ला जर्नल 430.

3 1980 पंजाब ला जर्नल 436.

4 1981 रिट पिटीशन सं० 3790 जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया गया।

को गिराए जाने के लिए उपबंध आता है। निम्नलिखित के लिए भी उपबंध किए गए हैं—(1) सड़कों, गलियों, मार्गों और खुले स्थानों का अभिन्यास। (2) गलियों में जल-निकास, जल प्रदाय और प्रकाश की व्यवस्था। (3) स्कीम में समाविष्ट क्षेत्र के निवासियों के स्वास्थ्य के संवर्धन के लिए आशयित सभी कार्यों का किया जाना। स्कीम को निम्नलिखित रूप में और अधिक विस्तृत किया गया है :—

भाग I—साधारण

भाग II—भूमि उपयोग का आरक्षण और अभिधान

भाग III—निर्माण निर्बन्धन

भाग IV—प्रकीर्ण

प्रत्येक भाग के परिशीलन से वे स्पष्ट विवरण उपदर्शित हो जाते हैं, जिनमें स्कीम विरचित की गई है और उसका निष्पादन किया जाना है। पूर्वगामी कारणों से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कीम के निष्पादन के लिए अधिनियम की धारा 44-क द्वारा विहित 5 वर्ष की अवधि स्कीम के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र के अर्जन तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती है। वस्तुतः यह उसके निष्पादन के लिए की गई प्रारम्भिक कार्यवाहियों में से एक है। अब, इस प्रतिपादना से कोई विरोध या मतभेद प्रतीत नहीं होता है कि यदि किसी विशेष मामले में किसी क्षेत्र का अर्जन 5 वर्ष की विहित अवधि के भीतर सभी प्रकार पूर्ण हो जाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता है कि यदि स्कीम 5 वर्ष के भीतर अन्यथा पूर्णतः अनिष्पादित रहती है, तो उस क्षेत्र का उक्त अर्जन अनस्तित्वशील होगा।

20. उपर्युक्त विवेचन से अब हम अधिनियम की धारा 44-क के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण पर आते हैं, जो इस प्रकार है :—

"ऐसी कोई भी स्कीम, जिसकी बाबत धारा 42 के अधीन अधिसूचना प्रकाशित की गई है, ऐसी अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के भीतर न्यास द्वारा निष्पादित की जाएगी :

परन्तु राज्य सरकार, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उक्त अवधि के भीतर स्कीम को निष्पादित करना न्यास के नियंत्रण से परे है, उसमें ऐसा विस्तार कर सकेगी, जैसा वह ठीक समझे।"

स्पष्टतः यह धारा दो भागों में है। अधिनियमनकारी भाग में अधिनियम की धारा 42 के अधीन उसकी अधिसूचना की तारीख से 5 वर्ष की अवधि के

भीतर न्यास द्वारा स्कीम के निष्पादन का उपबंध किया गया है। परन्तुक द्वारा राज्य सरकार को उस स्थिति में 5 वर्ष की विहित अवधि को विस्तारित करने के लिए सशक्त किया गया है, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उक्त 5 वर्ष की अवधि के भीतर स्कीम को निष्पादित करना न्यास के नियंत्रण से परे है। जहां तक अधिनियम की धारा 44-क के प्रथम भाग का संबंध है, अब इस न्यायालय द्वारा यह सुस्थापित किया जा चुका है (**ब्रज लाल वाला मामला**[1] देखें) कि स्कीम का वह भाग, जो 5 वर्ष की समाप्ति से पूर्व अन्तिम रूप से निष्पादित कर दिया गया है, परित्यक्त नहीं समझा जाएगा। मैं इस मत से भी ससम्मान सहमति व्यक्त करता हूं कि अधिनियम की धारा 44-क के परन्तुक के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में राज्य सरकार से 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व ही उसे विस्तारित करने की अपेक्षा की गई है; उक्त 5 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् मंजूर किया गया कोई भी समय विस्तार अवैध होगा। परिणामतः, अविधिमान्य विस्तार अभिप्राप्त करने के पश्चात् स्कीम के निष्पादन लिए न्यास द्वारा किया गया कोई भी कार्य अवैध होगा। इस विवेचन से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायालय से इस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की जाती है कि क्या विनिश्चित किया जाने वाला मामला उक्त धारा के अधिनियमनकारी भाग की परिधि के अन्तर्गत आता है या उसके परन्तुक की परिधि के अन्तर्गत।

21. इस पृष्ठभूमि में ये प्रमुख तथ्य सामने आते हैं कि अधिनियम की धारा 42(1) के अधीन तारीख 6 फरवरी, 1976 को प्रश्नगत स्कीम प्रकाशित की गई थी। उसके निष्पादन के लिए, अधिनियम की धारा 44-क द्वारा 5 वर्ष की अवधि विहित की गई थी। तारीख 29 जनवरी, 1981 को हरियाणा सरकार से दो वर्ष का विस्तार प्राप्त करने के लिए संकल्प (नवल सिंह वाले मामले में उपाबंध आर-3) पारित किया गया था। उसके पश्चात् तारीख 27 अगस्त, 1981 को प्रशासक ने सरकार को उस संबंध में एक स्मरणपत्र भेजा। यह कहना पर्याप्त होगा कि उक्त 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व सरकार ने उक्त अवधि का विस्तार नहीं किया। इस प्रकार इस बारे में दो राय नहीं हो सकती हैं कि ऐसे किसी भी कार्य को, जिसके अन्तर्गत अर्जन कार्यवाहियों का पूरा किया जाना भी सम्मिलित है, जो न्यास द्वारा 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति के पश्चात् किया गया है, व्यावृत्ति प्रदान नहीं की जा सकती है, क्योंकि उक्त अवधि के पश्चात् स्कीम अनिष्पाद्य हो गई थी (देखें

[1] 1980 पंजाब ला जर्नल 435.

सूरत राम[1] और **ब्रज लाल**[2] वाले मामले)। नवल सिंह और अन्य वाले मामले, जो इस समय विचाराधीन हैं, प्रायः उसी आधार पर स्थित हैं। अतः मैं माननीय मुख्य न्यायाधिपति के इस मत से सहमत हूं कि ये रिट पिटीशन मंजूर किए जाएं।

22. जहां तक त्रिलोक सिंह जैन (1981 का सिविल रिट पिटीशन सं० 3790) वाले मामले का संबंध है, आरम्भ में ही यह उल्लेख करना उचित होगा कि वह संक्षिप्त आदेश द्वारा आरम्भ में ही खारिज कर दिया गया था। निस्संदेह उक्त मामले में भी त्रिलोक सिंह जैन की भूमि का अर्जन प्रश्नगत स्कीम (उपाबंध पी-1) के निष्पादन के अनुक्रम में ही किया गया था। अब, **उड़ीसा राज्य बनाम सुधांशु शेखर मिश्र**[3] वाले मामले का प्रोद्धरण उपयोगी होगा, जिसमें माननीय न्यायाधीशों ने यह विनिर्णय किया कि "कोई भी विनिश्चय केवल उस चीज के लिए ही नजीर है जिसका वह वास्तव में विनिश्चय करता है—विनिश्चय में उसका आधार ही सारभूत तत्त्व होता है, न कि उसमें की गई प्रत्येक मताभिव्यक्ति और न उसमें की गई विभिन्न मताभिव्यक्तियों से तार्किक परिणति के रूप में सामने आने वाले निष्कर्ष। **त्रिलोक सिंह जैन वाले मामले**[4] के तात्त्विक तथ्य इस प्रकार हैं—स्कीम के प्रकाशन के पश्चात् भूमि अर्जन कलक्टर ने तारीख 7 जुलाई, 1976 को, भूमि को कब्जे में लेने के लिए भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 9 के अधीन सूचना जारी की। प्रतिकर के लिए अधिनिर्णय तारीख 3 नवम्बर, 1976 को पारित किया गया। त्रिलोक सिंह जैन के इस अभिकथन का कि अधिनिर्णय के पारित किए जाने के बावजूद, भूमि पर उसका कब्जा बना हुआ था, प्रत्यर्थियों द्वारा अपने लिखित कथनों में जोरदार खण्डन किया गया है। उन्होंने विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिवचन किया कि कलक्टर के अधिनिर्णय के पश्चात् त्रिलोक सिंह जैन ने प्रतिकर प्राप्त कर लिया था और तारीख 9 जनवरी, 1977 को उसे भूमि से बेकब्जा कर दिया गया था। इस प्रकार भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 16 के आधार पर त्रिलोक सिंह जैन की भूमि, सभी प्रकार के विल्लगमों से मुक्त रूप में, चर्खी दादरी सुधार न्यास में निहित हो गई। त्रिलोक सिंह जैन ने इस बात से इनकार नहीं किया कि उसने प्रतिकर प्राप्त किया है। ऐसी वस्तुस्थिति में, प्रत्यर्थियों के इस आधार को अविश्वसनीय मानने के लिए अभिलेख में कोई ठोस चीज नहीं है कि त्रिलोक सिंह

[1] 1979 पंजाब ला जर्नल 430.

[2] 1980 पंजाब ला जर्नल 436.

[3] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 647.

[4] 1981 का सिविल रिट पिटीशन सं० 3790 जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया गया।

जैन को बेकब्जा कर दिया गया था। उसका शुद्ध परिणाम यह हुआ कि त्रिलोक सिंह जैन की भूमि का अर्जन तारीख 19 जनवरी, 1977 को पूरा हो गया था। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि स्कीम के निष्पादन के लिए 5 वर्ष की विहित अवधि फरवरी, 1981 में समाप्त हो गई थी। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि त्रिलोक सिंह जैन वाला मामला अधिनियम की धारा 44-क के अधिनियमनकारी भाग के अन्तर्गत आने वाले मामलों के पूर्वोक्त प्रवर्ग के अन्तर्गत आता है और उसकी भूमि के अर्जन को ब्रज लाल वाले मामले में माननीय मुख्य न्यायाधिपति द्वारा व्यक्त किए गए मत द्वारा, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, संरक्षण मिलता है।

23. तथापि, त्रिलोक सिंह जैन ने अपने रिट पिटीशन के पैरा 9 में निम्नलिखित प्रकथन करके अभिपुष्ट स्थिति को अकृत कराने का हल्का-सा प्रयास किया :—

> "इस रिट पिटीशन में अन्तर्वलित मुख्य विधि-बिन्दु इस प्रकार हैं कि क्या प्रत्यर्थी सं० 2 की स्कीम (उपाबंध पी-1), टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट की धारा 44-क द्वारा यथा उपबंधित, 5 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् अनिष्पाद्य या अनस्तित्वशील हो गई है और क्या प्रत्यर्थी को अर्जन कार्यवाहियां वापस ले लेनी चाहिए थीं, जब वह स्कीम, जिसके लिए भूमि अर्जित की गई थी, अनिष्पाद्य और इस प्रकार विधि की दृष्टि में अनस्तित्वशील हो गई है।"

तदनुसार रिट पिटीशन के पैरा 14(ii) में निम्नलिखित अनुरोध किया गया :—

> "इस आशय का उत्प्रेषण रिट जारी किया जाए कि उपाबंध पी-1 द्वारा मंजूर की गई स्कीम के बारे में यह घोषणा की जाए कि वह अब अस्तित्व में नहीं रह गई है और उसके आधार पर की गई अर्जन कार्यवाहियां भी अप्रवंतनशील घोषित की जाएं क्योंकि 5 वर्ष की अवधि के दौरान स्कीम का कोई भाग निष्पादित नहीं किया गया था।"

इस तथ्य के अतिरिक्त कि प्रत्यर्थी ने इस अभिकथन का जोरदार खण्डन किया था कि स्कीम का कोई भी भाग 5 वर्ष की अवधि के भीतर निष्पादित नहीं किया गया था, त्रिलोक सिंह जैन वाले मामले का दूसरा तात्त्विक प्रभेद्य लक्षण यह है कि उसकी भूमि का अर्जन 5 वर्ष की विहित अवधि की समाप्ति से पूर्व पूरा हो गया था, अतः उसने, नवल सिंह और अन्य लोगों के समान ही, तारीख

19 जनवरी, 1981 के ऊपर वर्णित संकल्प का अवलम्ब नहीं लिया, जो नवल सिंह के रिट पिटीशन का उपाबंध पी-3 है, जिसके द्वारा सरकार को, अधिनियम की धारा 44-क के परन्तुक के अधीन उसकी शक्तियों के प्रयोग में, अवधि का विस्तार करने के लिए समावेदन किया गया था। दूसरे शब्दों में, त्रिलोक सिंह जैन का न्यायपीठ के समक्ष यह पक्षकथन नहीं था कि स्कीम को कार्यान्वित करने के लिए विहित अवधि को विस्तारित कराके न्यास उसकी भूमि के अर्जन को पूरा करने का प्रयास कर रहा था।

24. यह बात पूरी तरह जानते हुए कि त्रिलोक सिंह जैन का मामला ब्रज लाल वाले मामले जैसे अन्य विनिश्चित मामलों से प्रभेद्य था, उसके काउन्सेल ने उनमें से किसी का भी अवलम्ब नहीं लिया। इस प्रकार न्यायपीठ को ऐसी कोई राय व्यक्त करने का अवसर नहीं मिला, जिसका भिन्न अर्थान्वयन किया जा सकता हो। सम्यक् सम्मान प्रदर्शित करते हुए, मैं यह राय व्यक्त करना चाहता हूं कि उसके उलटे जाने का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता है।

न्यायालय का निर्णय :

25. सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया जाता है :—

(i) पंजाब टाउन इम्प्रूवमेंट ऐक्ट, 1922 की धारा 44-क में अधिनियम की धारा 42 के अधीन स्कीम की अधिसूचना की तारीख से स्कीम के पूरा किए जाने के लिए 5 वर्ष की अवधि का अनन्य रूप से उपबंध किया गया है, जब तक कि उसे उक्त धारा के परन्तुक के अधीन सरकार द्वारा सम्यक् रूप से विस्तारित नहीं किया जाता है;

(ii) रिट पिटीशन सफल रहता है और खर्चे सहित मंजूर किया जाता है।

26. बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया :—

त्रिलोक सिंह जैन बनाम हरियाणा राज्य (सिविल रिट पिटीशन सं० 3790/1981) वाले मामले में, जिसका विनिश्चय तारीख 25 सितम्बर, 1981 को किया गया, विधि सही ढंग से अधिकथित नहीं की गई है और इसलिए उसे एतद्द्वारा उलटा जा रहा है।

निर्देशित प्रश्न का उत्तर दिया गया।

नरेश

नि॰ प॰ 1984 : पंजाब-हरियाणा—31

प्रीतम कौर बनाम सुरजीत सिंह

(Pritam Kaur *Vs.* Surjit Singh)

तारीख 31 अक्तूबर, 1983

[मु॰ न्या॰ एस॰ एस॰ संधानवालिया, न्या॰ प्रेम चन्द जैन और एस॰ सी॰ मित्तल]

पूर्वोदाहरण—न्यायिक पूर्वोदाहरण, विशेष रूप से पूर्ण न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय आबद्धकर होते हैं—ऐसे विनिश्चय पर ऐसे किसी नए तर्क के आधार पर, जो पूर्ववर्ती विनिश्चय दिए जाते समय उठाया नहीं गया था या उस पर विचार नहीं किया गया था, पुनर्विचार नहीं किया जा सकता।

प्रत्यर्थी-पति और अपीलार्थी-पत्नी के बीच दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के वाद में विचारण न्यायालय ने दोनों पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विशद विचार करने के पश्चात् दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का अनुसरण करते हुए, दे दी और अपीलार्थी-पत्नी से यह अपेक्षा की गई कि वह वैवाहिक बाध्यताओं का निर्वहन करे।

विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी-पत्नी ने यह अपील फाइल की है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चयाधार से स्पष्ट रूप से असहमति व्यक्त की। विशेष रूप से उसने यह मत व्यक्त किया कि यह बिल्कुल ही नया तर्क जिसे संविधान के अनुच्छेद 14 के समता वाले खण्ड पर आधारित करना चाहा गया है, पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष नहीं उठाया गया था और परिणामतः उसने इस पर विचार नहीं किया था। अतः इस आधार पर एकल न्यायाधीश ने उस विनिश्चयाधार का अनुसरण करने से इनकार कर दिया। इसके विपरीत श्रीमती कैलाशवती वाले पूर्वोक्त मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय पर बृहत् न्यायपीठ द्वारा पुनर्विचार किए जाने के लिए यह निर्देश किया है। इस निर्देश में पूर्वोदाहरण का सिद्धान्त और इसकी आबद्धकर प्रकृति महत्त्वपूर्ण रूप से मुख्य विवाद्यक है।

अभिनिर्धारित—निर्देश का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

यदि पूर्वोदाहरण को आबद्धकर मानते हैं तो न्यायिक क्षेत्र के भीतर इससे

कोई विचलन, (इस निर्णय के पैरा 12 में प्रगणित सुमान्य मामलों के सिवाय) अनुज्ञात नहीं किया जा सकता। सामान्यतः पूर्वोदाहरणों की आबद्धकर प्रकृति और विशेष रूप से पूर्ण न्यायपीठों के पूर्वोदाहरणों की आबद्धकर प्रकृति न्यायिक प्रणाली का आधार है। यह ऐसा बन्धन है जो एक सूत्र में बांधता है अन्यथा न्याय प्रणाली व्यक्तिगत रायों का ऐसा जंगल बन सकती है जिसके परिणामस्वरूप वास्तव में न्यायिक अव्यवस्था फैल जाए। यह एक स्वारोपित अनुशासन है जो ठीक ही विधि की अन्य विचारधाराओं की असूया का विषय है क्योंकि यहां स्थिति स्वतः सिद्ध और सुस्थिर है इसलिए किसी विवाद्यक पर सिद्धान्त के तौर पर व्याख्या करना अनावश्यक है। पूर्ण न्यायपीठों और वरिष्ठ न्यायालयों के पूर्वोदाहरणों के अलावा यह देखने में आता है कि उसी उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठों के निर्णय एक सीमित रूप में इस भाव में आबद्धकर हैं कि यह किसी समकक्ष न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रतिकूल कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। अधिक-से-अधिक समकक्ष न्यायपीठ उस पर बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुर्नविचार की मांग कर सकती है। एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से अधिकथित विधि उस उच्च न्यायालय के भीतर आबद्धकर है जिसमें यह प्रतिपादित की जाती है और उसके बारे में हर एक अस्पष्ट सन्देह बृहत न्यायपीठ द्वारा उस पर पुनर्विचार को न्यायोचित नहीं ठहराता और इस प्रकार विधि को पुनः विचारण की प्रक्रिया के अधीन नहीं बनाता। पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चयाधार अधिक निश्चित आधारों पर आधारित होते हैं और होने चाहिए और उन्हें किंचित मतवैभिन्य के आधार पर प्रश्नास्पद नहीं किया जाना चाहिए। केवल बहुत ही सीमित दायरे के भीतर बृहत्तर न्यायपीठ के निर्णय को पुनः विचार किए जाने के लिए प्रश्नगत किया जा सकता है। इनमें में एक स्पष्ट कारण यह है कि जहां निस्सन्देह रूप से यह बात प्रकट हो कि इसके विनिश्चयाधार को वरिष्ठ न्यायालय अथवा उसी न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ ने पश्चात्‌वर्ती निर्णय द्वारा उसे सीमित कर दिया है। जहां निश्चिततापूर्वक यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि समकक्ष न्यायपीठ ने उसके प्रतिकूल विधि अधिकथित की है और तीसरे जहां विनिश्चायक रूप से यह कहा जा सकता हो कि बृहत न्यायपीठ का निर्णय इस कारण गलत दिया गया था क्योंकि उसमें बिल्कुल स्पष्ट कानूनी उपबंध की अथवा पूर्ववर्ती आबद्धकर पूर्वोदाहरण की अवेक्षा नहीं की गई है। सामान्य रूप से इन्हीं निर्बंधित सीमाओं के भीतर लघु न्यायपीठ पूर्ववर्ती दृष्टिकोण पर पुनर्विचार किए जाने का सुझाव दे सकती है अन्यथा नहीं। किन्तु इन मामलों में न तो सैद्धान्तिक होना और न ही व्यापक विवरण देना सर्वोत्तम होगा तो भी पूर्वोक्त प्रवर्ग स्वीकृत रूप से

ऐसे सुमान्य प्रवर्ग हैं जिनमें अन्यथा आबद्धकर पूर्वोदाहरण के पुनर्विचार का सुझाव दिया जा सकता है। (पैरा 9, 10, 11 और 12)

बृहत् न्यायपीठों को निर्देश किए जाने के समान रूप से सुस्थिर सिद्धान्त के प्रति प्रासंगिक टीका टिप्पणी अपेक्षित है। मान्य पूर्वोदाहरण द्वारा यह अनावश्यक है कि उन न्यायाधीशों की संख्या का सुझाव दिया जाए जिनसे पूर्ण न्यायपीठ में विधि के महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार अथवा पुनर्विचार करने की प्रार्थना की जाए। यह ऐसा मामला है जिस पर हर एक मामले के अपने तथ्यों के आधार पर विचार किया जाएगा और उनका विनिश्चय किया जाएगा और इसलिए न्यायाधीशों की संख्या अथवा उनके क्रम बताना जिनसे मामले पर विचार करने की अपेक्षा की जाए, बिल्कुल खुला छोड़ दिया जाना चाहिए। किन्तु समान रूप से इस बात का विस्तृत रूप से उल्लेख करना उचित है कि बृहत् न्यायपीठ द्वारा स्थिर की गई विधि को प्रश्नगत करने अथवा उस पर पुनर्विचार करने के लिए वैध आधार क्या नहीं हो सकता। ऊपर 'आबद्धकर' शब्द के प्रयोग से ही यह पता चलता है कि इस तथ्य के बावजूद मान्य होगा भले ही जो न्यायपीठ उसका अनुसरण करने के लिए बाध्य है, वह उस दृष्टिकोण से बिल्कुल भी सहमत न हो। यह विधि का एक आवश्यक अनुसरण है कि वरिष्ठ न्यायालयों और बृहत् न्यायपीठों के निर्णयों का निस्संकोच रूप से अनुसरण किया जाना होता है भले ही व्यक्तिगत रूप से कोई उनकी शुद्धता के बारे में सन्देह करे। इसका तर्क बहुत सरल है क्योंकि सार्वभौम भौतिक एकमत ऐसा आदर्श है जिसे प्राप्त करना अव्यावहारिक है। परिणामतः वह युक्ति और तर्क जिस पर बृहत् न्यायपीठ का विनिश्चयाधार आधारित होता है उस पर पुनर्विचार नहीं किया जा सकता। नकारात्मक रूप से इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि बृहत् न्यायपीठ की युक्ति और तर्क उसे उलटने के लिए वैध आधार नहीं हो सकता और उस प्रश्न को परिवर्तन की स्थिति में लाकर पुनः विचार और उसकी पुनः परीक्षा नहीं की जा सकती। यदि बृहत् न्यायपीठ के विनिश्चयाधार और वरिष्ठ न्यायालयों के निर्णय काउंसेल द्वारा नए तर्क के रूप में विदग्धता की दल-दल पर आधारित हों (जो तर्क पहले नहीं दिया गया था और इस पर विचार नहीं किया गया था) जिससे कि उनको उलटा जा सके तब आबद्धकर पूर्वोदाहरण की अंतिमता का मान्य नियम केवल एक कठिन मरीचिका बन जाएगी। श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चयाधार विद्वान् एकल न्यायाधीश पर आबद्धकर था और वह उसका अनुसरण करने के लिए आबद्ध था। अतः इस पर पुनर्विचार किए जाने के लिए कोई प्रश्न एकल न्यायपीठ के समक्ष नहीं उठाया जा सकता था। (पैरा 13, 14, 16 और 18)

पैरा

[1980] ए० आई० आर० 1980 कर्नाटक 169 : चिकमुड्डू **बनाम** कर्नाटक राज्य (Chikkamuddu *Vs.* State of Karnataka); 16

[1977] ए० आई० आर० 1977 गुजरात 76 : रमन लाल केशव लाल सोनी **बनाम** गुजरात राज्य (Ramanlal Keshavlal Soni *Vs.* State of Gujarat); 16

[1964] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 448 : सी० वरदाराजुलू नायडू **बनाम** बेबी अम्माल (C. Varadarajulu Naidu *Vs.* Baby Ammal); 11

[1962] (1962) 64 पी० एल० आर० 235 : चेतू राम **बनाम** आशा नन्द (Chetu Ram *Vs.* Asa Nand) 11
का **अवलम्ब** लिया गया।

[1977] (1977) 79 पी० एल० आर० 216 : कैलाशवती **बनाम** अयोध्या प्रकाश (Kailash Wati *Vs.* Ayodhia Parkash); 1

[1974] [1974] 2 उम० नि० प० 952=ए० आई० आर० 19 4 एस०सी० 2009 : मगन लाल छगन लाल (प्रा०) लि० **बनाम** नगर निगम, बृहत्तर मुम्बई [Meganlal Chhagganlal (P) Ltd. *Vs.* Municipal Corporation of Greater Bombay]; 11

[1973] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 974 : टी० गोविन्द राज मुदलियार **बनाम** तमिलनाडु राज्य (T. (Govindaraja Mudaliar *Vs.* State of Tamil Nadu); 16

[1968] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 372 : त्रिभुवन दास पुरुषोत्तम ठक्कर **बनाम** रतिलाल पटेल (Tribhuvandas Purshottamdas Thakkar *Vs.* Ratilal Patel); 8

[1965] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1767 : लाला 11

श्रीभगवान **बनाम** रामचन्द (Lala Sri Bhagwan *Vs*. Ram Chand);

[1964] ए० आई० आर०, 1964 एस० सी० 136 : ए० राघवम्मा **बनाम** ए० चेनचम्मा (A. Raghavamma *Vs*. A. Chenchamma); 8

[1963] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 151 : श्रीमती सोमवन्ती **बनाम** पंजाब राज्य (Smt. Somwanti *Vs*. State of Punjab); 16

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83 : जयश्री साहू **बनाम** राज दीवान दूबे (Jaisri Sahu *Vs*. Rajdewan Dubey); 11

[1960] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 1118 : जयकौर **बनाम** शेर सिंह (Jai Kaur *Vs*. Sher Singh); 10

[1960] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 936 : महादेव लाल कनोड़िया **बनाम** दि एडमिनिस्ट्रेटर जनरल, वैस्ट बंगाल (Mahadeolal Kanodia *Vs*. The Administrator General of West Bengal); 11

[1944] (1944) 2 आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 293 : यंग **बनाम** ब्रिस्टल एरोप्लेन कम्पनी लिमिटेड (Young *Vs*. Bristol Aeroplane Co. Ltd.); 6

[1916] 1916 आई० ए० सी० 314 : प्रोड्यूस ब्रोकर्स कम्पनी लि० **बनाम** ओलिम्पस आयल एण्ड केक कम्पनी लि० (Produce Brokers Co. Ltd. *Vs*. Olympis Oil. and Cake Co Ltd.); 7

[1914] (1914) 3 के० बी० 458 : वेलाज्क्वेज लि० **बनाम** इनलैण्ड रेवेन्यू कमिश्नर्स (Velazquez Ltd. *Vs*. Inland Revenue Commissioners) 7

का **अनुसरण** किया गया ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 के आदेश सं० 106 के विरुद्ध की गई प्रथम अपील ।

1978 के आदेश सं० 106 के विरुद्ध की गई प्रथम अपील में किया गया निर्देश।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री जे० आर० मित्तल और पवन बंसल

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री सुरजीत सिंह और ए० एल० बंसल

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया ने दिया।

मु० न्या० संधानवालिया :

पूर्वोदाहरण का सिद्धान्त और इसकी आबद्धकर प्रकृति, जो हमारी न्यायिक प्रणाली का आधार है, विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा किए गए इस निर्देश में महत्वपूर्ण रूप से मुख्य विवाद्यक है। एकल न्यायाधीश ने **श्रीमती कैलाशवती** बनाम **अयोध्या प्रकाश**[1] वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चयाधार से प्रारम्भ में ही अपनी असहमति अभिलिखित की है और यह चाहा है कि बृहत् न्यायपीठ द्वारा इस पर पुर्नविचार किया जाए। इस विचित्र विवाद्यक का अपरिहार्य रूप से प्रारम्भ में ही न्यायनिर्णयन आवश्यक है।

2. पूर्वोक्त विवाद्यक विघटित विवाह से उत्पन्न होता है। प्रत्यर्थी पति ने हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 9 के अधीन एक पिटीशन अपीलार्थी-पत्नी के विरुद्ध दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए फाइल किया। यह प्रकथन किया गया कि पक्षकारों का विवाह जुलाई, 1968 में हुआ था और इस विवाह से उनकी एक पुत्री हुई थी जिसकी मृत्यु उसके जन्म के कुछ दिनों के अन्दर ही हो गई थी। दम्पति एक वर्ष अथवा कुछ कम समय के लिए साथ-साथ रहे और वह भी यदा-कदा और उसके पश्चात् 17 अगस्त, 1972 को अपीलार्थी-पत्नी ने किसी युक्तियुक्त कारण के बिना प्रत्यर्थी-पति का साथ छोड़ दिया और प्रत्यर्थी-पति और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के बार-बार प्रार्थना और अनुनय-विनय करने के बावजूद उसने वापस आने और उसके साथ रहने से इंकार कर दिया। अन्ततोगत्वा प्रत्यर्थी-पति के कुटुम्ब के सदस्यों सहित एक पंचायत ने अपीलार्थी-पत्नी से दाम्पत्य गृह वापस लौटने के लिए सम्पर्क किया और प्रार्थना की किन्तु उसने वापस लौटने और उसके साथ भटिंडा में रहने से साफ इनकार कर दिया। इसके पश्चात् प्रत्यर्थी-पति ने विवश होकर फरवरी, 1974 में

[1] (1977) 79 पी० एल० आर० 216.

पत्नी पर एक रजिस्ट्रीकृत विधिक नोटिस की तामील की जिसमें उसने आकर उसके साथ रहने की प्रार्थना को दोहराया। उसके अनुसरण में अपीलार्थी-पत्नी के भटिंडा में अपने पति के घर पर कुछ दिन के लिए लौटने का दिखावा किया और वह पुन: 16 मई, 1974 को अपने माता-पिता के घर चली गई। उसके पश्चात् अपीलार्थी-पत्नी को दाम्पत्य गृह में लौटने के लिए किए जाने वालेलगातार प्रयोजनों के असफल होने पर 27 जुलाई, 1974 को दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत किया गया।

3. पिटीशन का विरोध करते हुए अपीलार्थी-पत्नी ने विवाह को स्वीकार किया किन्तु यह अभिवचन किया कि वह एक दूसरे राज्य राजस्थान में अध्यापिका के रूप में सेवा कर रही है जहां पर विवाह के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर उसको तैनात किया गया है। यह अभिकथन किया गया कि वह प्रत्यर्थी-पति की सम्मति से राजस्थान सरकार की सेवा करती आ रही है। उसने यह अभिवचन किया कि वह प्रायिक रूप से छुट्टियों के दौरान प्रत्यर्थी-पति के पास आती रही है क्योंकि वह अपनी तैनाती के विभिन्न स्थानों पर राजस्थान में सेवा करती रही है। प्रत्यर्थी-पति द्वारा फाइल किए गए उत्तर में इस बात का जोरदार रूप से खण्डन किया गया है कि अपीलार्थी-पत्नी राजस्थान सरकार की सेवा उसकी सम्मति से कर रही है और इसके बजाय यह प्रकथन किया गया कि इसके विपरीत वह पति की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध ऐसा कर रही है। लिखित कथन में किए गए अन्य अभिकथनों का भी खण्डन किया गया है।

4. पूर्वोक्त अभिवचनों के आधार पर विचारण न्यायालय ने एकमात्र विवाद्यक निम्नलिखित रूप में विरचित किया :—

> "क्या प्रत्यर्थी ने किसी युक्तियुक्त कारण के बिना पिटीशनर का साथ छोड़ दिया है ?"

दोनों पक्षकारों द्वारा पेश किए गए साक्ष्य पर विशद् विचार के पश्चात् विचारण न्यायालय तथ्य के इस स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुंचा :—

> "प्रस्तुत मामले में पिटीशनर भटिंडा में नियोजित है जबकि प्रत्यर्थी राजस्थान राज्य में सेवा कर रही है। इन परिस्थितियों में वे सप्ताह के अन्त में भी अथवा आनुकल्पिक सप्ताहांत में अथवा जब उनकी कुछ छुट्टियां हों, एक दूसरे के पास नहीं जा सकते हैं। वे एक साथ केवल तभी रह सकते हैं जब प्रत्यर्थी की वर्ष में एक बार छुट्टियां होती हैं। मेरी यह राय है कि ऐसी व्यवस्था विवाह की मुख्य धारणा

के विरुद्ध है जो यह अपेक्षित करती है कि दोनों पति-पत्नी साथ रहें और वैवाहिक बाध्यताओं का निर्वहन करें।"

ठीक रूप से यह अभिनिर्धारित करते हुए कि पूर्वोक्त आधार पर श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय इस पिटीशन को प्रत्यक्षत: लागू होता है, इसे स्वीकार किया गया और पति के पक्ष में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री दी गई।

5. विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी-पत्नी ने यह अपील फाइल की है। प्रारम्भ में इसे विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया गया और उसके समक्ष अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने श्रीमती कैलाशवती वाले पूर्वोक्त मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चयाधार पर हल्के तौर पर आक्षेप करने का प्रयत्न किया। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अपने निर्देश-आदेश में उस तार्किक विचारधारा और पूर्ण न्यायपीठ के निष्कर्ष से स्पष्ट रूप से असहमति व्यक्त की है। विशेष रूप से उसने यह मत व्यक्त किया कि एक बिलकुल ही नया तर्क, जिसे संविधान के अनुच्छेद 14 के समता वाले खण्ड पर आधारित करना चाहा गया है, पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष नहीं उठाया गया था और परिणामत: उसने इस पर विचार नहीं किया था। इस आधार पर उसने उस (विनिश्चयाधार) का अनुसरण करने से इन्कार कर दिया और यह मत व्यक्त किया कि श्रीमती कैलाशवती वाले पूर्वोक्त मामले में पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय की और भी बृहत न्यायपीठ द्वारा पुनर्विचार किये जाने की आवश्यकता है और तद्नुसार निर्देश किया गया।

6. हमारे समक्ष वास्तव में पक्षकारों की यह सामान्य और स्वीकृत स्थिति है कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों को श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चयाधार अंतर्वलित विधिक विवाद्यकों को प्रत्यक्षत: और पूर्णत: लागू होता है। यदि एक बार यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है जो कि अपरिहार्य रूप से किया ही जाना चाहिए तो सुतराम् इसका विनिश्चयाधार विद्वान् एकल न्यायाधीश के लिए आबद्धकर है। इस आबद्धकर प्रकृति का प्रमित अर्थ क्या है इसकी विशद् व्याख्या किए जाने की आवश्यकता नहीं है। दो शताब्दी पूर्व ब्लैक्सटन ने अपनी विख्यात कामेंट्रीज में पूर्वोदाहरण की आबद्धकर प्रकृति के नियम को निम्नलिखित रूप में प्रतिपादित किया है :—

"जब उन्हीं मुद्दों पर पुन: मुकदमेबाजी हो तो पूर्वोदाहरण का पालन किया जाना एक नियम बन चुका है। साथ ही न्याय की तुला

को संतुलित और सुस्थिर रखने के लिये भी और हर एक न्यायाधीश की नई राय से उसमें फेरफार न हो और साथ ही इसलिए भी कि उस मामले में विधि निष्ठापूर्वक घोषित और अवधारित कर दी जाती है तो जो अनिश्चित था वह अब एक स्थायी नियम बन गया है और पश्चात्‌वर्ती किसी न्यायाधीश के लिए अपनी निजी भावना के अनुसार उसमें परिवर्तन या फेरफार करना उसकी अधिकारिता के भीतर नहीं है।"

हमारे विधिशास्त्र में पूर्वोक्त नियम का निस्संकोच रूप से अनुसरण किया जाता रहा है यहां तक कि इंग्लैंड के वरिष्ठ न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि वे अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों से आबद्ध हैं भले ही उस विनिश्चय को देने वाले न्यायाधीशों की संख्या कुछ भी रही हो। **यंग बनाम ब्रिस्टल ऐरोप्लेन कम्पनी लि०**[1] वाले मामले में यह बात सन्देहातीत रूप से सुस्थिर कर दी गई है कि अपील न्यायालय अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों का, इस तथ्य के बावजूद कि वह निर्णय उस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने दिया था अथवा पूर्ण न्यायपीठ ने, अनुसरण करने के लिए आबद्ध है। इस नियम के अनुरूप हाउस आफ लार्ड्स भी अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों द्वारा अनम्य रूप से इतना आबद्ध है कि उसमें संसद् के अधिनियम द्वारा ही सुधार किया जा सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु अंतिम न्यायालय होने के कारण इस कठोर नियम के बारे में एक सीमित तब्दीली प्रैक्टिस स्टेटमैन्ट (जुडीशियल प्रेसीडैन्ट)[2] द्वारा निम्नलिखित रूप में की गई है :—

"लार्ड गार्डिनर एल० सी० : माननीय लार्ड्स पूर्वोदाहरण के प्रयोग को ऐसा अपरिहार्य आधार मानते हैं जिसके आधार पर यह विनिश्चित किया जाता है कि विधि क्या है और यह व्यक्तिगत मामले पर किस प्रकार लागू की जाए। कम से कम यह ऐसी निश्चितता का उपबंध करती है जिसका व्यक्ति अपने कार्यकलाप के संचालन के लिए अवलम्ब ले सकते हैं और साथ ही विधिक नियम के क्रमिक विकास के लिए आधार के रूप में भी।

तो भी माननीय लार्ड्स की यह धारणा है कि पूर्वोदाहरण के प्रति अत्यधिक अनम्य दृष्टिकोण किसी विशेष मामले में अन्यायकारी हो सकता है और विधि के समुचित विकास को असम्यक् रूप से

[1] (1944) 2 आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 293.
[2] (1966) 1 डब्ल्यू० एल० आर० 1234.

निर्बंधित कर सकता है। अतः उनकी प्रस्थापना है कि औद्योगिक परिपाटी में उपान्तरण किया जाए और इस सदन के पूर्ववर्ती विनिश्चयों को सामान्य रूप से आबद्धकर मानते हुए पूर्ववर्ती विनिश्चय से तब विचलन किया जा सकता है जब ऐसा करना ठीक प्रतीत हो।

इस सम्बन्ध में उन्हें उस आधार में भूतलक्षी रूप से हस्तक्षेप करने के खतरे को ध्यान में रखना होगा जिस (आधार) पर संविदाएं, सम्पत्ति के बन्दोबस्त और वित्तीत व्यवस्थाएं की गई हैं और साथ ही दाण्डिक विधि के बारे में निश्चितता या आवश्यकता को विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा।

इस घोषणा का आशय यह नहीं है कि यह इस सदन से अन्यत्र पूर्वोदाहरण के प्रयोग को प्रभावित करे।"

7. **प्रोड्यूस ब्रोकर्स कम्पनी** लि० बनाम ओलिम्पस **आयल एण्ड केक कम्पनी लि०**[1] वाले मामले में लार्ड जस्टिस बकले के शब्दों में पूर्वोदाहरण की **आबद्धकर** सही प्रकृति को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :—

"मैं यह बताने के लिए कोई कारण देने में असमर्थ हूं कि वह विनिश्चय, जो अब मैं देने जा रहा हूं, सही है। इसके विपरीत यदि मैं अपनी राय को अपनाने के लिए स्वतन्त्र होता, क्योंकि मेरी भी अपनी तर्कशक्ति है, तो मुझे यह कहना चाहिए कि यह गलत है। किन्तु मैं नजीर से आबद्ध हूं—जिसका अनुसरण करना वास्तव में मेरा कर्त्तव्य है—और नजीर का अनुसरण करते हुए मैं वह निर्णय देने के लिये आबद्ध महसूस करता हूं जो मैं अब देने जा रहा हूं।"

उसी प्रकार **वेलाजक्वेज लि०** बनाम **इनलैण्ड रेवेन्यू कमिश्नर्स**[2] वाले मामले में वार्ड कोजेन्स हार्डी, एम० आर० ने यह मत व्यक्त किया है :—

"किन्तु वास्तव में एक ऐसा नियम है जिसका पालन करने के लिए हम आबद्ध हैं कि जब किसी सिद्धान्त के प्रश्न पर इस न्यायालय का कोई विनिश्चय हो चुका हो तो इस न्यायालय के लिए, चाहे इसका अपना दृष्टिकोण कुछ भी हो, उस विनिश्चय से विचलन करना, सही नहीं है। अन्यथा विधि में कोई अंतिमता नहीं आ पाएगी। यदि यह दलील दी जाती है कि विनिश्चय गलत है तो अंतिम अधिकरण अर्थात् हाउस आफ लार्ड्स के समक्ष जाना ही एकमात्र

---

[1] (1916) 1 ए० सी० 314.

[2] (1914) 3 के० बी० 458.

उपाय है जिसे विधि को निश्चित करने और यह अभिनिर्धारित करने की शक्ति है कि वह विनिश्चय, जो हम पर आबद्धकर है, विधिमान्य विधि नहीं है।"

8. जैसा कि इंग्लैंड में है वैसा ही भारत में भी विधिक स्थिति एक जैसी है और वास्तव में अनुच्छेद 141 उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि की बाबत पूर्वोदाहरण के सिद्धान्त को सांविधानिक स्थिति देता है। **त्रिभुवन दास पुरुषोत्तम ठक्कर** बनाम **रति लाल पटेल**[1] वाले मामले में पूर्वोदाहरण के सिद्धान्त के बारे में न्यायाधीश राजू द्वारा उठाए गए सभी अस्पष्ट संदेहों का निपटारा करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया :—

> "पूर्वोदाहरण, जो विधि के नियम प्रतिपादित करते हैं, हमारी (न्याय) प्रणाली के अधीन न्यायिक प्रशासन का आधार हैं। बार-बार यह अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी उच्च न्यायालय का एकल न्यायाधीश मामूली तौर पर समकक्ष अधिकारिता वाले और खंड न्यायपीठों के और उसके न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठों के और इस न्यायालय के निर्णय को सही रूप में स्वीकार करने के लिए आबद्ध है। इस नियम के तर्क की, जो पूर्वोदाहरण को आबद्धकर बनाता है, वांछा विधि में एकरूपता और निश्चितता लाना है।"

यहां तक कि इसके पूर्व **ए० राघवम्मा** बनाम **ए० चेनचम्मा**[2] वाले मामले में यह बात स्वतः सिद्ध मानी गई थी कि एक खण्ड न्यायपीठ अन्य खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय द्वारा आबद्ध है।

9. इस प्रकार इसका यह अर्थ है कि यदि पूर्वोदाहरण को हम आबद्धकर मानते हैं तो न्यायिक क्षेत्र के भीतर इससे कोई विचलन, इस निर्णय के पैरा 12 में प्रगणित सुमान्य मामलों के वर्गों के सिवाय, अनुज्ञात नहीं किया जा सकता।

10. समान रूप से इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि सामान्यतः पूर्वोदाहरणों की आबद्धकर प्रकृति और विशेष रूप से पूर्ण न्यायपीठों के पूर्वोदाहरणों की आबद्धकर प्रकृति हमारी न्यायिक प्रणाली का आधार है। यह ऐसा बन्धन है जो एक सूत्र में बांधता है अन्यथा न्याय प्रणाली व्यक्तिगत रायों का ऐसा जंगल बन सकती है जिसके परिणामस्वरूप वास्तव में न्यायिक अव्यवस्था फैल जाए। यह एक स्वारोपित अनुशासन है जो ठीक ही विधि की

---

[1] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 372.

[2] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

अन्य विचारधाराओं की असूया का विषय है क्योंकि यहां स्थिति स्वतः सिद्ध और सुस्थिर है इसलिए किसी विवाद्यक पर सिद्धान्त के तौर पर व्याख्या करना अनावश्यक है। जयकौर बनाम शेरसिंह[1] वाले मामले में माननीय न्यायाधिपतियों ने पूर्ण न्यायपीठ द्वारा एक बार सुस्थिर की गई विधि से किसी प्रकार के विचलन की गम्भीर रूप से भर्त्सना की है और यह मत व्यक्त किया है कि उसके पश्चात् उसी मुद्दे पर उसके विनिश्चयाधार के प्रतिकूल किसी पूर्ववर्ती विनिश्चय की निम्नलिखित रूप में अवहेलना करनी होगी :—

> "....यह सही है कि उन्होंने अभिव्यक्त रूप से यह नहीं कहा कि इन मामलों को गलत तौर पर विनिश्चित किया गया था किन्तु जब कोई पूर्ण न्यायपीठ किसी प्रश्न का एक विशेष रीति में विनिश्चय करती है तो हर एक पूर्ववर्ती विनिश्चय के बारे में, जिसमें उस प्रश्न का एक भिन्न रीति में उत्तर दिया गया है, यह अभिनिर्धारित करना होगा कि वह गलत तौर पर विनिश्चित किया गया था...।"

× × × ×

और पुनः :—

> "....यदि, जैसा कि हमने उस मामले में संकेत किया है, न्यायिक शालीनता और विधिक औचित्य की विचारणाए यह अपेक्षित करती हैं कि खण्ड न्यायपीठों को अन्य खण्ड न्यायपीठों के विनिश्चयों को गलत नहीं करार देना चाहिए तब ऐसी विचारणाएं उन खण्ड न्यायपीठों के मार्ग में और भी दृढ़ रूप से आड़े आनी चाहिए जो उस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चयों से असहमत हों।"

11. पूर्ण न्यायपीठों और वरिष्ठ न्यायालयों के पूर्वोदाहरणों के अलावा यह देखने में आता है कि उसी उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठों के निर्णय एक सीमित रूप में इस भाव में आबद्धकर हैं कि किसी सह समकक्ष न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रतिकूल कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। अधिक से अधिक समकक्ष न्यायपीठ उस पर बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा पुनर्विचार की मांग कर सकती है। एक ही मुद्दे पर अनेक पूर्वोदाहरण अनावश्यक हैं और इस सम्बन्ध में महादेव लाल कनोड़िया बनाम दि एडमिनिस्ट्रेटर जनरल वेस्ट बंगाल[2] वाले मामले की निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों के प्रति निर्देश किया जाना उचित होगा :—

---

[1] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 1118.

[2] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 936.

"...न्यायिक शालीनता जो विधिक औचित्य से किसी भी प्रकार कम नहीं है, न्यायिक प्रक्रिया का आधार है। यदि विधि में एक बात दूसरी बात से अधिक आवश्यक है तो वह निश्चितता की क्वालिटी है। यदि उच्च न्यायालय में समकक्ष अधिकारिता रखने वाले न्यायाधीश एक दूसरे के विनिश्चयों के विरुद्ध व्यवस्था देना शुरू कर दें तो वह क्वालिटी बिल्कुल समाप्त हो जायेगी। यदि उच्च न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ अन्य खण्ड न्यायपीठ के पूर्ववर्ती विनिश्चय से प्रभेद करने में असमर्थ है और यह मत अपनाते हुए कि पूर्ववर्ती विनिश्चय गलत है स्वयं उस मत को प्रभावी करती है तो उसका परिणाम पूर्ण भ्रांति होगा...।"

जयश्री साहू बनाम **राज दीवान दूबे**[1], **लाला श्रीभगवान** बनाम **रामचन्द्र**[2], **मगन लाल छगन लाल (प्रा०) लि०** बनाम **नगर निगर बृहत्तर मुम्बई**[3], **चेतू राम** बनाम **आशा नन्द**[4] और **सी० वरदाराजुलू नायडू** बनाम **बेबी अम्माल**[5] वाले मामलों की मताभिव्यक्तियां भी इसी आशय की हैं।

12. उपर्युक्त विवेचन का एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में यह अर्थ है कि पूर्ण न्यायपीठ द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से अधिकथित विधि उस उच्च न्यायालय के भीतर आबद्धकर है जिसमें यह प्रतिपादित की जाती है और उसके बारे में हर एक अस्पष्ट सन्देह बृहत् न्यायपीठ द्वारा उस पर पुनर्विचार को न्यायोचित नहीं ठहराता है और इस प्रकार विधि को पुनः विचारण की प्रक्रिया के अधीन नहीं बनाता है। पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चयाधार अधिक निश्चित आधारों पर आधारित होते हैं और होने चाहिए और उन्हें किंचित मतवैभिन्य के आधार पर प्रश्नास्पद नहीं किया जाना चाहिए। केवल बहुत ही सीमित दायरे के भीतर बृहत्तर न्यायपीठ के निर्णय को पुनः विचार किये जाने के लिये प्रश्नगत किया जा सकता है। इनमें से एक स्पष्ट कारण यह है कि जहां निस्सन्देह रूप से यह बात प्रकट हो कि इसके विनिश्चयाधार को वरिष्ठ न्यायालय अथवा उसी न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ ने पश्चात्वर्ती निर्णय द्वारा उसे सीमित कर दिया है। जहां निश्चिततापूर्वक यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि समकक्ष न्यायपीठ ने उसके ठीक प्रतिकूल विधि अधिकथित

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 83.
[2] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 1767.
[3] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 2009.
[4] (1962) 64 पी० एल० आर० 235.
[5] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 448.

है और तीसरे जहां विनिश्चायक रूप से यह कहा जा सकता हो कि बृहत न्यायपीठ का निर्णय इस कारण गलत दिया गया था क्योंकि उसमें बिल्कुल स्पष्ट कानूनी उपबंध की अथवा पूर्ववर्ती आबद्धकर पूर्वोदाहरण की अवेक्षा नहीं की गई है। सामान्य रूप से इन्हीं निर्बन्धित सीमाओं के भीतर लघु न्यायपीठ पूर्ववर्ती दृष्टिकोण पर पुनर्विचार किए जाने का सुझाव दे सकती है अन्यथा नहीं। किन्तु इन मामलों में न तो सैद्धान्तिक होना और न ही व्यापक विवरण देना सर्वोत्तम होगा तो भी पूर्वोक्त प्रवर्ग स्वीकृत रूप से ऐसे सुमान्य प्रवर्ग हैं जिनमें अन्यथा आबद्धकर पूर्वोदाहरण के पुनर्विचार का सुझाव दिया जा सकता है।

13. बृहत न्यायपीठों को निर्देश किये जाने के समान रूप से सुस्थिर सिद्धान्त के प्रति प्रासंगिक टीका-टिप्पणी अपेक्षित है। मान्य पूर्वोदाहरण द्वारा यह अनावश्यक है कि उन न्यायाधीशों की संख्या का सुझाव दिया जाये जिनसे पूर्ण न्यायपीठ में विधि के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार अथवा पुनर्विचार करने की प्रार्थना की जाए। यह ऐसा मामला है जिस पर हर एक मामले के अपने तथ्यों के आधार कर विचार किया जाएगा और उनका विनिश्चय किया जाएगा और इसलिए न्यायाधीशों की संख्या अथवा उनके क्रम बताना, जिनसे मामले पर विचार करने की अपेक्षा की जाए, बिल्कुल खुला छोड़ दिया जाना चाहिए।

14. किन्तु समान रूप से इस बात का विस्तृत रूप से उल्लेख करना उचित है कि बृहत न्यायपीठ द्वारा स्थिर की गई विधि को प्रश्नगत करने अथवा उस पर पुनर्विचार करने के लिए वैध आधार क्या नहीं हो सकता। ऊपर "आबद्धकर" शब्द के प्रयोग से ही यह पता चलता है कि यह इस तथ्य के बावजूद मान्य होगा भले ही जो न्यायपीठ उसका अनुसरण करने के लिए बाध्य है वह उस दृष्टिकोण से बिल्कुल भा सहमत न हो। यह विधि का एक आवश्यक अनुसरण है कि वरिष्ठ न्यायालयों और बृहत न्यायपीठों के निर्णयों का निस्संकोच रूप से अनुसरण किया जाना होता है भले ही व्यक्तिगत रूप से कोई उनकी शुद्धता के बारे में सन्देह करे। इसका तर्क बहुत सरल है क्योंकि सार्वभौम भौतिक एकमत ऐसा आदर्श है जिसे प्राप्त करना अव्यावहारिक है। परिणामत: वह युक्ति और तर्क जिस पर बृहत न्यायपीठ का विनिश्चयाधार आधारित होता है उस पर पुनर्विचार नहीं किया जा सकता। नकारात्मक रूप से इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि बृहत न्यायपीठ की युक्ति और तर्क उसे उलटने के लिए वैध आधार नहीं हो सकता और

उस प्रश्न को परिवर्तन की स्थिति में लाकर उस पर पुनः विचार और उसकी पुनः परीक्षा नहीं की जा सकती।

15. अब केवल उस आधार पर विचार करना शेष रहता है जिस पर अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने इस निर्देश के समर्थन में आरम्भ में जोर दिया था। यह दलील देनी चाही गई थी कि समता के बारे में संविधान के अनुच्छेद 14 पर आधारित तर्क हिन्दू विधि जैसी स्वीय विधियों के संदर्भ में भी उठाया जा सकता था जो कि वास्तव में पहले नहीं उठाया गया था और पूर्ण न्यायपीठ ने उस पर विचार नहीं किया था। इस आधार पर यह सुझाव दिया गया कि **श्रीमती कैलाशवती वाले मामले**[1] के विनिश्चयाधार की उपेक्षा करनी होगी या उस पर पुनर्विचार करना होगा।

16. उपर्युक्त तर्क सैद्धान्तिक रूप से मान्य है। यदि बृहत न्यायपीठ के विनिश्चयाधार और वरिष्ठ न्यायालयों के निर्णय काउंसेल द्वारा नए तर्क के रूप में विदग्धता की दल-दल पर आधारित हों (जो तर्क पहले नहीं दिया गया था और इस पर विचार नहीं किया गया था) जिससे कि उनको उलटा जा सके तब आबद्धकर पूर्वोदाहरण की अंतिमता का मान्य नियम केवल एक कठिन मरीचिका बन जाएगी। इस पहलू का विस्तार से उल्लेख करना अनावश्यक है क्योंकि यह आबद्धकर पूर्वोदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से निश्चित हो चुका है। **श्रीमती सोमवन्ती** बनाम **पंजाब राज्य**[2] वाले मामले में ऐसा ही विवाद्यक उद्भूत हुआ था जिसमें संविधान न्यायपीठ से यह निवेदन किया गया था कि वह उच्चतम न्यायालय के पूर्ववर्ती ऐसे पूर्वोदाहरणों की जिनमें भूमि अर्जन अधिनियम की संवैधानिकता को कायम रखा गया था, इस आधार पर उपेक्षा करे कि वह आक्षेप, जो अनुच्छेद 19(1)(च) पर आधारित था, पूर्ववर्ती न्यायपीठों के समक्ष नहीं उठाया गया था। काउन्सेल ने यह जोरदार दलील दी कि उस कारण पूर्ववर्ती निर्णय आबद्धकर नहीं बन जाएंगे। ऐसे तर्क को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हुए माननीय न्यायाधिपतियों ने यह मत व्यक्त किया :—

> "....सभी विनिश्चय हम पर आबद्धकर हैं। यह दलील दी गई है कि किसी भी विनिश्चय में हमारे समक्ष दिए गए इस तर्क पर विचार नहीं किया गया है कि विधि का अनुच्छेद 31(2) के अधीन आक्षेप से संरक्षण किया जा सके किन्तु यह तो भी अनुच्छेद 13(2) के अधीन अविधिमान्य होगी यदि इसके द्वारा किसी व्यक्ति

---

[1] (1977) 79 पी० एल० आर० 116.

[2] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 151.

के सम्पत्ति धारण करने के अधिकार पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किया जाता है। दूसरे शब्दों में हमारे समक्ष वाली विधि को विधिमान्य समझने के लिए यह आवश्यक है कि यह अनुच्छेद 19(5) की अपेक्षाओं की भी पूर्ति करे और उसके पश्चात् ही किसी व्यक्ति की सम्पत्ति छीनी जा सकती है। यह कहना पर्याप्त है कि इस न्यायालय ने मामले के इस पहलू पर निर्णय नहीं दिया है। हम वास्तविक विनिश्चयों द्वारा आबद्ध हैं जो स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 19(1)(ग) द्वारा प्रत्याभूत अधिकार पर आधारित आक्षेप का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हैं। किसी विनिश्चय का आबद्धकर प्रभाव इस बात पर निर्भर नहीं करता कि क्या उसमें कोई विशेष तर्क दिया गया था या नहीं बशर्ते जिसके बारे में कोई तर्क बाद में दिया जाता है वह वास्तव में विनिश्चित किया गया हो। इस मुद्दे को ऊपर निर्दिष्ट तीन विनिश्चयों में विनिर्दिष्ट रूप में विनिश्चित किया गया है।"

पुन: **टी० गोविन्द राज मुदलियार** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में न्यायपीठ से मोटर यान अधिनियम के अध्याय 4-क की संवैधानिकता के बारे में पूर्ववर्ती विनिश्चयों की इस आधार पर उपेक्षा करने का निवेदन किया गया था कि अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन नया तर्क जो देना चाहा गया है उस पर पहले विचार नहीं किया गया था और अधिनिर्णय नहीं दिया गया था। उस दलील को अस्वीकार करते हुए और श्रीमती सोमवन्ती वाले मामले में इस पूर्वोक्त उद्धरण को दोहराते हुए यह मत व्यक्त किया गया :—

"यह सामान्य आधार है कि प्रस्तुत मामले में अधिनियम के अध्याय 4-क की विधिमान्यता को सभी पूर्ववर्ती अवसरों पर कायम रखा गया है और मात्र इस कारण कि अब इस पहलू को पेश किया गया है वह अनुच्छेद 19(1)(च) में की प्रत्याभूति पर आधारित है, और उस पर अभिव्यक्त रूप से विचार नहीं किया गया था अथवा उस पर विनिश्चय नहीं दिया गया था, उससे हमारे लिए उन विनिश्चयों का आबद्धकर प्रभाव कम नहीं होता है।"

उपर्युक्त एक विवेचन का अनुसरण करते हुए **रमन लाल केशव लाल सोनी** बनाम **गुजरात राज्य**[2] और **चिकमुड्डू** बनाम **कर्नाटक राज्य**[3] वाले

[1] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 974.
[2] ए० आई० आर० 1977 गुजरात 76.
[3] ए० आई० आर० 1980 कर्नाटक 169.

मामलों में वैसा ही मत व्यक्त किया गया है। अतः निर्देश के समर्थन में एकमात्र आधार को अस्वीकार करना होगा।

17. इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा और यह वास्तव में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री जे० आर० मित्तल के लिए श्रेयस्कर है कि जब उनके सामने पूर्वोक्त पूर्वोदाहरण रखे गए और वे इसके प्रतिकूल कोई भी उद्धरण देने में असमर्थ रहे तो अंत में उन्होंने निर्देश का समर्थन करने में अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली।

18. अन्त में अपरिहार्य रूप से यह अभिनिर्धारित करना होगा कि श्रीमती कैलाशवती वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चयाधार विद्वान् एकल न्यायाधीश पर आबद्धकर था और वह उसका अनुसरण करने के लिए आबद्ध था। अतः इस पर पुनर्विचार किए जाने के लिए कोई प्रश्न एकल न्यायपीठ के समक्ष नहीं उठाया जा सकता था। इस स्थिति में तर्कसम्मत रूप से इसका यह अर्थ है कि प्रस्तुत निर्देश उद्भूत नहीं होता और परिणामतः इस मामले को श्रीमती कैलाशवती वाले पूर्वोक्त मामले में अधिकथित विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर विनिश्चय देने के लिए एकल न्यायपीठ को वापस भेजा जाता है।

न्या० प्रेम चन्द जैन :

मैं सहमत हूं।

न्या० एस० सी० मित्तल :

मैं सहमत हूं।

निर्देश का उत्तर नकारात्मक दिया गया।

श०

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—47

टहल सिंह और एक अन्य बनाम जसवन्त सिंह और अन्य

(Tehil Singh and another *Vs.* Jaswant Singh and others)

तारीख 1 नवम्बर, 1983

[न्या० राजेन्द्रनाथ मित्तल]

घातक दुर्घटना अधिनियम, 1855—धारा 1-क—मृतक के आश्रितों को प्रतिकर की रकम का निर्धारण —ऐसे मामले में वार्षिक आश्रितता को उपयुक्त गुणक द्वारा गुणा किया जाना होता है।

2. घातक दुर्घटना अधिनियम, 1855 धारा 1-क—मृतक के माता-पिता द्वारा प्रतिकर के लिए वाद लाया जाना—मृतक के माता-पिता प्रतिकर के हकदार हैं।

प्रतिवादियों का भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन विचारण किया गया। प्रतिवादी सं० 4 को दोषमुक्त कर दिया गया किन्तु तीन अन्य प्रतिवादियों को उक्त धारा के अधीन दोषसिद्ध ठहराया गया और सेशन न्यायाधीश ने उन्हें आजीवन कारावास का दण्डादेश दिया। विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त प्रतिवादी 65,000 रु० का संदाय करने के दायित्वाधीन हैं। वादी सं० 1 और 2 माता-पिता हैं, वादी सं० 3 उसकी विधवा है और वादी सं० 4 मृतक की अवयस्क पुत्री है। उन्होने प्रतिकर के तौर पर एक लाख रुपये की वसूली के लिए वाद यह अभिकथन करते हुए फाइल किया कि मृतक एक कृषक था और वह ट्रैक्टर से न केवल अपनी जमीन जोता करता था बल्कि अन्य व्यक्तियों की जमीन भी पट्टे पर जोता करता था। इस कार्य से उसे 350 रु० प्रति मास की आय थी। अतः प्रतिवादी प्रतिकर देने के लिये स्वीकृततः और पृथकतः दायित्वाधीन है।

प्रतिवादियों ने वाद का विरोध किया और इस बात से इनकार किया कि उन्होंने मृतक की हत्या की थी और यह कहा कि उसकी मृत्यु के कारण वादियों को कोई हानि नहीं पहुंची है और वे किसी प्रतिकर के हकदार नहीं हैं। अपीलार्थियों की ओर से यह दलीलें दी गईं कि विचारण न्यायालय ने प्रतिकर की रकम सही तौर पर निर्धारित नहीं की है और मृतक के माता-पिता किसी प्रतिकर के हकदार नहीं हैं।

अभिनिर्धारित—अपील भागतः मंजूर की गई।

प्रतिकर अवधारित करने के लिए पहले आश्रितों की वार्षिक आश्रितता अभिनिश्चित करनी होती है और उसके पश्चात् उपयुक्त गुणक का पता लगाना होता है। उसकी आय युक्तियुक्त रूप से 350 रु० प्रति मास अर्थात् 4,200 रु० प्रति वर्ष, जैसा कि वादपत्र में दावा किया गया है, निर्धारित की जा सकती है। उस रकम में से उसे 85·00 रु० प्रति मास अर्थात् 1,020 रु० प्रति वर्ष की रकम उसके व्यक्तिगत खर्च के लिये अनुज्ञात की जानी चाहिए अर्थात् इस प्रकार प्रत्यर्थियों की वार्षिक आश्रितता 3,180 रु० प्रति वर्ष आती है। उपयुक्त गुणक का अवधारण, बहुत से आश्रितों की आश्रितता के वर्षों को, उन वर्षों को जिनसे उसका जीवन कम हो गया है और बहुत-सी अतिसूक्ष्म बातों को ध्यान में रखते हुए किया जाना होता है जैसे कि मृतक की पहले ही प्राकृतिक सामान्य मृत्यु, बीमारी अथवा

किसी अन्य प्राकृतिक बाधा अथवा विपदा के कारण उसका आश्रितों का पालन-पोषण करने के लिए असमर्थ हो जाना। विधवा के पुनर्विवाह की सम्भावनाएं, आश्रितों का वयस्क हो जाना और उसकी आय के पृथक स्रोत और ऐसे धनीय फायदे भी ध्यान में रखने होंगे जो आश्रितों को सम्बद्ध व्यक्ति की मृत्यु के कारण प्रोद्भूत हों। (पैरा 8 और 9)

मृतक 26 वर्ष का नवयुवक था। उसकी मृत्यु के समय मृतक की विधवा 24 वर्ष की थी और उसकी अवयस्क पुत्री लगभग 6 वर्ष की। उसके माता-पिता क्रमशः 50 और 59 वर्ष की आयु के थे। इस बाबत साक्ष्य है कि उनके कुटुम्ब में दीर्घायु है। इस प्रकार यह प्रत्याशा की जाती है कि वह 70 वर्ष की आयु तक जीवित रहता। धारा 1-क के परिशीलन से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि यदि व्यक्ति की मृत्यु किसी दोषपूर्ण कार्य से कारित होती है तो मृतक की पत्नी, पति, माता-पिता और सन्तान उस नुकसानी के लिए दोषकर्त्ता के विरुद्ध अनुयोजन ला सकते हैं जो उन्हें उसकी मृत्यु के कारण हुआ है। इस प्रकार माता-पिता भी नुकसानी के हकदार हैं जो उन्हें अपनी सन्तान की मृत्यु के कारण हुई है। (पैरा 10 पौर 11)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 मध्य प्रदेश 165 : रमेशचन्द्र **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम, भोपाल (Ramesh Chandra *Vs.* Madhya Pradesh State Road Transport Corporation, Bhopal); से **प्रभेद** बताया गया।	12
[1979]	(1979) 81 पी० एल० आर० 1=ए०आई०आर० 1979 पंजाब-हरियाणा 50 : लक्ष्मण सिंह **बनाम** गुरमीत कौर (Lachman Singh *Vs.* Gurmit Kaur);	6
[1970]	ए० आई० आर० 1970 एस०सी० 376 : सी० के० सुब्रह्मण्यम् अय्यर **बनाम** टी० कुन्हीकुट्टन नायर (C. K. Subramonia Iyer *Vs.* T. Kunhikuttan Nair) का **अवलम्ब** लिया गया।	11

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1975 की प्रथम अपील सं० 48.

मुक्तसर के अधीनस्थ न्यायाधीश प्रथम वर्ग के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... सर्वश्री जी० आर० मजीठिया और एच० के० खन्ना

प्रत्यर्थी सं० 1 से 4 की ओर से ... श्री के० सी० पुरी

न्या० राजेन्द्रनाथ मित्तल :

टहल सिंह और मुख्तियार सिंह ने यह अपील मुक्तसर के अधीनस्थ न्यायाधीश प्रथम वर्ग के तारीख 30 दिसम्बर, 1974 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध की है।

2. संक्षेप में तथ्य इस प्रकार हैं कि प्रतिवादियों ने मेजर सिंह की हत्या कर दी। उनका चालान किया गया और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन उनका विचारण किया गया। इन्दर सिंह प्रतिवादी सं० 4 को दोषमुक्त कर दिया गया जबकि तीन अन्य प्रतिवादियों को दोषसिद्ध ठहराया गया और तारीख 13 सितम्बर, 1971 के निर्णय द्वारा फिरोजपुर के सेशन न्यायाधीश द्वारा आजीवन कारावास भोगने का दण्डादेश दिया गया। वादी सं० 1 और 2 माता-पिता हैं, वादी सं० 3 विधवा है और वादी सं० 4 मृतक की अवयस्क पुत्री है। उन्होंने प्रतिकर के तौर पर एक लाख रुपये की वसूली के लिए वाद यह अभिकथन करते हुए फाइल किया कि मृतक एक कृषक था और वह ट्रैक्टर से जमीन जोता करता था। अपनी जमीन जोतने के अतिरिक्त वह अन्य व्यक्तियों की जमीन पट्टे पर जोता करता था। वह 350 रु० प्रति मास अर्जित कर रहा था, जिसमें से वह 50 रुपये अपने ऊपर खर्च करता था और शेष आय वादियों द्वारा उपयोग में लाई जाती थी। इसके आगे यह प्रकथन किया गया कि प्रतिवादी वादियों को प्रतिकर देने के लिए संयुक्ततः और पृथकतः दायित्वाधीन हैं।

3. प्रतिवादियों ने वाद का विरोध किया और वादियों के अभिकथन से इनकार किया। उन्होंने यह अभिवचन किया कि उन्होंने मेजर सिंह की हत्या नहीं की थी और यह कि वादियों को उसकी मृत्यु के कारण कोई हानि नहीं पहुंची है और इसलिए वे किसी प्रतिकर के हकदार नहीं हैं। पक्षकारों के अभिवचनों के आधार पर निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किये गये :—

1. क्या प्रतिवादियों द्वारा 20 सितम्बर, 1970 को मेजर सिंह की हत्या की गई थी ? साबित करने का भार वादियों पर।

2. क्या वादियों को मेजर सिंह की हत्या के कारण कोई हानि हुई है और क्या वे उसके लिए प्रतिकर के हकदार हैं ? साबित करने का भार वादियों पर।

3. यदि विवाद्यक सं० 2 साबित कर दिया जाता है तो वादीगण प्रतिकर की कितनी रकम के और किससे हकदार हैं ? साबित करने का भार वादियों पर।

4. अनुतोष ।

4. विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि टहल सिंह और मुख्तियार सिंह नामक प्रतिवादियों ने मेजर सिंह की 20 सितम्बर, 1970 को हत्या की और यह कि उक्त प्रतिवादी 65,000 रु० का संदाय करने के दायित्वाधीन है जिसमें से उसने 10,000 रुपए चरणजीत कौर के विवाह के व्यय के लिए नियत कर दिए और शेष रकम में से 7,700 रु० वादी सं० 1 को और 12,650 रु० वादी सं० 2 को और 26,400 रु० वादी सं० 3 को और 8,250 रु० (विवाह-व्यय के रूप में) 10,000 रु० के अतिरिक्त वादी सं० 4 को देते हुए, वादियों में प्रभाजित कर दिये। अतः पूर्वोक्त प्रतिवादियों ने यह अपील की है।

5. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने दो दलीलें दी हैं : पहली यह कि विचारण न्यायालय ने प्रतिकर की रकम सही तौर पर निर्धारित नहीं की है और दूसरी यह कि मृतक के माता-पिता किसी प्रतिकर के हकदार नहीं हैं।

6. अवधारणीय पहला प्रश्न यह है कि क्या प्रतिकर सही रूप से निर्धारित किया गया है। श्री मजीठिया ने यह दलील दी कि आश्रितों की वार्षिक आश्रितता विचारण न्यायालय ने 1,800 रु० गलत निर्धारित की है। उसने यह दलील दी कि यहां तक कि यदि मृतक की अनुमानित आय को सही भी मान लिया जाए तो कुल प्रतिकर निकालने के लिए जो सिद्धांत लागू किया गया है वह न्यायोचित नहीं है। उसने यह दलील दी कि **लक्ष्मण सिंह** बनाम **गुरमीत कौर**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह अधिकथित किया है कि प्रतिकर अवधारित करने के लिए वार्षिक आश्रितता को उपयुक्त गुणक द्वारा गुणा किया जाना होता है और उसके लिए बहुत से तथ्यों को ध्यान में रखना होता है और यह कि गुणक 16 से अधिक नहीं होना चाहिए। उसके अनुसार यदि वह गुणक लागू किया जाता है तो आश्रित केवल 28,800 रु० के हकदार हैं।

7. इसके विपरीत श्री पुरी ने जोरदार रूप से यह दलील दी है कि विद्वान् विचारण न्यायालय ने साक्ष्य को समुचित रूप से नहीं समझा है और

---

[1] (1979) 81 पी० एल० आर० 1=ए० आई० आर० 1979 पंजाब-हरियाणा 50.

मृतक की अनुमानित आय भी सही तौर पर नहीं निकाली गई है। उसके अनुसार मृतक मशीनों से खेती करता था और वह उससे कहीं अधिक कमा रहा था। उसने यह निवेदन किया है कि विचारण न्यायालय ने प्रतिकर सही तौर पर निर्धारित किया है।

8. मैंने विद्वान् काउन्सेल के तर्कों पर सम्यक् रूप से विचार किया है। प्रतिकर अवधारित करने के लिए पहले आश्रितों को वार्षिक आश्रितता अभिनिश्चित करनी होती है और उसके पश्चात् उपयुक्त गुणक का पता लगाना होता है। अतः पक्षकारों के साक्ष्य के प्रति निर्देश करना आवश्यक है। श्रीमती मुख्तियार कौर वा० सा० 2 ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि मृतक की अर्जन क्षमता लगभग 700 रु० से 800 रु० प्रति मास तक की थी। उसकी मृत्यु के समय वह और परमजीत सिंह, एक अन्य पुत्र, उनके साथ रह रहे थे जबकि उसके तीन अन्य पुत्र अलग रहते थे। दूसरा पुत्र, जो उनके साथ रहता था वह विद्यार्थी है। मृतक की पत्नी और बच्चे भी उनके साथ रहते थे। मृतक के द्वारा अर्जित आय उसके द्वारा हम पर और अपने आप पर खर्च की जाती थी। उसने अपनी मृत्यु से लगभग पांच वर्ष की अवधि के भीतर 25,000 रु० की बचत की थी और उस रकम से जमीन खरीदी। जसवन्त सिंह वा० सा० 4 ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि यदि मृतक ने कर्मचारी के रूप में काम किया होता तो उसने 400 रु० से 500 रु० प्रति मास तक कमाए होते। अन्य मुद्दे पर उसने अपनी पत्नी श्रीमती मुख्तियार कौर का समर्थन किया। उसने यह भी कथन किया कि मेजर सिंह उसके कुटुम्ब का एकमात्र कमाने वाला था। श्रीमती सुखबीर कौर वा० सा० 3 मृतक की विधवा ने आय के बारे में कुछ नहीं कहा। किन्तु उसने यह कथन किया कि मृतक ने अपनी 20,000 रु० की बचत से जमीन खरीदी थी। मृतक ट्रैक्टर से जमीन जोता करता था और वह दूसरों के लिए किराए पर भी काम करता था। इस बाबत भी साक्ष्य है कि वह स्वयं ट्रैक्टर चलाता था यद्यपि उसके पास लाइसेंस नहीं था। इस बारे में विवाद नहीं है कि उसने कुछ जमीन खरीदी थी। उसकी विधवा सुखदीप कौर वा० सा० 3 ने यह कथन किया है कि उसने 4-5 वर्ष के भीतर 20,000 रु० बचाए थे जिससे उसने जमीन खरीदी थी। उसके कथन पर अविश्वास करने का कोई आधार नहीं है। उपर्युक्त कथनों से यह बात स्पष्ट है कि वह एक प्रगतिशील किसान था और मशीनों से खेती कर रहा था। पूर्वोक्त सभी तथ्यों पर विचार करते हुए मेरी यह राय है कि उसकी आय युक्तियुक्त रूप से 350 रु० प्रति मास अर्थात् 4,200 रु० प्रति वर्ष, जैसा कि वादपत्र में दावा किया गया है, निर्धारित की जा सकती

है । उस रकम में से मैं उसे 85.00 रु० प्रति मास अर्थात् 1,020 रु० प्रति वर्ष की रकम उसके व्यक्तिगत खर्चे के लिए अनुज्ञात करता हूं अर्थात् इस प्रकार प्रत्यर्थियों की वार्षिक आश्रितता 3,180 रु० प्रति वर्ष आती है ।

9. पूर्ण न्यायपीठ ने लक्ष्मण सिंह वाले पूर्वोक्त मामले में यह मत व्यक्त किया है कि उपयुक्त गुणक का अवधारण, बहुत से आश्रितों की आश्रितता के वर्षों को, उन वर्षों को, जिनसे उसका जीवन कम हो गया है और बहुत-सी अतिसूक्ष्म बातों को ध्यान में रखते हुए किया जाना होता है जैसे कि मृतक की पहले ही प्राकृतिक सामान्य मृत्यु, बीमारी अथवा किसी अन्य प्राकृतिक बाधा अथवा विपदा के कारण उसका आश्रितों का पालन-पोषण करने के लिए असमर्थ हो जाना । विधवा के पुनर्विवाह की सम्भावनाएं, आश्रितों का वयस्क हो जाना और उनका आय के पृथक् स्रोत और ऐसे धनीय फायदे भी ध्यान में रखने होंगे जो आश्रितों को सम्बद्ध व्यक्ति की मृत्यु के कारण प्रोद्भूत हों ।

10. मृतक 26 वर्ष का नवयुवक था । अपनी मृत्यु के समय मृतक की विधवा 24 वर्ष की थी और उसकी अवयस्क पुत्री लगभग 6 वर्ष की । उसके माता-पिता क्रमशः 50 और 59 वर्ष की आयु के थे । इस बाबत साक्ष्य है कि उनके कुटुम्ब में दीर्घायु है । इस प्रकार यह प्रत्याशा की जाती है कि वह 70 वर्ष की आयु तक जीवित रहता । सभी पूर्वोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मैं इस मामले में 16 को उपयुक्त गुणक अवधारित करता हूं । विचारण न्यायालय ने इसके पूर्व अधिकथित विधि के आधार पर प्रतिकर निकाला है किन्तु लक्ष्मण सिंह वाले पूर्वोक्त मामले के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए इस सिद्धांत को नहीं अपनाया जा सकता । अतः प्रतिकर की कुल रकम 50,880 रु० आती है । इसको पूर्णांक करने के लिए मैं इसे बढ़ाकर 51,000 रु० करता हूं ।

11. अवधारण के लिए जो दूसरा प्रश्न उद्भूत होता है यह है कि क्या मृतक के माता-पिता प्रतिकर की किसी रकम के हकदार हैं । मैं साक्ष्य के प्रति पहले ही निर्देश कर चुका हूं जिसमें यह बात स्वीकार की गई है कि माता-पिता मृतक के साथ रह रहे थे । यहां तक कि सुखदीप कौर अभि० सा० 3 ने उसे स्वीकार किया है । इस प्रकार वे उस पर आश्रित थे । घातक दुर्घटना अधिनियम की धारा 1-क में यह उपबन्ध है कि जब कभी किसी दोषपूर्ण कार्य से किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाए और वह कार्य ऐसा है कि उससे क्षत पक्षकार अनुयोजन ला सकता था और उसकी बाबत नुकसानी वसूल कर सकता था तो वह पक्षकार, जो दायित्वाधीन हुआ होता

यदि मृत्यु न हुई होती, नुकसानी के लिए अनुयोजन अथवा वाद के दायित्वाधीन होगा। चाहे क्षत व्यक्ति की मृत्यु हो गई हो और यद्यपि वह मृत्यु ऐसी परिस्थितियों के अधीन कारित हुई हो जो विधि की दृष्टि में महा-अपराध अथवा अन्य अपराध की कोटि में आती हैं। इसके आगे इसमें यह उपबन्ध है कि हर एक अनुयोजन अथवा वाद मृतक की पत्नी, पति, माता-पिता और सन्तान, यदि कोई हो, के लिए होगा। और ऐसे हर एक अनुयोजन में न्यायालय ऐसी नुकसानी दे सकेगा जो कि वह क्रमिक पक्षकारों को ऐसी मृत्यु के परिणामस्वरूप होने वाली हानि के अनुपात में हो। धारा के परिशीलन से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि यदि व्यक्ति की मृत्यु किसी दोषपूर्ण कार्य से कारित होती है तो मृतक की पत्नी, पति, माता-पिता और सन्तान उस नुकसानी के लिए दोषकर्त्ता के विरुद्ध अनुयोजन ला सकते हैं जो उन्हें उसकी मृत्यु के कारण हुआ है। इस प्रकार माता-पिता भी नुकसानी के हकदार हैं जो उन्हें अपनी सन्तान की मृत्यु के कारण हुई है। **सी० के० सुब्रह्मण्यम अय्यर** बनाम **टी० कुन्हीकुट्टन नायर**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यहां तक अभिनिर्धारित किया है कि माता-पिता सामान्य नियम के रूप में मृतक अवयस्क सन्तान की भावी सेवाओं का वर्तमान नकद मूल्य वसूल करने के हकदार हैं। इसके अतिरिक्त वे उन धनीय फायदों की हानि के लिए भी प्रतिकर प्राप्त कर सकते हैं जिसकी सन्तान के वयस्क हो जाने के पश्चात् युक्तियुक्त रूप से प्रत्याशा की जाती है।

12. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने **रमेशचन्द्र** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम, भोपाल**[2] वाले मामले का अवलम्ब लिया है। उस मामले में 19 वर्ष के एक युवक की दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी। 55 वर्षीय उसकी माता ने और उसके भाइयों और बहनों ने मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण के समक्ष प्रतिकर के लिए एक आवेदन फाइल किया। भाइयों और बहनों को कोई प्रतिकर इस आधार पर अनुज्ञात नहीं किया गया कि वे न तो घातक दुर्घटना अधिनियम की धारा 1-क में वर्णित आश्रित हैं और न ही हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के अधीन विधिक प्रतिनिधि हैं। तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि वह मामला प्रभेदनीय है और विद्वान् काउन्सेल उससे कोई सहायता नहीं ले सकता।

---

[1] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 376.

[2] ए० आई० आर० 1982 मध्य प्रदेश 165

13. परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् मेरी यह राय है कि प्रस्तुत मामले में मृतक के पिता प्रतिकर कर के हकदार हैं।

14. अंतिम प्रश्न जो उद्‌भूत होता है, यह है कि वादी-प्रत्यर्थियों में से हर एक को कितना प्रतिकर दिया जाना चाहिए। प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि यदि प्रतिकर किसी भी प्रकार प्रभाजित किया जाता है तो उसे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि प्रत्यर्थियों के बीच कोई विवाद नहीं है। मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् मैं प्रतिकर की रकम में से 1/3 माता-पिता को देता हूं, 1/3 विधवा को और शेष 1/3 मृतक की पुत्री को देता हूं। इस प्रकार जसवन्त सिंह और मुख्तियार कौर प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 हर एक 8,500 रु० के हकदार होंगे। विधवा श्रीमती सुखदीप कौर प्रत्यर्थी सं० 3, 17,000 रु० और पुत्री चरणजीत कौर प्रत्यर्थी सं० 4, 17,000 रु० की हकदार होगी।

15. उपर्युक्त कारणों से मैं अपील भागतः मंजूर करता हूं, विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री का उपान्तरण करता हूं और टहल सिंह और मुख्तियार सिंह प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विरुद्ध 51,000 रु० वसूल करने की डिक्री करता हूं। अपील की भागतः सफलता को ध्यान में रखते हुए पक्षकार इस न्यायालय का अपना-अपना खर्चा वहन करेंगे। किन्तु प्रतिवादी-अपीलार्थी विचारण न्यायालय में वादी-प्रत्यर्थियों का आनुपातिक खर्चा देने के दायित्वाधीन होंगे।

अपील भागतः मंजूर की गई।

श०

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा —55

गुरभजन सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य

(Gurbhajan Singh and others *Vs.* The State of Punjab and another)

तारीख 25 नवम्बर, 1983

[मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया, न्या० प्रेम चन्द जैन और न्या० एस० सी० मित्तल]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 13 भाग 3 (साधारण) सपठित पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952, धारा 5(2)—मताधिकार एक मूल

अधिकार नहीं है—अतः अपुनरीक्षित निर्वाचक नामावलियों के आधार पर कराया गया निर्वाचन अवैध या शून्य नहीं है।

2. पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952—धारा 5(2) सपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950, धारा 21 तथा संविधान, 1950, अनुच्छेद 245, 246 तथा राज्य सूची की प्रविष्टि सं० 5—पंचायतों के निर्वाचन—लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन विधान सभा के निर्वाचनों के लिए रखी गई निर्वाचक नामावलियों को राज्य अपनी पंचायतों के निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए विधिमान्य रूप से अपना सकता है—अतः धारा 5(2) के उपबन्ध विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के अभ्यर्पण या परित्याग की कोटि में नहीं आते और न वह अत्यधिक प्रत्यायोजन के दोष से ग्रस्त हैं।

प्रत्यर्थी-पंजाब राज्य ने 1983 में पंचायतों के निर्वाचन कराये जाने के लिए एक अधिसूचना जारी की जिसमें यह बताया गया कि पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952 और उसके अधीन बनाये गये नियमों के आधार पर प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिसका नाम पंजाब विधानसभा की तत्समय प्रवृत्त निर्वाचक नामावली में एक मतदाता के रूप में दर्ज है, उक्त निर्वाचन में अपना मत डालने के लिए हकदार होगा। इस निर्वाचक नामावली का राज्य सरकार के अनुरोध पर पुनरीक्षण किए जाने के लिए अधिनियम में कोई भी उपबन्ध नहीं है और इस शक्ति का प्रयोग केवल केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त निर्वाचन आयोग द्वारा ही किया जा सकता है। चूंकि पंजाब राज्य के भीतर इन निर्वाचक नामावलियों का कोई भी पुनरीक्षण नहीं किया गया है इसलिए पिटीशनरों ने, जिन्होंने 21 वर्ष की आयु पूरी कर ली है और जो मत डालने के लिये पूरी तरह हकदार हैं, इस आधार पर उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है कि चूंकि उनका नाम अन्तिम नामावली में दर्ज नहीं हो पाया है, परिणामतः वे अपने मताधिकार से और पंचायत के निर्वाचनों में मत डालने के अधिकार से वंचित हो गये हैं। इस प्रकार यह रिट पिटीशन पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

रिट पिटीशनरों की ओर से संक्षेप में यह दलील दी गई है कि पंजाब विधानमण्डल ने तत्समय प्रवृत्त पंजाब विधानसभा की निर्वाचक नामावलियों को अशर्त अपना कर और इस प्रकार न केवल उस निर्वाचक नामावली को, जो 1952 में मौजूद थी, स्वीकार करके बल्कि उसके उन सभी भावी संशोधनों को भी स्वीकार करके, जिनके सम्बन्ध में संभवतः उसे कोई जानकारी नहीं हो सकती, ग्राम पंचायतों के निर्वाचन कराने के लिए व्यवस्था

करने सम्बन्धी अपने अनिवार्य विधायी कृत्य का परित्याग कर दिया है। अतः प्रस्तुत रिट पिटीशन में मुख्यतः इन दो प्रश्नों पर विचार किया जाना है कि क्या कोई राज्य विधानमण्डल लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तत्समय रखी गई निर्वाचक नामावलियों को अपनी पंचायतों के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए विधिमान्यतः अपना सकता है और क्या पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952 की धारा 5(2) के उपबन्ध विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के परित्याग के दोष से ग्रस्त होने के कारण शून्य हैं।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

यह दलील मानी जाने योग्य नहीं है कि मताधिकार एक अन्तर्निहित या मूल अधिकार है और अनुमानित रूप से इसके विरुद्ध जाने वाली कोई भी विधि शून्य होगी। मताधिकार प्रदान करने वाले कानून से परे या ऊपर कोई भी अन्तर्निहित या अन्य-असंक्राम्य अधिकार नहीं है। यदि एक बार ऐसा मान लिया जाता है तो उस दशा में कोई भी विधिक शिकायत नहीं की जा सकती यदि मताधिकार प्रदान करने वाले कानून में विधिमान्यतः फेर-फार या संशोधन किया जाता है। किसी निर्वाचन सम्बन्धी कानून को मताधिकार के किसी अनुमानित मूल अधिकार के विरुद्ध होने के आधार पर अवैध घोषित या शून्य नहीं किया जा सकता। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 21(2) के परन्तुक का अवलम्ब लिया गया है जिसमें स्पष्टतः यह अधिकथित किया गया है कि यदि निर्वाचक नामावली को विहित किए गए अनुसार पुनरीक्षित नहीं किया जाता है तो उक्त निर्वाचक नामावली की विधिमान्यता या निरन्तर प्रयोग पर उसके कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि एक बार इस उपबन्ध को स्वीकार कर लिया जाता है और उसे कोई चुनौती नहीं दी जाती है तो अपुनरीक्षित निर्वाचक नामावली के आधार पर कराए गए निर्वाचन को अवैध या शून्य नहीं कहा जा सकता। इस तर्काधार पर या समानता के तौर पर यह दलील दी गई है कि यद्यपि औचित्य के रूप में नामावली अद्यतन होनी चाहिए किन्तु किसी एक या अन्य कारण से ऐसा नहीं किया जा सका और कानून में स्पष्टतः विद्यमान नामावली के आधार पर ही निर्वाचन कराये जाने के लिए उपबन्ध किया गया है तो ऐसा विहित करने की विधानमण्डल की शक्ति को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती और केवल एकदम नई निर्वाचक नामावली के आधार पर ही निर्वाचन कराए जाने का दावा करने के लिए उसे किसी भी उपधारित असंवैधानिकता या कानून के अतिक्रमण के आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। एक बार कराए जा चुके निर्वाचन को अपुनरीक्षित नामावली के आधार पर कराये जाने के कारण अवैध घोषित नहीं किया जाएगा। (पैरा 15)

किसी अन्य कानून का उसके किसी भी भावी उपान्तरों सहित, जो उसमें किए जाएं, अपनाया जाना स्वयमेव विधायी कृत्यों के परित्याग की कोटि में नहीं आता। यदि किसी समान कानून के उपबन्धों को उसके पश्चात्वर्ती उपान्तरों सहित अपनाये जाने के लिए कोई जान-बूझकर विनिश्चय किया जाता है तो यह विधायी कृत्यों के परित्याग की कोटि में नहीं आयेगा। इस प्रकार यदि संसद अपनी अधिकारिता के भीतर समय-समय पर यथा-संशोधित अनेकानेक राज्य-विधानों को अभिव्यक्त रूप से सम्मिलित कर लेता है तो यह विधायी शक्ति का विधिमान्य प्रयोग माना जाएगा। तर्क की समानता के आधार पर यदि पंजाब विधानमण्डल जानबूझकर यह विनिश्चय लेता है कि वह स्वयं अपनी निर्वाचक नामावलियां नहीं रखना चाहता और रख नहीं सकता है तथा लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तैयार की गई यथा-समय यथासंशोधित संसद या राज्य विधान सभा की निर्वाचक नामावलियों को ही अपना लेता है और अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा इस आशय को स्पष्ट कर देता है तो इसे विधायी कृत्यों के परित्याग के आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। (पैरा 19 तथा 20)

सिद्धान्त और नजीर दोनों के ही आधार पर और साथ ही परित्याग की व्यापक संकल्पना और पंजाब ग्राम पंचायतस ऐक्ट, 1952 की धारा 5(2) में विनिर्दिष्ट विधान के आधार पर तत्समय प्रवृत्त विधान सभा की निर्वाचक नामावलियों के अपनाये जाने मात्र को विधायी शक्ति के अभ्यर्पण के रूप में नहीं माना जा सकता और न वह अत्यधिक प्रत्यायोजन के दोष से ग्रस्त है। राज्य विधानमण्डल लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तत्समय रखी गई निर्वाचक नामावली को अपनी पंचायतों के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए विधिमान्य रूप से अपना सकता है। परिणामतः पंजाब ग्राम पंचायत ऐक्ट, 1952 की धारा 5(2) के उपबंध विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के किसी भी परित्याग की कोटि में नहीं आते। (पैरा 23 और 24)

		पैरा
[1983]	(1983) 3 एस० सी० सी० 529=1983 टैक्स एल० आर० 2917 : शिवदत्त राय फतेह चन्द **बनाम** भारत संघ (Shiv Dutt Rai Fateh Chand *Vs.* Union of India);	20
[1974]	ए० आई० आर० 1974 पंजाब 123=1972 पंजाब एल० जे० 469 : ओम प्रकाश **बनाम** हरियाणा राज्य (Om Parkash *Vs.* State of Haryana);	15

[1973] 1973 पंजाब एल० जे० 606 : प्रीतम सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Pritam Singh *Vs.* State of Punjab); 15

[1971] ए० आई० आर० 1971 पटना 65 (पूर्ण न्यायपीठ) : दिलीप कुमार सिंह **बनाम** बिहार राज्य (Dilip Kumar Singh *Vs.* State of Bihar); 15

[1965] ए० आई० आर० 1965 पटना 220 : सुमंगली देवी **बनाम** बिहार राज्य (Sumangali Devi *Vs.* State of Bihar) 22

का **अनुसरण** किया गया ।

[1972] (1972) 29 एस० टी० सी० 585=1972 टैक्स एल० आर० 2273 (पंजाब-हरियाणा) : टेकचन्द दौलत राय **बनाम** उत्पाद-शुल्क और कराधान अधिकारी, फिरोजपुर (Tek Chand Daulat Rai *Vs.* The Excise and Taxation Officer, Ferozpur); 19

[1972] (1972) 29 एस० टी० सी० 607=1971 टैक्स एल० आर० 1009 (पंजाब-हरियाणा)=1969 का सिविल रिट पिटीशन सं० 759 जो 1 दिसम्बर, 1970 को विनिश्चित किया गया : रतन लाल एण्ड कम्पनी **बनाम** पंजाब राज्य (Rattan Lal and Company *Vs.* State of Punjab); 19

[1970] ए० आई० आर० 1970 पंजाब-हरियाणा 333 : आटोपिन्स (इण्डिया) रजिस्टर्ड, फरीदाबाद **बनाम** हरियाणा राज्य [Auto Pins (India) Regd., Faridabad *Vs.* State of Haryana]; 19

[1967] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1480 : बी० शामराव **बनाम** पाण्डीचेरी संघ राज्यक्षेत्र (B. Shama Rao *Vs.* Union Territory of Pondicherry); 17

[1958] ए० आई० आर० 1958 पटना 149 : परमेश्वर महासेठ **बनाम** बिहार राज्य (Parmeshwar Mahaseth *Vs.* State of Bihar); 17

[1957] ए० आई० आर० 1957 आन्ध्र प्रदेश 393: एन० वीर राजू **बनाम** जिला मुंसिफ (N. Veerraju *Vs.* Distt. Munsif); 17

[1957] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 304 : चीफ कमिश्नर आफ अजमेर **बनाम** राधेश्याम दानी (Chief Commissioner of Ajmer *Vs.* Radhey Shyam Dani) 13

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का सिविल रिट पिटीशन सं० 4414.

भारत के संविधान के **अनुच्छेद** 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री बी० एस० खोजी, एम० एस० खेड़ा और हरदीश बिन्द्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री बी० एस० सिद्धू, एच० एस० रियार और एच० एस० वेदी

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० एस० एस० संधानवालिया ने दिया।

मु० न्या० संधानवालिया :

क्या कोई राज्य विधानमण्डल लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तत्समय रखी गई निर्वाचक नामावलियों को अपनी पंचायतों के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए विधिमान्यत: अपना सकता है? क्या पंजाब ग्राम पंचायत्स ऐक्ट, 1952 की धारा 5(2) के उपबन्ध विधानमण्डल द्वारा अपने कृत्यों के परित्याग के दोष से ग्रस्त हैं और परिणामत: शून्य हैं? इस पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष यही दोहरा प्रश्न है जो पंजाब राज्य के भीतर ग्राम पंचायतों के हाल ही में हुए निर्वाचनों की विधिमान्यता को दी गई चुनौती में अन्तर्निहित है।

2. पांचों पिटीशनर ग्राम छठ, तहसील राजपुरा जिला पटियाला के निवासी हैं जिन्होंने 1 जनवरी, 1963 को या उसके लगभग 21 वर्ष की आयु पूरी कर ली है और इस आधार पर वे पंचायत के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए मतदाताओं के रूप में रजिस्टर किए जाने के लिए हकदार हैं। तारीख 10 सितम्बर, 1983 को पंजाब सरकार ने एक लोक अधिसूचना जारी की जिसके द्वारा 21 सितम्बर, 1983 से लेकर 30 सितम्बर, 1983 तक पंचायत के निर्वाचन किए जाने की सूचना दी गई। उसमें यह बताया गया कि पंजाब ग्राम

पंचायतस ऐक्ट, 1952 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 5(2) और उसके अधीन बनाए गए नियमों के आधार पर प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिसका नाम पंजाब विधानसभा की तत्समय प्रवृत्त निर्वाचक नामावली में एक मतदाता के रूप में दर्ज है, उक्त निर्वाचन में अपना मत डालने के लिए हकदार होगा। उपर्युक्त निर्वाचक नामावली को पूरी तरह केन्द्रीय कानून अर्थात् लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और विशेष रूप से उसकी धारा 21 लागू होती है। राज्य सरकार के अनुरोध पर इस निर्वाचक नामावली का पुनरीक्षण किए जाने के लिए अधिनियम में कोई भी उपबंध नहीं है और ऐसी शक्ति का प्रयोग केवल निर्वाचन आयोग द्वारा ही किया जा सकता है जिसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा एक केन्द्रीय कानून के अधीन की जाती है। चूंकि पंजाब राज्य के भीतर इन निर्वाचक नामावलियों का हाल ही में कोई भी पुनरीक्षण नहीं किया गया है इसलिए इन रिट पिटीशनरों, जिन्होंने 21 वर्ष की आयु पूरी कर ली है, का नाम अन्तिम नामावली में दर्ज नहीं हो पाया है और परिणामत: वे अपने मताधिकार से और पंचायत के निर्वाचनों में मत डालने के अधिकार से वंचित हो गए हैं।

3. तत्पश्चात् उनका पक्षकथत यह है कि भारत के संविधान की राज्य सूची की प्रविष्टि सं० 5 के साथ पठित अनुच्छेद 246 के अधीन राज्य विधान-मण्डल को ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए और अनिवार्यत: उसके निर्वाचन कराने के लिए और उसके लिए निर्वाचक नामावली रखने की अनन्य शक्ति प्राप्त है। आगे यह बताया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 40 में, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्व दिए गए हैं, राज्य पर ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए और उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में कृत्य करने के लिए ऐसी शक्तियां और प्राधिकार, जो आवश्यक हों, प्रदान करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने की बाध्यता अधिरोपित की गई हैं। यह प्रकथन किया गया है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान, मद्रास, जम्मू-कश्मीर और बिहार राज्यों ने ऐसे राज्य विधान अधिनियमित कर लिए हैं जो पंचायतों के लिए निर्वाचक नामावली के नियंत्रण और बनाए रखने की शक्ति को राज्य अभिकरणों में निहित करते हैं। तथापि, अधिनियम की धारा 5(2) के आधार पर पंजाब विधानमण्डल में पंचायतों के लिए निर्वाचक नामावली बनाने के लिए विधियां अधिनियमित करने के अपने विधायी कृत्यों का पूरी तरह परित्याग कर दिया है और इसके बजाय इस शक्ति को पूरी तरह निर्वाचन आयोग और भारत संघ में निहित कर दिया है जो संसद् और राज्य विधानमण्डलों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार करते हैं।

4. तथ्यत: यह बताया गया है कि निर्वाचन आयोग ने हाल ही में पंजाब विधानसभा के 121 निर्वाचन क्षेत्रों में से 64 निर्वाचन क्षेत्रों की निर्वाचक नामावलियों का पुनरीक्षण किए जाने का आदेश किया है। इसके लिए प्रारूप-नामावली तैयार की गई हैं और आक्षेपों की सुनवाई करने के पश्चात् पुनरीक्षित निर्वाचक नामावली के अन्तिम प्रकाशन की तारीख 5 अक्तूबर, 1983 नियत कर दी। शेष निर्वाचन क्षेत्रों में ऐसा प्रकाशन जून, 1984 में किसी भी समय किया जाना था। यह पक्षकथन किया गया है कि जहां तक ग्राम छठ का सम्बन्ध है, जहां के पिटीशनर निवासी हैं, उसे एक ऐसे निर्वाचन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है जहां पुनरीक्षण का पहले ही आदेश किया जा चुका है और प्रारूप निर्वाचन नामावली में पिटीशनरों के नाम सम्मिलित कर लिए गए हैं और जिसे अन्तिम रूप से 5 अक्तूबर, 1983 को प्रकाशित कर दिया जाएगा और इस प्रकार वे उस दशा में मत डालने के लिए हकदार होंगे यदि उस तारीख के बाद निर्वाचन कराया जाता है। तथापि प्रत्यर्थी पंजाब राज्य ने अनुचित जल्दबाजी में पुनरीक्षित नामावली प्रकाशित किए जाने के पहले ही निर्वाचन कराए जाने का आदेश कर दिया जिसके कारण रिट पिटीशनर और वैसी ही स्थिति में रहने वाले अन्य व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग करने के लिए अपात्र हो गए। यह बताया गया है कि 5 अक्तूबर, 1983 को अनुध्यात पुनरीक्षण के आधार पर भी पूर्व निर्वाचक नामावली की तुलना में, जिसे 1980 के लगभग पुनरीक्षित किया गया है, लगभग 10% अधिक मत उसमें सम्मिलित हो जाएंगे। इससे उन व्यक्तियों को, जो कि अब 21 वर्ष की आयु पूरी कर लेने के आधार पर निर्वाचन में भाग लेने के लिए हकदार हो गए हैं और इस कारण मतदाताओं के रूप में दर्ज किये जाने के लिए पात्र हो गए हैं, मताधिकार का प्रयोग करने से वंचित करने के अलावा निर्वाचक मण्डल की संख्या में सारवान परिवर्तन हो जाएगा।

5. उपर्युक्त पक्षाधार पर अधिनियम की धारा 5(2) की विधिमान्यता को चुनौती दी गई है और जिस पर पंजाब राज्य के विधान-मण्डल द्वारा साधारणत: अपनी पंचायतों के लिए निर्वाचन प्रक्रिया के लिए विधियां अधिनियमित करने और विशिष्टत: उसके लिये निर्वाचक नामावली रखने और पुनरीक्षित करने के लिए विधियां अधिनियमित करने सम्बन्धी अपने विधायी कृत्यों का परित्याग किए जाने के आधार पर प्रमुख रूप से जोर दिया गया है।

6. पंजाब राज्य की ओर से फाइल किए गए प्रत्युत्तर में तथ्य सम्बन्धी स्थिति का गम्भीर रूप से खण्डन नहीं किया गया है। तथापि यह

प्रकथन किया गया है कि पंजाब के मुख्य निर्वाचन अधिकारी द्वारा ये अनुदेश जारी किए गए हैं कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 22 और 23 के अधीन 9 सितम्बर, 1983 तक प्राप्त हुए सभी आवेदनों का 17 सितम्बर, 1983 तक निपटारा किया जाना चाहिए और इसके परिणामस्वरूप यह सुनिश्चित करने के लिए कि वे व्यक्ति, जिन्होंने मतदाताओं के रूप में नामांकन के लिए 9 सितम्बर, 1983 तक आवेदन कर दिया है, आने वाले निर्वाचन में अपना मत डालने के लिए समर्थ हो सकें, निर्वाचक नामावलियों की अनुपूरक प्रतियां 19 सितम्बर, 1983 तक तैयार की जाएं। तथापि पिटीशनरों की ओर से जो विधिक पक्षाधार लिया गया है उसका जोरदार खण्डन किया गया है और यह प्रकथन किया गया है कि अधिनियम की धारा 5(2) पूरी तरह सांविधानिक और विधिमान्य है और संसद् तथा राज्य विधानमण्डल के निर्वाचनों की निर्वाचक नामावलियों को पंचायत के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए भी अपनाए जाने में किसी भी प्रकार से विधायी कृत्यों का किंचित भी परित्याग अन्तर्वलित नहीं है।

7. इस रिट पिटीशन की 14 सितम्बर, 1983 को सुनवाई की गई और उस तारीख को और तत्पश्चात् सम्पूर्ण राज्य में निर्वाचनों को रोके जाने के लिए, जो कि 21 सितम्बर से 30 सितम्बर, 1983 तक होना निश्चित हुए थे, अन्तरिम अनुदेश की जोरदार बहस की गई किन्तु संयोगवश उसे अस्वीकार कर दिया गया किन्तु इस मामले के लोक महत्त्व और अत्यावश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस पिटीशन को पूर्ण न्यायपीठ के लिए ग्रहण कर लिया गया और तुरन्त अन्तिम सुनवाई के लिए उसे सूची में सम्मिलित कर लिया गया है।

8. जैसा कि इसके पश्चात् स्पष्ट है, रिट पिटीशनरों की ओर से प्रमुख रूप से यह दलील दी गई है कि पंजाब विधानमण्डल ने तत्समय प्रवृत्त पंजाब विधानसभा की निर्वाचक नामावलियों को अशर्त अपना कर और इस प्रकार न केवल उस निर्वाचक नामावली को, जो 1952 में मौजूद थी, स्वीकार करके बल्कि उसके उन सभी भावी संशोधनों को भी स्वीकार करके, जिनके सम्बन्ध में सम्भवतः उसे कोई जानकारी नहीं हो सकती, ग्राम पंचायतों के निर्वाचन कराने के लिए व्यवस्था करने संबंधी अपने अनिवार्य विधायी कृत्य का परित्याग कर दिया है। इस आधारमूत दलील और उसकी आनुषंगिक शाखाओं का विवेचन करने के लिए इस मामले पर उसके विधायी इतिहास के संदर्भ में विचार करना न केवल उचित बल्कि निस्सन्देह आवश्यक भी हो जाता है।

9. आरम्भ में ही हमारा ध्यान पंजाब ग्राम पंचायत बिल, 1952 (1952 का पंजाब विधेयक सं० 21) की धारा 5 की ओर आकृष्ट किया गया है। जैसा कि उसमें प्रकल्पित है, उक्त धारा की तीन उपधाराएं हैं जिसके द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक ग्राम सभा यथाविहित मतदाताओं के रूप में अर्हित होने वाले वयस्कों से मिलकर बनेगी और इस धारा में ही आगे ग्राम सभा का एक सदस्य होने या बने रहने के बारे में निरर्हताएं भी उपबंधित हैं। उपधारा (3) में स्पष्टतः यह अधिकथित किया गया है कि ग्रामसभा की स्थापना पर विहित प्रधिकारी ऐसे सभी वयस्क व्यक्तियों का, जो ग्रामसभा के सदस्य होने के लिए हकदार है, विहित रीति में एक रजिस्टर तैयार करवाएगा। इन उपबन्धों में स्पष्टतः विहित प्राधिकारी द्वारा अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार निर्वाचक नामावली रखा जाना प्रकल्पित है जो प्रमुखतः राज्य विधानमण्डल या कार्यपालिका के नियंत्रण में होगा। तथापि, विधानसभा में डिबेट के दौरान् नियमों द्वारा यथाविहित निर्वाचक नामावली के लिए उपर्युक्त उपबन्ध निकाल दिया गया और उसके स्थान पर धारा 5 की मूल उपधारा (3) रखी गई जिसमें सभा क्षेत्र के सम्बन्ध में तत्समय प्रवृत्त राज्य विधान सभा की निर्वाचक नामावली को अपनाए जाने के लिए ही स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। तत्पश्चात् धारा 5 में 1975 के पंजाब अधिनियम सं० 17 द्वारा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया गया किन्तु निर्वाचक नामावली के बारे में उपबन्ध को उक्त धारा की उपधारा (2) के रूप में रख लिया गया।

10 उपर्युक्त पृष्ठभूमि में पिटीशनरों की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री खोजी ने यह दलील दी है कि मूल ग्राम पंचायत बिल, 1952 की धारा 5 के उपबन्ध को प्रतिस्थापित किए जाने का कारण यह था कि सन् 1950 में ही स्वयं लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में संसद् और राज्य विधानमण्डल के लिए निर्वाचक नामावली के वार्षिक पुनरीक्षण के लिए उपबंध किया गया है। अतः पंचायत निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए नई निर्वाचक नामावली रखे जाने की प्रक्रिया दोहराए जाने को निरर्थक माना गया और परिणामतः पंजाब विधानसभा के लिए रखी गई निर्वाचक नामावली को ही इस प्रयोजन के लिए अपना लिया गया।

11. अब अनुच्छेद 326 के प्रति निर्देश किया जाना चाहिए जो कि वयस्क मताधिकार के आधार पर संसद् और राज्यों की विधानसभाओं के लिए निर्वाचन कराए जाने के लिए एक सांविधानिक महाधिकार-पत्र है। कुछ अनिवार्य अर्हताएं उपबन्धित किए जाने के अलावा यह अनुच्छेद समुचित विधान-

मंडलों द्वारा इन निर्वाचनों में मतदाताओं के रूप में दर्ज किए जाने के लिए नागरिकों के हकदार होने के बारे में अन्य विधियां बनाए जाने को प्राधिकृत करता है। इस सांविधानिक छत्रछाया में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 अधिनियमित किया गया। यथा मूलतः प्रख्यापित अधिनियम की धारा 21 में पहली मार्च, 1950 को अर्हक तारीख के रूप में विहित किया गया है और तत्पश्चात् तैयार की गई प्रत्येक निर्वाचक नामावली की दशा में उक्त तारीख उस वर्ष की पहली मार्च होगी जिस वर्ष में वह तैयार की गई है। तत्पश्चात् धारा 23 में निर्वाचक नामावली का उस अर्हक तारीख के प्रति निर्देश से विहित रीति में वार्षिक पुनरीक्षण किए जाने का आदेश किया गया है। धारा 26 में विधानसभा के निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावली का उपबन्ध किया गया है। पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने इन उपबन्धों के आधार पर इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि यथामूलतः अधिनियमित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में पुरानी निर्वाचक नामावली परिकल्पित नहीं की गई है और उसमें निस्सन्देह उस विशिष्ट वर्ष की पहली मार्च को अर्हक तारीख और साथ ही नामावली के वार्षिक पुनरीक्षण के लिए विहित करते हुए एकदम नई नामावली का उपबन्ध किया गया है।

12. तथापि यह प्रतीत होता है कि 1950 के अधिनियम के मूल उपबन्धों में सन् 1956 में महत्वपूर्ण संशोधन किए गए और तत्पश्चात् इसके परिणामस्वरूप इस अधिनियम के उपबन्धों का पूरी तरह कायान्तरण ही हो गया। अतः विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह दलील दी जाना सही प्रतीत होता है कि वस्तुतः इन परिवर्तनों के पश्चात्-अब जो कुछ शेष बचा है वह तथ्यतः यथामूलतः अधिनियमित अधिनियम का नाम और उसकी उद्देशिका है। उसके शेष उपबन्ध वास्तव में प्रतिस्थापित किए जा चुके हैं और कानून की सम्पूर्ण स्कीम परिवर्तित हो गई है और उसका पूरी तरह कायान्तरण हो गया है। इस तथ्य पर विशेष जोर दिया गया कि प्रत्येक वर्ष के लिए एक नियत अर्हक तारीख और निर्वाचक नामावली के वार्षिक पुनरीक्षण के आदेश की दोहरी संकल्पना का अब पूरी तरह परित्याग कर दिया गया है। इस बात को उपदर्शित करने के लिए धारा 14, जिसमें अर्हक तारीख की नई परिभाषा दी गई है और धारा 21 के प्रति निर्देश किया गया है जिसके द्वारा निर्वाचक नामावली के तैयार किए जाने और पुनरीक्षण के बारे में पूर्वतर उपबन्धों को पूरी तरह प्रतिस्थापित कर दिया गया है। इन उपबन्धों में संसद् और विधानसभा के निर्वाचन कराए जाने के लिए अर्हक तारीख के सम्बन्ध में पूरी तरह एक नई संकल्पना पेश

की गई है और इस प्रकार अर्हक तारीख उस वर्ष की पहली जनवरी बन गई जिसमें विधानसभा या संसदीय निर्वाचन कराए जाने हैं। इस प्रकार इसके द्वारा इस बात का अवधारण करने में कि अर्हक तारीख क्या हो सकती है एक पूरी तरह दैवकृत तत्व पेश किया गया है।

13. उपर्युक्त विधायी परिवर्तनों और परिणामस्वरूप विधिक स्थिति की पृष्ठभूमि में पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल श्री खोजी ने यह दलील दी है कि जब पंजाब विधानमंडल ने सन् 1952 में मूलतः अधिनियम की धारा 5 अधिनियमित की थी तब उसने स्पष्टतः विधानसभा की उस निर्वाचक नामावली को अपनाया और स्वीकार किया था जिसमें वर्ष की पहली मार्च को अर्हक तारीख के रूप में नियत किया गया था और उक्त निर्वाचक नामावली के वार्षिक पुनरीक्षण के लिए उपबन्ध किया गया है जिसके आवश्यक स्वरूप उसे अद्यतन पूरा किया जाता है। तथापि विद्वान् काउन्सेल के अनुसार सन् 1950 के अधिनियम में किए गए महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने विधानसभा या संसदीय निर्वाचक नामावली को पंचायत के निर्वाचनों की आधारशिला के रूप में अपना लिए जाने के सम्बन्ध को तोड़ दिया क्योंकि जब पंचायत के निर्वाचन कराए जाने होंगे तब अद्यतन निर्वाचक नामावली उपलब्ध नहीं होंगी। प्रस्तुत मामले में अन्यमनस्क रूप से यह दलील दी गई है (जोकि प्रकटतः एक भ्रांति स्वरूप दी गई है) कि जब पंचायत के निर्वाचन सितम्बर, 1983 में कराए जाने का निदेश दिया गया था तब निर्वाचक नामावली उस अर्हक तारीख के आधार पर, जो 1980 की प्रथम जनवरी थी, जिस वर्ष में पंजाब में विधानसभा के निर्वाचन कराए गए थे, विद्यमान थी। आगे यह दलील दी गई कि धारा 22 और 23, जिसमें निर्वाचक नामावली की प्रविष्टियों को ठीक किए जाने के लिए और उसमें नाम सम्मिलित किए जाने के लिए उपबन्ध किया गया है, किसी भी प्रकार से उस स्थिति का उपचार नहीं है क्योंकि उनमें पुनः केवल उसी अर्हक तारीख के प्रति निर्देश किया गया है जो तब भी पहली जनवरी, 1980 ही बनी रहेगी। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार इस विलक्षण स्थिति का परिणाम यह है कि वे व्यक्ति, जिन्होंने 21 वर्ष की आयु पूरी कर ली है और जो 1 जनवरी, 1980 और सितम्बर, 1983 की अवधि के बीच निर्वाचक नामावली में दर्ज किए जाने के लिए हकदार हो गए हैं, वयस्क मताधिकार के अपने मूल्यवान अधिकार से वंचित हो जाएंगे। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि तीन वर्ष के भीतर जनसंख्या के प्रवास जैसी अन्य विचारणाओं के अलावा 21 वर्ष की आयु की आधारभूत अपेक्षा पूरी कर लेने वाले नागरिकों के कारण विद्यमान निर्वाचकगणों में

लगभग 10% की वृद्धि हो जाएगी। संक्षेप में यह दलील दी गई है कि पुरानी निर्वाचक नामावली के परिणामस्वरूप नागरिक अपने मताधिकार के मूल अधिकार से वंचित हो जाएंगे। इस सम्बन्ध में **चीफ कमिश्नर आफ अजमेर** बनाम **राधेश्याम दानी**[1] का अवलम्ब लिया गया है।

14. विधायी कृत्यों के परित्याग की मुख्य दलील पर विचार करने और उसका उल्लेख करने के पूर्व सबसे पहले पुरानी निर्वाचक नामावली और मताधिकार से वंचित हो जाने के बारे में दी गई उपर्युक्त दोहरी दलीलों का निपटारा करना उचित प्रतीत होता है। पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने पूरी तरह इस आधार का अवलम्ब लिया है कि यहां मौजूद निर्वाचक नामावली पुरानी है और अद्यतन नहीं है क्योंकि उसमें अर्हक तारीख 1 जनवरी, 1980 ही दी गई है। मैं उचित निर्वाचक नामावली बनाए रखने के महत्त्व को समझता हूं जो एक प्रकार से निर्वाचन प्रक्रिया का सार है। तथापि यहां पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने तथ्यतः अपने इस पक्षकथन की दलील देकर गलती की है कि निर्वाचक नामावली 1 जनवरी, 1980 के रूप में अर्हक तारीख के साथ तैयार की गई है। इस पक्षाधार का प्रत्यर्थी राज्य की ओर से गम्भीर रूप से खण्डन किया गया है और यह दर्शित करने के लिए अभिलेख से ऐसा निर्विवाद दस्तावेजी साक्ष्य पेश किया गया है कि निर्वाचन आयोग ने अर्हक तारीख के रूप में 1 जनवरी, 1982 सहित पंजाब राज्य में निर्वाचक नामावली का संक्षिप्त पुनरीक्षण किए जाने का आदेश किया है। उनका पक्षकथन यह है कि वास्तव में राज्य सरकार ने निर्वाचन आयोग से इस आशय की प्रार्थना की है और उसे स्वीकार कर लिया गया है और उसका अनुपालन किया गया है। परिणामतः उपर्युक्त निदेशों सहित प्रारूप निर्वाचक नामावली सम्यकरूपेण प्रकाशित की गई और उसके बारे में दावे और आक्षेप आमंत्रित किए गए हैं और उनका निपटारा करने के पश्चात् अंतिम और अनुपूरक नामावली मुद्रित और प्रकाशित की गई जिसके परिणामस्वरूप निर्वाचक नामावली 1 जनवरी, 1982 की अर्हक तारीख के साथ अद्यतन बन गई। परिणामतः पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल के पक्षाधार का मुख्य सार कि निर्वाचक नामावली पुरानी है क्योंकि उसमें अर्हक तारीख के रूप में 1 जनवरी, 1980 की तारीख दी गई है, अमान्य है और जो इस आधार को गलत सिद्ध करता है।

15. समान रूप से मैं ऐसी भावना किन्तु अमान्य पक्षाधार को स्वीकार करने में असमर्थ हूं कि मताधिकार एक अन्तर्निहित या मूल अधिकार है।

---

[1] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 304.

और अनुमानित रूप से इसके विरुद्ध जाने वाली कोई भी विधि शून्य होगी। विद्वान् महाधिवक्ता ने दृढ़तापूर्वक अपना यह पक्षाधार लिया है कि निर्वाचन अधिकार सारतः केवल कानूनी है। मताधिकार प्रदान करने वाले से परे या ऊपर कोई भी अन्तर्निहित या अन्य-असंक्राम्य अधिकार नहीं है। यदि एक बार ऐसा मान लिया जाता है तो उस दशा में कोई भी विधिक शिकायत नहीं की जा सकती यदि मताधिकार प्रदान करने वाले कानून में विधिमान्यतः फेर-फार या संशोधन किया जाता है। किसी निर्वाचन सम्बन्धी कानून को मताधिकार के किसी अनुमानित मूल अधिकार के विरुद्ध होने के आधार पर अवैध घोषित या शून्य नहीं किया जा सकता। प्रत्यर्थियों की ओर से इस सम्बन्ध में 1950 के अधिनियम की धारा 21(2) के परन्तुक का अवलम्ब लिया गया है जिसमें स्पष्टतः यह अविकथित किया गया है कि यदि निर्वाचक नामावली को विहित किए गए अनुसार पुनरीक्षित नहीं किया जाता है तो उक्त निर्वाचक नामावली की विधिमान्यता या निरन्तर प्रयोग पर उसके कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि एक बार इस उपबंध को स्वीकार कर लिया जाता है और उसे हमारे समक्ष कोई चुनौती नहीं दी जाती है तो अपुनरीक्षित निर्वाचक नमावली के आधार पर हुए निर्वाचन को अवैध या शून्य नहीं कहा जा सकता। इस तर्काधार पर या समानता के तौर पर यह दलील दी गई है कि यद्यपि औचित्य के रूप में नामावली अद्यतन होनी चाहिएं किन्तु किसी एक या अन्य कारण से ऐसा नहीं किया जा सका और कानून में स्पष्टतः विद्यमान नामावली के आधार पर ही निर्वाचन कराये जाने के लिए उपबंध किया गया है तो ऐसा विहित करने की विधानमंडल की शक्ति को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती और केवल एकदम नई निर्वाचक नामावली के आधार पर ही निर्वाचन कराए जाने का दावा करने के लिए उसे किसी भी उपधारित असंवैधानिकता या कानून के अतिक्रमण के आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। एक बार कराए जा चुके निर्वाचन को अपुनरीक्षित नामावली के आधार पर कराये जाने के कारण अवैध घोषित नहीं किया जाएगा, यह बात **ओमप्रकाश** बनाम **हरियाणा राज्य**[1], **प्रीतम सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[2] और **दिलीप कुमार सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[3] के मतों से स्पष्ट है। अतः विद्वान् काउन्सेल की दलील का यह आधार भी अस्वीकार किया जाना चाहिए।

---

[1] ए० आई० आर० 1974 पंजाब 123=1972 पंजाब एल० जे० 469.

[2] 1973 पंजाब एल० जे० 606.

[3] ए० आई० आर० 1971 पटना 65 (पूर्ण न्यायपीठ).

16. अब पंजाब विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के परित्याग की आधारभूत दलील पर विचार करने पर हम यह पाते हैं कि प्रत्यक्षतः वह धारा 5(2) की भाषा पर आधारित है। अतः उसे सविस्तार उद्धृत किया जाना आवश्यक है : —

*"धारा 5. **ग्रामसभा की स्थापना** :—(1) सरकार अधिसूचना द्वारा प्रत्येक सभाक्षेत्र में नाम से एक ग्रामसभा की स्थापना कर सकेगी।

(2) प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिसका नाम किसी भी सभा के क्षेत्र से सम्बन्धित तत्समयप्रवृत्त पंजाब विधानसभा की निर्वाचक नामावली में एक मतदाता के रूप में प्रविष्ट है, उस सभा का सदस्य होगा।"

उपधारा (2) का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी गई है कि यहां निर्वाचक नामावली से स्पष्टतः उस नामावली के प्रति निर्देश होता है जो लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन रखी गई है जिसके परिणाम-स्वरूप पंजाब विधानमंडल ने उसके ऐसे भावी उपबंध भी स्वीकार कर लिए हैं जिसके बारे में वह अवगत नहीं है और तथ्यतः समय-समय पर उपर्युक्त अधिनियम में संशोधन करने की संसद् की शक्ति को ध्यान में रखते हुए अवगत नहीं हो सकता जिसका तथ्यतः विधानसभा की निर्वाचक नामावली तैयार किये जाने और रखे जाने सम्बन्धी उपबंधों का वास्तव में कायान्तरण करने के लिए बार-बार प्रयोग किया गया है। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार इस उपबंध का सही विधिक प्रभाव यह है कि पंचायत के लिए निर्वाचक नामावली उसके निर्वाचन की अपेक्षाओं से बंधी हुई नहीं है क्योंकि उसका संसद् द्वारा समय-समय पर संशोधन किया गया है और किया जा सकता है जिस पर राज्य विधानमंडल का किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। यह भी बताया गया है कि बहस की दृष्टि से यदि संसद् कल मतदान की आयु

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"Sec. 5. **Establishment of a Gram Sabha**:—(1) Government may, by notification, establish a Gram Sabha by name in every Sabha area.

(2) Every person, who is entered as a Voter on the electoral role of the Punjab Legislative Assembly for the time being in force, pertaining the area of any Sabha shall be member of that Sabha."

बढ़ा देती है या कम कर देती है या उसके लिए कोई उचित अर्हता तय कर देती है या स्त्रियों को वयस्क मताधिकार से अपवर्जित कर देती है या निर्वाचक मंडल की संख्या और गुणवत्ता दोनों पर ही प्रभाव डालने वाला कोई अन्य परिवर्तन कर देती है तो उसे पंचायत के निर्वाचन के लिए निर्वाचक मंडल की आवश्यकता और गुणवत्ता का विचार किए बिना पंचायत के निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए यंत्रवत् अपना लिया जाएगा। संक्षेप में यह दलील दी गई है कि फिलहाल धारा 5(2) को जिस रूप में अधिनियमित किया गया है वह पंजाब विधानमंडल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के परित्याग की कोटि में आता है और 1950 के अधिनियम में किए गए पश्चात्वर्ती परिवर्तन स्पष्ट रूप से उस विधि को अपनाए जाने के दृष्टान्त हैं जिसकी अन्तर्वस्तु से पंजाब विधानसभा अवगत नहीं है और न संभवतः उसकी प्रकृति के कारण अवगत हो सकता है।

17. तत्पश्चात् मध्य प्रदेश पंचायत्स ऐक्ट, 1962 की धारा 4, 5 और 6 तथा राजस्थान पंचायत ऐक्ट, 1953 की धारा 10 और मद्रास तथा बिहार पंचायत राज अधिनियमों के तत्समान उपबंधों के प्रति निर्देश किया गया है जिनमें निर्वाचक नामावली रखने पर राज्य विधानमण्डल का नियंत्रण रखा गया है। इसी प्रकार पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के अधीन विरचित म्युनिसिपल इलेक्शन रूल्स, 1962 का भी अवलम्ब लिया गया है और उनमें भी विहित नियमों के अनुसार प्रत्येक नगरपालिक क्षेत्र के बारे में एक निर्वाचक नामावली रखने के लिए उपबंध किया गया है। इसी प्रकार मुख्यतः **बी० शामराव बनाम पांडीचेरी संघ राज्यक्षेत्र**[1] और समानता के आधार पर **एन० वीरराजू बनाम जिला मुंसिफ**[2] और **परमेश्वर महासेठ बनाम बिहार राज्य**[3] का भी अवलम्ब लिया गया है।

18. मेरे मतानुसार यहां विधायी कृत्यों के परित्याग की दलील मोटे तौर पर रिट पिटीशनरों के विरुद्ध इस न्यायालय की नजीरों की एक अखण्ड श्रृंखला के अन्तर्गत आ जाती है जिनको अब स्वयं उच्चतम न्यायालय का भी समर्थन मिल चुका है। अतः प्रथम सिद्धान्त पर इस प्रकार विषयान्तर करना अनावश्यक है मानों वह मामला एक अनिर्णीत विषय है। जैसा कि स्पष्ट है, पिटीशनरों की ओर से मुख्य दलील यह दी गई है कि एक विधान-

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1480.
[2] ए० आई० आर० 1957 आन्ध्र प्रदेश 393.
[3] ए० आई० आर० 1958 पटना 149.

मण्डल किसी दूसरे विधानमंडल द्वारा अधिनियमित किसी अन्य कानून के उपबंधों को, जो तत्समय प्रवृत्त हों, जिनमें निरन्तर संशोधन किया जा सकता है, बिना किसी संकोच के अपना नहीं सकता।

19. अब **आटोपिन्स (इन्डिया) रजिस्टर्ड फरीदाबाद** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] में भी पिटीशनरों की ओर से केन्द्रीय विक्रय-कर अधिनियम की धारा 9(3) को चुनौती देते हुए ऐसी ही दलील दी गई है जिसके द्वारा संसद् ने विक्रय-कर की वसूली के लिए विभिन्न राज्यों के विधानों को उनके भावी संशोधनों सहित अपना लिया है। सिद्धान्त और नजीर के आधार पर व्यापक रूप से विचार-विमर्श किए जाने के पश्चात् इस दलील को अस्वीकार करते हुए न्यायपीठ ने इस प्रकार निष्कर्ष निकाला है : (पृष्ठ 337) :—

> "अतः हमारा यह मत है कि संसद् केन्द्रीय अधिनियम की धारा 9 की उपधारा (3) अधिनियमित करने के लिए हकदार है। ऐसी स्थिति होने के कारण, इस उपधारा की भाषा इस तथ्य का एक स्पष्ट संकेत है कि संसद ने किसी भी ऐसे भावी उपान्तरों सहित जो उसमें समुचित राज्यों द्वारा किए जाएं; राज्य विधान को अपना लिया है।"

उपर्युक्त विनिश्चयाधार को **रतन लाल एण्ड कम्पनी** बनाम **पंजाब राज्य**[2] में एक अन्य खण्ड न्यायपीठ के समक्ष बलपूर्वक चुनौती दी गई है किन्तु इसकी एक व्यापक निर्णय में पुनः पुष्टि की गई है। उपर्युक्त दोनों निर्णयों को पुनः **टेकचन्द दौलत राय** बनाम **उत्पाद-शुल्क और कराधान अधिकारी, फिरोजपुर**[3] में पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष जोरदार चुनौती दी गई है किन्तु जिसका स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त रूप से अनुमोदन किया गया है। (पृष्ठ 2283)

> "...मैं इस निर्णय में न्या० पी० सी० पंडित और न्या० संधानवालिया द्वारा यह अभिनिर्धारित किए जाने के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण के साथ पूरी तरह सहमत हूं कि केन्द्रीय अधिनियम की धारा 8(2) के उपबन्धों के अनुसरण में राज्य अधिनियम के

---

1 ए० आई० आर० 1970 पंजाब-हरियाणा 333.

2 1969 का सिविल रिट पिटीशन सं० 759, जो 1 दिसम्बर, 1970 को विनिश्चित किया गया=(1972) 29 एस० टी० सी० 607=1971 टैक्स एल० आर० 1009 (पंजाब हरियाणा).

3 (1972) 29 एस० टी० सी० 585=1972 टैक्स एल० आर०, 2273 (पंजाब हरियाणा).

अधीन प्रवृत्त दरों का अपनाया जाना संसद् की ओर से विधायी शक्ति के परित्याग की कोटि में नहीं आता।"

अतः यह स्पष्ट है कि इस न्यायालय में यही निरन्तर दृष्टिकोण अपनाया गया है कि किसी अन्य कानून का उसके किसी भी भावी उपान्तरों सहित अपनाया जाना, जो उसमें किए जाएं, स्वयमेव विधायी कृत्यों के परित्याग की कोटि में नहीं आता।

20. उपर्युक्त विवेचन के अलावा **शिवदत्त राय फतेह चंद बनाम भारत संघ**[1] में माननीय न्यायाधीशों के हाल ही के विनिश्चय से भी उपर्युक्त दृष्टिकोण का अनुमोदन होता है और इससे विधायी कृत्यों के परित्याग की संकल्पना को एक और आयाम मिलता है। यहां यह बात कहना उचित होगा कि इस मामले में केन्द्रीय विक्रय-कर अधिनियम की धारा 9 में उपधारा 2(क) अंतःस्थापित करके संसद् ने वास्तव में अपराधों और शास्तियों के सम्बन्ध में समय-समय पर यथा-संशोधित उपबन्धों के बारे में लगभग 20 राज्यों के राज्य विधानों को अपना लिया है। संसद् द्वारा विधायी कृत्यों के परित्याग के आधार पर उपर्युक्त उपधारा 2(क) को दी गई चुनौती को माननीय न्यायाधीशों द्वारा इस प्रश्न पर सिद्धांत और नजीर पर पूरी तरह विचार करने के पश्चात् अस्वीकार कर दिया गया। मामले में प्रतिपादित नियम यह प्रतीत होता है कि परित्याग का प्रश्न अवधारित करने के लिए हमें अपनाए जाने वाले कानूनों, उसके पीछे नीति सहित अनेकानेक विचारणाओं पर विचार करना होगा। इस मामले में प्रतिपादित कसौटी, जो इस प्रकार के अपनाए जाने को विधिमान्यता प्रदान करती है, इस प्रकार है :—

(i) क्या दोनों कानूनों के उद्देश्य एक समान हैं ?

(ii) क्या कानूनों का अपनाया जाना या उनका सम्मिलित किया जाना दूसरे कानून को अपनाने वाले अधिनियम के उद्देश्यों और प्रयोजनों में अभिवृद्धि करने के प्रयोजन के लिए है।

(iii) कि कानून अपनाने वाले विधानमण्डल को उस कानून की, जिसे वह अपना रहा है, जानकारी है, और

(iv) मूल विधानमंडल द्वारा विधि के निरसन या संशोधन की शक्ति की सीमा तक नये उपबंधों पर कुछ नियन्त्रण प्रतिधारित किया गया है।

---
[1] (1983) 3 एस० सी० सी० 529 = 1983 टैक्स एल० आर० 2917.

मुझे यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत मामले में उपर्युक्त कसौटी यथेष्ट रूप से पूरी हो गई है। **शिवदत्त राय फतेह चन्द के मामले**[1] के विश्लेषण और उसमें अवलंबित एक अन्य विनिश्चय के विश्लेषण से यह उपदर्शित होता है कि जैसी कि अब विधि मौजूद है यदि किसी समान कानून के उपबंधों को उसके पश्चात्वर्ती उपांतरों सहित अपनाए जाने के लिये कोई जान-बूझकर विनिश्चय किया जाता है तो यह विधायी कृत्यों के परित्याग की कोटि में नहीं आएगा। इस प्रकार यदि संसद् अपनी अधिकारिता के भीतर समय-समय पर यथा-संशोधित अनेकानेक राज्य विधानों को अभिव्यक्त रूप से सम्मिलित कर लेता है तो यह विधायी शक्ति का विधिमान्य प्रयोग माना जाएगा। तर्क की समानता के आधार पर यदि पंजाब विधानमण्डल जान-बूझकर यह विनिश्चय लेता है कि वह स्वयं अपनी निर्वाचक नामावलियां नहीं रखना चाहता और रख नहीं सकता है तथा लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तैयार की गई यथा-समय यथा-संशोधित संसद् या राज्य विधान सभा की निर्वाचक नामावलियों को ही अपना लेता है और अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा इस आशय को स्पष्ट कर देता है तो इसे विधायी कृत्यों के परित्याग के आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता।

21. यद्यपि पिटीशनरों की ओर से परित्याग के प्रश्न को दी गई वृहत् और व्यापक चुनौती मानी जाने योग्य नहीं है किन्तु हमें प्रत्यर्थी राज्य के इस पक्षाधार पर भी विचार करना चाहिए कि तथ्यतः इस मामले में विधायी कृत्यों का पूरी तरह अभ्यर्पण या परित्याग नहीं किया गया है। प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से यह बात ठीक बताई गई है कि ऐसी बात नहीं है कि पंचायतों की संपूर्ण निर्वाचन सम्बन्धी प्रक्रिया को ही केन्द्रीय विधान के लिए अभ्यर्पित कर दिया गया है या छोड़ दिया गया है बल्कि निरर्थक दोहरेपन से बचने के लिए निर्वाचक नामावली रखे जाने के बारे में उसके केवल एक भाग को ही अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में पंजाब ग्राम पंचायत ऐक्ट के उपबन्धों के प्रति निर्देश दिया गया है जिसमें ऐसे निकाय के सृजन के लिए विस्तृत और विनिर्दिष्ट विधान बनाए गए हैं। उक्त अधिनियम के अधीन पंजाब ग्राम पंचायत इलेक्शन रूल्स, 1960 व्यापक रूप से विरचित किए गए हैं। इन नियमों में निर्वाचक (मतदाता) को परिभाषित किया गया है और उसमें नकारात्मक रूप से उसकी अर्हताएं और आयु सम्बन्धी अपेक्षाएं विहित की गई हैं। पुनः सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए न केवल राज्य विधान-

---

[1] (1983) 3 एस० सी० सी० 529=1983 टैक्स एल० आर० 2917.

मंडल ने पंचायतों के सृजन और निर्वाचन सम्बन्धी प्रक्रिया पर अपना नियंत्रण ही रखा है बल्कि अंततोगत्वा राज्य विधि को निरस्त या संशोधित करने की शक्ति भी अपने पास रखी है। यह दलील दी गई है कि स्पष्ट सुविधा की दृष्टि से निरर्थक दोहरेपन से बचने के लिये, भारी वित्तीय भार से बचने के लिये और निर्वाचक नामावली के बेहतर अनुरक्षण के लिए भी राज्य विधानमण्डल ने पंचायत के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिये पंजाब विधान सभा की निर्वाचक नामावली को ही बुद्धिमत्तापूर्वक अपना लिया है। स्पष्टतः यह भी दलील दी गई है कि ऐसी निर्वाचक नामावली को, जो ऐसे गरिमा-युक्त निकायों, जैसे कि स्वयं संघ की संसद् और विभिन्न राज्य विधानमंडल, के लिए निर्वाचन के लिए अच्छा और ठोस आधार हो, पंचायत के निर्वाचनों के लिए समान रूप से आधार बनाया जा सकता है। इसके विपरीत बहस करते हुए यह कहा गया है कि राज्य के लिए एक स्वतन्त्र और कानूनी निर्वाचन आयोग के अधीन संसद् और विधान सभा की निर्वाचक नामावलियों के समान ही व्यापक और निष्पक्ष निर्वाचक नामावली का रखा जाना संभव नहीं है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने दृढ़तापूर्वक यह पक्ष-आधार लिया है कि किसी अन्य कानून के अधीन रखी जाने वाली निर्वाचक नामावली अपनाई या सम्मिलित की जा सकती है और वास्तव में ऐसा अनेक विधान-मंडलों द्वारा किया गया है। यह कहा गया है कि पिटीशनरों की ओर से ऐसा कोई भी निर्णय उद्धृत नहीं किया गया है जिसमें स्पष्ट शब्दों में किसी निर्वाचक नामावली के अपनाए जाने का वर्जन किया गया है या जिसमें ऐसे अपनाए जाने को विधायी कृत्यों का परित्याग माना गया हो। अतः कुछ-कुछ संकीर्ण आधार पर भी किसी निर्वाचक नामावली को पश्चात्वर्ती उपांतरों सहित अपनाए जाने मात्र को सरलतापूर्वक निर्वाचन प्रक्रिया के व्यापक आदेश के बारे में विधायी कृत्यों का अभ्यर्पण या परित्याग नहीं माना जा सकता।

22. पुनः इस संदर्भ में **सुमंगली देवी बनाम बिहार राज्य**[1] में खंड न्यायपीठ के विचारों के प्रति निर्देश किया जा सकता है। यह एक ऐसा विपरीत मामला है जिसमें बिहार राज्य ने अध्यादेश द्वारा राज्य कानूनी नियमों के अधीन निर्वाचकों की सूची का परित्याग कर दिया था और लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन विधान सभा के निर्वाचन के लिए रखी गई निर्वाचक नामावली को अपना लिया था। इसकी न केवल पुष्टि ही की गई है बल्कि इसे उचित और वांछनीय मानते हुए प्रशंसा भी की गई है। (पृष्ठ 222)

[1] ए० आई० आर० 1965 पटना 220.

"मेरे मतानुसार यह संशोधन स्वयं अधिनियम की धारा 4 में इस बात का उपबंध करते हुए अनावश्यक व्यय, जटिलताओं और अपूर्णताओं से बचने के लिए किया गया है कि तत्समय प्रवृत्त बिहार राज्य के विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र की निर्वाचक नामावली या नामावलियों में, जो ग्राम पंचायत की सीमाओं के भीतर समाविष्ट स्थानीय क्षेत्रों से सम्बन्धित है, निर्वाचकों के रूप में नामांकित सभी व्यक्ति उसके सदस्य होंगे। अर्थात् लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 (1950 का केन्द्रीय अधिनियम सं० 43) की धारा 19 के अधीन सम्बन्धित विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र की निर्वाचक नामावली में दर्ज किए जाने के लिए हकदार और उक्त अधिनियम और उसके अधीन विरचित नियमों के उपबन्धों के अधीन निर्वाचक नामावली में इस प्रकार प्रविष्ट व्यक्ति सम्बन्धित ग्राम पंचायत के सदस्य होंगे। नियम 5 और 13 में संशोधन के द्वारा और नियम 6 से 12 के लोप के द्वारा सदस्यों और मतदाताओं के भिन्न-भिन्न रजिस्टरों की तैयारी समाप्त कर दी गई है। 1950 के अधिनियम सं० 43 की धारा 14 से लेकर 20 तक के उपबंधों के संदर्भ में यह उल्लेखनीय होगा कि विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र में एक मतदाता होने के लिए अर्हता न्यूनाधिक वही है जो संशोधन के पूर्व अधिनियम की धारा 4 में उपबंधित है। इस प्रकार 1950 के अधिनियम सं० 43 की धारा 21 से लेकर 25 में और मतदाता रजिस्ट्रीकरण नियम (रजिस्ट्रेशन आफ इलेक्टर्स रूल्स), 1960 के भाग 2 में नियम 3 से लेकर 28 में निर्वाचक नामावली के तैयार किए जाने और पुनरीक्षण, उनमें की प्रविष्टियों की शुद्धियों और उनमें नामों को सम्मिलित किए जाने के लिए उपबन्धित पूर्ण सही और सर्वांगीण तंत्र ग्राम पंचायत की सदस्यता का अवधारण करने के लिए अधिक उपयुक्त है।"

23. मैं उपर्युक्त विचारों के साथ सहमत हूं। अतः पूर्व में किए गए विस्तृत विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए यह स्थिति प्रकट होती है कि सिद्धान्त और नजीर दोनों के ही आधार पर और साथ ही परित्याग की व्यापक संकल्पना और अधिनियम की धारा 5(2) में विनिर्दिष्ट विधान के आधार पर तत्समय प्रवृत्त विधान सभा की निर्वाचक नामावलियों के अपनाए जाने मात्र को विधायी शक्ति के अभ्यर्पण के रूप में नहीं माना जा सकता और न वह अत्यधिक प्रत्यायोजन के दोष से ग्रस्त है।

24. अन्त में, आरम्भ में ही उठाये गए दोहरे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि राज्य विधानमण्डल लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 के अधीन तत्समय रखी गई निर्वाचक नामावली को अपनी पंचायतों के निर्वाचनों के प्रयोजनों के लिए विधिमान्य रूप से अपना सकता है। परिणामत: पंजाब ग्राम पंचायत ऐक्ट, 1952 की धारा 5(2) के उपबंध विधानमण्डल द्वारा अपने विधायी कृत्यों के किसी भी परित्याग की कोटि में नहीं आते।

25. अब केवल रिट पिटीशन में दी गई उन दलीलों की परीक्षा करना शेष रह जाता है जो 22 सितम्बर, 1983 को निर्वाचन की तारीख नियत करने में विधिक असद्भाव के वेश में दी गई है। हमारे समक्ष यह दलील दी गई है कि पंजाब राज्य में 64 विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्रों के लिए निर्वाचक नामावलियों का पुनरीक्षण किए जाने का पहले ही आदेश किया जा चुका है और इसके लिए प्रारूप नियमावली 5 अक्तूबर, 1983 को प्रकाशित की जानी है। इसके विपरीत शेष 53 निर्वाचन क्षेत्रों में पुरानी निर्वाचक नामावलियां ही चलती रहेंगी और उन्हें प्रकटत: जनवरी, 1984 में पुनरीक्षित किया जाना है। नांगल और फरीदकोट के दो विधान सभा निर्वाचन क्षेत्रों में, जहां निर्वाचन 1982 में कराए जा चुके हैं, निर्वाचक नामावलियां तारीख 1 जनवरी, 1980 की अर्हक तारीख को पहले ही पुनरीक्षित की जा चुकी हैं। इस तर्काधार पर यह दलील दी गई है कि 22 सितम्बर, 1983 के बाद निर्वाचन की तारीख का जल्दबाजी में किया गया नियतन पुनरीक्षित और नई निर्वाचक नामावलियों के आधार पर, जिनके निकट भविष्य में प्रकाशित किए जाने की सम्भावना है, निर्वाचन कराए जाने से बचने के लिए जानबूझकर किया गया है।

26. उपर्युक्त पक्षाधार का प्रत्यर्थी राज्य की ओर से लिखित कथन में किए गए प्रकथनों द्वारा और बहस के दौरान भी निश्चायक रूप से खण्डन किया गया है। इस बात की ओर सही संकेत किया गया है कि पंचायत के निर्वाचन कराने के लिए विहित 5 वर्ष की कानूनी अवधि बीत चुकी है और इस प्रकार राज्य उन्हें अब कानूनी आदेश में अधिकथित समय के अनुसार कराने के लिए कर्त्तव्यबद्ध है। इसमें कोई भी विलम्ब 5 वर्ष के पश्चात् पंचायत के निर्वाचन कराने के कानूनी कर्त्तव्य की केवल उपेक्षा कहलाएगी और यह भी बताया गया है कि नामावलियों का पुनरीक्षण एक लम्बी कार्यवाही है जिसमें पर्याप्त समय लग सकता है और जिसकी अभ्यावश्यकता का सही-सहा पूर्व अनुमान नहीं लगाया जा सकता। आगे यह और बताया गया है कि यदि पंचायत

के निर्वाचन पुनरीक्षित नामावलियों के आधार पर 64 विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्रों में 5 अक्तूबर के पश्चात्, कराए जाते हैं और शेष 57 विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्रों में विद्यमान अपुनरीक्षित निर्वाचक नामावलियों के आधार पर कराए जाते हैं तो इसके विलक्षण परिणाम निकलेंगे। अतः पंचायत के निर्वाचन स्थगित किये जाने में राज्य के भीतर विधानसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्रों में निर्वाचक नामावली के पुनरीक्षण की आशा में एक अनिश्चित काल तक स्थगन अन्तर्वलित होगा जिसका सही-सही पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। इन सब कारणों के आधार पर प्रत्यर्थी राज्य की ओर से यह दलील दी गई है कि निर्वाचन कार्यक्रम वास्तव में ऋजुतापूर्वक नियत किया गया है। प्रत्यर्थी राज्य का यह पक्षाधार स्पष्टतः मान्य प्रतीत होता है और यह भी प्रतीत होता है कि 5 अक्तूबर, 1983 से पहले पंचायत के निर्वाचन कराने के कोई भी वास्तविक या विधिक असद्भाव का तत्व होना तो दूर, ऐसा प्रत्यक्षतः पंचायत के निर्वाचन कराने के लिए और वह भी 5 वर्ष की विहित अवधि के भीतर कराने के लिए एक जैसी निर्वाचक नामावली की व्यवस्था करने की दृष्टि से पूरी तरह सद्भावपूर्ण कारणों के आधार पर किया गया है। अतः इस सन्दर्भ में असद्भाव और गलत विश्वास का अभिकथन असफल होता है और उसे एतदद्वारा अस्वीकार किया जाता है।

27. परिणामतः उपर्युक्त पैरा 22 और 23 में प्रारम्भिक विधिक विवाद्यकों के सम्बन्ध में निकाले गये निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए रिट पिटीशन सारहीन है और एतद्द्वारा खारिज किया जाता है। तथापि, खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

न्या० पी० सी० जैन,

मैं सहमत हूं।

न्या० एस० सी० मित्तल,

मैं सहमत हूं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—78

चानन सिंह बनाम प्रीतम कौर और एक अन्य

(Chanan Singh *Vs.* Pritam Kaur and another)

तारीख 2 दिसम्बर, 1983

[न्या० जे० वी० गुप्ता]

1. सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882—धारा 123—चूंकि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, पंजाब राज्य में 1 अप्रैल, 1955 से लागू कर दिया गया था, अतः उक्त राज्य में उक्त धारा 123 के अनुसार स्थावर सम्पत्ति का अन्तरण रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

2 हिन्दू विधि—धालीवाल जाट सिखों में प्रचलित प्रथा—उक्त प्रथा के अनुसार किसी विधवा को विरासत में अपने मृतक पति से प्राप्त सम्पदा उसके द्वारा मृत पति के भाई से करेवा प्रथा के अनुसार विवाह की दशा में ही समपहृत हो जाती है।

बत्तन सिंह के बन्टू और चानन उर्फ चन्नू उर्फ स्वरण सिंह नामक दो पुत्र थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उपरोक्त दोनों पुत्र उसके उत्तराधिकारी बने। बन्टू की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा प्रीतम कौर प्रतिवादी उसकी उत्तराधिकारी बनी। प्रतिवादी प्रीतम कौर ने चन्नू प्रतिवादी से करेवा रीति के अनुसार पुनर्विवाह किया। उसके पश्चात् उसने अपने पूर्व पति बन्टू से जो सम्पदा उत्तराधिकार में प्राप्त की थी उसे उसने चन्नू प्रतिवादी के पक्ष में नामान्तरण कर दिया। 5 सितम्बर, 1955 को चन्नू ने वह भूमि अपनी माता रतन कौर को मौखिक रूप से दान कर दी। इसका नामान्तरण 6 दिसम्बर, 1955 प्रदर्श पी-13 द्वारा किया गया। उपरोक्त दान के पश्चात् प्रतिवादी चन्नू, जो कि अपनी माता रतन कौर आदाता का मुख्तयार था, ने 19 नवम्बर, 1958 प्रदर्श पी-2 और 14 दिसम्बर, 1958 प्रदर्श पी-1, वाले दो विक्रय-विलेखों द्वारा उपरोक्त 49 कनाल 18 मरला भूमि को लाभ सिंह के पुत्र चानन सिंह, वादी को बेच दिया। उन्हीं विक्रय-विलेखों के आधार पर वादी ने 18 अगस्त, 1969 को भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए प्रीतम कौर, उसके पति चन्नू और चन्नू की माता रतन कौर क्रमशः प्रतिवादी संख्या 1, 2 और 3 के विरुद्ध वर्तमान वाद फाइल किया, विचारण न्यायालय के सम्मुख प्रतिवादी प्रीतम कौर ने ही वाद का प्रतिवाद किया। जबकि दो अन्य प्रतिवादियों ने उनके विरुद्ध कार्यवाहियों को एकपक्षीय रूप में चलने दिया। अन्य बातों के साथ-साथ

प्रतिवादी श्रीमती प्रीतम कौर ने वाद का विरोध इस आधार पर किया कि वह वादान्तर्गत भूमि की स्वामिनी है और उसने, जैसा कि वाद में अभिकथन किया गया है, उसने प्रतिवादी चन्नू के साथ पुनर्विवाह के पश्चात् कभी भी सम्पदा का समपहरण नहीं किया। यह भी अभिवचन किया गया कि वादान्तर्गत भूमि 12 साल से अधिक समय से उसके कब्जे में है और इस प्रकार वह प्रतिकूल कब्जे के आधार पर उसकी स्वामिनी बन गई।

विचारार्थ प्रश्न यह था कि क्या पंजाब के सिख जाटों में व्यापक रूप से यह प्रथा प्रचलित है कि करेवा रीति से अपने पति के भाई से पुनर्विवाह करने पर विधवा अपने मृतक पति की सम्पदा में जीवनपर्यन्त सम्पदा के अधिकार का समपहरण नहीं कर देती है। अगर ऐसा है तो क्या सिख जाटों को विभिन्न जनजातियों में प्रचलित इस प्रथा का अपवाद भी है। विशेषकर फिरोजपुर जिले की मुक्तियार तहसील के धालीवाल जाटों के बीच में।

अभिनिर्धारित—अपील भागतः मंजूर की गई।

अगर यह अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि प्रतिवादी प्रीतम कौर ने अपने मृतक पति की सम्पदा में अपने हित को समपहृत कर दिया था तो इससे वादी प्रदर्श पी-1 और प्रदर्श पी-2 विक्रय-विलेखों द्वारा अपने पक्ष में डिक्री प्राप्त करने का हकदार नहीं हो जाता। स्वीकृततः वादी ने जो भूमि खरीदी थी उसकी स्वामिनी रतन कौर के कब्जे में थी जिसे उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू ने मौखिक रूप से दान में दिया था। स्वीकृततः जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अधिनियम की धारा 123 के उपबन्धों के अनुसार मौखिक रूप से दान नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार प्रतिवादी रतन कौर को वैध रूप से यह हक प्राप्त नहीं था कि वह वादी के पक्ष में ऐसा अन्तरण करती। ज़ब एक बार यह पता लग गया है तब वादी का कब्जा प्राप्त करने के संबंध में किया गया वाद मात्र इसी आधार पर असफल होने योग्य है। यह भली-भांति सुस्थापित है कि केवल वही व्यक्ति सदोष कब्जें वाले किसी व्यक्ति से कब्जा प्राप्त कर सकता है जिसका उसे उस पर उससे अधिक हक होता है। इन परिस्थितियों में वादी, प्रतिवादी प्रीतम कौर के विरुद्ध वादान्तर्गत भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए डिक्री प्राप्त नहीं कर सकता चाहे यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि जो कि उसका प्रतिवादी चन्नू के साथ पुनर्विवाह के परिणामस्वरूप उसने वादान्तर्गत भूमि में अपने हक का समपहरण कर दिया था। (पैरा 6)

मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि सभी तीनों प्रतिवादी निकटस्थ सम्बन्धी थे। प्रतिवादी रतन कौर माता थी जबकि प्रतिवादी चन्नू उसका पुत्र है और प्रतिवादी प्रीतम कौर उसकी पत्नी है। प्रतिवादी चन्नू और रतन कौर ने यह निश्चय किया कि वाद को उनके विरुद्ध एकपक्षीय रूप में चलने दिया जाए। केवल प्रतिवादी प्रीतम कौर ने ही वाद का प्रतिवाद किया। क्योंकि उसने यह दावा किया कि वादान्तर्गत भूमि उसके कब्जे में थी। विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 और पी-2 में यह स्पष्ट रूप से कथन किया गया है कि प्रतिवादी रतन कौर के हक में किसी प्रकार की त्रुटि होने पर यदि क्रेता वादी को कोई हानि होती है तो उसके लिए वह जिम्मेदार होगी। इसलिए मामले की परिस्थितियों में वादी द्वारा प्रतिवादी रतन कौर को उसके अटर्नी प्रतिवादी चन्नू, जो कि उसका पुत्र है, की मार्फत वादी द्वारा दिया गया विक्रय धन का प्रतिदाय प्राप्त करने के हकदार हैं। विक्रय विलेख प्रदर्श पी-1 के अधीन संदत्त किया गया विक्रय धन 500 रुपये था जबकि विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 के अधीन उसके द्वारा दिया गया विक्रय धन 1,500 रुपये था। इस प्रकार वादी प्रतिवादी रतन कौर और साथ ही उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू से, जिसने कि उसकी ओर से उपरोक्त धन वादी से प्राप्त किया था, 2,000 रुपये का प्रतिदाय प्राप्त करने का हकदार था। विचारण न्यायालय मामले के अभिलेखों से सिद्ध हुए तथ्यों के आधार पर इस आशय की डिक्री पारित करने के लिए सक्षम था। यह और कि वाद में भी प्रार्थना की गई थी कि अगर न्यायालय कोई और अनुतोष प्रदान करना उचित समझे तो वह वादी को प्रदान कर दे। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 के नियम 33 के दृष्टिकोण से इस न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह कोई भी डिक्री पारित कर सकता है और कोई ऐसा आदेश पारित कर सकता है जो अभिलेख से सिद्ध हो चुके तथ्यों और परिस्थितियों से सुसंगत हो। चूंकि प्रतिवादी रतन कौर की मृत्यु अपील के लम्बित रहने के दौरान हो गई थी और उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू को अभिलेख पर लाया गया था, जो कि पहले से ही अभिलेख पर था। प्रत्यर्थियों की सूची में से उसका (रतन कौर) नाम इस न्यायालय द्वारा 17 दिसम्बर, 1980 वाले आदेश द्वारा हटा दिया गया था। इस प्रकार वादी प्रतिवादी चन्नू से उपरोक्त 2,000 रुपये उसकी व्यक्तिगत हैसियत में और उसकी मृतक माता प्रतिवादी रतन कौर के विधिक प्रतिनिधि के रूप में प्राप्त करने का हकदार है। इसके अतिरिक्त चूंकि रतन कौर और उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू ने वादी से अवैध तरीके से वह धन प्राप्त किया था इसलिए वादी को उस पर 6% की दर से ब्याज

प्राप्त करने का हक है। यह ब्याज उसे वाद के संस्थित किए जाने की तारीख से अर्थात् 18 अगस्त, 1969 से लेकर जब तक कि इसकी वसूली नहीं हो जाती, प्राप्त करने का हक है। (पैरा 8)

		पैरा
[1970]	ए० आई० आर० 1970 पंजाब 289 : सदाकौर बनाम बख्तावर सिंह (Sada Kaur *Vs.* Bakhtawar Singh);	5
[1961]	ए० आई० आर० 1961 पंजाब 301 : चरण सिंह बनाम गुरदयाल सिंह (Charan Singh *Vs.* Gurdial Singh);	5
[1924]	ए० आई० आर० 1924 सिंध 17=76 इण्डियन केसेज 408 : संत सिंह वाला मामला (Sant Singh's Case) निर्दिष्ट किए कए।	5

सिविल अपीली अधिकारिता : 1973 की नियमित द्वितीय सिविल अपील संख्या 1505.

जालंधर के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश द्वारा तारीख 11 सितम्बर, 1973 को पारित डिक्री के विरुद्ध।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री राम सिंह बिन्द्रा और रामस्वरूप
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से ... सर्वश्री गुरवचन सिंह और नगेन्द्र सिंह

न्या० जे० वी० गुप्ता :

यह द्वितीय अपील वादी द्वारा फाइल की गई है। उसने 49 कनाल, 18 मरला कृषि भूमि के कब्जे के लिए वाद फाइल किया था, जिसे विचारण न्यायालय ने डिक्रीत कर दिया था, परन्तु वह अपील में खारिज कर दिया गया था।

2. बत्तन सिंह के बन्टू और चानन उर्फ चन्नू उर्फ स्वरण सिंह नामक दो पुत्र थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उपरोक्त दोनों पुत्र उसके उत्तराधिकारी बने। बन्टू की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा प्रीतम कौर प्रतिवादी, उसकी उत्तराधिकारी बनी। प्रतिवादी प्रीतम कौर ने चन्नू प्रतिवादी से करेवा रीति के अनुसार पुनर्विवाह किया। इसके पश्चात् उसने अपने पूर्व पति बन्टू से जो सम्पदा उत्तराधिकार में प्राप्त की थी उसे उसने चन्नू प्रतिवादी के पक्ष में नामांतरित कर दिया। बाद में 5 सितम्बर, 1955 को चन्नू ने वह भूमि अपनी माता रतन कौर को मौखिक रूप से दान कर दी। इसका नामांतरण 6 सितम्बर, 1955 प्रदर्श पी-13 द्वारा किया गया।

उपरोक्त दान के पश्चात् प्रतिवादी चन्नू, जो कि अपनी माता रतन कौर आदाता का मुख्तार था, ने 19 नवम्बर, 1958 प्रदर्श पी-2 और 14 दिसम्बर, 1958 प्रदर्श पी-1, वाले दो विक्रय-विलेखों द्वारा उपरोक्त 49 कनाल, 18 मरला भूमि को लाभ सिंह के पुत्र चानन सिंह वादी को बेच दिया। उन्हीं विक्रय-विलेखों के आधार पर वादी ने 18 अगस्त, 1969 को भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए प्रीतम कौर उसके पति चन्नू और चन्नू की माता रतन कौर क्रमशः प्रतिवादी संख्या 1, 2 और 3 के विरुद्ध वर्तमान वाद फाइल किया। विचारण न्यायालय के सम्मुख प्रतिवादी प्रीतम कौर ने ही वाद का प्रतिवाद किया। जबकि दो अन्य प्रतिवादियों ने उनके विरुद्ध कार्यवाहियों को एकपक्षीय रूप में चलने दिया। अन्य बातों के साथ-साथ प्रतिवादी श्रीमती प्रीतम कौर ने वाद का विरोध इस आधार पर किया कि वह वादान्तर्गत भूमि की स्वामिनी है और जैसा कि वाद में अभिकथन किया गया है उसने प्रतिवादी चन्नू के साथ पुनर्विवाह के पश्चात् कभी भी सम्पदा का समपहरण नहीं किया। यह भी अभिवचन किया गया कि वादान्तर्गत भूमि 12 साल से अधिक समय से उसके कब्जे में है और इस प्रकार वह प्रतिकूल कब्जे के आधार पर उसकी स्वामिनी बन गई। पक्षकारों के अभिकथनों के आधार पर न्यायालय ने निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए :—

"1. क्या वाद हेतुक के असंयोजन के कारण वर्तमान वाद अविधिमान्य है ?

2. क्या वर्तमान वाद परिसीमाकाल से वर्जित है ?

3. क्या वर्तमान वाद अपने प्रस्तुत रूप में चलने योग्य है ?

4. क्या वादी प्रश्नगत सम्पत्ति का स्वामी है ?

5. क्या वादी यह अभिवचन करने के लिए सक्षम नहीं है कि उसे हानि हुई है, और प्रतिवादी संख्या '1' ने मृतक पति बन्टू की सम्पत्ति का समपहरण कर दिया था।

6. क्या प्रतिवादी प्रश्नगत भूमि का 12 वर्षों से अधिक से प्रतिकूल कब्जाधारी था ? अगर ऐसा है तो इसका क्या प्रभाव है ?

7. अनुतोष।"

विचारण न्यायालय ने वाद के बारे में यह निर्णय दिया कि वह समय के भीतर है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 और प्रदर्श पी-2 को ध्यान में रखते हुए वादी प्रश्नगत भूमि की स्वामिनी है। प्रतिवादी प्रीतम कौर द्वारा किए गए अभिवचन को स्वीकार नहीं किया गया।

परिणामस्वरूप, वादी का प्रश्नगत भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए किया गया वाद डिक्रीत कर दिया गया। अपील करने पर विद्वान् अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने विचारण न्यायालय के उपरोक्त निष्कर्षों को उलट दिया और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रतिवादी प्रीतम कौर ने चन्नू प्रतिवादी के साथ पुनर्विवाह करने पर अपने पूर्व पति बन्टू से विरासत में प्राप्त की गई सम्पदा का कभी भी समपहरण नहीं किया था। फिर भी यह पाया गया कि वह सम्पदा प्रतिवादी प्रीतम कौर के कब्जे में चन्नू प्रतिवादी के साथ पुनर्विवाह करने के पश्चात् भी रही और इसलिए उसने प्रतिकूल कब्जे के आधार पर उस भूमि पर अपना हक सिद्ध कर दिया है। जहां तक प्रतिवादी चन्नू द्वारा अपनी माता रतन कौर के पक्ष में दान का सम्बन्ध है, अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि दान 5 सितम्बर, 1955 को किया गया था जबकि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 123 सन् 1955 की 26 मार्च की एक अधिसूचना द्वारा, जो 1 अप्रैल, 1955 को प्रभावी हुई थी, पंजाब राज्य पर लागू कर दी गई थी। और इसलिए प्रतिवादी चन्नू द्वारा मौखिक रूप से दान नहीं किया जा सकता था। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला गया कि उसके अटर्नी प्रतिवादी चन्नू द्वारा बेची गई भूमि की रतन कौर स्वामिनी नहीं बन सकती। इस प्रकार वादी को विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 और प्रदर्श पी-2 द्वारा वैध रूप से हक प्राप्त नहीं हुआ है। इन निष्कर्षों के आधार पर वादी के वाद को खारिज कर दिया गया। इससे असंतुष्ट होकर वादी ने इस न्यायालय के सम्मुख यह द्वितीय अपील फाइल की है।

3. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि प्रतिवादी प्रीतम कौर द्वारा अपने मृतक पति बन्टू के भाई के साथ पुनर्विवाह करने से उसने अपने पति बन्टू से विरासत में प्राप्त सम्पदा के अधिकारों का समपहरण कर दिया। इसलिए वादान्तर्गत भूमि में उसका कोई अधिकार या हित नहीं है। उसने निचले अपील न्यायालय के इस निष्कर्ष को भी चुनौती दी है कि उसने प्रतिकूल कब्जे द्वारा वादान्तर्गत भूमि पर अपने हक को सिद्ध कर दिया है। यद्यपि यह स्वीकार कर लिया गया था कि अधिनियम की धारा 123 के उपबन्धों के अनुसार, जो पंजाब राज्य पर 1 अप्रैल, 1955 से लागू की गई थी, मौखिक रूप से दान नहीं किया जा सकता था। तथापि यह दलील दी गई कि प्रतिवादी प्रीतम कौर इस वाद में इसको चुनौती नहीं दे सकती। दूसरी ओर प्रतिवादी प्रीतम कौर के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि जब एक बार यह सिद्ध हो गया है कि प्रतिवादी चन्नू द्वारा रतन कौर के पक्ष में मौखिक रूप से कोई दान नहीं दिया जा सकता तब प्रदर्श

पी-1 और प्रदर्श पी-2 द्वारा वादी को कोई हक प्राप्त नहीं होता है और मात्र इस आधार पर वादी का वाद खारिज किए जाने योग्य है। वादी को इस वाद में सफलता प्राप्त करने के लिए अपने पक्ष में वैध रूप से हक को अवश्य सिद्ध करना होगा। उस परिस्थिति में यह अतात्त्विक हो जाएगा कि क्या बन्टू की मृत्यु के पश्चात् उसके द्वारा विरासत में प्राप्त की गई सम्पदा बन्टू के भाई चन्नू से पुनर्विवाह के परिणामस्वरूप समपहृत हो गई है या नहीं।

4. मैंने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सलों को सुना हैं और न्यायालय द्वारा उद्धृत निर्णयज विधि का परिशीलन भी किया है।

5. इस न्यायालय में और निचले न्यायालयों में पक्षकारों के बीच जो विवाद था वह इस प्रश्न के सम्बन्ध में था कि क्या प्रथा के अनुसार प्रतिवादी प्रीतम कौर ने प्रतिवादी चन्नू, जो कि उसके पति का भाई है, के साथ अपने पति बन्टू की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह करने पर उसकी सम्पदा को समपहृत कर दिया है या नहीं। प्रतिवादी प्रीतम कौर की ओर से इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ वाले **चरण सिंह** बनाम **गुरदयाल सिंह**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया गया है, जबकि अपीलार्थियों की ओर से इस न्यायालय को एक और पूर्ण न्यायपीठ के **सदाकौर** बनाम **बख्तावर सिंह**[2] वाले मामले का अवलम्ब लिया गया। पूर्ण न्यायपीठ के कौर वाला उपरोक्त मामला इसलिए आवश्यक हो गया था, क्योंकि इस न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के **चरण सिंह**[1] वाले उपरोक्त मामले के पीठासीन तीन माननीय न्यायाधीशों ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि जाटों में चल रही एक विशेष प्रथा करेवा रीति के अनुसार किसी विधवा द्वारा अपने मृतक पति के भाई के साथ पुनर्विवाह करने से उसके प्रथम पति की सम्पदा में उसके हक का समपहरण नहीं हो जाता और वह उस सम्पदा की स्वामिनी बनी रहती है और इस प्रतिपादना पर पूर्व वाले मामले में विवाद किया गया था। इसलिए **सदा कौर**[2] वाले उपरोक्त मामले में पृष्ठ 23 पर यह प्रश्न पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया गया था :—

> "क्या पंजाब के सिख जाटों में व्यापक रूप से यह प्रथा प्रचलित है कि करेवा रीति से अपने पति के भाई से पुनर्विवाह करने पर विधवा अपने मृतक पति की सम्पदा में जीवनपर्यन्त सम्पदा के अधिकार का समपहरण नहीं कर देती है। अगर ऐसा है तो क्या

---

[1] ए० आई० आर० 1961 पंजाब 301.

[2] ए० आई० आर० 1970 पंजाब 289.

सिख जाटों की विभिन्न जन-जातियों में प्रचलित इस प्रथा का अपवाद भी है। विशेषकर फिरोजपुर जिले की मुक्तियार तहसील के धालीवाल जाटों के बीच में।"

पूर्ण न्यायपीठ के उपरोक्त निर्णय के पैरा 27 में यह निष्कर्ष निकाला गया था कि रैहिगन—डाइजेस्ट के 1925 वाले प्रथम संस्करण में सम्पादक द्वारा लिखी गई भूमिका को **संत सिंह वाले मामले**[1] में या उसमें निर्दिष्ट किसी भी मामले में अलग नहीं रखा गया था। इस न्यायालय की **पूर्ण** न्यायपीठ का **चरण सिंह वाला पहला मामला**[2] रैहिगन—डाइजेस्ट के सम्पादक द्वारा 1925 के संस्करण में पहली बार लिखी गई भूमिका पर पूर्ण रूप से आधारित था। इस प्रकार पूर्ण न्यायपीठ के बाद वाले **सदा कौर वाले मामले**[3] में, जिनमें 5 माननीय न्यायाधीश पीठासीन थे, के दृष्टिकोण से प्रीतम कौर की ओर से सफलतापूर्वक यह दलील नहीं दी जा सकती कि अपने पति के भाई प्रतिवादी चन्नू से करेवा रीति से पुनर्विवाह के कारण उसके द्वारा अपने पूर्व पति बन्टू से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पति पर उसका अधिकार समपहृत नहीं हुआ है, बन्टू की सम्पदा के नामान्तरण की मंजूरी प्रतिवादी चन्नू के पक्ष में हो गई थी। ऐसी मंजूरी के समय प्रतिवादी प्रीतम कौर भी उपस्थित थी (देखिए प्रदर्श पी-12) ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में अपील किए जाने पर वह आदेश अपास्त कर दिया गया था, परन्तु उस अपील में पारित आदेश को 14 दिसम्बर, 1959 तक प्रभावी नहीं किया गया था। इसी दौरान प्रतिवादी रतन कौर ने अपने अटर्नी प्रतिवादी चन्नू की मार्फत प्रदर्श पी-1 और प्रदर्श पी-2 नामक विक्रय विलेखों द्वारा वादान्तर्गत भूमि वादी को बेच दी। कुछ भी हो, इससे कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि प्रतिवादी प्रीतम कौर ने प्रथा के अनुसार अपने मृतक पति बन्टू की सम्पदा समपहृत कर दी थी।

6. अगर यह भी अभिनिर्धारित कर दिया जाता है कि प्रतिवादी प्रीतम कौर ने अपने मृतक पति की सम्पदा में अपने हित को समपहृत कर दिया था, तो इससे वादी प्रदर्श पी-1 और प्रदर्श पी-2 विक्रय विलेखों द्वारा अपने पक्ष में डिक्री प्राप्त करने का हकदार नहीं हो जाता। स्वीकृततः वादी ने जो भूमि खरीदी थी उसकी स्वामिनी रतन कौर थी, जिसे उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू ने मौखिक रूप से दान में दिया था। स्वीकृततः, जैसा कि पहले बताया जा चुका

---

[1] ए० आई० आर० 1924 सिंध 17. 76 इण्डियन केसेज 408.

[2] ए० आई० आर० 1961 पंजाब 301.

[3] ए० आई० आर० 1970 पंजाब 289.

है, अधिनियम की धारा 123 के उपबन्धों के अनुसार मौखिक रूप से दान नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार प्रतिवादी रतन कौर को वैध रूप से यह हक प्राप्त नहीं था कि वह वादी के पक्ष में ऐसा अंतरण करती। जब एक बार यह पता लग गया है, तब वादी का कब्जा प्राप्त करने के सम्बन्ध में किया गया वाद मात्र इसी आधार पर असफल होने योग्य है। यह भली-भांति सुस्थापित है कि केवल वही व्यक्ति सदोष कब्जे वाले किसी व्यक्ति से कब्जा प्राप्त कर सकता है, जिसका उस पर उससे अधिक हक होता है। इन परिस्थितियों में वादी, प्रतिवादी प्रीतम कौर के विरुद्ध वादान्तर्गत भूमि का कब्जा प्राप्त करने के लिए डिक्री प्राप्त नहीं कर सकता चाहे यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि प्रतिवादी चन्नू के साथ पुनर्विवाह के परिणामस्वरूप उसने वादान्तर्गत भूमि में अपने हक का समपहरण कर दिया था।

7. अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वादी वर्तमान वाद में अगर कोई अनुतोष प्राप्त कर सकता है तो वह क्या है ?

8. वर्तमान मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तीनों प्रतिवादी निकटस्थ सम्बन्धी थे। प्रतिवादी रतन कौर माता थी जबकि प्रतिवादी चन्नू उसका पुत्र है और प्रतिवादी प्रीतम कौर उसकी पत्नी है। प्रतिवादी चन्नू और रतन कौर ने यह निश्चय किया कि वाद को उनके विरुद्ध एकपक्षीय रूप में चलने दिया जाए। केवल प्रतिवादी प्रीतम कौर ने ही वाद का प्रतिवाद किया। क्योंकि उसने यह दावा किया कि वादान्तर्गत भूमि उसके कब्जे में थी। विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 और पी-2 में यह स्पष्ट रूप से कथन किया गया है कि प्रतिवादी रतन कौर के हक में किसी प्रकार की त्रुटि होने पर यदि क्रेता वादी को कोई हानि होती है तो उसके लिए वह जिम्मेदार होगी। इसलिए मामले की परिस्थितियों में प्रतिवादी रतन कौर को उसके अटर्नी प्रतिवादी चन्नू, जो कि उसका पुत्र है, की मार्फत वादी द्वारा दिया गया विक्रय धन का प्रतिदाय प्राप्त करने का हकदार है। विक्रय-विलेख प्रदर्श पी-1 के अधीन संदत्त किया गया विक्रय धन 500 रुपए था जबकि विक्रय विलेख प्रदर्श पी-1 के अधीन उसके द्वारा दिया गया विक्रय धन 1,500 रु० था। इस प्रकार वादी प्रतिवादी रतन कौर और साथ ही उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू से, जिसने कि उसकी ओर से उपरोक्त धन वादी से प्राप्त किया था, 2,000 रुपये का प्रतिदाय प्राप्त करने का हकदार था। विचारण न्यायालय मामले के अभिलेखों से सिद्ध हुए तथ्यों के आधार पर इस आशय की डिक्री पारित करने के लिए सक्षम था। यह और कि वाद में भी प्रार्थना की गई थी कि अगर न्यायालय वादी को कोई और

अनुतोष प्रदान करना उचित समझे तो प्रदान कर दे। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 के नियम 33 के दृष्टिकोण से इस न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि कोई भी डिक्री पारित कर सकता है और कोई ऐसा आदेश पारित कर सकता है, जो अभिलेख से सिद्ध हो चुके तथ्यों और परिस्थितियों से सुसंगत हो। चूंकि प्रतिवादी रतन कौर की मृत्यु अपील के लम्बित रहने के दौरान हो गई थी और उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू को अभिलेख पर लाया गया था, जो कि पहले से ही अभिलेख पर था। प्रत्यर्थियों की सूची में से उसका (रतन कौर का) नाम इस न्यायलाय द्वारा 17 दिसम्बर, 1980 वाले आदेश द्वारा हटा दिया गया था। इस प्रकार वादी प्रतिवादी चन्नू से उपरोक्त 2,000 रु० उसको व्यक्तिगत हैसियत में और उसकी मृतक माता प्रतिवादी रतन कौर के विधिक प्रतिनिधि के रूप में प्राप्त करने का हकदार है। इसके अतिरिक्त चूंकि रतन कौर और उसके पुत्र प्रतिवादी चन्नू ने वादी से अवैध तरीके से वह धन प्राप्त किया था इसलिए वादी को उस पर 6% की दर से ब्याज प्राप्त करने का हक है। यह ब्याज उसे वाद के संस्थित किए जाने की तारीख से अर्थात् 18 अगस्त, 1969 से लेकर जब तक कि इसकी वसूली नहीं हो जाती, प्राप्त करने का हक है।

9. ऊपर बताए गए कारणों से ऊपर बताई गई सीमा तक यह अपील स्वीकार की जाती है और निचले अपील न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को अपास्त किया जाता है। वादी के वाद को 2,000 रुपये की वसूली के लिए, खर्चों के लिए और उस पर 18 अगस्त, 1969 से लेकर जब तक कि इसकी वसूली नहीं हो जाती तब तक के लिए 6% प्रति वर्ष की दर से ब्याज प्राप्त करने के लिए डिक्री पारित की जाती है। उसका कब्जा प्राप्त करने के लिए किया गया वाद खारिज किया जाता है।

अपील भागतः मंजूर की गई।

खन्ना/ब्रह्म

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—88

सरदारा सिंह बनाम हरियाणा राज्य

(Sardara Singh *Vs.* The State of Haryana)

तारीख 1 सितम्बर, 1983

[न्या० एस० एस० दीवान]

दण्ड संहिता 1860—धारा 109—सपठित धारा 409—दुष्प्रेरण के लिए दोषसिद्धि—यदि अभियुक्त को दुष्प्रेरण गठित करने वाले तथ्यों की जानकारी थी और यद्यपि आरोप-पत्र केवल मुख्य अपराध के लिए ही था तथा दुष्प्रेरण के लिए पृथक् आरोप-पत्र बनाने में हुए लोप के कारण अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था तो ऐसी दशा में उसे दुष्प्रेरण के लिए सिद्धदोष किया जा सकता है, भले ही मुख्य अपराध का आरोप असफल हो गया हो।

नानूराम सह-अभियुक्त और सरदारा पिटीशनर, दोनों ही क्रमश: एक सहकारी सोसाइटी में कोषाध्यक्ष और सचिव थे। बृजलाल गर्ग सोसाइटी का उपनिरीक्षक था और वह इसके कार्य की देखभाल किया करता था। यह अभिकथन किया गया है कि कोषाध्यक्ष, नानूराम एक अनपढ़ व्यक्ति था जबकि सचिव सरदारा इस सोसाइटी के रजिस्टरों में लिखाई का सब काम किया करता था। सहकारी सोसाइटी, जींद के सहायक रजिस्ट्रार ने सोसाइटी के लेखों की जांच की और यह पाया कि नानूराम और सरदारा ने बृजलाल गर्ग की मौनानुकूलता से तमसार में जाली प्रविष्टि प्रस्तुत करने के पश्चात् सोसाइटी की 50,139 रुपये की रकम का दुर्विनियोजन किया था। परिणामत: एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल की गई थी और दोनों अभियुक्तों को गिरफ्तार कर लिया गया था। आवश्यक अन्वेषण के पश्चात् उनका चालान कर दिया गया था और उन्हें विचारण के लिये भेज दिया गया था।

पिटीशनर और उसके सह-अभियुक्त को नरवाणा के उप-खंडीय न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन आरोप के लिए विचारण हेतु पेश किया गया था और इस धारा के अधीन दोषी पाये जाने पर सह-अभियुक्त को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधिष्ठायी आरोप के अधीन सिद्धदोष किया गया था जबकि पिटीशनर को भारतीय दंड संहिता की धारा 409/109 के अधीन दोषसिद्ध किया गया। अपील करने पर जींद के विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने उसकी दोषसिद्धि और दण्डादेश को कायम रखा। इसी आदेश से

से व्यथित होकर पिटीशनर सरदारा सिंह ने यह पिटीशन फाइल किया है।

पिटीशनर ने मात्र यह दलील पेश की है कि चूंकि पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन दोषी नहीं पाया गया है और इसलिए भारतीय दंड संहिता की धारा 409/109 के अधीन उसकी दोष-सिद्धि अवैध है क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 109 के अधीन कोई आरोप उसके विरुद्ध विरचित नहीं किया गया था।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मुख्य आरोप असफल हो जाने पर उन्हीं तथ्यों के आधार पर अभियुक्त को दुष्प्रेरण के लिए सिद्धदोष किया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया गया।

यह नहीं कहा जा सकता कि इस मामले में दुष्प्रेरण के लिए दोषसिद्धि मात्र इसलिए अवैध है क्योंकि पिटीशनर के विरुद्ध उस अपराध के लिए कोई पृथक् आरोप नहीं लगाया गया है। हमें यह देखना है कि क्या उसे सभी तथ्यों की जानकारी थी, जिन तथ्यों से दुष्प्रेरण का अपराध बनता है और क्या उस पर भारतीय दंड संहिता की धारा 109 के अधीन प्ररूपिक आरोप न लगाये जाने के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था ? (पैरा 10)

जब एक बार न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि अभियुक्त को अपराध के सभी आवश्यक तथ्यों की जानकारी थी और यह कि पृथक् आरोप विरचित न होने के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है तो धारा विशेष के अधीन उसकी दोषसिद्धि पर कोई वर्जन नहीं यद्यपि उस पर प्ररूपिक तौर से कोई पृथक् आरोप उस धारा के अधीन नहीं लगाया गया था। (पैरा 7)

विधि का यह अनमनीय नियम अधिकथित नहीं किया जा सकता कि अभियुक्त पर केवल मुख्य अपराध का ही आरोप लगाया गया है और भारतीय दंड संहिता की धारा 109 के अधीन कोई पृथक् आरोप विरचित नहीं किया गया है, यदि अभियुक्त को उन तथ्यों की जानकारी थी जिनसे दुष्प्रेरण का अपराध बनता है। यद्यपि आरोप मुख्य अपराध के लिए था और यदि दुष्प्रेरण के लिए पृथक् आरोप विरचित करने में किये गये लोप के कारण अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है तो उसके दुष्प्रेरण के लिए भी

दोषसिद्धि की जा सकती है, भले ही मुख्य अपराध का आरोप असफल हो जाता है। (पैरा 11)

पिटीशनर को सभी आवश्यक तथ्यों की जानकारी थी और इसलिए उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। परिस्थितियों के अधीन भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409/109 के अधीन उसकी दोषसिद्धि पूर्णतः वैध है। (पैरा 12)

		पैरा
[1921]	1921 क्रिमिनल ला जनरल 311 : दरबारी चौधरी और अन्य **बनाम** एम्परर (Darbari Choudhoury and others *Vs.* Emperor);	4
[1927]	ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 35 : महाबीर प्रसाद **बनाम** एम्परर (Mahabir Prasad *Vs.* Emperor) **निर्दिष्ट** किए गए।	4
[1947]	ए० आई० आर० 1947 पटना 350 : हीरा साह **बनाम** एम्परर (Hira Sah *Vs.* Emperor);	10
[1947]	ए० आई० आर० 1937 नागपुर 113 : प्रांतीय सरकार, सेण्ट्रल प्रोविन्स और बरार **बनाम** सैदू (Provincial Government C. P. and Berar *Vs* Saidu);	5, 9
[1932]	ए० आई० आर० 1932 मद्रास 391 (पूर्ण न्यायपीठ) : श्यामू महापात्र **बनाम** एम्परर (Syamo Maha Patr *Vs.* Emperor);	5, 8
[1925]	ए० आई० आर० 1925 पी० सी 130 : बेगू **बनाम** किंग एम्परर (Begu *Vs.* The King Emperor) **का अवलम्बन** लिया गया।	5, 8, 9

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक पुनरीक्षण सं० 1081.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 401 के अधीन अपर सेशन न्यायाधीश श्री अमर सिंह चावला द्वारा पारित 25 सितम्बर, 1981 के आदेश के पुनरीक्षण के लिए पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री भूपसिंह

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री ए० के० जायसवाल

न्या० एस० एस० दीवान :

पिटीशनर सरदारा और उसके सह-अभियुक्त नानूराम को नरवाणा के उप-खंडीय न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन आरोप के लिए विचारण हेतु पेश किया गया था और इस धारा के अधीन दोषी पाए जाने पर नानूराम को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधिष्ठायी आरोप के अधीन सिद्धदोष किया गया था। जबकि पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409/109 के अधीन दोषसिद्ध किया गया और इनमें से प्रत्येक को तीन वर्ष के लिए कठोर कारावास तथा दो हजार रुपए के जुर्माने से दण्डित किया गया था। अपील करने पर जींद के विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश ने उसकी दोषसिद्धि और दण्डादेश को कायम रखा। इसी आदेश से व्यथित होकर पिटीशनर सरदारा ने पिटीशन फाइल किया है।

2. इस पुनरीक्षण के तथ्य बहुत थोड़े-से और साधारण हैं। खानपुर कोआपरेटिव एग्रीकल्चरल सर्विस सोसाइटी लि०, खारपुर (जिसे संक्षेप में सोसाइटी कहा गया है) नामक एक सोसाइटी है। नानूराम और सरदारा पिटीशनर दोनों ही क्रमश: इस सोसाइटी में कोषाध्यक्ष और सचिव थे। बृजलाल गर्ग सोसाइटी का उप-निरीक्षक था और वह इसके कार्य की देखभाल किया करता था। यह अभिकथन किया गया है कि कोषाध्यक्ष नानूराम एक अनपढ़ व्यक्ति था जबकि सचिव, सरदार इस सोसाइटी के रजिस्टरों में लिखाई का सब काम किया करता था। सहकारी सोसाइटी, जींद के सहायक रजिस्ट्रार श्री के० एन० कपूर ने सोसाइटी के लेखों की जांच की और यह पाया कि नानूराम और सरदारा ने बृजलाल गर्ग की मौनानुकूलता से तमसार में जाली प्रविष्टि प्रस्तुत करने के पश्चात् सोसाइटी के 50,139 रुपए की रकम का दुर्विनियोजन किया था। परिणामत: श्री के०एन० कपूर की प्रेरणा पर एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल की गई थी और दोनों अभियुक्तों को गिरफ्तार कर लिया गया था। आवश्यक अन्वेषण के पश्चात् उनका चालान किया गया और उन्हें विचारण के लिए भेज दिया गया था। बृजलाल गर्ग को भी न्यायालय में बुलवाया गया था किन्तु तत्पश्चात् उसे उन्मोचित कर दिया गया था।

3. अभियोजन पक्ष ने 40 साक्षियों की परीक्षा की थी। उनमें से अधिकतर सोसाइटी के ऋणी हैं जिन्होंने यह कहा है कि उन्होंने उक्त सोसाइटी के अभिलेख में उनके नाम के सामने दिखाई गई रकम कभी भी उधार नहीं ली थी। अनेक विचारण-साक्षी, बैंक के कर्मचारी हैं जिन्होंने सरदारा

पिटीशनर के अनुप्रमाणन के आधार पर नानूराम कोषाध्यक्ष को किए गए 50,000 रुपये के संदाय को साबित किया है। अभियुक्त ने अभियोजन के अभिकथनों से इन्कार किया और मामले में झूठी सांठ-गांठ का अभिवाक् किया किन्तु अपनी प्रतिपरीक्षा में कोई साक्ष्य पेश नहीं किया।

4. पिटीशनर की ओर से आग्रह किए जाने पर उसने मात्र यह दलील पेश की है कि चूंकि पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन दोषी पाया गया है और इसलिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409/109 के अधीन उसकी दोषसिद्धि अवैध है क्योंकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 109 के अधीन कोई आरोप उसके विरुद्ध विरचित नहीं किया गया था। अपनी इस दलील के समर्थन में श्री मूर्पसिंह ने **दरबारी चौधरी और अन्य** बनाम **एम्परर**[1] और **महाबीर प्रसाद** बनाम **एम्परर**[2] के विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया है। प्रथम मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 379 के अधीन अपराध से आरोपित व्यक्ति को उस अपराध में दुष्प्रेरण के लिए सिद्धदोष नहीं किया जा सकता जहां कि उसे ऐसे दुष्प्रेरण से आरोपित ही नहीं किया गया था। दूसरे मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि अभियुक्त को मुख्य आरोप से दोषमुक्त कर दिया गया था तो दुष्प्रेरण के लिए उसकी दोषसिद्धि अवैध है।

5. दूसरी ओर, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने मेरा ध्यान ऐसे कुछ मामलों की ओर आकृष्ट किया है जिनमें उक्त दृष्टिकोण से प्रतिकूल मत अपनया गया है। वे मामले हैं : **बेगू** बनाम **किंग एम्परर**[3], **श्यामू महापात्र** बनाम **एम्परर**[4] और **प्रान्तीय सरकार, सेन्ट्रल प्रोविन्स और बरार** बनाम **सेवू**[5]।

6. बेगू के उपर्युक्त मामले में जुडिशियल कमेटी के माननीय न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि जहां भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन कुछ अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप असफल हो जाते हैं तो उनके विरुद्ध एक पृथक् आरोप लगाये बिना ही साक्ष्य को छिपाने के लिए उन्हें भारतीय दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन दोषसिद्ध किया जा सकता है।

---

[1] 1921 क्रिमिनल ला जनरल 311.
[2] ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 35.
[3] ए० आई० आर० 1925 पी० ई० सी 130.
[4] ए० आई० आर० 1932 मद्रास 391 (पूर्ण न्यायपीठ).
[5] ए० आई० आर० 1947 नागपुर 113.

7. जुडिशियल कमेटी के माननीय न्यायाधीशों ने यह बताया कि इस संबंध में कसौटी यह है कि क्या अभियुक्त को उसके विरुद्ध अभिकथित उन तथ्यों की जानकारी थी जिनसे अपराध गठित होता है, और क्या पृथक् आरोप विरचित न करने के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। जब एक बार इस न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि अभियुक्त को अपराध के सभी आवश्यक तथ्यों की जानकारी थी और यह कि पृथक् आरोप विरचित न करने के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है तो धारा-विशेष के अधीन उसकी दोषसिद्धि पर कोई वर्जन नहीं यद्यपि उस पर प्ररूपिक तौर से कोई पृथक् आरोप उस धारा के अधीन नहीं लगाया गया था।

8. श्यामू महापात्र के मामले में मद्रास उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि हत्या के मुख्य अपराध से आरोपित अभियुक्त व्यक्ति को हत्या के दुष्प्रेरण के लिए सिद्धदोष किया जा सकता है, भले ही उस पर अलग से आरोप नहीं लगाया गया था, और **बेगू** बनाम **एम्परर**[1] वाले मामले का अवलंब लिया गया।

9. बेगू के उक्त मामले में माननीय न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कोई पृथक् आरोप लगाये बिना ही दुष्प्रेरण के लिए किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध करने पर कोई विधिक वर्जन नहीं है, यदि परिस्थितियां मामले को दण्ड प्रक्रिया संहिता (1898) की धारा 237 के अधीन लाती हैं और इस प्रकार से **बेगू** बनाम **एम्परर**[1] के मामले का अवलंब लिया गया जो कि अब इस विषय पर एक निदर्शक निर्णय प्रतीत होता है।

10. पटना उच्च न्यायालय ने भी **हीरा सिंह** बनाम **एम्परर**[2] में यही दृष्टिकोण अपनाया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस मामले में दुष्प्रेरण के लिए दोषसिद्धि मात्र इसलिए अवैध हैं क्योंकि पिटीशनर के विरुद्ध उस अपराध के लिए कोई पृथक् आरोप नहीं लगाया गया था। हमें यह देखना है कि क्या उसे उन सभी तथ्यों की जानकारी थी जिन तथ्यों से दुष्प्रेरण का अपराध बनता है और क्या उस पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 109 के अधीन प्ररूपिक आरोप न लगाए जाने के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था।

11. इस मुद्दे से संबंधित नजीरों का पुनर्विलोकन करने से यह दर्शित होता है कि विधि का यह अनमनीय नियम अधिकथित नहीं किया

[1] ए० आई० आर० 125 पी० सी० 130.

जा सकता कि ऐसे मामले में दुष्प्रेरण के लिए दोषसिद्धि नहीं की जा सकती जहां कि अभियुक्त पर केवल मुख्य अपराध का ही आरोप लगाया गया है और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 109 के अधीन कोई पृथक् आरोप विरचित नहीं किया गया है, यदि अभियुक्त को उन तथ्यों की जानकारी थी जिनसे दुष्प्ररण का अपराध बनता है; यद्यपि आरोप मुख्य अपराध के लिए था और यदि दुष्प्रेरण के लिए पृथक् आरोप विरचित करने में किए गए लोप के कारण अभियुक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है तो दुष्प्रेरण के लिए भी उसकी दोषसिद्धि की जा सकती है, भले ही मुख्य अपराध का आरोप असफल हो जाता है।

12. इस कसौटी को लागू करने पर मेरी यह राय है कि पिटीशनर सरदारा को दुष्प्रेरण के अपराध को बनाने वाले आवश्यक तथ्यों की जानकारी थी। अभियोजन का पक्षकथन यह था कि नानू प्रसाद ने कोषाध्यक्ष के रूप में प्रश्नगत रकम प्राप्त की थी किन्तु दस्तावेजों के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि पिटीशनर सरदारा ने उन पर हस्ताक्षर किए थे और नानूराम अभियुक्त को उस समय पहचान लिया गया था जबकि बैंक से प्रश्नगत रकम निकाली गई थी। पिटीशनर को सभी आवश्यक तथ्यों की जानकारी थी और इसलिए उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। अतः परिस्थितियों के अधीन भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409/109 के अधीन उसकी दोषसिद्धि पूर्णतः वैध है।

13. पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री भूपसिंह ने वैसी ही दलीलें और दी हैं जो अपील न्यायालय के समक्ष पहले पेश की गई थीं और जिनका विस्तृत रूप से खण्डन कर दिया गया है। मेरे विचार से उन्हीं आधारों पर दुबारा विचार-विमर्श करना बिलकुल ही निरर्थक होगा। इतना कहना पर्याप्त है कि मैं अपील न्यायालय के तर्क और निष्कर्ष का पूर्णतः समर्थन करता हूं।

14. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने दंडादेश में कुछ कमी किए जाने की मांग की है। बल इस तथ्य पर दिया गया है कि यह घटना 1975 में घटी थी और पिटीशनर ने तब से लेकर अब तक एक लंबे विचारण का सामना किया है। इस तथ्य को देखते हुए दंडादेश में कमी करने की बड़ी मामूली-सी गुंजाइश है कि यह मामला बहुत पुराना है। तद्नुसार कारावास के दंडादेश को कम करके दो वर्ष करता हूं। तथापि, जुर्माने का दंडादेश, व्यतिक्रम के खंड सहित, बराबर बना रहेगा।

15. दंडादेश में इस उपांतरण के साथ यह पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया जाता है।

पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया गया।

शर्मा

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—95

लाल चन्द बनाम आयुक्त, अम्बाला खण्ड, अम्बाला और अन्य

(Lal Chand *Vs.* the Commissioner, Ambala Division, Ambala and others)

तारीख 12 अक्तूबर, 1983

[न्या० सुखदेव सिंह कांग]

हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973 धारा 40, 46 और 279 सपठित पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 की धारा 240 के अधीन बनाए गए पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स, नियम 1 और 3—कर्मचारी को सेवा से हटाना—कर्मचारी पर अनुशासनहीनता और गैर जिम्मेदार होने का आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक है—कर्मचारी को 'सेवा से हटाना' (रिमूवल फ्राम सर्विस) उसकी 'पदच्युति' (डिसमिसल) के समान है—नगरपालिक समिति अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति का आदेश कर सकती है और नियमों के अतिक्रमण में या उसके अननुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य नहीं होगा।

2. पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स (जो पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट, 1911 की धारा 240 के अधीन बनाए गए हैं)—नियम 1 और 3 सपठित हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973, धारा 40, 46 और 279—कर्मचारी को सेवा से हटाना—कर्मचारी पर अनुशासनहीनता और गैर-जिम्मेदार होने का आरोप स्पष्टतः कलंकात्मक है—कर्मचारी को 'सेवा से हटाना' (रिमूवल फ्राम सर्विस) उसकी 'पदच्युति' (डिसमिसल) के समान है—नगरपालिक समिति अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार ही अपने कर्मचारियों की पदच्युति का आदेश कर सकती है और निर्णयों के अतिक्रमण में या उसके अनुपालन में पारित किया गया पदच्युति का कोई भी आदेश विधिमान्य नहीं होगा।

पिटीशनर को, जो कि नगरपालिक समिति में एक चपरासी के रूप में नियोजित है, हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973 की धारा 46 के अधीन आक्षेपित नोटिस भेजा गया जिसमें उसे यह सूचित किया गया कि एक मास

का अवसान हो जाने के बाद नगरपालिक समिति से उसकी सेवाएं समाप्त हो जाएंगी क्योंकि वह मुख्य चिकित्सा अधिकारी से अपनी शारीरिक परीक्षा कराने और स्वस्थता प्रमाणपत्र पेश करने में असफल रहा है और इस प्रकार उसने अनुशासनहीनता का और गैर-जिम्मेदार होने का प्रदर्शन किया है। पिटीशनर ने उक्त आदेश के विरुद्ध अपील की किन्तु वह अपील भी प्रत्यर्थी प्रशासक द्वारा खारिज कर दी गई। अतः प्रत्यर्थी प्रशासक, नगरपालिक समिति, के आक्षेपित आदेश से व्यथित होकर पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

हरियाणा म्युनिसिपल ऐक्ट, 1973 की धारा 40 नगरपालिक समिति को कतिपय प्रकार के कर्मचारियों को नियोजित करने के लिए शक्ति प्रदान करती है। धारा 40 समिति को अपने द्वारा नियुक्त किए गए किसी भी कर्मचारी को निलम्बित, हटाने, पदच्युत करने या उन्हें अन्यथा दण्डित करने के लिए भी सशक्त करती है। तथापि इस शक्ति का प्रयोग अधिनियम तथा पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स और उपविधियों के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए किया जाएगा। लिखित कथन में विनिर्दिष्टतः यह प्रकथन किया गया है कि सम्बन्धित कर्मचारी को विधि के अनुसार पदच्युत किया गया है। अन्यथा भी पंजाब म्युनिसिपल जनरल रूल्स के नियम (1) में पदच्युति' से अवचार या अक्षमता के आधार पर अधिष्ठायी नियुक्ति से हटाया जाना अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट की धारा 45 की उपधारा (1) के अधीन अवचार के आधार पर सेवोन्मुक्ति भी आती है। आक्षेपित नोटिस में स्पष्टतः कर्मचारी पर अनुशासनहीनता और गैर-जिम्मेदार होने का आरोप लगाया गया है। नगरपालिक समिति द्वारा इस नोटिस को सेवा से हटाए जाने के आक्षेपित आदेश का एक भाग माना गया है। स्वयं आक्षेपित आदेश में 'सेवा से हटाए जाने' पद का प्रयोग किया गया है। इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया गया कि कर्मचारी को सेवोन्मुक्त किया जा रहा है। आक्षेपित आदेश धारा 40 के अधीन पारित किया गया है। नगरपालिका ने कर्मचारी को सेवोन्मुक्त किया है। ऐसा केवल अधिनियम की धारा 40 के अधीन किया जा सकता है। अधिनियम की धारा 279 में पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के निरसन के साथ-साथ उपधारा (2) के खण्ड (क) में यह उपबन्ध किया गया है कि पंजाब म्युनिसिपल ऐक्ट के अधीन बनाए गए या जारी किए गए नियम, उपविधि आदि, जो अधिनियम के प्रारम्भ के ठीक पूर्व प्रवृत्त हों, जहां तक वे अधिनियम के उपबन्धों से असंगत नहीं हैं, प्रवृत्त बने रहेंगे और उनके संबंध

नि० प० 1984 : पटना—1

बुधु दुशद और अन्य बनाम मंगनी देवी उर्फ आशा देवी

(Budhu Dushad and others *Vs*. Mangni Devi *alias* Asha Devi)

तारीख 2 दिसम्बर, 1983

[न्या० चौ० सिया शरण सिन्हा]

बिहार लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950 (बिहार ऐक्ट 30 ऑफ 1950) [बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (1950 का बिहार अधिनियम 30)]—धारा 6(1), 6(2) तथा 35—अधिनियम की धारा 35 में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो सिविल न्यायालय को हक की घोषणा और कब्जे के परिणामी अनुतोष के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से रोकती हो। धारा 35 विभिन्न प्रकार के वादों के सम्बन्ध में व्यवहृत होती है—धारा 6(1) में भी वादी के हक और कब्जे के अधिकार के विवाद्यक को विनिश्चित करने की सिविल न्यायालय की शक्ति के प्रति कोई निषेध नहीं है और न ही धारा 6(2) के बारे में आनुमानिक रूप से यह कहा जा सकता है कि वह सिविल न्यायालय की पूर्ण शक्ति का निषेध करती है।

दंड प्रक्रिया संहिता, धारा 145—इस धारा के अधीन आदेश पारित करने में मजिस्ट्रेट का प्रयोजन भूमि के कब्जे के प्रति किसी पक्षकार का हक या अधिकार विनिश्चित करना न होकर हक या अधिकार के प्रश्न को विधि के सम्यक् अनुक्रम में विनिश्चित किए जाने के लिए अभिव्यक्त रूप से सुरक्षित रखना है—शांति-भंग की आशंका उसकी अधिकारिता का आधार होती है और उस उद्देश्य से वह उन अधिकारों के निरपेक्ष एक अस्थायी आदेश पारित करता है जिनके संबंध में न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया जाएगा और विधि द्वारा उपबंधित रीति से निपटारा किया जाएगा—तथाकथित आदेश का पर्यवसान सिविल न्यायालय द्वारा ऐसे हक या अधिकार के सम्बन्ध में डिक्री पारित होते ही हो जाता है—इस प्रकार मजिस्ट्रेट का आदेश पुलिस का आदेश मात्र होता है और वह हक सम्बन्धी किसी प्रश्न को विनिश्चित नहीं करता।

सन् 1962 के हकवाद सं० 131 और 132 के प्रतिवादियों की प्रेरणा पर अभिपुष्टि के एक ही निर्णय के विरुद्ध सन् 1973 की द्वितीय अपील सं० 801 और 802 की गईं। दोनों वादों के वादी एक ही थे। सन् 1972 की द्वितीय अपील सं० 801 के अपीलार्थी सन् 1962 के हकवाद सं० 131 में प्रतिवादी थे। इस हकवाद में नालन्दा जिले के सिलाव थाने के अंतर्गत आने

वाले ब्रह्मदासपुर ग्राम की तौजी सं० 11840 के खाता सं० 195 के तीन प्लाट, जिनका कुल क्षेत्रफल 52 डेसिमल था, अंतर्ग्रस्त थे। सन् 1973 की द्वितीय अपील सं० 802 के अपीलार्थी सन् 1962 के हकवाद सं० 132 में प्रतिवादी थे और इस हकवाद में उसी मौजा और तौजी के खाता सं० 196 के तीन प्लाट, जिनका कुल क्षेत्रफल 46 डेसिमल था, अंतर्ग्रस्त थे। वादी जमींदारी के निहित होने के समय और उसके पूर्व वादग्रस्त भूमि के 16 आने के स्वामी थे और यह भूमि 1910 के भू-कर सर्वेक्षण में स्वत्वधारियों की सूची में खिदमती जागीर के रूप में अभिलिखित की गई थी। दोनों वादों के प्रतिवादी उन व्यक्तियों के वंशज हैं जिनके नाम वादग्रस्त भूमियां खिदमती जागीर के रूप में अभिलिखित की गई थीं।

वादियों का पक्षकथन यह है कि प्रतिवादियों और उनके पूर्वजों ने भू-स्वामियों को अपनी सेवाएं प्रदान करना बन्द कर दिया था और भू-स्वामियों ने तथाकथित खिदमती जागीर का अपनी बाकाश्त भूमियों के रूप में कब्जा जमींदारी के निहित होने से काफी समय पहले ले लिया था और उनका वादग्रस्त भूमि पर निरन्तर खास कब्जा बना रहा था और इस प्रकार वे अधिनियम की धारा 6 के उपबंधों के अधीन वादग्रस्त भूमियों के कानूनी अभिधारी बन गए थे। प्रतिवादियों ने वादियों के इस कथन पर आक्षेप करते हुए वर्ष 1956-57 का प्रकीर्ण मामला सं० 35 दर्ज कर दिया था। जिसकी बाबत वादियों ने यह अभिकथन किया है कि वह खारिज कर दिया गया था।

वादग्रस्त प्लाटों का एक भाग भूमि अर्जन अधिनियम के अधीन अर्जित कर लिया गया था। वादियों को प्रतिकर के संदाय के बारे में प्रतिवादियों ने 3 मई, 1952 को आक्षेप किया और उसके पश्चात् संबंधित खंड विकास अधिकारी से 1 मई, 1962 के आदेश द्वारा वादग्रस्त भूमि का लगान, वादियों को किसी नोटिस अथवा उनकी जानकारी के बिना, अपने नाम में निर्धारित करा लिया। इससे व्यथित होकर वादियों ने यह घोषणा की जाने के लिए उपर्युक्त दोनों वाद संस्थित किए थे कि वादग्रस्त भूमियां जमींदारी के निहित होने की तारीख को उनकी बाकाश्त भूमियां थीं और वे प्रश्नास्पद तौजी के स्वत्वधारी होने के कारण उन भूमियों के कानूनी अभिधारी बन गए थे। वादियों ने इस अनुतोष का दावा किया था कि वादग्रस्त भूमि पर उनके कब्जे की पुष्टि की जाए अथवा अनुकल्पत: उन्हें उसका पुन: कब्जा दिलाया जाए तथा खंड विकास अधिकारी का 1 मई, 1962 का आदेश अवैध तथा उन पर अनाबद्धकर घोषित किया जाए। प्रतिवादियों ने लम्बी अवधि तक कब्जाधारी रहने के आधार पर यह दावा किया कि उन्हें प्रतिकूल कब्जे के परिणामस्वरूप वादग्रस्त भूमि पर हक प्राप्त हो गया है।

अतः न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि "क्या भूतपूर्व स्वत्वधारियों द्वारा इस सम्बन्ध में घोषणा के लिए फाइल किया गया वाद, कि अधिनियम की धारा 6(2) के अधीन पारित आदेश अवैध और अनाबद्धकर था, तथाकथित अधिनियम की धारा 35 के अधीन वर्जित था ।"

अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 ने विधि के इस सारवान प्रश्न के अतिरिक्त इन दो और प्रश्नों के अवधारण के लिए भी निवेदन किया था कि (1) क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन पारित आदेश को ध्यान में रखते हुए कब्जे की पुष्टि के लिए अपीलाधीन डिक्री वैध है, क्योंकि वादी-प्रत्यर्थियों ने उसे अपास्त किए जाने तथा अवैध घोषित किए जाने के सम्बन्ध में कोई प्रार्थना नहीं की है तथा (2) क्या निचले अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित कब्जा सम्बन्धी निष्कर्ष विधि की दृष्टि में मान्य है ? उसने यह भी निवेदन किया था कि खण्ड विकास अधिकारी द्वारा प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का अवधारण अधिनियम की धारा 6(2) के अधीन विनिश्चय समझा जाएगा । वादियों ने तथाकथित विनिश्चय के विरुद्ध धारा 218 के अधीन अपील नहीं की थी इसलिए वाद अधिनियम की धारा 35 के अधीन वर्जित होगा ।

अभिनिर्धारित—अपीलें खारिज की गईं ।

वादियों ने जिस अनुतोष की ईप्सा की है उसे इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, अर्थात् (i) वादग्रस्त भूमियों पर कब्जे के प्रति हक और कब्जे की पुष्टि के लिए उनके सम्बन्ध में यह घोषणा करना कि वे अधिनियम की धारा 6 के अधीन तथाकथित भूमियों के कानूनी अभिधारी हैं और (ii) इसके सम्बन्ध में घोषणा करना कि खंड विकास अधिकारी का प्रतिवादियों के पक्ष में लगान नियत करने वाला तारीख 7 मई, 1962 का आदेश उन पर आबद्धकर नहीं है । जहां तक दावाकृत अनुतोष के पहले भाग का सम्बन्ध है वह अधिनियम की धारा 35 के दोष के अंतर्गत नहीं आ सकता । क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रतिकर निर्धारण नामावली में किसी प्रविष्टि अथवा लोप, अथवा अध्याय 2 से 6 तक के अधीन पारित किसी आदेश अथवा किसी ऐसे मामले, जो तथाकथित अध्यायों के अधीन किए गए किसी आवेदन अथवा की गई कार्यवाहियों की विषयवस्तु है या रहा है, से नहीं है । ऐसी दशा में अनुतोष का यह भाग अधिनियम की धारा 35 के दोष के अंतर्गत नहीं आ सकता । अनुतोष के दूसरे भाग के सम्बन्ध में निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का निर्धारण करने वाला खण्ड

विकास अधिकारी का आदेश अवैध है और वादियों पर आबद्धकर नहीं है। (पैरा 8, 10, 13 और 14)

यदि यह मान भी लिया जाए कि लगान के निर्धारण के लिए प्रतिवादियों द्वारा फाइल किया गया तारीख 24 अप्रैल, 1957 का पिटीशन अधिनियम की धारा 6(2) के अंतर्गत आएगा तो भी तथाकथित पिटीशन, वादियों को नोटिस के बाद बिहार लैण्ड रिफार्म्स रूल्स, 1951 के नियम 7(एफ) के उपबन्धों के अनुसार निपटाए जाने के कारण वादियों पर न्यूनाधिक रूप में आबद्धकर नहीं माना जा सकता। बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 का यह निवेदन, कि विचारण न्यायालय ने खंड विकास अधिकारी द्वारा की गई जिस प्रक्रियात्मक भूल को इंगित किया है उससे आदेश में अवैधता का प्रवेश हो सकता है परन्तु आदेश अधिकारिता-विहीन नहीं माना जा सकता और यदि उसमें कोई अवैधता थी भी तो वह अधिनियम की धारा 8 के अधीन ठीक की जा सकती थी, कुछ आकर्षक है बशर्ते कि यह मान लिया जाए कि प्रतिवादियों ने लगान के निर्धारण के लिए जो पिटीशन फाइल किया था उसने अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) के अधीन एक कार्यवाही को जन्म दिया था। परन्तु समस्या यह है कि यदि वादी विधि की दृष्टि में अनुतोष का प्रथम भाग पाने के हकदार हैं तो वाद अनुतोष के दूसरे भाग के समावेश के कारण विशेष रूप से तब असफल नहीं हो सकता जब हक और कब्जे से सम्बन्धित प्रश्न के बारे में सिविल न्यायालय का विनिश्चय प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का निर्धारण करने में राजस्व प्राधिकारी के विनिश्चय की अवहेलना करेगा। ऐसी दशा में अधिनियम की धारा 35, जहां तक हक की घोषणा और कब्जे के परिणामी अनुतोष का संबंध है, वादियों द्वारा संस्थित वाद की पोषणीयता का वर्जन नहीं करती। (पैरा 16)

यदि कानूनी उपबंधों के परिणामस्वरूप वादियों को कुछ अधिकार प्रोद्भूत हो गए हैं तो वादी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में किए गए गलत विनिश्चय के कारण उनसे विधारित नहीं किए जा सकते और यदि उन्होंने ऐसे विनिश्चय के अपास्त किए जाने की प्रत्यक्षतः कोई प्रार्थना नहीं की है तो मामले के तथ्यों के आधार पर और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनका वाद खारिज नहीं किया जा सकता। (पैरा 17)

पैरा
12

[1977] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 5 : गुरुचरण सिंह बनाम कमला सिंह और अन्य (Gurucharan Singh Vs. Kamla Singh and others); और

[1959] ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 960 : भिका और अन्य **बनाम** चरण सिंह (Bhinka and others *Vs.* Charan Singh) का अवलम्ब लिया गया। 17

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1964 : कृष्ण प्रसाद और अन्य **बनाम** गौरी किशोरी देवी (Krishna Prasad and others *Vs.* Gouri Kishori Devi); और 17

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 914 : राजा शैलेन्द्र नारायण भंज देव **बनाम** कुमार जगत किशोर प्रसाद नारायण सिंह और अन्य (Raja Shailendra Narayan Bhanj Deo *Vs.* Kumar Jagat Kishore Prasad Narayan Singh and others) प्रभेदित किए गए। 17

सिविल अपीली अधिकारिता : 1973 की अपीली डिक्री सं० 801 और 802.

अपर मुंसिफ, बिहार शरीफ के तारीख 15 सितम्बर, 1965 के आदेश की पुष्टि करने वाले प्रथम अपर अधीनस्थ न्यायाधीश, बिहार शरीफ के तारीख 20 सितम्बर, 1973 के आदेश के विरुद्ध अपील।

द्वितीय अपीलों के अपीलार्थियों की ओर से ... श्री बैद्यनाथ प्रसाद II

द्वितीय अपील सं० 801/73 के प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से ... सर्वश्री मदन मोहन प्रसाद सिंह और राजेन्द्र प्रसाद सिन्हा

द्वितीय अपील सं० 801/73 में अवयस्क प्रत्यर्थी सं० 5, 6 और 13 की ओर से ... श्री हरेन्द्र नारायण सिन्हा

द्वितीय अपील सं० 801/73 में अवयस्क प्रत्यर्थी सं० 7 की ओर से ... श्री अशोक कुमार सिन्हा सं० 4

द्वितीय अपील सं० 802/73 में अवयस्क प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री मिथलेश कुमार खरे

द्वितीय अपील सं० 802/73 में अवयस्क प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री डी० सी० चक्रवर्ती

न्या० चौ० सियाशरण सिन्हा :

ये दोनों द्वितीय अपीलें दो हकवादों, अर्थात् 1962 के हकवाद सं० 131 और 132 के प्रतिवादियों की प्रेरणा पर अभिपुष्टि के एक ही निर्णय के विरुद्ध की गई हैं। ये दोनों द्वितीय अपीलें एक साथ सुनी गई हैं और इनका निपटारा एक ही निर्णय द्वारा किया जा रहा है।

2. दोनों वादों के वादी एक ही थे। 1973 की द्वितीय अपील सं० 801 के अपीलार्थी 1962 के हकवाद सं० 131 में प्रतिवादी थे। इस हकवाद में 52 डेसिमल क्षेत्रफल वाली भूमि अंतर्ग्रस्त थी, जिसमें तीन प्लाट, अर्थात् प्लाट सं० 871 (21 डेसिमल), प्लाट सं० 638 (17 डेसिमल) और प्लाट सं० 2194 (14 डेसिमल), थे। ये सभी प्लाट नवनिर्मित नालन्दा जिले के सिलाव थाने के अंतर्गत आने वाले ब्रह्मदासपुर ग्राम की तौज़ी सं० 11840 में खाता सं० 195 के थे। 1973 की द्वितीय अपील सं० 802 के अपीलार्थी 1962 के हकवाद सं० 132 में प्रतिवादी थे और उस हकवाद में अंतर्ग्रस्त भूमि का क्षेत्रफल 46 डेसिमल था जिसमें तीन प्लाट, अर्थात् प्लाट सं० 637 (20 डेसिमल, प्लाट) सं० 872 (12 डेसिमल) और प्लाट सं० 2193 (14 डेसिमल) थे जो सभी उपर्युक्त तौज़ी और मौज़ा के खाता सं० 196 से संबंधित थे।

3. इस न्यायालय के समक्ष दिए गए सीमित तर्कों को देखते हुए वादग्रस्त भूमि के भूतपूर्व इतिवृत्त का वर्णन करना अनावश्यक है। इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि वादी जमींदारी के निहित होने के समय और उसके पूर्व वादग्रस्त भूमि के 16 आने के स्वामी थे। इस बारे में भी कोई विवाद नहीं है कि दोनों वादों में अंतर्ग्रस्त भूमियां सन् 1910 के भू-कर सर्वेक्षण में स्वत्वधारियों की सूची में खिदमती जागीर के रूप में अभिलिखित की गई थीं। इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि दोनों वादों के प्रतिवादी उन व्यक्तियों के वंशज हैं जिनके नाम वादग्रस्त भूमियां खिदमती जागीर के रूप में अभिलिखित की गई थीं।

4. वादियों का पक्षकथन यह है कि प्रतिवादियों और उनके पूर्वजों ने भू-स्वामियों को अपनी सेवाएं प्रदान करना बन्द कर दिया था और भू-स्वामियों ने तथाकथित खिदमती जागीर का अपनी बाकाश्त भूमि के रूप में कब्जा जमींदारी के निहित होने से काफी समय पहले ले लिया था और उनका वादग्रस्त भूमि पर निरन्तर खास कब्जा बना रहा था और जमींदारी के निहित होने की तारीख को भी उनका उस पर खास कब्जा था और इस प्रकार वे बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (1950 का बिहार अधिनियम 30) (बिहार

लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950) (बिहार ऐक्ट 30 आफ 1950), जिसे इसमें आगे अधिनियम कहा गया है, की धारा 6 के उपबंधों के अधीन वादग्रस्त भूमियों के कानूनी अभिधारी बन गए थे। प्रतिवादियों ने वादग्रस्त भूमियों पर अपनी लालची नजरें गड़ाकर राजस्व प्राधिकारी के समक्ष इस बारे में कुछ आक्षेप किए थे कि वादग्रस्त भूमियां वादी की कानूनी अभिधृति हैं और उनके द्वारा तद्नुसार वर्ष 1956-57 का प्रकीर्ण मामला सं० 35 दर्ज किया गया था। वादियों ने यह अभिकथन किया है कि जांच की जाने पर यह निष्कर्ष निकला था कि वादियों का वादग्रस्त भूमि पर खास कब्जा था और इसलिए मामला खारिज कर दिया गया था। वादग्रस्त प्लाटों का एक भाग भूमि अर्जन अधिनियम के अधीन अर्जित कर लिया गया था। वादियों को प्रतिकर के संदाय के बारे में प्रतिवादियों ने 3 मई, 1952 को आक्षेप किया था और उसके पश्चात् संबंधित खण्ड विकास अधिकारी से 1 मई, 1962 के आदेश द्वारा वादग्रस्त भूमि का लगान वादियों को किसी नोटिस अथवा उनकी जानकारी के बिना अपने नाम में निर्धारित करा लिया था। अतः वादियों ने यह घोषणा की जाने के लिए उपर्युक्त दोनों वाद संस्थित किए थे कि वादग्रस्त भूमियां जमींदारी के निहित होने की तारीख को उनकी बाकाश्त भूमियां थीं और वे प्रश्नास्पद तौज़ी के स्वत्वधारी होने के कारण उन भूमियों के कानूनी अभिधारी बन गए थे। उन्होंने जिस परिणामी अनुतोष का दावा किया था वह यह था कि उनके वादग्रस्त भूमि पर कब्जे की पुष्टि की जाए अथवा अनुकल्पी रूप से पुनः कब्जा दिलाया जाए। उन्होंने यह घोषणा की जाने की भी प्रार्थना की थी कि खण्ड विकास अधिकारी का तारीख 1 मई, 1962 का वादग्रस्त भूमियों का प्रतिवादियों के नाम में लगान नियत करने वाला आदेश अवैध था और उन पर आबद्धकर नहीं था।

5. प्रतिवादियों ने वाद का प्रतिवाद किया। उन्होंने यह स्वीकार करते हुए कि वादग्रस्त भूमियां उनकी खिदमती जागीर थीं यह प्राख्यान किया कि उन्होंने वादियों को अपनी सेवाएं कभी भी प्रदान नहीं की थीं तथा उनका वादग्रस्त भूमियों पर निरन्तर कब्जा बना रहा था और उन्होंने खण्ड विकास अधिकारी से उनका लगान नियत कराया था। लम्बी अवधि तक कब्जाधारी रहने के आधार पर उन्होंने यह दावा किया था कि उन्हें वादग्रस्त भूमि पर प्रतिकूल कब्जे के परिणामस्वरूप हक प्राप्त हो गया है।

6. विचारण न्यायालय ने वादियों के पक्षकथन को स्वीकार करते हुए वादियों का वाद डिक्री कर दिया। प्रतिवादियों ने मामले के संबंध में दो अपीलें कीं परन्तु वे खारिज कर दी गईं।

7. इस न्यायालय ने इन दोनों अपीलों को ग्रहण करते समय निम्नलिखित आशय का जो एकमात्र प्रश्न विरचित किया था वह 1973 की द्वितीय अपील सं० 801 में पारित तारीख 24 अगस्त, 1977 के आदेश सं० 14 में दर्ज है :—

> "क्या भूतपूर्व-स्वत्वधारियों द्वारा इस संबंध में घोषणा के लिए फाइल किया गया वाद, कि बिहार भूमि सुधार अधिनियम की धारा 6(2) के अधीन पारित आदेश अवैध तथा अनाबद्धकर था, तथाकथित अधिनियम की धारा 35 के अधीन वर्जित था?"

अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 ने विधि के इस सारवान प्रश्न के अतिरिक्त इन दो और प्रश्नों के अवधारण के लिए निवेदन किया था, अर्थात् (1) क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन पारित आदेश को ध्यान में रखते हुए कब्जे की पुष्टि के लिए अपीलाधीन डिक्री वैध है क्योंकि वादी-प्रत्यर्थियों ने उसे अपास्त किए जाने अथवा अवैध घोषित किए जाने के सम्बन्ध में कोई प्रार्थना नहीं की है, और (2) क्या निचले अपील न्यायालय द्वारा अभिलिखित कब्जा संबंधी निष्कर्ष विधि की दृष्टि में मान्य है।

8. इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विद्वान् काउन्सेल को इन दोनों प्रश्नों के सम्बन्ध में निवेदन करने की अनुमति प्रदान की गई। वादियों ने जिस अनुतोष की ईप्सा की है उसे सर्वथा पृथक्करणीय प्रतीत होने वाले इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, अर्थात् (i) वादग्रस्त भूमियों पर कब्जे के प्रति हक और कब्जे की पुष्टि के लिए उनके संबंध में यह घोषणा करना कि वे अधिनियम की धारा 6 के अधीन तथाकथित भूमियों के कानूनी अभिधारी हैं और (ii) इस संबंध में घोषणा करना कि खंड विकास अधिकारी का प्रतिवादियों के पक्ष में वादग्रस्त भूमि का लगान नियत करने वाला तारीख 1 मई, 1962 का आदेश उन पर आबद्धकर नहीं है। श्री बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 के अनुसार अधिनियम की धारा 35 उपर्युक्त दोनों अनुतोषों का वर्जन करेगी। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि धारा 35 के उपबंधों को देखते हुए वाद की असंपोषणीयता के बारे में निचले दोनों न्यायालयों में ऐसी कोई दलील नहीं दी गई थी और यह दलील, जैसा कि विद्वान् काउन्सेल ने स्वीकार किया है, द्वितीय अपील में पहली बार दी जा रही है। श्री बैद्यनाथ प्रसाद ने यह निवेदन किया था कि खंड विकास अधिकारी द्वारा प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का अवधारण अधिनियम की धारा 6(2) के अधीन विनिश्चय समझा जाएगा। वादियों ने तथाकथित

विनिश्चय के विरुद्ध धारा 8 के अधीन अपील नहीं की थी इसलिए वाद अधिनियम की धारा 35 के अधीन वर्जित होगा।

9. अधिनियम की धारा 6(2) में अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंधित है :—

*"यदि कोई व्यक्ति उपधारा (1) में निर्दिष्ट भूमियों पर खास कब्जे की बाबत अथवा ऐसी भूमियों की सीमा की बाबत किसी मध्यवर्ती के दावे को ऐसी भूमियों के तथाकथित उपधारा के अधीन लगान के अवधारण से पूर्व तथाकथित उपधारा के अधीन विवादग्रस्त बनाएगा तो कलक्टर, आवेदन किए जाने पर, मामले की ऐसी जांच करेगा जैसी वह उपयुक्त समझेगा और ऐसा आदेश पारित करेगा जैसा उसे न्यायसंगत और उचित प्रतीत होगा।"

अधिनियम की धारा 35 इस प्रकार है :—

**"प्रतिकर निर्धारण नामावली में किसी प्रविष्टि अथवा लोप; अथवा अध्याय 2 से 6 तक के अधीन पारित किसी आदेश; अथवा किसी ऐसे मामले; जो तथाकथित अध्यायों के अधीन किए गए किसी आवेदन अथवा की गई किन्हीं कार्यवाहियों की विषयवस्तु है या रहा है, के संबंध में किसी सिविल न्यायालय में कोई वाद नहीं लाया जाएगा।"

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"If the claim of an intermediary as to his khas possession over the land referred to in sub-section (1) or as to the extent of such lands is disputed by any person prior to the determination of rent of such lands under the said sub-section the collector shall, on application make such inquiry into the matter as he deems fit and pass such order as may appear to be just and proper."

**"No suit shall be brought in any civil court in respect of any entry in or omission from a Compensation Assessment Roll or in respect of any order passed under Chapters II to VI or concerning any matter which is or has already been the subject of any application made or proceeding taken under the said chapters."

10. जहां तक दावाकृत अनुतोष के पहले भाग, अर्थात् कब्जे के प्रति हक और कब्जे की पुष्टि के संबंध में और अनुकल्पी रूप से पुनः कब्जा दिलाए जाने के संबंध में घोषणा करना, का संबंध है वह अधिनियम की धारा 35 के दोष के अंतर्गत नहीं आ सकता। इसका संबंध प्रतिकर निर्धारण नामावली में किसी प्रविष्टि अथवा लोप, अथवा अध्याय 2 से 6 तक के अधीन पारित किसी आदेश, अथवा किसी ऐसे मामले, जो तथाकथित अध्यायों के अधीन किए गए किसी आवेदन अथवा की गई कार्यवाहियों की विषयवस्तु है या रहा है, से नहीं है।

11. हक और उसके परिणामस्वरूप मिलने वाले कब्जे के अनुतोष के अवधारण का प्रश्न, जिसका अवलम्ब लेने की ईप्सा अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने की है, कोई ऐसा मामला नहीं है जिसका न्यायनिर्णयन राजस्व प्राधिकारियों को अधिनियम की धारा 6(2) के उपबंधों के अधीन करना है।

12. उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों ने **गुरुचरण सिंह** बनाम **कमला सिंह और अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि अधिनियम की धारा 35 में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो सिविल न्यायालय को हक की घोषणा और कब्जे के परिणामी अनुतोष के प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से रोकती हो। न्यायमूर्तियों ने यह मत भी व्यक्त किया था कि धारा 35 विभिन्न प्रकार के वादों के संबंध में व्यवहृत होती है। धारा 6(1) में भी वादी के हक और कब्जे के अधिकार के विवाद्यक को विनिश्चित करने की सिविल न्यायालय की शक्ति के प्रति कोई निषेध नहीं है और इसके एक उपसिद्धान्त के रूप में प्रतिवादियों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले वास्तविक कब्जे के दावे के प्रति भी कोई निषेध नहीं है। न ही धारा 6(2) के बारे में आनुमानिक रूप से यह कहा जा सकता है कि वह सिविल न्यायालय की पूर्ण शक्ति का निषेध करती है।

13. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने **राजा शैलेन्द्र नारायण भंज देव** बनाम **कुमार जगत किशोर प्रसाद नारायण सिंह और अन्य**[2] तथा **कृष्ण प्रसाद और अन्य** बनाम **गौरी किशोरी देवी**[3] नामक जिन दो मामलों का अवलम्ब लिया था उनके तथ्य प्रस्तुत मामले के तथ्यों से भिन्न हैं और अपीलार्थियों के लिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। **राजा शैलेन्द्र सिंह नारायण भंज देव** बनाम **कुमार जगत किशोर नारायण और अन्य**[2] वाले मामले

---

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 5.

[2] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 914.

[3] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1964.

में विषय का संबंध दावा अधिकारी के अधिनियम की धारा 18(3) के अधीन विनिश्चय से था जिसमें यह अधिकथित है कि बोर्ड का विनिश्चय और दावा अधिकारी का विनिश्चय, बशर्ते कि उसके विरुद्ध बोर्ड को अपील न की गई हो, अंतिम होगा। अधिनियम की धारा 8 के साथ ऐसी कोई अंतिमता नहीं जुड़ी है। **कृष्ण प्रसाद और अन्य बनाम गौरी किशोरी देवी**[1] वाले मामले में न्यायमूर्तियों ने लेनदारों के दावों के प्रश्न के संबंध में कार्रवाई करते समय यह मत व्यक्त किया था कि लेनदारों के दावे दावा अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किए जाने हैं, दावाकर्ताओं को अधिनियम द्वारा विहित प्रक्रिया का पालन करना है और वे साधारण सिविल अधिकारिता वाले न्यायालय में कोई वाद अथवा कोई अन्य कार्यवाही संस्थित करके किसी अधिनियम-बाह्य उपचार का लाभ नहीं उठा सकते। निचले दोनों न्यायालयों ने यही एक निष्कर्ष निकाला है कि अपीलार्थियों का वाद-संपत्ति पर अस्तित्वयुक्त हक है और उनका उस पर काफी समय से निरन्तर कब्जा बना हुआ है। ऐसी दशा में अनुतोष का यह भाग अधिनियम की धारा 35 के दोष के अंतर्गत नहीं आ सकता।

14. अब मैं अनुतोष के दूसरे भाग पर विचार करूंगा जिसके सम्बन्ध में निचले न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का निर्धारण करने वाला खंड विकास अधिकारी का आदेश अवैध है और वादियों पर आबद्धकर नहीं है। अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (1) में, विहित तरीके के अनुसार कलक्टर द्वारा अवधारित किए जाने वाले ऋजु और साम्यापूर्ण लगान के संदाय के अध्यधीन ऐसी कानूनी अभिधृति के लिए उपबन्धों का अधिकथित किया गया है जो उसमें अनुध्यात की गई है। उसके पश्चात् उपरिप्रोद्धृत धारा 6 की उपधारा (2) आती है।

15. श्री बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 का निवेदन यह था कि हालांकि अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) कुछ भिन्न संदर्भ में प्रयुक्त होती है तो भी वह इस मामले में लागू होगी क्योंकि प्रतिवादी, इससे पूर्व कि वादी लगान का ऋजु और साम्यापूर्ण अवधारण अपने पक्ष में कराते, उसका अवधारण अपने पक्ष में कराने में सफल हो गए थे।

16. कतिपय तथ्य, जो विवादग्रस्त नहीं हैं, ये हैं: प्रतिवादियों ने साम्पत्तिक हित के बिहार राज्य में निहित हो जानें के पश्चात् वादियों द्वारा कानूनी अभिधृति के रूप में दावाकृत उन जागीरदारी भूमियों को वापस लेने के लिए पिटीशन फाइल किए जिनके सम्बन्ध में वर्ष 1956-57 का प्रकीर्ण

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1964.

मामला सं० 35 दर्ज किया गया था। उसमें कब्जे के बारे में जांच की गई थी। वह मामला यह निष्कर्ष निकाले जाने पर खारिज कर दिया गया था कि वादग्रस्त भूमि पर वादियों का कब्जा था। इसके पश्चात् वादग्रस्त प्लाटों के एक भाग को भूमि अर्जन कार्यवाही के अधीन अर्जित कर लेने की एक घटना घटित हो गई थी। जब वादी प्रतिकर की धनराशि लेने गए तो उन्हें पता चला कि प्रतिवादियों ने उन्हें प्रतिकर का संदाय किए जाने के प्रति इस आधार पर आक्षेप किए हैं कि संबंधित भूमि उनकी थी और उन्होंने लगान के निर्धारण के लिए खंड विकास अधिकारी के समक्ष 24 अप्रैल, 1957 को एक पिटीशन फाइल किया था। खंड विकास अधिकारी ने मामले के गुणागुण पर विचार न करके प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का निर्धारण कर दिया था और वादियों को उस मामले का न तो कोई नोटिस दिया गया था और न ही उन्हें उसकी कोई जानकारी थी। इस मामले के तथ्यों के आधार पर और इसकी परिस्थितियों में धारा 6 की उपधारा (2) प्रत्यक्षतः लागू नहीं होती। यदि यह मान भी लिया जाए कि लगान के निर्धारण के लिए प्रतिवादियों द्वारा फाइल किया गया तारीख 24 अप्रैल, 1957 का पिटीशन अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) के क्षेत्र के अंतर्गत आएगा तो भी तथाकथित पिटीशन वादियों को नोटिस के बाद बिहार लैण्ड रिफार्म्स रूल्स, 1951 के नियम 7(एफ) के उपबंधों के अनुसार न निपटाए जाने के कारण वैध और वादियों पर न्यूनाधिक रूप से आबद्धकर नहीं माना जा सकता। बैद्यनाथ प्रसाद सं० 2 का निवेदन यह था कि विचारण न्यायालय ने खंड विकास अधिकारी द्वारा की गई जिस प्रक्रियात्मक भूल को इंगित किया है उससे आदेश में अवैधता का प्रवेश हो सकता है परन्तु आदेश अधिकारिताविहीन नहीं माना जा सकता और यदि कोई अवैधता थी भी तो वह अधिनियम की धारा 8 के अधीन ठीक की जा सकती थी। यह तर्क कुछ आकर्षक है बशर्ते कि यह मान लिया जाए कि प्रतिवादियों ने लगान के अवधारण के लिए जो पिटीशन फाइल किया था उसने अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) के अधीन एक कार्यवाही को जन्म दिया था। परन्तु समस्या यह है कि यदि वादी विधि की दृष्टि में अनुतोष का प्रथम भाग पाने के हकदार हैं तो वाद अनुतोष के दूसरे भाग के समावेश के कारण विशेष रूप से तब असफल नहीं हो सकता जब हक और कब्जे से सम्बन्धित प्रश्न के बारे में सिविल न्यायालय का विनिश्चय प्रतिवादियों के पक्ष में लगान का निर्धारण करने में राजस्व प्राधिकारी के विनिश्चय की अवहेलना करेगा। ऐसी दशा में अधिनियम की धारा 35, जहां तक हक की घोषणा और कब्जे के परिणामी अनुतोष का सम्बन्ध है, वादियों द्वारा संस्थित वाद की

पोषणीयता का वर्जन नहीं कर सकती । अनुतोष के प्रथम भाग के सम्बन्ध में सिविल न्यायालय का सही रूप से किया गया विनिश्चय, जैसा कि ऊपर बताया गया है, उपरिनिर्दिष्ट खंड विकास अधिकारी के आदेश की अवहेलना करेगा । अतः यह तर्क असफल होता है ।

17. जहां तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, विचारण न्यायालय द्वारा अनुज्ञात की गई घोषणा यह है कि जमींदारी के निहित होने की तारीख से वादग्रस्त भूमियां वादियों की रैयती भूमियां हो गई हैं और उनके कब्जे की 'एतद् द्वारा पुष्टि की जाती हैं' । निचले अपील न्यायालय ने इसकी पुष्टि कर दी है । विचारण न्यायालय ने अपने निर्णय के पैरा 25 में यह मत व्यक्त किया है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन पारित आदेश खंड विकास अधिकारी के आदेश के अनुसरण में प्रतिवादियों को अनुदत्त लगान की रसीद पर आधारित है और इसलिए वह वादियों पर आबद्धकर नहीं है । यह भी मत व्यक्त किया गया है कि उसके अलावा वादियों के पक्ष में कब्जे के मुद्दे के संबंध में जबरदस्त साक्ष्य मौजूद है अतः यह न्यायालय कब्जे के सम्बन्ध में विद्वान् मजिस्ट्रेट द्वारा निकाले गए निष्कर्ष से आवद्ध नहीं है । यदि कानूनी उपबंधों के परिणामस्वरूप वादियों को कुछ अधिकार प्रोद्भूत हो गए हैं तो वादी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में किए गए गलत विनिश्चय के कारण उनसे विधारित नहीं किए जा सकते और यदि उन्होंने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन कार्यवाही में किए गए विनिश्चय के अपास्त किए जाने की प्रत्यक्षतः प्रार्थना नहीं की है, तो मामले के तथ्यों के आधार पर और उसकी परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उनका वाद खारिज नहीं किया जा सकता । **भिका और अन्य** बनाम **चरण सिंह**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145(6) के अधीन आदेश पारित करने में मजिस्ट्रेट का प्रयोजन भूमि के कब्जे के प्रति किसी पक्षकार का हक या अधिकार विनिश्चित करना न होकर हक या अधिकार के प्रश्न को विधि के सम्यक् अनुक्रम में विनिश्चित किए जाने के लिए अभिव्यक्त रूप से सुरक्षित रखना है । शांति-भंग की आशंका उसकी अधिकारिता का आधार होती है और उस उद्देश्य से वह उन अधिकारों के निरपेक्ष एक अस्थायी आदेश पारित करता है जिनके संबंध में न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया जाएगा और वाद का विधि द्वारा उपबंधित रीति से निपटारा किया जाएगा । तथाकथित आदेश

1 ए० आई० आर० 1959 एस० सी० 960.

का पर्यवसान किसी सिविल न्यायालय द्वारा ऐसे हक या अधिकार के संबंध में डिक्री पारित होते ही हो जाता है और जैसे ही सिविल न्यायालय बेदखली का आदेश पारित करता है दांडिक न्यायालय का आदेश विस्थापित हो जाता है। अतः मजिस्ट्रेट का ऐसा आदेश पुलिस का आदेश मात्र होता है और वह हक संबंधी किसी प्रश्न को विनिश्चित नहीं करता।"

ऐसी दशा में किसी उचित रूप से गठित सिविल वाद में सिविल न्यायालय का निर्णय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन पारित अंतिम आदेश के प्रभाव को समाप्त कर देगा और उसकी अवज्ञा करेगा तथा वादियों का वाद मात्र इस आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता कि उन्होंने तथाकथित आदेश के अभिव्यक्त रूप से खारिज किए जाने की प्रार्थना नहीं की है। इस प्रकार दूसरा तर्क भी असफल होता है।

18. तीसरे तर्क का संबंध अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की इस शिकायत से है कि निचले अपील न्यायालय ने कब्जे का निष्कर्ष प्रतिवादियों द्वारा दिए गए विस्तृत मौखिक साक्ष्य पर विचार किए बिना अभिलिखित किया है। यह तर्क सही नहीं है। विचारण न्यायालय ने, मौखिक और दस्तावेजी, दोनों प्रकार के साक्ष्य की पूर्ण रूप से चर्चा की है। उसने प्लीडर कमिश्नर के साक्ष्य की निर्णय के पैरा 26 में चर्चा की है। निचले अपील न्यायालय ने अपने निर्णय के पैरा 27 में मौखिक साक्ष्य की भी चर्चा की है और उस पैरे में यह मत व्यक्त किया है कि प्रतिवादियों की ओर से दिया गया मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य "बिल्कुल समाधानप्रद और विश्वसीय नहीं है।"

19. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने पैरा 18 के अंतिम कुछ वाक्यों में निचले अपील न्यायालय की निम्नलिखित मताभिव्यक्ति के बारे में शिकायत की थी :—

> "मुझे अभिलेख पर ऐसी कोई सामग्री नहीं मिली है जिसके आधार पर मैं ऐसे निष्कर्ष के सम्बन्ध में उसके द्वारा बताए गए कारणों से मतभेद व्यक्त कर सकूं अथवा उसके द्वारा निकाले गएं निष्कर्षों में उलट-फेर कर सकूं। मैं उसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस निर्णय में उन्हीं तर्कों की पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझता।"

यदि निचले अपील न्यायालय ने दोनों पक्षकारों द्वारा दिए गए मौखिक और दस्तावेजी, दोनों प्रकार के, साक्ष्य पर सम्यक् रूप से चर्चा कर ली है तो यह तर्क, कि विचारण न्यायालय द्वारा अवलम्बित किसी परिस्थिति अथवा साक्ष्य पर निचले अपील न्यायालय द्वारा विचार न किए जाने की स्थिति में निर्णय

दूषित बना रहेगा, विशेष रूप से किसी ऐसे मामले में विधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता जिसमें निचले अपील न्यायालय का निर्णय सकारात्मक हो। निचले अपील न्यायालय ने तथ्य विषयक निष्कर्ष साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् अभिलिखित किया है और मुझे उसे अपास्त करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। अतः यह तर्क भी असफल होता है।

20. परिणामतः दोनों अपील असफल होती हैं और खारिज की जाती हैं। दोनों वादों के संबंध में निचले अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री की पुष्टि की जाती है। मामले के तथ्यों के आधार पर और उसकी परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं दिया जा रहा है और पक्षकारों को इन द्वितीय अपीलों के संबंध में अपना-अपना खर्च वहन करने का निदेश दिया जाता है।

अपीलें खारिज की गईं।

अशोक

नि० प० 1984 : पटना—15

जानकी देवी बनाम धर्मनाथ प्रसाद और अन्य

(Janki Devi *Vs*. Dharamnath Prasad and others)

तारीख 7 दिसम्बर, 1983

[न्या० हरि लाल अग्रवाल और एस० शमसुल हसन]

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908, धारा 35(2)—इस धारा में ऐसा कोई नियम अधिकथित नहीं है कि किसी दस्तावेज के निष्पादक की मृत्यु हो जाने की दशा में रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह मृत निष्पादक द्वारा निष्पादित किसी सम्पत्ति के व्ययन सम्बन्धी किसी दस्तावेज के प्रस्तावित रजिस्ट्रीकरण के नोटिस की तामील करे।

शिव साहू नामक एक व्यक्ति, जिसकी काफी समय पहले मृत्यु हो चुकी थी, की विधवा भगवतिया (वादी) ने प्रतिवादी सं० 1 के विरुद्ध एक विभाजन वाद संस्थित करके अपने पति की सम्पदा के आधे अंश का दावा किया था। प्रारम्भिक डिक्री सन् 1966 में पारित की गई थी और भगवतिया की मृत्यु 5 नवम्बर, 1969 को हो गई थी। यह अभिकथन किया गया है कि उसने अपने मरने से पूर्व 29 अक्तूबर, 1966 को एक दान-विलेख निष्पादित कर

दिया था और उसका रजिस्ट्रीकरण छपरा स्थित रजिस्ट्रीकरण कार्यालय में कराया गया था। भगवतिया के अंतरितियों ने यह आवेदन किया था कि वे उसके स्थान पर प्रतिस्थापित किए जाएं। उनका यह आवेदन मंजूर कर लिया गया था। प्रत्यर्थियों ने भी इस आधार पर भगवतिया के स्थान पर प्रतिस्थापित किए जाने का आवेदन किया था कि तथाकथित रजिस्ट्रीकृत दान-विलेख के कारण उक्त सम्पत्ति उन्हें न्यागत हो गई थी। अपीलार्थी ने तथाकथित दान-विलेख के कपटपूर्ण होने का आक्षेप किया क्योंकि उसके रजिस्ट्रीकरण का नोटिस अपीलार्थी को नहीं भेजा गया था। आदाताओं (प्रत्यर्थियों) का आवेदन मंजूर कर लिए जाने पर अपीलार्थी ने अपील फाइल की।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 35(2), जिसकी इस मामले में सेवा ली गई है, में कोई ऐसा नियम अधिकथित नहीं है कि किसी दस्तावेज के निष्पादक की मृत्यु हो जाने की दशा में रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह मृत निष्पादक द्वारा निष्पादित किसी सम्पत्ति के व्ययन संबंधी दस्तावेज के प्रस्तावित रजिस्ट्रीकरण के नोटिस की तामील करे। (पैरा 5)

पैरा

[1969] ए० आई० आर 1969 एस० सी० 1147 : एम० एल० अब्दुल जब्बार साहिब **बनाम** एच० व्येंकट शास्त्री और पुत्रगण तथा अन्य (M. L. Abdul Jabbar Sahib *Vs.* H. Venkata Sastri and sons and others); 5

[1933] ए० आई० आर० 1933 इलाहाबाद 302 : अब्दुल अज़ीज़ खान **बनाम** मुसम्मात कनीज़ फातिमा और एक अन्य (Abdul Aziz Khan *Vs.* Mst. Kaniz Fatima and another) 5

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1970 के मूल आदेश सं० 219 के विरुद्ध अपील।

छपरा के चतुर्थ अपर अधीनस्थ न्यायाधीश के तारीख 27 मई, 1970 के आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री सुधीर चन्द्र घोष और कल्याण कुमार घोष

प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से ... सर्वश्री कृष्ण प्रकाश सिन्हा, महेन्द्र प्रसाद भारती और ज्योतीन्द्र प्रताप सिंह

प्रत्यर्थी सं० 5 की ओर से ... सर्वश्री करुणा निधान केशव और ओंकार नाथ सिन्हा

न्यायालय का निर्णय न्या० हरि लाल अग्रवाल ने दिया ।

न्या० हरि लाल अग्रवाल :

प्रतिवादी सं० 1 ने अंतिम डिक्री के प्रक्रम पर निम्नलिखित परिस्थितियों में यह अपील 27 मई, 1970 के उस आदेश के विरुद्ध की है जिसके द्वारा विचारण न्यायालय ने प्रतिवादियों का एक विभाजन-वाद में मृत वादी के स्थान पर प्रतिस्थापित किए जाने का आवेदन मंजूर कर लिया था ।

2. शिव साहु नामक एक व्यक्ति, जिसकी काफी समय पहले मृत्यु हो चुकी थी, की विधवा मुसम्मात भगवतिया (वादी) ने प्रतिवादी सं० 1 के विरुद्ध एक विभाजन-वाद संस्थित किया था जिसमें उसने अपने पति की सम्पदा के आधे अंश का दावा किया था । प्रारम्भिक डिक्री सन् 1966 में पारित की गई थी और वादी की मृत्यु 5 नवम्बर, 1969 को हो गई थी, परन्तु यह अभिकथन किया गया है कि उसने मृत्यु से पहले 29 अक्तूबर, 1969 को प्रत्यर्थियों के पक्ष में एक दान-विलेख निष्पादित कर दिया था । इस विलेख का रजिस्ट्रीकरण छपरा स्थित रजिस्ट्रीकरण कार्यालय में किया गया था क्योंकि प्रश्नास्पद सम्पत्ति उस कार्यालय की क्षेत्रीय सीमाओं के अंतर्गत अवस्थित थी ।

3. इसी बीच मुसम्मात भगवतिया की मृत्यु हो जाने पर उसके अंतरितियों ने वादियों के रूप में प्रतिस्थापित किए जाने का आवेदन कर दिया था, जो मंजूर कर लिया गया था । प्रत्यर्थियों ने भी इस आधार पर अपना प्रतिस्थापन किए जाने का आवेदन किया कि रजिस्ट्रीकृत दान-विलेख (प्रदर्श-1) के कारण उन्हें सम्पत्ति न्यागत हो गई थी । अपीलार्थी ने अन्य बातों के साथ-साथ एक आक्षेप यह किया था कि दान-विलेख कपटपूर्ण था ।

दान-विलेख के सम्यक् निष्पादन और रजिस्ट्रीकरण के प्रश्न की बाबत पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया था और विचारण न्यायालय ने उस साक्ष्य की बाबत अपना समाधान हो जाने पर आदाताओं का आवेदन मंजूर किया है और तदनुसार अपीलार्थी ने यह अपील फाइल की है ।

4. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले श्री एस० सी० घोष ने यह

साबित करने के लिए कि प्रश्नगत दान-विलेख सम्यक् रूप से निष्पादित किया गया था, हमारा ध्यान उन साक्षियों के साक्ष्य की ओर आकर्षित किया जिनकी आदाताओं (प्रत्यर्थियों) ने परीक्षा कर ली थी। साक्ष्य की बाबत उसने यह इंगित करने का प्रयत्न किया कि अनुप्रमाणक साक्षी, अर्थात् वादी के साक्षी सं० 1 और 3, सक्षम नहीं थे क्योंकि वे दान-विलेख के अभिकथित निष्पादन के समय उपस्थित नहीं थे। उसने इस बात को भी विवाद्यक बनाने की कोशिश की कि मुसम्मात भगवतिया के अंगूठे की छाप के ऊपर हस्ताक्षर का लेखन इस तथ्य का द्योतक था कि उसके अंगूठे की छाप कोरे कागज पर ली गई थी। अंगूठे की छाप किसी विशेष साक्षी के अनुप्रमाणन के बायीं अथवा दायीं ओर होने, अथवा ऐसी ही अन्य बातों के संबंध में यहां-वहां की कुछ असंगतियों के आधार पर भी विवाद्यक बनाने की कोशिश की गई है।

निचले न्यायालय ने इन सभी परिस्थितियों पर सम्यक् रूप से विचार किया है। साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि मुसम्मात भगवतिया के अपनी सौतेली पुत्री (अपीलार्थी) से मधुर संबंध नहीं थे और वह आदाताओं (प्रत्यर्थियों) के साथ रह रही थी। विचारण न्यायालय ने इस तथ्य को प्रत्यर्थियों के पक्ष में जाने वाली परिस्थिति माना है। अतः इस मामले में मेरे लिए विचारण न्यायालय से भिन्न मत व्यक्त करना संभव नहीं है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अपीलार्थी ने मुसम्मात भगवतिया के अंगूठे की छाप का उसके अंगूठे की स्वीकृत छाप से मिलान कराने के लिए कोई कदम नहीं उठाया था और आदाताओं की ओर से जिन साक्षियों की परीक्षा की गई थी, उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि उन्होंने मुसम्मात भगवतिया को प्रदर्श-1 का निष्पादन करते हुए देखा था।

5. श्री घोष ने इस एक अन्य मुद्दे पर भी बल दिया था कि दान-विलेख का रजिस्ट्रीकरण मुसम्मात भगवतिया की मृत्यु के बाद कराया गया था और उसके वारिस, अर्थात् अपीलार्थी, को रजिस्ट्रीकरण की बाबत कोई नोटिस नहीं दिया गया था। अतः रजिस्ट्रीकरण विधि के अनुसार नहीं था। उसने हमारा ध्यान रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की 32 से 35 तक की धाराओं की ओर आकर्षित किया।

हिताधिकारियों ने रजिस्ट्रीकरण के लिए प्रश्नगत दस्तावेज विधि की अपेक्षाओं के अनुसार प्रस्तुत किया था। रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी ने उनसे उनकी पहचान के संबंध में एक शपथ-पत्र भी लिया था और उसके संबंध में अपना समाधान हो जाने के बाद उसने रजिस्ट्रीकरण की कार्रवाई पूरी की थी।

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 35(2), जिसकी इस मामले में सेवा ली गई है, में कोई ऐसा नियम अधिकथित नहीं है कि किसी दस्तावेज के निष्पादक की मृत्यु हो जाने की दशा में रजिस्ट्रीकर्ता अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह मृत निष्पादक द्वारा किसी सम्पत्ति के व्ययन संबंधी किसी दस्तावेज के प्रस्तावित रजिस्ट्रीकरण के नोटिस की तामील करे। श्री घोष ने **अब्दुल अजीज खान** बनाम **मुस० कनीज फातिमा और एक अन्य**[1] वाले मामले और **एस० एल० अब्दुल जब्बार साहिब** बनाम **एच० व्येंकट शास्त्री और पुत्रगण तथा अन्य**[2] वाले मामले के पैरा 10 का जो अवलंब लिया है, वह एकदम गलत है और उससे उसके तर्क का समर्थन नहीं होता।

6. जिन कारणों की ऊपर चर्चा की गई है, उनके आधार पर मुझे इस अपील में कोई गुणवत्ता दिखाई नहीं देती और मैं खर्चे की बाबत कोई आदेश न देते हुए उसे खारिज करता हूं।

न्या० एस० शमसुल हसन :

मैं सहमत हूं।

अपील खारिज की गई।

अशोक

नि० प० 1984 : पटना—19

फुलझड़ी देवी (श्रीमती) और अन्य बनाम मुसम्मात जानकी देवी और अन्य
(Smt. Phuljhari Devi & others *Vs.* Mostt. Janki Devi & others)

तारीख 8 दिसम्बर, 1983

[न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा]

हिन्दू विधि—मिताक्षरा—अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब की सम्पत्ति के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि कुटुम्ब के सभी सदस्यों की प्रास्थिति संयुक्त है—अगर परिस्थितियों से अन्यथा निष्कर्ष नहीं निकलता है तो यही स्थिति बनी रहती है—मिताक्षरा विधि से नियन्त्रित कुटुम्ब का कोई भी सदस्य अपने पृथक् होने की इच्छा के संबंध में सुस्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में दूसरे सहदायिकों को सूचना देकर विभाजन करने के पश्चात् अपने हिस्से का अलग से भोग कर सकता है।

---

[1] ए० आई० आर० 1933 इलाहाबाद 302.

[2] ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1147.

वादियों ने विभाजन वाद संस्थित किया जिसमें उन्होंने वादपत्र की अनुसूची 1 और 2 में उल्लिखित सम्पत्तियों में 3/4 अंश (परिवाद को संशोधित करने के पश्चात्) का दावा किया। वादियों का पक्षकथन यह था कि लक्ष्मण महतो के कन्हाई और स्वारथ नामक दो पुत्र थे। स्वारथ की मृत्यु, जब वह अविवाहित था और कन्हाई के साथ संयुक्त रूप से रह रहा था, हो गई। कन्हाई ने तमाम सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त कर ली। 35 से 36 वर्ष पूर्व कन्हाई की मृत्यु हो गई। उस समय वह रामधनी महतो, तिलकधारी महतो और रामज्ञान महतो नामक अपने तीन पुत्रों के साथ रह रहा था। तीनों भाईयों ने कन्हाई की सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त किया। कन्हाई की मृत्यु के पश्चात् तीनों भाई बहुत वर्षों तक संयुक्त रूप से रहते रहे। इसके पश्चात् संयुक्त रूप से रहते हुए तिलकधारी की मृत्यु हो गई। उसकी कोई सन्तान नहीं थी। तिलकधारी की पत्नी की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। बाद में रामधनी और रामज्ञान का चौका-चूल्हा और कारबार अलग-अलग हो गया। जहां तक स्थावर सम्पत्ति का संबंध है वे संयुक्त रूप से रह रहे थे। रामधनी का छबीला नामक एक पुत्र और फुलझड़ी नामक एक पुत्री थी। वादियों का यह कहना है कि छबीला के अपने पिता रामधनी के साथ अच्छे संबंध नहीं थे क्योंकि उसका पिता अपनी पुत्री फुलझड़ी और उसके पति के प्रभाव में था। बाद में 1952 के वैशाख मास में रामधनी और छबीला के बीच में विभाजन हो गया। दोनों ही आधे-आधे अंश के हकदार थे। पृथक होने के बावजूद भी उनके बीच माप और सीमांकन द्वारा बंटवारा नहीं हुआ था यद्यपि वे अपने-अपने अंशों के अनुसार भूमि पर खेती कर रहे थे। बाद में छबीला की भी मृत्यु हो गई। भगीरथी देवी नामक उसकी एक पुत्री थी और एक पत्नी थी। छबीला की विधवा की मृत्यु के पश्चात् उसकी तमाम सम्पत्ति उसकी पुत्री भगीरथी को विरासत में मिली। उसके कुछ समय पश्चात् रामधनी की भी मृत्यु हो गई। उसके पीछे उसकी पुत्री फुलझड़ी और पोती भगीरथी रह गई। वादियों का यह कथन है कि फुलझड़ी और भगीरथी अर्थात् पुत्री और पौत्री अपने-अपने पिता के अंश के कब्जाधारी बन गए। मूल वादी रामज्ञान की कोई संतान नहीं थी। उसकी केवल पत्नी, जानकी देवी थी। वादियों का यह कहना है कि उन्होंने इसलिए भगीरथी के पुत्र राम कुमार (मूल रूप से प्रतिवादी और बाद में वादी संख्या 2) (भगीरथी देवी का पुत्र) को देखभाल करने के लिए अपने पास रख लिया। वादियों का यह अभिकथन है कि फुलझड़ी (रामधनी की पुत्री) और उसके पुत्रों द्वारा उनको तंग किया जा रहा था। वादपत्र की अनुसूची 1 में पैतृक और साथ ही साथ दिह-बसगिट भूमि सम्मिलित थी और

वादियों द्वारा उसमें से 8 आने के अंश का दावा किया गया। जबकि वादियों के अनुसार फुलझड़ी (रामधनी की पुत्री) और भगीरथी (रामधनी की पौत्री) दोनों ही चार आने के अंश की हकदार थीं। वादियों ने यह भी अभिकथन किया कि यद्यपि माप और सीमांकन द्वारा सम्पत्तियों का बंटवारा नहीं हुआ था तथापि उन्हीं अंशों के अनुसार सम्पत्ति उनके कब्जे में थी। वादियों का यह भी पक्षकथन है कि रामज्ञान (मूल वादी), उसकी पत्नी जानकी (वादी संख्या 1) ने वादी भगीरथी (छबीला की पत्नी) के पक्ष में 17 अप्रैल, 1979 को एक दान-विलेख निष्पादित किया। वह सम्पत्ति की मालिक हो गई यद्यपि बंटवारा सही ढंग से नहीं हुआ था। वादियों का यह कथन है कि पक्षकारों के बीच विवाद उठ खड़ा होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि विभाजन वाद फाइल किया जाए। विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या सम्पत्ति का पहले विभाजन हो चुका था ?

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

वर्तमान मामले में प्रतिवादियों ने यह सिद्ध नहीं किया कि पक्षकारों का सम्पत्ति पर कब्जा है और वे भूमि के अलग-अलग हिस्से पर मालिकाना अधिकार का प्रयोग इतने लम्बे समय से और इस प्रकार कर रहे थे कि न्यायालय यह उपधारणा कर ले कि उस भूमि का विभाजन पहले से ही हो चुका था और उनके संबंध में पक्षकारों के अधिकार इस ढंग से निश्चित थे कि वे फिर से विभाजन करने से निवारित हो गए थे। इस प्रकार प्रतिवादियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील को इस मामले से कोई मदद नहीं मिल सकती। वादपत्र के पैरा 4 में वादियों द्वारा किए गए अभिवाक् का, प्रतिवादी-अपीलार्थियों द्वारा उनके लिखित कथन के पैरा 13 में प्रत्याख्यान नहीं किया है। अलग होने का यह प्रकथन रामधनी और रामज्ञान नामक दो भाईयों के बीच में था और छबीला और रामधनी (पुत्र और पिता) के बीच नहीं था। वादपत्र के पैरा 5 में यह अभिवाक् किया गया था कि छबीला और उसके पिता रामधनी के बीच बंटवारा हुआ था और प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने, जब वे वाद के पैरा 5 में किए गए प्रकथनों का उत्तर दे रहे थे, इस तथ्य से इनकार नहीं किया है। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन के पैरा 14 में वादपत्र के तथ्य संबंधी इस अभिवाक् के बारे में कुछ नहीं कहा है कि छबीला और रामधनी के बीच बंटवारा हुआ था, इस प्रकार विधितः यह उपधारणा की जाएगी कि छबीला और रामधनी (बाप और बेटे) के अलग होने के तथ्य को प्रतिवादियों ने स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति होने के कारण प्रतिवादी-अपीलार्थियों के द्वारा दी गई दूसरी दलील में कोई बल नहीं

रह जाता। दूसरे, प्रतिवादियों ने वादियों के साक्षियों को, जब उन्होंने सुस्पष्ट रूप से यह अभिसाक्ष्य दिया था कि छबीला अपने पिता से अलग हो गया था। इस साधारण कारण से प्रतिपरीक्षा नहीं की थी। उनके द्वारा दिए गए लिखित कथन में स्वीकार कर लिया गया था कि छबीला और रामधनी के बीच बंटवारा हो गया था। प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की यह दलील है कि इस निष्कर्ष के अभाव में कि छबीला ने कभी संसूचना देकर अपने पिता से अलग होने की इच्छा जाहिर की थी, यह बात कि छबीला और रामधनी के बीच कोई अलगाव हुआ था द्वितीय अपील में आबद्धकर नहीं है और प्रतिवादी-अपीलार्थियों की स्वीकारोक्ति की दृष्टि से कोई बल नहीं रखती है। यह भली-भांति सुस्थापित है कि संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब का कोई भी सदस्य किसी निश्चित और स्पष्ट घोषणा द्वारा अलग हो सकता है और वह अपने अंश को अलग से भोग सकता है। विधि की प्रतिपादना भली-भांति सुस्थापित है किन्तु वर्तमान मामले में प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन में इस बात का प्रत्याख्यान नहीं किया है कि छबीला अपने पिता रामधनी से अलग हो गया था। (पैरा 14, 15 और 16)

		पैरा
[1952]	ए० आई० आर० 1952 पटना 382 : छत्रधारी महतो और अन्य **बनाम** अखिलेश्वर महतो और अन्य (Chatradhari Mahto and others *Vs.* Akhileshwar Mahto and others)	14
	से असहमति प्रकट की गई।	
[1936]	ए० आई० आर० 1936 पटना 68 : मुखरन राय और अन्य **बनाम** चन्द्रदीप राय और अन्य (Mukhran Rai and others *Vs.* Chandradip Rai and others)	14
	आई० एल० आर० 29 पटना 980 : रामजुगेश्वर **बनाम** गजाधर (Ramjugeshwar *Vs.* Gajadhar);	14
	से प्रभेद बतलाया गया।	

सिविल अपीली अधिकारिता : 1982 की अपीली डिक्री सं० 446 के विरुद्ध द्वितीय अपील।

1982 की हक अपील सं० 44 में छपरा के पांचवें अपर अधीनस्थ न्यायाधीश, श्री गोपाल जी द्वारा पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... सर्वश्री आर० एस० चटर्जी और नरेश कुमार सिन्हा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री शशि शेखर द्विवेदी

न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा :

यह द्वितीय अपील प्रतिवादियों द्वारा उस निर्णय के विरुद्ध की गई है जिसमें विभाजन वाद को मंजूर किया गया था।

2. मूल वादी रामज्ञान महतो की वाद के लम्बित रहने के दौरान मृत्यु हो गई थी और उसके स्थान पर उसकी पत्नी जानकी देवी और भगीरथी देवी के पुत्र राज कुमार महतो को प्रतिस्थापित कर दिया गया। भगीरथी देवी प्रतिवादी संख्या 4 थी, जिसके पक्ष में पूर्वकथित जानकी देवी (मूल वादी रामज्ञान महतो की पत्नी) ने दिनांक 17 अप्रैल, 1979 को एक दान-विलेख निष्पादित किया था। बाद में उसे वादी संख्या 3 बनाया गया। भगीरथी देवी के पुत्र, राम कुमार महतो को, जो कि आरम्भ में प्रतिवादी था, वादी संख्या 2 के रूप में वादियों के वर्ग में रख दिया गया। इस प्रकार तीन वादी थे, जानकी देवी (मूल वादी, राम ज्ञान महतो की पत्नी), भगीरथी देवी और राम कुमार महतो (भगीरथी देवी का पुत्र)।

3. वादियों ने विभाजन वाद संस्थित किया जिसमें उन्होंने वादपत्र की अनुसूची 1 और 2 में उल्लिखित सम्पत्तियों में से 3/4 अंश (वादपत्र को संशोधित करने के पश्चात्) का दावा किया।

4. वादियों का पक्षकथन यह था कि लक्ष्मण महतो के कन्हाई और स्वारथ नामक दो पुत्र थे। स्वारथ की मृत्यु, जब वह अविवाहित था और कन्हाई के साथ संयुक्त रूप से रह रहा था, हो गई। कन्हाई ने तमाम सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त कर ली। 35 से 36 वर्ष पूर्व कन्हाई की मृत्यु हो गई। उस समय वह रामधनी महतो, तिलकधारी महतो और रामज्ञान महतो नामक अपने तीन पुत्रों के साथ रह रहा था। तीनों भाईयों ने कन्हाई की सम्पत्ति को विरासत में प्राप्त किया। कन्हाई की मृत्यु के पश्चात् तीनों भाई बहुत वर्षों तक संयुक्त रूप से रहते रहे। इसके पश्चात् संयुक्त रूप से रहते हुए तिलकधारी की मृत्यु हो गई। उसकी कोई सन्तान नहीं थी। तिलकधारी की पत्नी की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। बाद में रामधनी और रामज्ञान का चौका-चूल्हा और कारबार अलग-अलग हो गया। जहां तक स्थावर सम्पत्ति का सम्बन्ध है वे संयुक्त रूप से रह रहे थे। रामधनी का छबीला नामक एक

पुत्र और फुलझड़ी नामक एक पुत्री थी। वादियों का यह कहना है कि छबीला के अपने पिता रामधनी के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं थे क्योंकि उसका पिता अपनी पुत्री फुलझड़ी और उसके पति के प्रभाव में था। बाद में 1952 के वैशाख मास में रामधनी और छबीला के बीच में विभाजन हो गया (अर्थात् पिता और पुत्र के बीच)। दोनों ही आधे-आधे अंश के हकदार थे। पृथक् होने के बावजूद भी उनके बीच माप और सीमांकन द्वारा बंटवारा नहीं हुआ था यद्यपि वे अपने-अपने अंशों के अनुसार भूमि पर खेती कर रहे थे। बाद में छबीला की भी मृत्यु हो गई। भगीरथी देवी नामक उसकी एक पुत्री थी और एक पत्नी थी। छबीला की विधवा की मृत्यु के पश्चात् उसकी तमाम सम्पत्ति उसकी पुत्री भगीरथी को विरासत में मिली। उसके कुछ समय पश्चात् रामधनी की भी मृत्यु हो गई। उसके पीछे उसकी पुत्री फुलझड़ी और पोती भगीरथी रह गई। वादियों का यह कथन है कि फुलझड़ी और भगीरथी अर्थात् पुत्री और पौत्री अपने-अपने पिता के अंश पर काबिज चल रही थीं। मूल वादी रामज्ञान की कोई संतान नहीं थी, केवल पत्नी, जानकी थी। वादियों का यह कहना है कि उन्होंने इसलिए भगीरथी के पुत्र राम कुमार (मूल रूप से प्रतिवादी और जिसे बाद में वादी संख्या 2 बनाया गया) (भगीरथी के पुत्र) को अपनी देखभाल करने के लिए अपने पास रख लिया। वादियों का यह अभिकथन है कि फुलझड़ी (रामधनी की पुत्री और उसके पुत्रों) द्वारा उनको तंग किया जा रहा था।

5. वादपत्र की अनुसूची 1 में पैतृक और साथ ही साथ दिह-बसगिट भूमि सम्मिलित थी और वादियों द्वारा उसमें से 8 आने के अंश का दावा किया गया जबकि वादियों के अनुसार फुलझड़ी (रामधनी की पुत्री) और भगीरथी (रामधनी की पौत्री) दोनों ही चार आने के अंश की हकदार थीं। वादियों ने यह भी अभिकथन किया कि यद्यपि माप और सीमांकन द्वारा सम्पत्तियों का बंटवारा नहीं हुआ था तथापि उन्हीं अंशों के अनुसार सम्पत्ति उनके कब्जे में थी।

6. वादियों का यह भी पक्षकथन है कि रामज्ञान (मूल वादी), उसकी पत्नी जानकी (वादी संख्या 1) ने वादी भगीरथी (छबीला की पत्नी) के पक्ष में 17 अप्रैल, 1979 को एक दान-विलेख निष्पादित किया। वह सम्पत्ति की मालिक हो गई यद्यपि बंटवारा सही ढंग से नहीं हुआ था। वादियों का यह कथन है कि पक्षकारों के बीच विवाद उठ खड़ा होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि विभाजन वाद फाइल किया जाए।

7. यद्यपि बहुत से प्रतिवादी थे परन्तु केवल प्रतिवादी संख्या 1 और 2 ने संयुक्त रूप से लिखित कथन किया। उनकी मुख्य दलील यह थी कि

वादियों द्वारा फाइल किया गया वाद हक और कब्जे में एकता के अभाव में अवश्य असफल हो जाना चाहिए। उन्होंने यह दलील भी दी आंशिक बंटवारे के कारण भी वाद खारिज किए जाने योग्य है। प्रतिवादियों ने यह दलील दी कि छबीला की दो पत्नियां थीं, भगीरथी (मूल प्रतिवादी संख्या 4) पहली पत्नी थी और उसकी मृत्यु के पश्चात् छबीला ने एक दूसरी स्त्री से विवाह किया और क्योंकि उससे उसकी कोई संतान नहीं थी इसलिए उसने छबीला की मृत्यु के पश्चात् दूसरे गांव के एक पुरुष से विवाह कर लिया। इस प्रकार प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों, का यह कथन है कि छबीला की सम्पत्ति रामधनी के कब्जे में थी और भगीरथी के कब्जे में वह सम्पत्ति कभी भी नहीं रही थी। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों का यह पक्षकथन भी है कि फुलझड़ी (रामधनी की पुत्री) और फुलझड़ी का पुत्र रामधनी द्वारा निष्पादित दान-विलेख के आधार पर रामधनी की सम्पत्ति पर काबिज थे। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों के अनुसार फुलझड़ी और उसके पुत्र ग्रहण ने, जिन्होंने दान-विलेख के आधार पर रामधनी की सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त किया था, दान में प्राप्त सम्पत्ति को अलग से रखा था। प्रतिवादियों के अनुसार रामज्ञान ने, (मूल वादी) ग्रहण (प्रतिवादी संख्या 2) के पुत्र श्रीराम को गोद ले लिया और इसलिए वह उसके और उसकी पत्नी के साथ रह रहा था।

8. प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों का यह कथन है कि उन्हें पता चला है कि ज़ानकी (मूल वादी राम ज्ञान के स्थान पर प्रतिस्थापित) ने श्री राम के अंश को हथियाने के लिए प्रतिवादी सं० 4 (भगीरथी) (जिसे बाद में वादी सं० 3 बनाया गया था) के पक्ष में एक दान-विलेख निष्पादित किया। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों का यह भी कहना है कि वादी जानकी को अपने अंश के अतिरिक्त पूर्ण सम्पत्ति के संबंध में दान-विलेख निष्पादित करने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार श्रीराम के अंश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा था और उसे पक्षकार नहीं बनाया गया था इसलिए पूर्ण वाद असफल हो गया था।

9. प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों के बचाव का मुख्य आधार यह था कि वादगत सम्पत्ति कभी भी संयुक्त नहीं थी और प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों के कथनानुसार रामधनी और रामज्ञान (दोनों भाई) ने उसका पहले ही विभाजन कर लिया था और 1947 के जेठ माह में हुए विभाजन के आधार पर सम्पत्तियां अलग-अलग से उनके कब्जे में थीं। तिलकधारी (एक भाई) की मृत्यु के पश्चात् रामज्ञान और रामधनी के बीच 1957 में बंटवारा हो गया और वे आधे-आधे अंश के हकदार हो गए थे और अलग-अलग उसकी

देखभाल करते थे। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने यह दलील दी कि छबीला कभी भी अपने पिता (रामधनी) से अलग नहीं हुआ था। उसकी अपने पिता के साथ संयुक्त रूप से रहते हुए, मृत्यु हुई थी। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने इन अभिवाकों के साथ यह अभिवाक किया कि वादियों के साथ हक और कब्जे में एकता का अभाव था और इसलिए यह खारिज किए जाने योग्य हैं।

10. विचारण न्यायालय ने वाद को डिक्री कर दिया और यह आदेश दिया कि आरम्भिक डिक्री तैयार की जाए। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि छबीला अपने पिता रामधनी के जीवन काल में ही उससे अलग हो गया था (ऐसा है कि शब्द "विभाजन" गलती से लिखा गया था क्योंकि वादियों ने "अलग होने" का अभिवाक किया था और ऐसा प्रतीत होता है कि विचारण न्यायालय के निर्णय के पैरा 5 के अंत में प्रयुक्त "अलग होने" शब्द के स्थान पर गलती से "विभाजन" शब्द लिखा गया है।) प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों द्वारा सुनाई गई गोद लेने की कहानी सही नहीं थी और विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जानकी (वादी सं० 1) को न्यायिकत: यह हक प्राप्त था कि वह किसी भी ढंग से किसी को भी अपने पति की सम्पत्ति को अंतरित कर दे। विचारण न्यायालय ने प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों के इस अभिवाक को नामंजूर कर दिया कि आवश्यक पक्षकार (श्रीराम) के असंयोजन के कारण वाद विधि की दृष्टि से अवैध था क्योंकि प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों द्वारा गोद लिए जाने के अविभाक के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह सही नहीं था और अंत में विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वादियों ने संयुक्त कब्जे और हक को साबित कर दिया है और इस निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने वाद को डिक्री कर दिया। प्रतिवादियों ने अपील फाइल की। अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय के इस निष्कर्ष की पुष्टि कर दी कि वादी संयुक्त हक और कब्जे को साबित करने में सफल भी हो गए हैं। जैसा कि वादियों ने अभिकथन किया है, अपील न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित कर दिया कि छबीला अपने पिता से अलग हो गया था और विचारण न्यायालय के निष्कर्ष से सहमत होते हुए प्रतिवादियों की अपीलों को खारिज कर दिया।

11. प्रतिवादियों-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने दो निवेदन किए हैं :—

प्रथम, वाद में किए गए इस प्राख्यान की दृष्टि से कि चूल्हा-चौका और कारबार अलग-अलग हो गए थे, और वादी के (वादी

साक्षी 1) इस प्रभाव के अपने साक्ष्य कि भूकम्प के 5 वर्ष के पश्चात् रामधनी और रामज्ञान के बीच विभाजन हो गया था और यह तथ्य कि कुछ सम्पत्ति वाद के पक्षकारों द्वारा अलग से बेची गई थी (वादी के अपने पक्षकथन के अनुसार)। विधि की दृष्टि से इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहले से ही विभाजन हो चुका था (जैसा कि प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों द्वारा अभिकथन किया गया है)। अगर ऐसा ही है तो विभाजन के लिए किया गया दूसरा वाद चलने योग्य नहीं था।

दूसरा, अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया था कि वादियों द्वारा उल्लिखित तथ्यों और परिस्थितियों से विधि की दृष्टि से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि रामधनी और छबीला के मध्य किसी प्रकार का अलगाव हुआ था और यह इसलिए भी कि जब निचले अपील न्यायालय का इस प्रभाव का निष्कर्ष नहीं है कि छबीला ने कभी भी अलग होने की इच्छा अभिव्यक्त की थी या उसने अन्य सह-अंशधारियों को अलग होने के आशय की संसूचना दी थी। इस प्रकार अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि उसका यह निष्कर्ष कि रामधनी और छबीला अलग हो गए थे, द्वितीय अपील में बाध्यकर नहीं था और इसमें हस्तक्षेप किया जा सकता है।

12. जहां तक अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल के प्रथम निवेदन का संबंध है, वादियों के विद्वान् काउन्सेल ने परिवाद के पैरा 4 की ओर मेरा ध्यान दिलाया, जिसमें यह लिखा है :—

> "यह कि उसके बाद में मुद्दई व रामधनी महतो आपस में अलहदा हो गए। कारबार, खाना-पीना अलहदा कर लिया लेकिन जायदाद का बंटवारा नहीं हुआ।"

इस प्रकार वादी प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि पैरा 4 में चूल्हा-चौका और कारबार अलग होने के सम्बन्ध में विनिर्दिष्ट मामले का अभिवाक किया गया है तथापि प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन में इसका प्रत्याख्यान नहीं किया है और मेरा ध्यान लिखित कथन के पैरा 13, जिसमें निम्नलिखित रूप में लिखा है, की ओर दिलाया :—

> "यह कि दफा 1 तथा 4 अर्जीदावी से इनकार नहीं है।"

इस प्रकार वादी प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल का यह कहना है कि अलग होने के अभिवाक को तो स्वीकार कर लिया गया है और प्रतिवादियों के अभिवचनों

से यह अभिवाक भी स्वीकार हो गया है कि सम्पत्तियां संयुक्त ही बनी रहीं। वादी प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन भी किया है कि यह सही है कि छबीला की मृत्यु 1947 के पश्चात् हुई थी अर्थात् स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम (वीमेन्स राइट टु प्रापर्टी ऐक्ट), 1937 के प्रवृत्त होने के पश्चात् छबीला की विधवा को सीमित सम्पदा प्राप्त हुई थी जो बाद में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार उसकी आत्यंतिक सम्पदा बन गई थी। विधवा की मृत्यु के पश्चात् छबीला की पुत्री भगीरथी ही इसे प्राप्त कर सकती थी और उसी ने सम्पत्तियां प्राप्त कीं। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने मेरा ध्यान वादपत्र के पैरा 5 की ओर दिलाया, जिसमें यह लिखा था :—

"यह कि रामधनी महतो के एक लड़का छबीला महतो और एक लड़की फुलझड़ी मुद्दआ अलेहा संख्या 1 हुई। रामधनी महतो अपनी लड़की फुलझड़ी व दामाद विश्वनाथ महतो के काबू व बाजू में रहते थे। जिस कारण छबीला महतो की अपने पिता से नहीं पटती थी और घर में बार-बार झगड़ा-फसाद हुआ करता था। वासबब जिसके बडारमिया रामधनी महतो व छबीला महतो माह वैशाख सन् 1952 में अलेहदगी हुई जिससे जायदाद हिस्सा रामधनी महतो आधा हिस्सा छबीला महतो व आधा हिस्सा रामधनी महतो का। परायी चाचा व उसी समय से रामधनी महतो व छबीला महतो बेलाबाट अपनी-अपनी सुविधा के मुताबिक अलग-अलग जोत आवाद अपने-अपने हिस्साधारी के मुताबिक करने लगे। वाज्या रहे कि रामधनी महतो की अपनी पत्नी रामधनी महतो की जिन्दगी में ही मर गई थी। छबीला महतो भी अपनी स्त्री और एक लड़की भगीरथी देवी मुद्दआ अलेहा को छोड़कर मर गए और छबीला महतो का मुतरफा उनकी पत्नी के मरने के बाद उनकी एक मात्र पुत्री व वारिस भगीरथी देवी को मिला है।"

वादी-प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल का यह कहना है कि प्रतिवादियों द्वारा किए गए लिखित कथन में इसका प्रत्याख्यान नहीं किया गया है और उन्होंने लिखित कथन के पैरा 14 में किए गए कथन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है :—

"यह कि दफा 5 अर्जी देवी तामन्तर सही नहीं है। छबीला महतो की दो शादी हुई थीं। भगीरथी देवी मुद्दआ अलेहा संख्या 4 पहली स्त्री थी जिनके मरने के बाद छबीला महतो ने अपनी दूसरी शादी की लेकिन दूसरी शादी से कोई संतान पैदा नहीं हुई और दूसरी शादी

के थोड़े दिनों के बाद ही छबीला महतो की मृत्यु हो गई व इनकी दूसरी स्त्री ने बड़े टेलपा के महाबीर महतो के साथ शादी कर ली और इस प्रकार छबीला महतो के मरने पर सारी जायदाद रामधनी महतो के दखल कब्जे में रहता चला आया।"

वादी-प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल का यह कहना है कि दो न्यायालयों ने एक ही प्रकार से यह अभिनिर्धारित किया है कि चूंकि वादियों ने संयुक्त हक़ और कब्जे को अपने पक्ष में साबित कर दिया है इसलिए यह न्यायालय तथ्य संबंधी इस निष्कर्ष में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

13. वादी-प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी कि यह पता लगाना तथ्य संबंधी प्रश्न है कि छबीला और उसका पिता अलग हो गए थे। और चूंकि दो न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि छबीला अपने पिता, रामधनी के जीवनकाल में ही उससे अलग हो गया था, इसलिए द्वितीय अपील द्वारा इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।

14. प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने अपनी प्रथम दलील के (जैसा कि ऊपर बताया गया है) समर्थन में **छत्रधारी महतो और अन्य** बनाम **अखिलेश्वर महतो और अन्य**[1], **मुखरन राय और अन्य** बनाम **चन्द्र दीप राय और अन्य**[2] और **राम जोगेश्वर** बनाम **गजाधर**[3] वाले मामलों का अवलम्ब लिया। मेरा यह मत है कि **छत्रधारी महतो** बनाम **अखिलेश्वर महतो और अन्य**[1] वाले मामले का विनिश्चयाधार प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई प्रथम अपील का समर्थन नहीं करता है। इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

"जब या तो यह सिद्ध हो जाता है या स्वीकार कर लिया जाता है कि एक बार विभाजन हो चुका है तो यह उपधारणा हो जाती है कि पक्षकारों और सम्पत्तियों दोनों ही के संबंध में पूर्ण विभाजन हो चुका था और इस प्रकार की उपधारणा नहीं होती कि किसी सम्पत्ति को विभाजन से अलग कर दिया गया था। तथापि यह उपधारणा खण्डनीय है और इसकी विश्वसनीयता आवश्यक रूप से प्रत्येक मामले में तथ्यों पर निर्भर करती है।"

इस मामले में वादियों ने यह अभिवाक किया कि वादगत सम्पत्ति के सिवाए सभी सम्पत्तियों का माप और सीमांकन द्वारा पहले ही विभाजन किया जा चुका

---

1 ए० आई० आर० 1952 पटना 382.

2 ए० आई० आर० 1936 पटना 68.

3 आई० एल० आर० 29 पटना 980.

है। प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा अवलम्ब लिए गए मामले और वर्तमान मामले में यही अन्तर है उस मामले में जो एकमात्र प्रश्न अवधारित किया जाना था वह यह था कि पूर्वतन विभाजन के संबंध में चाहे वह कुछ सम्पत्तियों के बारे में ही हो, और जिसे स्वीकार कर लिया था या जो सिद्ध किया जा चुका था, क्या उपधारणा थी। यह सही है कि वर्तमान मामले में प्रतिवादियों ने यह अभिवाक किया है कि पहले से ही विभाजन हो चुका है परन्तु यह न तो वादियों द्वारा स्वीकार किया गया है और न ही प्रतिवादियों द्वारा मौखिक रूप से या दस्तावेजी साक्ष्य द्वारा सिद्ध किया गया है। इसलिए मेरे विचार से **छत्रधारी महतो** बनाम **अखिलेश्वर महतो**[1] वाला मामला प्रतिवादी-अपीलार्थी की कोई सहायता नहीं करता। प्रतिवादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा जिस दूसरे मामले का अवलम्ब लिया है वह **राम जोगेश्वर** बनाम **गजाधर**[2] वाला मामला है और यह भी उसकी कोई सहायता नहीं करता है क्योंकि इसमें केवल यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "मिताक्षरा विधि द्वारा नियंत्रित कुटुम्ब के बारे में प्रथमदृष्टया उपधारणा यह है कि उनकी प्रास्थिति संयुक्त होती है और यह उपधारणा तब तक बनी रहती है जब तक कि मामले की परिस्थितियों से अन्यथा निष्कर्ष न निकले। इसने यह भी अभिनिर्धारित किया कि मिताक्षरा विधि से नियंत्रित कुटुम्ब का कोई भी सदस्य अपनी वैयक्तिक स्वेच्छा का प्रयोग करते हुए अपनी-अपनी संयुक्त प्रास्थिति के पृथक्करण के बारे में सुस्पष्ट शब्दों में अपने सह अंशधारियों को सूचना दे सकता है और अलग होने के पश्चात् सहस्वामी किराएदारों के रूप में इकट्ठे रह सकते हैं या कुटुम्ब की सम्पत्ति को माप और सीमांकन द्वारा बांट सकते हैं और ऐसा विभाजन पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से बिना किसी लिखित लिखत के हो सकता हैं।"

मुझे यह बात समझ नहीं आती कि प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने इस मामले का अवलम्ब क्यों लिया है? इसके तथ्य स्पष्ट रूप से प्रभेदनीय हैं। मेरे विचार से प्रतिवादी-अपीलार्थियों को इस मामले से कोई मदद नहीं मिल सकती। **मुखराम राय** बनाम **चंद्रदीप राय**[3] वाला मामला भी स्पष्ट रूप से प्रभेदनीय है। इस मामले में वादियों ने यह अभिवाक् किया था कि वादी और

---

[1] ए० आई० आर० 1952 पटना 382.
[2] आई० एल० आर० 29 पटना 980.
[3] ए० आई० आर० 1936 पटना 68.

प्रतिवादी एक ही संयुक्त परिवार के सहदायिक थे और वे मिताक्षर विधि द्वारा नियंत्रित होते थे और जिन सम्पत्तियों का बंटवारा चाहा गया है वे सभी सम्पत्तियां संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्तियां थीं। दूसरी ओर प्रतिवादियों ने यह दलील दी कि वाद संस्थित करने से काफी समय पूर्व ही कुटुम्ब का विभाजन हो चुका था और सम्पत्तियों का विभाजन वाद से 90 वर्ष पूर्व हो चुका था। विचारण न्यायालय और निचले न्यायालय दोनों ने ही यह अभिनिर्धारित किया था कि पक्षकार वाद संस्थित किए जाने से बहुत वर्षों पूर्व अलग हो गए थे और निचले अपील न्यायालय ने पक्षकारों के इस पक्षकथन पर भी विश्वास नहीं किया कि विभाजन लगभग 90 वर्ष पूर्व हो चुका था। इस मामले में निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पक्षकारों के बीच औपचारिक रूप से कोई विभाजन नहीं हुआ था और इस न्यायालय के समक्ष यह दलील दी गई थी कि अलग से रहते हुए भी सहअंशधारी उन सम्पत्तियों का माप और सीमकांन द्वारा बंटवारा किए जाने की मांग कर सकते हैं जिनका विभाजन नहीं हुआ था। उस मामले में पक्षकार सम्पत्ति पर काबिज थे और वे भूमि के अलग-अलग हिस्सों पर इतने लम्बे समय और इस प्रकार से मालिकाना अधिकार का प्रयोग कर रहे थे कि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायालय यह उपधारणा कर सकता है कि वे भूमियां पहले से ही विभाजित हो चुकी थीं और उनके संबंध में पक्षकारों के अधिकार इस प्रकार निश्चित हो चुके थे कि वे उनका फिर से विभाजन करने से निवारित करते हैं। वर्तमान मामले में प्रतिवादियों ने यह सिद्ध नहीं किया है कि पक्षकारों का उस पर कब्जा है और वे भूमि के अलग-अलग हिस्से पर मालिकाना अधिकार का प्रयोग इतने लम्बे समय से और इस प्रकार कर रहे थे कि न्यायालय यह उपधारणा कर ले कि उस भूमि का विभाजन पहले से ही हो चुका था और उनके संबंध में पक्षकारों के अधिकार इस ढंग से निश्चित थे कि वे फिर से विभाजन करने से निवारित हो गए थे। इस प्रकार मेरे विचार से प्रतिवादियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील को इस मामले से कोई मदद नहीं मिल सकती।

15. अब प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दूसरी अपील पर विचार किया जाना शेष है। प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि यह निष्कर्ष कि छबीला अपने पिता रामधनी से उसके जीवनकाल में ही अलग हो गया था। इस कारण से द्वितीय अपील में आबद्धकार नहीं है क्योंकि वादी यह साबित करने या यह अभिवाक करने में असफल रहे हैं कि छबीला ने कभी भी अलग होने की इच्छा जाहिर की थी और छबीला ने अपने पिता रामधनी को अलग होने के आशय की

संसूचना दी थी। प्रतिवादी अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह तर्क दिया कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से यह सिद्ध नहीं होता है कि छबीला और उसके पिता रामधनी के बीच कभी अलगाव हुआ था। प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह मान लिया है कि अगर यह मान लिया जाए कि यह निष्कर्ष निकाला गया था कि छबीला अपने पिता रामधनी के जीवनकाल में ही अलग हो गया था और इस न्यायालय द्वारा इसमें दखल नहीं दिया गया है तो उस दशा में प्रतिवादी-अपीलार्थियों को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

16. मैंने वादपत्र के पैरा 4 में वादियों द्वारा किए गए अभिवाक को पहले ही उद्धृत कर दिया है जिसका प्रतिवादी-अपीलार्थियों द्वारा उनके लिखित कथन के पैरा 13 में प्रत्याख्यान नहीं किया है। अलग होने का यह प्रकथन रामधनी और रामज्ञान नामक दो भाइयों के बीच में था और छबीला और रामधनी (पुत्र और पिता) के बीच नहीं था। वादपत्र के पैरा 5 में यह अभिवाक किया गया था कि छबीला और उसके पिता रामधनी के बीच बटवारा हुआ था और जैसा कि ऊपर बताया गया है कि प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने, जब वे वाद के पैरा 5 में किए गए प्रकथनों का उत्तर दे रहे थे, इस तथ्य से इनकार नहीं किया है। प्रतिवाद करने वाले प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन के पैरा 14 में वादपत्र के तथ्य संबंधी इस अभिवाक के बारे में कुछ नहीं कहा है कि छबीला और रामधनी के बीच बंटवारा हुआ था। इस प्रकार विधितः यह उपधारणा की जाएगी कि छबीला और रामधनी (बाप और बेटे) के अलग होने के तथ्य को प्रतिवादियों ने स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति होने के कारण प्रतिवादी-अपीलार्थियों के द्वारा दी गई दूसरी दलील में कोई बल नहीं रह जाता। दूसरे, प्रतिवादियों ने वादियों के साक्षियों की, जब उन्होंने सुस्पष्ट रूप से यह अभिसाक्ष्य दिया था कि छबीला अपने पिता से अलग हो गया था। इस साधारण कारण से प्रतिपरीक्षा नहीं की थी, जैसे कि ऊपर बताया गया है, उनके द्वारा दिए गए लिखित कथन में स्वीकार कर लिया गया था कि छबीला और रामधनी के बीच बटवारा हो गया था। प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की यह दलील है कि इस निष्कर्ष के अभाव में कि छबीला ने कभी संसूचना देकर अपने पिता से अलग होने की इच्छा जाहिर की थी, यह बात कि छबीला और रामधनी के बीच कोई अलगाव हुआ था द्वितीय अपील में आबद्धकर नहीं है और प्रतिवादी-अपीलार्थियों की स्वीकारोक्ति की दृष्टि से कोई बल नहीं रखती है। यह भली-भांति सुस्थापित है कि संयुक्त हिन्दू कुटुम्ब का कोई भी सदस्य किसी निश्चित और स्पष्ट घोषणा द्वारा अलग हो सकता है

और वह अपने अंश को अलग से भोग सकता है। प्रतिवादी-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने **ए० राघवाम्मा और एक अन्य** बनाम ए० **चेन्चम्मा और एक अन्य**[1] का अवलम्ब लिया था। मेरे विचार से विधि की प्रतिपादना भली-भांति सुस्थापित है परन्तु वर्तमान मामले में प्रतिवादियों ने अपने लिखित कथन में इस बात का प्रत्याख्यान नहीं किया है कि छबीला अपने पिता रामधनी से अलग हो गया था। मामले के दृष्टिकोण से **ए० राघवाम्मा और एक अन्य** बनाम ए० **चेन्चम्मा और एक अन्य**[1] वाला मामला भी प्रतिवादी-अपीलार्थियों की कोई सहायता नहीं करता है।

17. यह भी भली-भांति सुस्थापित है कि उच्च न्यायालय, जब वह सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन उसे प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग कर रहा हो, साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन नहीं कर सकता और निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के स्थान पर अपने निष्कर्ष प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। पक्षकारों के अपने-अपने विद्वान् काउन्सेलों ने इस निर्णय में काफी विस्तार से मेरी सहायता की है और मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि निचले अपील न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्षों की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वे अयुक्तियुक्त और अनुचित थे। मेरे विचार से यह अपील तथ्य सम्बन्धी निष्कर्षों के साथ ही समाप्त हो गई है।

18. परिणामतः यह अपील खर्चों सहित खारिज की जाती है।

अपील खारिज की गई।

खन्ना/श०

नि० प० 1984 : पटना—33

सरदार बद्री नारायण सिंह और एक अन्य बनाम छोटानागपुर बैंकिंग एसोसिएशन

(Sardar Badri Narain Singh and another *Vs.* Chotanagpur Banking Association)

तारीख 22 दिसम्बर, 1983

[न्या० बीरेन्द्र प्रसाद सिन्हा एवं न्या० बी० पी० ग्रियाघे]

1. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 आदेश 21, नियम 58 सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 धारा 3—परिसीमा विषयक प्रश्न का उक्त

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 136.

आदेश 21, नियम 58 के अधीन अन्वेषण के विस्तार से परे होने के कारण दावे का अन्वेषण करने वाला न्यायालय उक्त नियम 58 के अधीन दावे का अन्वेषण करते समय निष्पादन आवेदन को खारिज करने के लिए परिसीमा अधिनियम की उक्त धारा 3 का आश्रय नहीं ले सकता।

2. बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 (1949 का अधिनियम सं० 10) धारा 45-ण(1) सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963 धारा 3—यदि किसी बैंककारी कम्पनी ने निष्पादन पिटीशन फाइल करने से पूर्व परिसमापन के लिए आवेदन फाइल कर दिया है तो परिसीमा विषयक अवधि की संगणना करने में उस अवधि को अपवर्जित कर दिया जाएगा जो परिसमापन के लिए पिटीशन फाइल करने की पश्चात्‌वर्ती अवधि हो।

डिक्री-धारक एक बैंकिंग कम्पनी है जिसका समापन हो गया था। उसने समापन के लिए आवेदन किया। पटना उच्च न्यायालय ने 21 अगस्त, 1958 के अपने आदेश द्वारा परिसमापन का आदेश दिया। परिसमापन की प्रक्रिया जारी रहने के दौरान शासकीय परिसमापक ने 1958 के धन-वाद सं० 5 और 6 फाइल किए। इन वादों को पटना उच्च न्यायालय को अन्तरित कर दिया गया जिनमें उच्च न्यायालय ने दो मदों पर डिक्री पारित की। इसके पश्चात् डिक्री-धारक ने 1967 का निष्पादन मामला सं० 7 फाइल किया किन्तु इस मामले के पटना उच्च न्यायालय में अन्तरित किए जाने के पश्चात् उच्च न्यायालय ने आक्षेपकर्ता के दावे को अननुज्ञात कर दिया और यही इस अपील की विषय-वस्तु है। किन्तु इससे पूर्व निष्पादन पिटीशन में कुछ सम्पत्तियों के दावे को, जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 58 के अधीन फाइल किया गया था, मंजूर कर लिया गया और उस सम्पत्ति को निष्पादन से मुक्त कर दिया गया था। तत्पश्चात् डिक्री-धारक ने डिक्रीत शोध्यों को वसूल करने के लिए नई सम्पत्ति जोड़ने के लिए पिटीशन फाइल किया। इस निवेदन को स्वीकार किया गया और जोड़ी गई नई सम्पत्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने हेतु निष्पादन पिटीशन में आवश्यक संशोधन कर दिया गया। इस पर अपीलार्थी ने आक्षेप उठाते हुए उच्च न्यायालय में पिटीशन फाइल किया और यह दलील दी कि नई सम्पत्ति को प्रतिस्थापित करने और निष्पादन पिटीशन में संशोधन करने के पश्चात् निष्पादन के लिए आवेदन के बारे में विधि के अनुसार यह समझा जाना चाहिए कि नई सम्पत्ति के प्रतिस्थापन की तारीख को निष्पादन के लिए फाइल किया गया नया आवेदन है और चूंकि प्रतिस्थापन की तारीख डिक्री की तारीख से 12 वर्ष पूर्व की है, अतः निष्पादन आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है। इस दलील का डिक्री-धारक ने दो आधारों पर विरोध किया। प्रथमतः यह कि

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 58 के अधीन दावे-मामले में निष्पादन मामले के परिसीमा विषयक प्रश्न के बारे में विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह विषय जांच के विस्तार से परे है और द्वितीयत: बैंकिंग विनियमन अधिनियम की धारा 45-ण के आधार पर इस मामले में परिसीमा संरक्षित है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने उक्त दोनों आधार स्वीकार किए तथा आपेक्षकर्ता-अपीलार्थी के इस आक्षेप को उलट दिया कि निष्पादन मामला परिसीमा द्वारा वर्जित है। एकल न्यायाधीश के इसी आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी-आक्षेपकर्ता ने यह अपील फाइल करते हुए यह दलील प्रस्तुत की कि इस तथ्य के बावजूद भी कि आक्षेपकर्ता को परिसीमा विषयक अभिवाक् उठाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता किन्तु परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 3 के अधीन न्यायालय इस बात के लिए बाध्य है कि वह ऐसे आवेदन को स्वयं ही खारिज कर दे जो परिसीमा द्वारा वर्जित हो चाहे मामले में परिसीमा विषयक दलील न दी गई हो। इसके अतिरिक्त अपीलार्थी-आक्षेपकर्ता ने द्वितीय यह दलील दी कि चूंकि प्रस्तुत निष्पादन मामले में डिक्री 22-12-61 को पारित की गई थी और डिक्री-धारक ने निष्पादन पिटीशन में 3-12-1974 के आदेश द्वारा नए सिरे से सम्पत्ति जुड़वा ली थी अत: निष्पादन पिटीशन में नई सम्पत्ति का जोड़ा जाना और उसमें पारिणामिक संशोधन किया जाना विधि में उस तारीख को अर्थात् 3-12-1974 को निष्पादन के लिए नए सिरे से आवेदन फाइल करने की कोटि में आता है और चूंकि यह तारीख डिक्री की तारीख से 12 वर्ष से पूर्व की है अतः निष्पादन आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है। इसके विपरीत डिक्री-धारक ने यह दलील प्रस्तुत की कि चूंकि डिक्री-धारक ऐसी बैंककारी कम्पनी है जो समापनाधीन है और कम्पनी का परिसमापन हेतु आवेदन 7-1-1958 को किया जा चुका है अतः उक्त धारा 45-ण के उपबंधों के आधार पर पिटीशन के प्रस्तुतीकरण की तारीख से प्रारम्भ होने वाली अवधि को अपवर्जित किया जाएगा। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न ये हैं कि क्या सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 58 के अधीन मामले का अन्वेषण करने वाला न्यायालय निष्पादन आवेदन को खारिज करने के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 3 का आश्रय ले सकता है और क्या परिसीमा विषयक अवधि की संगणना करने में उस अवधि को अपवर्जित किया जाएगा जो परिसमापन के लिए बैंककारी कम्पनी द्वारा पिटीशन फाइल करने के पश्चात् की अवधि हो।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 3 की भावना यह है कि

न्यायालय किसी आवेदन को खारिज कर सकता है यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह परिसीमा द्वारा वर्जित है, चाहे विरोधी पक्षकार ने परिसीमा की प्रतिरक्षा के रूप में दलील न दी हो। प्रस्तुत मामले में यह प्रश्न नहीं है कि विरोधी पक्षकार अर्थात् आक्षेपकर्ता ने प्रतिरक्षा नहीं की है। प्रस्तुत मामले में आक्षेपकर्ता ने अपनी प्रतिरक्षा की है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय द्वारा दावे मामले में आक्षेपकर्ता के दावे का अन्वेषण करते समय ऐसा किया जा सकता है। चूंकि परिसीमा विषयक प्रश्न नियम 58 के अधीन अन्वेषण के विस्तार से परे है अतः दावे का अन्वेषण करने वाला न्यायालय नियम 58 के अधीन दावे का अन्वेषण करते समय निष्पादन आवेदन को खारिज करने के लिए धारा 3 के उपबंधों का आश्रय नहीं ले सकता। संदेह से परे विधि की स्थिति यह है कि निष्पादन आवेदन को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन आक्षेपकर्ता के दावे का अन्वेषण करते समय दावे मामले में आक्षेपकर्ता द्वारा उठाए गए अभिवाक् के आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता। इस संबंध में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा निकाले गए निष्कर्ष को चुनौती नहीं दी जा सकती। (पैरा 5 एवं 6)

परिसमापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् की अवधि को भी परिसीमा की अवधि की संगणना करने में विचारण में नहीं लिया जाएगा अर्थात् इसे भी अपवर्जित किया जाएगा। अतः बहुसंख्यक न्यायाधीशों के मत के अनुसार इस संबंध में विधि की निश्चायक स्थिति यह है कि धारा 45-ण की उपधारा (1) के उपबंधों का फायदा ऐसे मामले में भी दिया जाएगा जिसमें कि वाद हेतुक उद्भूत हो गया हो या डिक्री (जैसी कि प्रस्तुत मामले में है) परिसमापन के लिए आवेदन फाइल किए जाने के पश्चात् की गई हो। (पैरा 11)

		पैरा
[1966]	ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1953 : श्री बैंक लि० **बनाम** एस० डी० राय एण्ड कं० (Sri Bank Ltd. *Vs.* S. D. Roy and Co.) **का अवलम्ब** लिया गया।	9
[1979]	(1979) 49 कम्पनी केसेज 77 : आर० सी० अब्राल **बनाम** ए० आर० चड्ढा (R. C. Abral *Vs.* A. R. Chadha);	9
[1973]	(1973) 43 कम्पनी केसेज 376 : आफिशियल लिक्वीडेटर **बनाम** ए० आर० चड्ढा (Official Liquidater *Vs.* A. R. Chadha);	9

[1972]	ए० आई० आर० 1972 उड़ीसा 119 : राजकिशोर **बनाम** कंगाली (पूर्ण न्यायपीठ) (Rajkishore *Vs.* Kangali (FB);	6
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1454 : पेंतापति चिना वेंकन्ना **बनाम** पेंतापति बंगरारजू (Pentapati China Venkanna *Vs.* Pentapati Bangararaju);	3
[1960]	ए० आई० आर० 1960 कलकत्ता 243 : सरकार दत्त राय एण्ड कं० **बनाम** श्री बैंक लि० (Sarkar Dutt Roy and Co. *Vs.* Shree Bank Ltd.);	9
[1959]	ए० आई० आर० 1959 मद्रास 366 : मैसर्स ब्रह्मैया **बनाम** मोहम्मद राउथर (Messrs Brahmayya *Vs.* Mohammad Rowther);	9
[1958]	ए० आई० आर० 1958 पटना 534 : ठाकुर प्रसाद शाह **बनाम** शेदेनी शाह (Thakur Prasad Sah *Vs.* Shedeni Sah);	5
[1955]	ए० आई० आर० 1955 पंजाब 45 : पंजाब कर्मशियल बैंक **बनाम** बृज लाल (Punjab Commercial Bank *Vs.* Brij Lal);	9
[1953]	ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 125 : कालीपदा **बनाम** पलानी बाला (Kalipada *Vs.* Palani Bala);	6
[1948]	ए० आई० आर० 1948 प्रिवी कौंसिल 36 : सर मोहम्मद अकबर खान **बनाम** मुसम्मात मोतई और अन्य (Sir Mohammad Akbar Khan *Vs.* Mt. Motai and others);	6
	आई० एल० आर० 9 पटना 306 : अतुल कृष्ण घोष **बनाम** बृन्दाबन नायक (Atul Krishna Ghosh *Vs.* Brindaban Naik)	6

निर्दिष्ट किए गए ।

38 सरदार बद्री नारायण सिंह ब० छोटानागपुर बैंकिंग एसो० (न्या० ग्रियाघे)

सिविल अधिकारिता : 1976 की लैटर्स पेटेण्ट अपील सं० 33.

पटना उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश माननीय एच० एल० अग्रवाल द्वारा दिए गए विनिश्चय से, की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... सर्वश्री प्रेम लाल, योगेन्द्र मिश्र, विजयेन्द्र नारायण सिन्हा और मिथिलेश कुमार खरे

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री सुधीर चन्द्र घोष और कल्याण कुमार घोष

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० पी० ग्रियाघे ने दिया।

न्या० ग्रियाघे :

यह लैटर्स पेटेण्ट अपील इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई है जिसमें न्यायाधीश ने 1958 के कम्पनी अधिनियम मामला सं० 1 में इस उच्च न्यायालय द्वारा पारित डिक्री से उच्च न्यायालय की मूल अधिकारिता के 1970 के एम० जे० सी० सं० 2 में डिक्री के निष्पादन में अपीलार्थी द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन फाइल किए गए आक्षेप को नामंजूर कर दिया था।

2. विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा जिस दावा मामले को नामंजूर कर दिया था उससे संबंधित तथ्य संक्षेप में निम्न प्रकार हैं।

3. छोटा नागपुर बैंकिंग एसोसिएशन का समापन हो गया था। बैंकिंग कम्पनी ने 7 जनवरी, 1958 को समापन के लिए आवेदन किया था। उच्च न्यायालय पटना ने परिसमापन का आदेश 21 अगस्त, 1958 के आदेश द्वारा पारित किया था। परिसमापन की प्रक्रिया अभी भी जारी है। शासकीय परिसमापक ने रामगढ़ के राजा बहादुर कामाख्या नारायण सिंह के विरुद्ध कतिपय दावों के लिए उप-न्यायाधीश, हजारीबाग के न्यायालय में 1958 के धन-वाद सं० 5 और 6 फाइल किए। इन वादों को बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 (1949 का अधिनियम सं० 10) की धारा 45-ग के अधीन पटना उच्च न्यायालय को अन्तरित कर दिया गया था क्योंकि इसका संबंध ऐसी कम्पनी से था जो उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश द्वारा परिसमापनाधीन थी। उच्च न्यायालय ने लगभग 15,00,000 रुपये की कुल राशि के लिए दो मदों अर्थात् मद सं० 1-क और मद सं० 1-ख, जो यहां सुसंगत हैं, के लिए डिक्री पारित की। यह डिक्री 22 दिसम्बर, 1961 को दी

गई थी। इसी बीच उच्च न्यायालय ने बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 की धारा 45-घ के अधीन ऋणियों की सूची तय की और ऋण की इन दो मदों को ऋण के रूप में उक्त राजा के विरुद्ध तय किया। इसके पश्चात् डिक्री-धारक ने हजारीबाग के उप-न्यायाधीश के न्यायालय में 1967 का निष्पादन मामला सं० 7 फाइल किया, किन्तु इस निष्पादन मामले को भी बाद में उक्त धारा 45-ग के अधीन पटना उच्च न्यायालय को अन्तरित कर दिया गया और इसे 1970 का एम० जे० सी० सं० 2 संख्यांकित किया गया और यही वर्तमान निष्पादन मामला है जिसमें कि आक्षेपकर्ता के दावे को नामंजूर कर दिया गया है और यही इस अपील की विषय-वस्तु है। किन्तु यहां इस बात का उल्लेख करना सुसंगत है कि पहले कुछ ऐसी सम्पत्तियां निष्पादन पिटीशन में दी गई थीं जो सामान्यता 'पद्म राज पैलेस' के नाम से ज्ञात है। उक्त राजा की पत्नी महारानी ललिता राज्य लक्ष्मी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन दावा मामला फाइल किया जिसे मंजूर किया गया और उस सम्पत्ति को निष्पादन मामले से मुक्त कर दिया गया। इसके पश्चात् डिक्री-धारक, अर्थात् छोटानागपुर बैंकिंग एसोसिएशन (परिसमापनाधीन) ने डिक्रीत शोध्यों को वसूल करने के लिए निष्पादन मामले में नई सम्पत्ति जोड़ने के लिए उच्च न्यायालय के निष्पादन मामले (1970 का एम० जे० सी० सं० 2) में पिटीशन फाइल किया। इस निवेदन को स्वीकार किया गया और नए रूप से जोड़ी गई सम्पत्ति के विरुद्ध अग्रसर होने के लिए निष्पादन पिटीशन में आवश्यक संशोधन किए गए। यह प्रार्थना 13 मई, 1975 के आदेश द्वारा मंजूर की गई। इसके पश्चात् 19 नवम्बर, 1975 को वर्तमान अपीलार्थी सं० 1 अर्थात् सरदार बद्री नारायण सिंह ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन आक्षेप फाइल किया (जिसे 1975 का एम० जे० सी० सं० 6 रजिस्ट्रीकृत किया गया) और उसमें प्रश्नगत नए रूप से जोड़ी गई सम्पत्ति का इस आधार पर दावा किया कि वह सम्पत्ति धार्मिक और पूर्त न्यास अर्थात् उस आक्षेप पिटीशन के पिटीशनर सं० 2 की है। यह दावा किया गया कि बहुत पहले अर्थात् 7 सितम्बर, 1950 को राजा बहादुर ने एक न्यास सृजित किया था जिसे यह सम्पत्ति उस तारीख को रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा समर्पित कर दी गई थी और यह कि प्रश्नगत न्यास का उस सम्पत्ति पर कब्जा उसके स्वयं के अधिकार के कारण है। बाद में इस आक्षेप-पिटीशन की सुनवाई के लम्बित रहने के दौरान 3 मई, 1976 को आक्षेपकर्ता ने उच्च न्यायालय में यह पिटीशन फाइल किया कि नई सम्पत्ति के प्रतिस्थापन द्वारा निष्पादन पिटीशन में संशोधन करने के पश्चात् विधि में निष्पादन के लिए किए गए उस आवेदन को

विधि के अनुसार उस तारीख को निष्पादन के लिए नए सिरे से फाइल किया गया आवेदन समझा जाएगा जिस तारीख को नए सिरे से जोड़ी गई सम्पत्ति को प्रतिस्थापित किया गया था और चूंकि यह तारीख डिक्री की तारीख से 12 वर्ष से अधिक है अतः निष्पादन आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है। अपीलार्थी-आक्षेपकर्ता ने इस मामले में परिसीमा के इस प्रश्न को प्रारम्भिक विवाद्यक के रूप में विनिश्चित किए जाने के लिए जोर दिया। इस प्रश्न की सुनवाई की गई और अपीलार्थी के उस दावे मामले में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने उस प्रश्न का विनिश्चय किया। डिक्री-धारक ने निर्णीत-ऋणी के इस आक्षेप का विरोध किया। किन्तु विधि के इस प्रश्न पर यह सहमति व्यक्त की गई कि जब निष्पादन के लिए किए गए आवेदन में किसी नई सम्पत्ति को जोड़ा जाता है तब निष्पादन आवेदन के बारे में यह समझा जाएगा कि यह उस तारीख को नए सिरे से किया गया आवेदन है जिस तारीख को नई सम्पत्ति जोड़ी गई थी और यही तारीख परिसीमा की अवधि की संगणना करने के लिए सुसंगत है। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अपने निर्णय में उच्चतम न्यायालय के **पेंतापति चिना वेंकन्ना** बनाम **पेंतापति बंगरारजू**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश किया। विधि की इस स्थिति पर किसी भी पक्षकार द्वारा विवाद नहीं किया गया है। किन्तु डिक्री-धारक ने आक्षेपकर्ता द्वारा उठाए गए आक्षेप का विधि के प्रश्न पर दो आधारों पर विरोध किया। प्रथम आधार यह है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन दावे मामले में निष्पादन मामले के परिसीमा के प्रश्न पर विचार करना जांच के विस्तार से परे है अतः यह आधार आक्षेपकर्ता को उपलब्ध नहीं है। डिक्री-धारक ने जिस द्वितीय आधार को अपनाया वह यह है कि वर्तमान मामले के तथ्यों के आधार पर परिसीमा बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 की धारा 45-ण के आधार पर सुरक्षित है क्योंकि इस तथ्य के आधार पर कि उस समय जबकि डिक्री पारित की गई थी, जिसके लिए 7-1-1958 को परिसमापन हेतु आवेदन फाइल किया गया था, कम्पनी पहले से ही परिसमापनाधीन थी और यह कि परिसीमा की अवधि का परिसमापन के लिए फाइल किए गए आवेदन की तारीख से व्यतीत होना बन्द हो जाएगा। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने डिक्री-धारक द्वारा अपनाए गए दोनों आधारों को स्वीकार कर लिया और इस तरह से आक्षेपकर्ता-अपीलार्थी के इस आक्षेप को उलट दिया कि निष्पादन मामला परिसीमा द्वारा वर्जित है। विद्वान् न्यायाधीश के इसी आदेश के विरुद्ध आक्षेपकर्ता द्वारा यह अपील फाइल की गई है।

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1454.

4. अतः इस अपील का विनिश्चय परिसीमा-विषयक अभिवाक् पर आक्षेपकर्ता के आक्षेप का विरोध करते हुए डिक्री-धारक द्वारा अपनाए गए उल्लिखित दोनों आधारों के उन्हीं प्रश्नों पर होना है।

5. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विद्वान् एकल न्यायाधीश ने आक्षेपकर्ता के जिस आक्षेप को उलट दिया है, वह यह है कि परिसीमा का अभिवाक् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन आवेदन फाइल करते हुए आक्षेपकर्ता को उपलब्ध नहीं है क्योंकि यह अन्वेषण की परिधि से, जैसा कि उस नियम के अधीन अनुध्यात है, परे है। आक्षेप का विस्तार और उसके न्यायनिर्णयन को दर्शित करने वाले नियम 58 के सुसंगत उपबंध निम्न प्रकार हैं :—

> "58. **कुर्क की गई सम्पत्ति पर दावों का और ऐसी सम्पत्ति की कुर्की के बारे में आक्षेपों का न्यायनिर्णयन**—(1) जहां डिक्री के निष्पादन में कुर्क की गई किसी सम्पत्ति पर कोई दावा या उसकी कुर्की के बारे में कोई आक्षेप इस आधार पर किया जाता है कि **ऐसी सम्पत्ति ऐसे कुर्क किए जाने के दायित्व के अधीन नहीं है** वहां न्यायालय ऐसे दावे या आक्षेप का न्यायनिर्णयन करने के लिए इसमें अन्तर्विष्ट उपबंधों के अनुसार अग्रसर होगा : ......
>
> (2) इस नियम के अधीन कार्यवाही के पक्षकारों के बीच या उनके प्रतिनिधियों के बीच पैदा होने वाले तथा **दावे या आक्षेप के न्यायनिर्णयन से सुसंगत सभी प्रश्न** (जिनके अन्तर्गत कुर्क की गई सम्पत्ति में अधिकार, हक या हित से संबंधित प्रश्न भी हैं) दावे या आक्षेप के संबंध में कार्यवाही करने वाले न्यायालय द्वारा अवधारित किए जाएंगे, न कि पृथक वाद द्वारा।"

ऊपर प्रोद्धृत नियम में रेखांकित शब्दों से यह दर्शित होता है कि उस नियम के अधीन दावा पिटीशन में अन्वेषण का विस्तार केवल इस बात का पता लगाना है कि क्या उस निष्पादन मामले की सम्पत्ति का, जिसका आक्षेपकर्ता द्वारा दावा किया गया है, कुर्क किया जाना संभाव्य है या नहीं। ऐसी दशा में आक्षेपकर्ता को यह साबित करना होता है कि सम्पत्ति उसके स्वयं के अधिकार से उसकी है और वह उस पर कब्जा रखता है। इस प्रकार के दावे मामले में अन्वेषण का विस्तार केवल इतना ही होता है। आक्षेपकर्ता को डिक्री को अथवा डिक्रीधारक के उस निष्पादन आवेदन को, जो निर्णीत-ऋणी के विरुद्ध किया गया है, परिसीमा द्वारा वर्जित बताने की या किसी अन्य कारण से अवैध होने की

चुनौती देने की शक्ति नहीं है। आक्षेपकर्ता का सम्पत्ति पर दावा उसके स्वयं के आधार पर यह दावा करते हुए कि प्रश्नगत सम्पत्ति निर्णीत-ऋणी की नहीं है, तक ही सीमित होता है। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर **ठाकुर प्रसाद शाह बनाम शेदेनी शाह**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय में यह विधि अधिकथित की गई है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन आक्षेपकर्ता के दावे का अन्वेषण करते समय न्यायालय को निष्पादन आवेदन की परिसीमा के प्रश्न पर विचार करने की अधिकारिता नहीं है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस नियम के अधीन परिसीमा का प्रश्न जांच के विस्तार से परे है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी विनिश्चय किया गया कि दावा मामले में एकमात्र विवाद्यक प्रश्न यह होता है कि क्या कुर्की के समय सम्पत्ति निर्णीत-ऋणी के कब्जे में थी या नहीं। दावा मामले में केवल इसी विवाद्यक का विनिश्चय करना होता है। अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता किसी भी ऐसे विनिश्चय को प्रोद्धृत नहीं कर सके है जो इस न्यायालय के उस खण्ड न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किए गए मत से प्रतिकूल हो।

अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् अधिवक्ता ने जो प्रश्न उठाया है वह परिसीमा अधिनियम की धारा 3, जो निम्न प्रकार है, का अवलम्ब लेना है :—

> "3. (1) धारा 4 से लेकर 24 तक (दोनों धाराओं सहित) में अन्तर्विष्ट उपबंधों के अधीन रहते हुए विहित अवधि के पश्चात् संस्थित किया गया प्रत्येक वाद, फाइल की गई अपील और किया गया आवेदन खारिज किया जाएगा यद्यपि परिसीमा को प्रतिरक्षा के रूप में न लिया गया हो······।"

इसी धारा के आधार पर विद्वान् अधिवक्ता द्वारा यह दलील दी गई है कि इस तथ्य के बावजूद भी कि आक्षेपकर्ता को परिसीमा विषयक अभिवाक् उठाने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता, किन्तु उक्त धारा 3 स्वयं न्यायालय पर यह बाध्यता अधिरोपित करती है कि वह ऐसे आवेदन को खारिज कर दे जो परिसीमा द्वारा वर्जित हो यद्यपि परिसीमा की प्रतिरक्षा के रूप में दलील न दी गई हो। लेकिन पूर्वोक्त धारा 3 की भावना के आधार पर विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई इस दलील को कायम नहीं रखा जा सकता। धारा 3 की भावना

---

[1] ए० आई० आर० 1958 पटना 534.

यह है कि न्यायालय किसी आवेदन को खारिज कर सकता है यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह परिसीमा द्वारा वर्जित है यद्यपि विरोधी पक्षकार ने परिसीमा की प्रतिरक्षा के रूप में दलील न दी हो। प्रस्तुत मामले में यह प्रश्न नहीं है कि विरोधी पक्षकार अर्थात् आक्षेपकर्ता ने प्रतिरक्षा नहीं की है। प्रस्तुत मामले में आक्षेपकर्ता ने अपनी प्रतिरक्षा की है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय द्वारा दावे-मामले में आक्षेपकर्ता के दावे का अन्वेषण करते समय ऐसा किया जा सकता है चूंकि परिसीमा विषयक प्रश्न इस नियम 58 के अधीन अन्वेषण के विस्तार से परे है अतः दावे का अन्वेषण करने वाला न्यायालय नियम 58 के अधीन दावे का अन्वेषण करते समय निष्पादन आवेदन को खारिज करने के लिए धारा 3 के उपबंधों का आश्रय नहीं ले सकता।

6. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने धारा 3 के उपबंधों के लागू होने के लिए कतिपय नजीरें प्रोद्धृत की हैं। इन नजीरों में से एक नजीर **सर मोहम्मद अकबर खान** बनाम **मुसम्मात मोतई और अन्य**[1] है किन्तु इस मामले में धारा 3 के विषय में मामला, जिसका विनिश्चय किया गया था, परिसीमा को साबित करने के भार के प्रश्न से संबंधित था अतः यह सुसंगत नहीं है। **अतुल कृष्ण घोष** बनाम **बृन्दाबन नायक**[2] वाले इस न्यायालय के द्वितीय मामले में, जिसे विद्वान् काउन्सेल द्वारा उद्धृत किया गया है, केवल यह कहा गया है कि निष्पादन आवेदन के लम्बित रहने के किसी भी प्रक्रम पर निर्णीत-ऋणी यह दर्शित कर सकता है कि आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है और न्यायालय को धारा 3 के अधीन आवेदन खारिज करना होगा। यह मामला भी सुसंगत नहीं है। इसी प्रकार **कालीपदा** बनाम **प्लानी बाला**[3] वाला उच्चतम न्यायालय का मामला, जिसे विद्वान् काउन्सेल ने प्रोद्धृत किया है, भिन्न मुद्दे पर आधारित है। **राजकिशोर** बनाम **कंगाली (पूर्ण न्यायपीठ)**[4] वाले मामले में उड़ीसा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय भी ऐसे मामले पर आधारित है जो इस प्रश्न पर सीमित है कि यद्यपि निर्णीत-ऋणी ने परिसीमा विषयक अभिवाक् नहीं उठाया है तथापि न्यायालय आवेदन को वर्जित होने के कारण खारिज कर सकता है। यह दावा-मामला परव्यक्ति-आक्षेपकर्ता द्वारा नहीं किया गया था, जैसा कि प्रस्तुत मामला है। अतः अपीलार्थी की ओर से उद्धृत की गई उपर्युक्त नजीरों में से कोई भी नजीर सहायक नहीं है और न ही

---

[1] ए० आई० आर० 1948 प्रिवी कौंसिल 36.
[2] आई० एल० आर० 9 पटना 306.
[3] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 125.
[4] ए० आई० आर० 1972 उड़ीसा 119.

इन नजीरों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निष्पादनकारी न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन दावा मामले का अन्वेषण करने के दौरान निष्पादन के लिए किए गए आवेदन को खारिज कर देना चाहिए। अतः संदेह से परे विधि की स्थिति यह है कि निष्पादन आवेदन को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 58 के अधीन आक्षेपकर्ता के दावे का अन्वेषण करते समय दावे मामले में आक्षेपकर्ता द्वारा उठाए गए अभिवाक् के आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता। इस संबंध में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा निकाले गए निष्कर्ष को चुनौती नहीं दी जा सकती।

7. इसके पश्चात् डिक्री-धारक के द्वितीय आधार पर, जिसमें मामले के तथ्यों के आधार पर आक्षेपकर्ता के परिसीमा विषयक अभिवाक् का विरोध किया गया है, विचार किया जाएगा। डिक्री-धारक का यह आधार बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1947 की धारा 45-ण हर आधारित है। यह धारा निम्न प्रकार है :—

> "45-ण. **विशेष परिसीमा-काल**—(1) भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 या उस समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी उस बैंककारी कम्पनी द्वारा, जिसका परिसमापन किया जा रहा है, वाद या आवेदन के लिए विहित परिसीमा-काल की संगणना करने में बैंककारी कम्पनी के परिसमापन के लिए अर्जी पेश करने की तारीख से प्रारम्भ होने वाली अवधि अपवर्जित कर दी जाएगी……।"

परिसीमा विषयक अभिवाक् के संबंध में आक्षेपकर्ता-अपीलार्थी का आक्षेप यह है कि प्रश्नगत डिक्री जिसका प्रस्तुत निष्पादन मामले (1975 का एम०जे०सी० सं० 6) में निष्पादन किया गया है, 22 दिसम्बर, 1961 को पारित किया गया था और यह कि डिक्री-धारक को नए सिरे से संपति प्राप्त हुई थी जो 3 दिसम्बर, 1974 के आदेश द्वारा निष्पादन पिटीशन में जोड़ी गई थी। यह दलील दी गई कि चूंकि निष्पादन पिटीशन में एक अन्य सम्पत्ति का अभिवर्धन और पारिणामिक संशोधन उस तारीख को अर्थात् 3 दिसम्बर, 1974 को, जो कि ऐसी तारीख है जो डिक्री की तारीख से 12 वर्ष की अवधि से पूर्व की है, विधि के अनुसार, निष्पादन के लिए नए सिरे से आवेदन फाइल करने की कोटि में आता है अतः निष्पादन आवेदन परिसीमा द्वारा वर्जित है। दूसरी ओर डिक्री-धारक ने आक्षेपकर्ता के इस अभिवाक् का इस तथ्य के आधार पर विरोध किया कि चूंकि डिक्री-धारक ऐसी बैंककारी कम्पनी है जिसका समापन हो गया है

और परिसमापन के लिए आवेदन 7 जनवरी, 1958 को फाइल किया गया था, अतः ऊपर उद्धृत धारा 45-ण के उपबंधों के आधार पर परिसमापन के लिए पिटीशन के प्रस्तुतीकरण की तारीख से प्रारम्भ होने वाली अवधि को अपवर्जित किया जाएगा जिसका अभिप्राय यह है कि परिसीमा की अवधि का व्यतीत होना उस तारीख से बन्द हो जाएगा । यह दावा किया गया कि चूंकि प्रस्तुत मामले में परिसमापन के लिए आवेदन 7 जनवरी, 1958 को फाइल किया गया था अतः इसके पश्चात् परिसीमा की अवधि का व्यतीत होना बन्द हो जाएगा और चूंकि प्रस्तुत मामले में पूर्वोक्त धारा 45-ण के लागू किए जाने के आधार पर स्वयं डिक्री 1961 में दी गई थी अतः डिक्री के विरुद्ध स्वयं किसी भी प्रकार से आगे नहीं बढ़ेगा चूंकि समापन कार्यवाही अभी चालू है ।

8. प्रथमतः अपीलार्थी-आक्षेपकर्ता की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने प्रारम्भ में ही यह दलील देने का प्रयत्न किया है कि धारा 45-ण प्रस्तुत मामले में लागू नहीं होगी क्योंकि इस धारा में निष्पादन के लिए लागू होने के बारे में विनिर्दिष्ट रूप से नहीं कहा गया है । विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि इस धारा में आया हुआ 'आवेदन' शब्द अधिनियम के अधीन फाइल किए गए विनिर्दिष्ट आवेदनों के प्रति न कि निष्पादन के लिए किए गए आवेदनों के प्रति निर्देश करता है । लेकिन विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई यह दलील केवल खारिज करने के लिए दी गई है क्योंकि वे सब विनिश्चय, जिन्हें न्यायालय में उद्धृत किया गया है और जिनके प्रति मैं निर्देश करूंगा, ऐसे मामले हैं जो निष्पादन के लिए किए गए आवेदनों से संबंधित हैं ।

9. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने प्रस्तुत मामले में इस धारा के लागू होने के बारे में तीन आधारों पर विवाद किया है । उसका प्रथम आधार यह है कि धारा 45-ण ऐसे मामले में सहायक नहीं हो सकती जिसमें कि डिक्री परिसमापन की कार्यवाही के प्रारम्भ होने और धारा 45-ण के नये उपबंधों के प्रवर्तन से, जो 1 दिसम्बर, 1953 को प्रवर्तित हुए हैं, से पूर्व डिक्री पहले ही वर्जित हो । लेकिन यह प्रश्न प्रस्तुत मामले में सुसंगत नहीं है क्योंकि डिक्री-धारक कम्पनी का 1958 में समापन हो गया था और प्रस्तुत मामले में डिक्री उस तारीख के पश्चात् अर्थात् 1961 में दी गई थी अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि डिक्री परिसमापन से पूर्व परिसीमा द्वारा पहले ही वर्जित थी । इस दलील के समर्थन में अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने चार नजीरें प्रोद्धृत की हैं—प्रथम नजीर सरकार दत्त

राय एण्ड कं० बनाम श्री बैंक लि०[1], द्वितीय पंजाब कर्माशियल बैंक बनाम बृज लाल[2], तृतीय आफिशियल लिक्वीडेटर बनाम ए० आर० चड्डा[3] तथा चतुर्थ आर० सी० अग्राल बनाम ए० आर० चड्ढा[4] है। लेकिन चूंकि यह प्रश्न सुसंगत नहीं है अतः इन नजीरों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि प्रस्तुत मामले में धारा 45-ण लागू नहीं होती, जो द्वितीय प्रश्न उठाया है, वह यह है कि यह धारा उद्भूत होने वाले ऐसे दावे की बाबत या ऐसी डिक्री के बारे में सहायक नहीं है जो उस तारीख के पश्चात् दी गई हो जबकि कम्पनी का समापन हो चुका हो। विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि इस धारा का, जो समापनाधीन कम्पनी के मामले में परिसीमा अवधि का व्यतीत होना बन्द करना है, लक्ष्य यह है कि जब कम्पनी का समापन हो जाता है तब शासकीय परिसमापक को कम्पनी की आस्तियों और दायित्वों के बारे में अवगत होने के लिए समय की आवश्यकता होती है अतः इस संबंध में उसे कुछ समय दिया जाना चाहिए और यही कारण है कि इस धारा में यह उपबंध इसलिए किया गया था कि परिसमापन के लिए फाइल किए गए आवेदन की तारीख से इस प्रकार के दावे की परिसीमावधि व्यतीत न हो। अतः विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि परिसमापन की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के काफी समय पश्चात् ही डिक्री दी गई थी और शासकीय परिसमापक इस विषय से पहले ही अवगत था अतः उसे अवगत होने की आवश्यकता नहीं थी और इस तरह ऐसे मामले में परिसीमा अवधि का व्यतीत होना नहीं रुकेगा अतः इस प्रकार के मामले में धारा 45-ण लागू नहीं होगी। अपनी इस दलील के समर्थन में विद्वान् काउन्सेल ने मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा मैसर्स ब्रह्मैया बनाम मोहम्मद राउथर[5] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया। इस धारा के उद्देश्य के रूप में ये सिद्धांत प्रत्यक्षतः, जैसी कि विद्वान् काउंसेल ने दलील दी है, आकर्षक प्रतीत हो सकते हैं किन्तु इस प्रश्न को उच्चतम न्यायालय ने श्री बैंक लि० बनाम एस० डी० राय एण्ड कं०[6] वाले मामले में अन्तिम रूप से तय कर दिया है। इस मामले में बहुमत के निर्णय से इस प्रकार की दलील को, जैसी कि हमारे

---

[1] ए० आई० आर० 1960 कलकत्ता 243.
[2] ए० आई० आर० 1955 पंजाब 45.
[3] (1973) 43 कम्पनी केसेज 376.
[4] (1979) 49 कम्पनी केसेज 77.
[5] ए० आई० आर० 1959 मद्रास 366.
[6] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1953.

समक्ष अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई है, अस्वीकार कर दिया था। निस्संदेह ही यह सत्य है कि न्या० वांचू, जो कि इस मामले के माननीय तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के सदस्यों में से एक थे, ने अल्पमत के मत के रूप में यह मत दिया था जैसा कि हमारे समक्ष अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने दलील दी है। यह विनिश्चय इस निर्णय के पैरा 24 में है। किन्तु यहां इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि माननीय न्यायाधीश ने यद्यपि विधि की स्थिति के आधार पर यह मत अपनाया था किन्तु तथ्य के आधार पर माननीय न्यायाधीश ने यह निर्वचन किया कि सभी किस्तों के दावे परिसमापन आवेदन के फाइल किए जाने से पूर्व उद्भूत हो गए थे अतः तथ्य के आधार पर माननीय न्यायाधीश ने यह कहा कि धारा 45-ण उस मामले में लागू होती हैं। यह बात उस निर्णय के पैरा 25 में दी गई है।

10. इसके अतिरिक्त उस न्यायपीठ के अन्य दो माननीय न्यायाधीशों के बहुमत के अनुसार अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा किए गए अभिवाक् को इस आधार पर रद्द किया जाना है कि यद्यपि धारा का उद्देश्य ऐसा ही प्रतीत होता है किन्तु जैसा कि कानून है इसका इस प्रकार निर्वचन किया जाना चाहिए कि धारा 45-ण के उपबंध न केवल परिसमापन के आवेदन किए जाने से पूर्व किए गए दावे या दी गई डिक्री को ही लागू नहीं होंगे वरन् ऐसे दावे को भी लागू होंगे जो परिसमापन के लिए किए गए आवेदन के बाद उद्भूत हुए हों या डिक्री दी गई हो। इस प्रकार की दलील को कि यह धारा परिसमापन के लिए किए गए आवेदन के पश्चात् उद्भूत हुए दावे को लागू नहीं होगी, न्या० सरकार ने निर्णय के पैरा 11 में निम्नलिखित कहा :—

> "मैं इस दलील को स्वीकार नहीं करता। मुझे इसमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि इसका ऐसा आशय क्यों होना चाहिए कि वे ऋण, जो परिसमापन के पूर्व शोध्य हो चुके हों और उनके लिए पिटीशन प्रस्तुत किया गया हो किन्तु जो उस तारीख को समय वर्जित न हुए हों, वसूल किए जा सकते हैं न कि वे जो उसके पश्चात् शोध्य हुए हों। इस बात का स्मरण रखना होगा कि परिसमापक सदैव ही परिसमापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत किए जाने पर ही नियुक्त नहीं किया जाता और अक्सर ऐसा नहीं होता कि इन दोनों के बीच काफी समय व्यतीत हो गया हो। इस बात को भी स्मरण रखना होगा कि परिसमापक को अपनी नियुक्ति के पश्चात् परिसमापनाधीन कम्पनी के कार्यकलापों से स्वयं को अवगत करने के लिए और इसके शोध्यों को वसूल करने के

लिए कार्यवाही प्रारम्भ करने हेतु कुछ समय की आवश्यकता होती है। अतः यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि यह किसी ऐसे ऋण को अधिनियम का फायदा देने के लिए आशयित नहीं हैं जो परिसमापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत करने के पश्चात् बैंककारी कम्पनी को उद्भूत हो गया हो।"

अतः विद्वान् न्यायाधीश ने निर्णय के पैरा 12 में यह अभिनिर्धारित किया कि इस धारा के उपबंध न केवल परिसमापन के लिए आवेदन की तारीख से पूर्व उद्भूत हुए दावों को ही लागू होंगे वरन् ये उपबंध उन दावों को भी लागू होंगे जो बाद में उद्भूत हुए हों।

11. इस न्यायपीठ के एक अन्य माननीय न्यायाधीश रघुवर दयाल ने भी इस प्रकार की दलील को अस्वीकार किया है जैसा कि प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई है और उस प्रश्न को उस मामले में उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार किया गया हैं। विद्वान् न्यायाधीश ने अपने निर्णय के पैरा 60 के अन्त में यह मत व्यक्त किया है कि इस संबंध में उच्च न्यायालय ने भूल की है तथा पैरा 61 में माननीय न्यायाधीश ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि धारा 45-ण की उपधारा (1) को अधिनियमित करने में विधानमण्डल का उद्देश्य और आशय यह था कि परिसमापन के लिए पिटीशन के प्रस्तुत किए जाने की पश्चात्वर्ती अवधि को परिसीमावधि की संगणना करने में गणना में नहीं लिया जाएगा। समस्त अवधि को विचारण से अपवर्जित किया जाएगा यदि मुकदमा परिसमापन के लिए पिटीशन के प्रस्तुत किए जाने से पूर्व प्रारम्भ हो गया है और सुसंगत कम अवधि अर्थात् कम्पनी के परिसमापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत किए जाने की तारीख के पश्चात् हेतुक के उद्भूत होने की तारीख से प्रारम्भ होने वाली अवधि को उस परिसीमा की अवधि से अपवर्जित किया जाएगा जो हेतुक के उद्भूत होने की तारीख से प्रारम्भ होती है।"

ऊपर व्यक्त किए गए मत से यह दर्शित होता है कि विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया है कि परिसमापन के लिए पिटीशन प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् की अवधि की भी परिसीमा की अवधि की संगणना करने में विचारण में नहीं लिया जाएगा अर्थात् इसे भी अपवर्जित किया जाएगा। अतः बहुमत बहुसंख्यक न्यायाधीशों के मत के अनुसार इस संबंध में विधि की निश्चायक

स्थिति यह है कि धारा 45-ण की उपधारा (1) के उपबंधों का फायदा ऐसे मामले में भी दिया जाएगा जिसमें कि वाद हेतुक उद्भूत हो गया हो या डिक्री (जैसी कि प्रस्तुत मामले में है) परिसमापन के लिए आवेदन फाइल किये जाने के पश्चात् की गई हो। अतः इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने अपीलाधीन अपने निर्णय में इस प्रश्न का सही ही विनिश्चय किया है जो अपीलार्थी के विरुद्ध है।

12. अतः इस अपील में कोई गुणता नहीं है। इसे एतद्द्वारा खर्चे सहित खारिज किया जाता है। सुनवाई की फीस 200 रुपये है।

अपील खारिज की गई।

न्या० बीरेन्द्र प्रसाद सिंह :

मैं सहमत हूं।

बंसल/मि०

नि० प० 1984 : पटना—49

श्री सरजुग प्रसाद बनाम बिहार राज्य और अन्य

(Sri Sarjug Prasad *Vs.* The State of Bihar & others)

तारीख 5 जनवरी, 1984

[न्या० हरि लाल अग्रवाल एवं न्या० सुरेन्द्र नारायण झा]

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947, धारा 25-ख(2) सपठित धारा 25-च—किसी ऐसे कर्मकार की सेवा, जिसने अपने नियोजन की 240 दिन की अविछन्न सेवा पूरी कर ली हो, मात्र इस कारण समाप्त नहीं की जा सकती कि उसकी नियुक्ति मौसमी (सामयिक) थी जब तक कि उस तारीख का विनिर्दिष्ट रूप से उल्लेख न किया गया हो जिसको उसकी सेवा समाप्त की जानी है—यदि ऐसे कर्मकार की सेवा समाप्त की जाती है तो वह उक्त धारा के अधीन एक मास की सूचना या उसके बदले में एक मास का सम्बलम् पाने का हकदार है।

पिटीशनर को तृतीय बार एक ही अधिकारी अर्थात् राजस्व खण्ड, बिहार शरीफ के उप-कलक्टर द्वारा 31 जुलाई, 1979 के आदेश के आधार पर नियुक्त किया गया। नियुक्ति संबंधी शर्तों में से एक शर्त यह थी कि वह

नियुक्ति उस समय तक के लिए है जब तक कि चयन समिति द्वारा नियमित नियुक्तियां न कर दी जाएं। किन्तु इस आदेश में एक अन्य आदेश द्वारा यह उपान्तरण किया गया कि पिटीशनर की नियुक्ति विशुद्धतः मौसमी (बिल्कुल सामयिक) है और उसकी सेवाओं को बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त किया जा सकता है। इस आदेश के बारे में पिटीशनर ने चुनौती देते हुए यह कहा कि इस आदेश में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25-च के उपबंध का उल्लंघन किया गया है क्योंकि न तो उसे कोई सूचना दी गई है और न उसके बदले में उसे एक मास का वेतन दिया गया है। प्रत्यर्थी ने यह दलील दी कि पिटीशनर को जारी किए गए उपाबंध '3' और उपाबंध '4' में आदेश में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख कर दिया गया है कि उसकी नियुक्ति मौसमी (सामयिक) है। अतः धारा 25-च के अधीन सूचना देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि नियुक्ति नियोजक और पिटीशनर के बीच ऐसे करार की कोटि में आती है जिसमें उसकी सेवा की समाप्ति की तारीख पहले ही दे दी गई है अर्थात् 'सामयिक' अभिव्यक्ति पिटीशनर को इस बात की संसूचना देने के लिए पर्याप्त है कि उसकी नियुक्ति विनिर्दिष्ट अवधि के लिए है। इसके अतिरिक्त प्रत्यर्थी ने यह दलील भी दी कि अधिनियम की धारा 25-ख के अर्थान्तर्गत पिटीशनर ने निरन्तर सेवा पूरी नहीं की है क्योंकि उसकी सेवा का भंग हो गया है। इस प्रकार उसने एक वर्ष की अविछिन्न अवधि पूरी नहीं की है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या पिटीशनर, जिसकी नियुक्ति अस्थायी तहसीलदार के रूप में की गई थी, अधिनियम की धारा 25-च के अधीन फायदे की अर्थात् एक मास की सूचना या उसके बदले में एक मास का सम्बलम् पाने का हकदार है?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन स्वीकार किया गया।

मात्र इस बात का उल्लेख करते हुए कि पिटीशनर की नियुक्ति मौसमी है किन्तु उस यथावत् तारीख को, जिस तारीख तक पिटीशनर को सेवा में बने रहना है, विनिर्दिष्ट किए बिना 'स्पष्टीकरण' इस मामले में लागू नहीं होगा। यह परन्तुक इस निश्चित प्रयोजन के लिए उपबंधित किया गया है कि कर्मकार को अपने नियोजन की अवधि के बारे में निश्चित रूप से जानकारी होनी चाहिए जिससे कि उसे अंधेरे में न रखा जाए और ऐसी किसी तारीख को, जिसे नियोजक चाहे, यकायक उसे छंटनी की सूचना न दे दी जाए। यहां तक कि पश्चात्वर्ती आदेश उपाबंध '4' राज्य की स्थिति को उस समय और भी बदतर बना देता है जबकि इसमें यह कहा गया है कि पिटीशनर की नियुक्ति को बिना

पूर्व सूचना के किसी भी समय समाप्त किया जा सकता है। यह शर्त स्पष्ट रूप से परन्तुक द्वारा अनुध्यात अभिव्यक्त करार द्वारा तारीख नियत करने के विधानमण्डल के आशय का खण्डन करता है। अतः इस न्यायालय की यह राय है कि धारा 25(च) के खण्ड (क) के परन्तुक में नियोजक और कर्मचारी के वीच स्पष्ट और असंदिग्ध करार अनुध्यात है जिसमें कर्मकार की सेवाओं को समाप्त करने के विषय में निश्चित और यथावत् तारीख विनिर्दिष्ट किए जाने का उपबंध किया गया है। (पैरा 9)

धारा 25-ख(2) में ऐसी स्थिति अनुध्यात की गई है जिसमें कि कर्मकार ने सुसंगत अर्थात् छंटनी की तारीख से पहले प्रारम्भ होने वाले 12 कलेण्डर मासों की अवधि के भीतर 240 दिन की अवधि के लिए सेवा की हो। प्रस्तुत मामले की स्थिति भी इसी प्रकार की है। अतः न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि पिटीशनर राज्य सरकार के सिंचाई विभाग में नियोजित किया गया था और वह अपेक्षित अवधि से निरंतर सेवा में है जो उसे या तो एक मास की सूचना या उसके बदले में एक मास के वेतन के लिए इससे पूर्व कि उसकी, जैसा कि धारा 25-च में उपबंधित है, उपरोक्त संरक्षण का अनुपालन करते हुए उपाबंध '5' के अधीन आक्षेपित आदेश के अन्तर्गत छंटनी की जा सके, हकदार बनाती है। (पैरा 10)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1253 : मोहन लाल **बनाम** मैं० भारत इलैक्ट्रानिक्स लि० प्रबन्धतन्त्र (Mohan Lal *Vs.* The Management of M/s Bharat Electronics Limited) का **अवलम्ब** लिया गया।	10
[1983]	1983 पी० एल० जे० आर० 667 : विजय कुमार भारती और अन्य **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Vijay Kumar Bharti and others *Vs.* The State of Bihar and others) वाला मामला **निर्दिष्ट** किया गया।	6

सिविल रिट अधिकारिता : 1981 का सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 842.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन आवेदन के मामले में।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री शिवकीर्ति सिंह और अमर नाथ देव, अधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री के० पी० वर्मा, महाधिवक्ता और पी० एन० राय

न्यायालय का निर्णय न्या० एच० एल० अग्रवाल ने दिया।

न्या० अग्रवाल :

इस रिट आवेदन में जो प्रश्न उद्‌भूत हुआ है वह यह है कि क्या पिटीशनर, जिसे अस्थायी तहसीलदार नियुक्त किया गया था, औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 25-च के अधीन फायदे का हकदार है या नहीं ?

2. पिटीशनर की प्रथम नियुक्ति राजस्व खण्ड, बिहारशरीफ के उप-कलक्टर के 5 फरवरी, 1977 के आदेश द्वारा सिंचाई विभाग में की गई थी। इस नियुक्ति के अधीन पिटीशनर को 23 जुलाई, 1977 तक कार्य करने के लिए अनुज्ञात किया गया था। उसी अधिकारी के 27 जनवरी, 1979 के आदेश द्वारा पिटीशनर को उसी पद पर पुनः नियुक्त किया गया। इस बार उसकी सेवाओं को 31 जनवरी, 1979 को समाप्त कर दिया गया। इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि ये नियुक्तियां किसानों से सिंचाई फीस वसूल करने के लक्ष्य को बढ़ावा देने के लिए संग्रहण हेतु विशुद्धतः अस्थायी आधार पर की गई थीं। पिटीशनर की दो बार नियुक्तियों के अतिरिक्त एक और नियुक्ति उसी अधिकारी के 31 जुलाई, 1979 के आदेश (उपाबंध 3) द्वारा की गई। इस कार्यालय आदेश की शर्तों में से एक शर्त यह थी कि यह नियुक्ति संग्रहण हेतु चयन समिति द्वारा नियमित नियुक्तियां करने तक के लिए की गई हैं। इस आदेश को 11 सितम्बर, 1980 के एक अन्य कार्यालय आदेश द्वारा इस विस्तार तक उपान्तरित किया गया कि पिटीशनर की नियुक्ति विशुद्धतः मौसमी (बिल्कुल सामयिक) है और यह कि उसकी सेवाओं को बिना किसी पूर्व सूचना के समाप्त किया जा सकता है। पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि आदेश 'उपाबंध 4' द्वारा आदेश 'उपाबंध 3' के अधीन पिटीशनर की नियुक्ति में उपान्तरण किया गया है और यह कि यह कोई नए सिरे से नियुक्ति की कोटि में नहीं आती किन्तु दूसरी ओर विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी कि 'उपाबंध 4' पिटीशनर की नए सिरे से नियुक्ति करने की कोटि में आता है। चाहे जो भी हो जिस प्रश्न पर हमारे समक्ष विरोध किया गया है वह यह है कि यह विवाद किसी भी प्रकार सुसंगत

नहीं है किन्तु साथ ही साथ हम इस दलील को स्वीकार करते हैं कि यह दलील कि 'उपाबंध 4' में अन्तर्विष्ट आदेश 'उपाबंध 3' को चालू रखने के लिए था और यह उल्लिखित अवधि में उपान्तरण करने के लिए तात्पर्यित है। पिटीशनर इस नियुक्ति के आधार पर सेवा में तब तक बना रहा जब तक कि उप-कलक्टर (प्रत्यर्थी सं० 3) द्वारा 31 जनवरी, 1981 को आक्षेपित आदेश पारित न कर दिया गया।

3. पिटीशनर ने इस आदेश को इस आधार पर चुनौती दी कि इस आदेश में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25-च के अधीन अधिकथित शर्तों का उल्लंघन किया गया है क्योंकि उसे न तो कोई सूचना दी गई है और न ही उसके बदले में एक मास का वेतन दिया गया है।

4. प्रत्यर्थियों ने एक प्रतिशपथ-पत्र फाइल किया और उनके द्वारा जो मुद्दा उठाया गया वह यह है कि पिटीशनर और अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति विशुद्धतः मौसमी थी क्योंकि सरकार द्वारा कोई स्वीकृत पद सृजित नहीं किया गया था। पिटीशनर के धारा 25-च के फायदों के दावे के प्रति निर्देश करते हुए उन्होंने यह कहा कि यह उपबंध सिंचाई विभाग को लागू नहीं होता और यह कि पिटीशनर इसके अधीन संरक्षण का हकदार नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि तीन तहसीलदारों के पद सरकार द्वारा मौसमी आधार पर 31 मार्च, 1981 तक के लिए स्वीकृत किए गए थे अतः सरकार के आदेश के पालन में प्रत्यर्थी सं० 3 ने सेवा समाप्ति का आदेश (उपाबंध 5) जारी किया।

5. बहस के दौरान विद्वान् महाधिवक्ता ने अधिनियम की धारा 2(छ) में 'नियोजक' शब्द की परिभाषा के प्रति निर्देश किया, जो निम्न प्रकार है :—

> "2(छ) 'नियोजक से'
>
> (1) केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी विभाग द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन चलाए गए उद्योग के सम्बन्ध में, इस निमित्त विहित प्राधिकारी, या जहां कि कोई प्राधिकारी विहित नहीं है वहां विभागाध्यक्ष, अभिप्रेत है।"

और यह दलील दी कि इस आधार पर कि इस मामले में विहित प्राधिकारी सिंचाई आयुक्त है जो कि विभागाध्यक्ष है और क्योंकि नियोजन आदेश प्रत्यर्थी सं० 3 (राजस्व खण्ड के उप-कलक्टर) ने जारी किए थे अतः पिटीशनर अधिनियम की धारा 25-च के फायदों का हकदार नहीं है और यह कि उसका नियोजक एक भिन्न व्यक्ति है।

6. सर्वप्रथम हम विद्वान् महाधिवक्ता द्वारा उठाए गए अंतिम प्रश्न अर्थात् इस प्रश्न का कि क्या 'नियोजक' शब्द की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार को पिटीशनर का नियोजक समझा जा सकता है या नहीं, का निपटारा करेंगे। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर श्री शिव कीर्ति सिंह ने हमारा ध्यान इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (बिहार रूल्स), 1961 (औद्योगिक विवाद बिहार नियमावली, 1961) की ओर आकर्षित किया। ये नियम किसी ऐसे उद्योग के औद्योगिक विवाद को लागू होते हैं जिसमें औद्योगिक विवाद (केन्द्रीय) नियमावली, 1951 का विस्तार नहीं है और ऐसे उद्योगों में ऐसे औद्योगिक विवाद जिनकी बाबत केन्द्रीय सरकार ने अधिनियम की धारा 39 के अधीन अपनी शक्तियां राज्य सरकार को प्रत्यायोजित कर दी हैं। नियम 2, जो कि निर्वचन का नियम है, के खण्ड (च) में अधिनियम की धारा 2(छ) में आए हुए 'नियोजक' शब्द को भी परिभाषित किया गया है। इसमें निम्नलिखित कहा गया है :—

> *"धारा 2 के खण्ड (छ) के प्रति निर्देश से एतद्द्वारा यह विहित किया जाता है कि राज्य सरकार द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन चलाए जाने वाले उद्योग के सम्बन्ध में औद्योगिक स्थापन का भारसाधक अधिकारी उस स्थापन की बाबत 'नियोजक' होगा।"

इस परिभाषा या 'नियोजक' शब्द के निर्वचन के आधार पर श्री शिवकीर्ति सिंह ने यह दलील दी कि जहां तक सिंचाई विभाग का सम्बन्ध है, राज्य की ओर से विभागाध्यक्ष नहीं बल्कि स्थापन का भारसाधक अधिकारी नियोजक होगा। इसके अतिरिक्त यह भी दलील दी गई कि सिंचाई विभाग एक औद्योगिक स्थापन नहीं है अतः नियम 2(च) का किया गया निर्वचन पिटीशनर के लिए सहायक नहीं है। नियम 1 के उपनियम (3) में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि अन्य बातों के साथ-साथ यह नियम औद्योगिक विवाद अधिनियम के अर्थान्तर्गत

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "With reference to clause (g) of section 2 it is hereby prescribed that in relation to an industry carried on by or under the authority of a department of the State Government the Officer Incharge of the Industrial establishment shall be 'employer' in respect of that establishment."

किसी उद्योग से सम्बन्धित औद्योगिक विवाद को भी लागू होगा। जिस समय राज्य सरकार द्वारा 1961 के नियम विरचित किए गए थे, उस समय इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती थी कि विभिन्न सरकारी विभाग भी 'उद्योग' के अन्तर्गत आ सकते हैं अत: जो कुछ कहा जा सकता है वह सामान्य रूप से प्रयुक्त स्थापन या उद्योग ही है। अब इस संविवाद को इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा **विजय कुमार भारती और अन्य** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में, जिसमें कि राज्य सरकार के सिंचाई विभाग को स्पष्ट रूप से उद्योग माना गया है, प्राधिकार रूप से तय कर दिया गया है।

7. मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर पिटीशनर के बारे में यह समझा जाएगा कि वह राज्य सरकार के सिंचाई विभाग उद्योग में नियोजित एक कर्मकार है। निर्विवाद रूप से पिटीशनर एक वर्ष से अन्यून अवधि के लिए राज्य सरकार के अधीन लगातार सेवा में रहा है। तर्क की दृष्टि से भी यदि विभागाध्यक्ष को ही न कि उप-कलक्टर (प्रत्यर्थी सं० 3) को पिटीशनर का नियोजक समझा जाए तो भी इस भाव में यह बहुत ही तकनीकी है कि पिटीशनर का वास्तविक नियोजक बिहार राज्य है जिसने कि प्रतिशपथ-पत्र के अनुसार विशिष्ट अवधि के लिए अर्थात् 31 जनवरी, 1981 के लिए स्वयं तीन पदों की स्वीकृति दी है, जिनमें से एक पद पर प्रत्यर्थी सं० 3 ने पिटीशनर की नियुक्ति की है। विद्वान् महाधिवक्ता के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए 'नियोजक' शब्द की परिभाषा के आधार पर पिटीशनर को उसके अधिकार से वंचित करने के कार्य की हमारे द्वारा सराहना नहीं की जा सकती।

8. अब हम इस द्वितीय प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या पिटीशनर एक मास की सूचना का या उसके बदले में एक मास के वेतन का, जैसा कि अधिनियम की धारा 25-च में उपबंधित है, हकदार है। पिटीशनर के इस दावे के बारे में प्रत्यर्थियों की ओर से एक से अधिक आधार पर विवाद किया गया है। प्रथमतः विद्वान् महाधिवक्ता ने धारा 25-च के खण्ड (क) के परन्तुक का अवलम्ब लिया, जिसके अनुसार :—

> "यदि छंटनी किसी ऐसे करार के अधीन हुई है जिसमें सेवा के पर्यवसान की तारीख विनिर्दिष्ट है तो ऐसी कोई सूचना आवश्यक नहीं होगी।"

प्रत्यर्थी की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उपबंध '3' और '4' के अनुसार पिटीशनर के पक्ष में जारी किए गए नियुक्ति आदेश में स्पष्ट रूप से यह

---

[1] 1983 पी० एल० जे० आर० 667.

कहा गया है कि पिटीशनर की नियुक्ति मौसमी (सामयिक) है अतः कार्यालय आदेश में अन्तर्विष्ट नियुक्ति के इन निबन्धनों के आधार पर महाधिवक्ता ने यह दलील प्रस्तुत की कि धारा 25-च के अधीन कोई सूचना दिया जाना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह नियुक्ति पिटीशनर और नियोजक के बीच ऐसे करार की कोटि में आती है जिसमें उसकी सेवा को समाप्त करने की तारीख विनिर्दिष्ट कर दी गई है। दूसरे शब्दों में, उसने यह दलील दी कि 'सामयिक' अभिव्यक्ति का प्रयोग पिटीशनर को यह संसूचना देने के लिए पर्याप्त है कि उसकी नियुक्ति एक विनिर्दिष्ट अवधि के लिए की गई है।

9. इस दलील को स्वीकार करना कठिन है। मात्र इस बात का उल्लेख करते हुए कि पिटीशनर की नियुक्ति मौसमी है किन्तु उस यथावत तारीख को, जिस तारीख तक पिटीशनर को सेवा में बने रहना है, 'विनिर्दिष्ट किए बिना 'स्पष्टीकरण' इस मामले में लागू नहीं होगा। यह परन्तुक इस निश्चित प्रयोजन के लिए उपबंधित किया गया है कि कर्मकार को अपने नियोजन की अवधि के बारे में निश्चित रूप से जानकारी होनी चाहिए जिससे कि उसे अंधेरे में न रखा जाए और ऐसी किसी तारीख को, जिसे नियोजक चाहे, यकायक उसे छंटनी की सूचना न दे दी जाए। यहां तक कि पश्चात्‌वर्ती आदेश उपाबंध '4' राज्य की स्थिति को उस समय और भी बदतर बना देता है जबकि इसमें यह कहा गया है कि पिटीशनर की नियुक्ति को बिना पूर्व सूचना के किसी भी समय समाप्त किया जा सकता है। यह शर्त स्पष्ट रूप से परन्तुक द्वारा अनुध्यात अभिव्यक्त करार द्वारा तारीख नियत करने के विधानमण्डल के आशय का खण्डन करता है। अतः हमारी यह राय है कि धारा 25(च) के खण्ड (क) के परन्तुक में नियोजक और कर्मचारी के बीच स्पष्ट और असंदिग्ध करार अनुध्यात है जिसमें कर्मकार की सेवाओं को समाप्त करने के विषय में निश्चित और यथावत् तारीख विनिर्दिष्ट किए जाने का उपबंध किया गया है।

10. इस सम्बन्ध में विद्वान् महाधिवक्ता ने जो तर्क प्रस्तुत किया है वह यह है कि पिटीशनर अधिनियम की धारा 25-ख के अर्थान्तर्गत निरंतर सेवा में नहीं रहा है क्योंकि कार्यालय आदेश जो कि उपाबंध '3' में अन्तर्विष्ट है और उपाबंध '4' के बीच सेवा का भंग हो गया है अतः उसने एक वर्ष की अविच्छन्न अवधि पूरी नहीं की है। यह तर्क भी गलत है और इसे धारा 25-ख में अन्तर्विष्ट एक स्पष्ट उपबंध के आधार पर अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए जिसके अनुसार उसे अपनी छंटनी की तारीख से पूर्ववर्ती एक वर्ष के दौरान

240 दिन नियोजन में रहना चाहिए। इस प्रश्न पर रेल प्रशासन के दैनिक मजदूरी वाले श्रमिकों के बारे में इस न्यायालय की अनेक नजीरें हैं। ये नजीरें उस समय की हैं जबकि उत्तरी बिहार रेल लाइन की छोटी लाइन (मीटर-गेज) को बड़ी लाइन (ब्राड-गेज) में बदला जा रहा था। इस मत के लिए **मोहन लाल बनाम मै० भारत इलैक्ट्रानिक्स लि० प्रबन्धतन्त्र**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया जा सकता है जिसमें 'निरंतर सेवा' अभिव्यक्ति पर अधिनियम की धारा 25-ख के अधीन अन्तर्विष्ट उपबंध के निबन्धनों के आधार पर विचार किया गया था और स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया गया था कि धारा 25-ख(2) में ऐसी स्थिति अनुध्यात की गई है जिसमें कि कर्मकार ने सुसंगत अर्थात् छंटनी की तारीख से पीछे के प्रारम्भ होने वाले 12 कलेण्डर मासों की अवधि के भीतर 240 दिन की अवधि के लिए सेवा की हो। प्रस्तुत मामले की स्थिति भी इसी प्रकार की है। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि पिटीशनर राज्य सरकार के सिंचाई विभाग में नियोजित किया गया था और वह अपेक्षित अवधि से निरंतर सेवा में है जो उसे या तो एक मास की सूचना या उसके बदले में एक मास के वेतन के लिए इससे पूर्व कि उसकी, जैसा कि धारा 25-च में उपबंधित है, उपरोक्त संरक्षण का अनुपालन करते हुए उपाबंध '5' के अधीन आक्षेपित आदेश के अन्तर्गत छंटनी की जा सके, हकदार बनाती है। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर यह आवेदन सफल होता है तथा उपाबंध '5' में अन्तर्विष्ट आदेश अभिखण्डित किया जाता है। पिटीशनर के सफल होने का परिणाम लगभग तीन वर्ष के अन्तराल के पश्चात् उसे पुनः सेवा में लिया जाना होगा। यद्यपि पिटीशनर इस अवधि के दौरान अपनी ओर से किसी गलती के बिना सेवा में नहीं बना रहा तथापि इस मामले की परिस्थितियों और पिटीशनर की हैसियत पर विचार करते हुए उसे इस अवधि के दौरान बेरोजगार और बेकार नहीं बैठना चाहिए था। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह निदेश देते हैं कि इस अन्तर्वर्ती 6 मास की अवधि का वेतन इस आदेश के आधार पर नौकरी में उसके पुनः बहाल किए जाने पर नहीं दिया जाएगा। सरकार को, यदि उसे इस प्रकार की सलाह दी जाए तो, विधि के अनुसार पिटीशनर की छंटनी के नए सिरे से आदेश पारित कर सकती है। किन्तु इन परिस्थितियों में पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

रिट पिटीशन स्वीकार किया गया।

बंसल

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1253.

नि० प० 1984 : पटना—58

आय-कर आयुक्त, बिहार, पटना बनाम आत्मा राम बुधिया
(The Commissioner of Income-tax Bihar, Patna *Vs.* Atma Ram Budhia)

तारीख 10 जनवरी, 1984

[न्या० हरी लाल अग्रवाल, न्या० नजीर अहमद और न्या० प्रभा शंकर मिश्र]

आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 67(1)(ख)—उक्त धारा 67(1)(ख) में यह उपबन्धित है कि किसी भागीदार को दिया गया कोई वेतन ब्याज, कमीशन या अन्य पारिश्रमिक भागीदार को प्रभाजित लाभ है, परन्तु जहां पर भागीदार द्वारा कोई पारिश्रमिक अर्जित किया जाता है जो कुटुम्ब की आस्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता है तब इस प्रकार कर्ता द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं होता जब तक कि इसका सीधा सम्बन्ध परिवार द्वारा लगाई गई रकम से न हो।

निर्धारिती का हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब और साथ ही वैयक्तिक हैसियत में निर्धारण किया जाता रहा था। वर्तमान मामला हिन्दू-अविभक्त कुटुम्ब के निर्धारण से सम्बन्धित है। फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी में श्री बुधिया हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की हैसियत में भागीदार थे। निर्धारिती, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का निर्धारण करते समय आय-कर अधिकारी ने बांटे गए शेयरों के अनुसार फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी से बुधिया को प्राप्त आय और वेतन के रूप में 30,602 रुपये, जिसमें वेतन के 18,000 रुपये भी सम्मिलित हैं, को सम्मिलित कर लिया। पिछले वर्षों में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के निर्धारणों में वेतन से हुई आय को सम्मिलित नहीं किया गया था। निर्धारण वर्ष 1965-66 तक यही स्थिति थी। निर्धारिती ने सहायक आयुक्त (अपील) को एक अपील फाइल की, जिसमें उसने श्री बुधिया को वेतन से हुई 18,000 रुपये की आय को हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय में सम्मिलित किए जाने को इस आधार पर चुनौती दी कि फर्म श्री बुधिया को उसकी वैयक्तिक हैसियत में वेतन दे रही थी। और तो और आय-कर अधिकारी, रांची ने वेतन से हुई आय को श्री बुधिया के वैयक्तिक निर्धारण में पहले ही सम्मिलित कर लिया था। अपील प्राधिकारी ने 18,000 रुपये की रकम को यह दृष्टिकोण अपनाते हुए अपवर्जित कर दिया कि आय-कर अधिकारी

ने वेतन की रकम को अपीलार्थी, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की सकल आय में सम्मिलित करने का कोई विनिर्दिष्ट कारण नहीं दिया है। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि श्री बुधिया की वैयक्तिक हैसियत में यह निर्धारणीय है।

उच्च न्यायालय को यह प्रश्न निर्दिष्ट किया गया कि क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में श्री आत्मा राम बुधिया को मैसर्स बुधिया एण्ड कम्पनी, जिसमें वह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के रूप में भागीदार है, द्वारा वेतन के रूप में दिए गए 18,000 रुपये निर्धारिती, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की कुल आय में सम्मिलित किए जा सकते हैं ?

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

उच्चतम न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ के पूर्व विनिश्चयों और उनमें अधिकथित प्रतिपादनाओं का अवलम्ब लेते हुए, जिनमें यह सुभिन्नता अधिकथित की गई थी कि अगर किसी भागीदार द्वारा कोई पारिश्रमिक अर्जित किया जाता है जो संयुक्त कुटुम्ब की आस्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता तब इस प्रकार कर्ता द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं होता है, जब तक कि इसका सीधा सम्बन्ध परिवार द्वारा फर्म में लगाई गई रकम से न हो। जब तक यह स्थापित नहीं हो जाता कि हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के प्रबन्धक द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक कुटुम्ब की आय नहीं थी और पारिश्रमिक उसकी सेवाओं के लिए था और संयुक्त कुटुम्ब से लगाई गई आस्तियों और उसे संदत्त किए गए पारिश्रमिक में कोई वास्तविक और पर्याप्त संबंध नहीं है तब तक अविभक्त कुटुम्ब के प्रबन्धक या कर्ता द्वारा भागीदार के रूप में कार्य करते हुए प्राप्त किए गए पारिश्रमिक को कुटुम्ब की आय नहीं माना जा सकता और इसलिए वह आय-कर के दायित्वाधीन नहीं है। (पैरा 11, 10 और 18)

उच्चतम न्यायालय के विभिन्न निर्णयों के अनुसार निर्दिष्ट प्रश्न का उत्तर इस बात पर विचार करने के पश्चात् देना होगा कि क्या सहदायिक (कोपार्सल) द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक यद्यपि सारतः उस रूप में नहीं था बल्कि कुटुम्ब को कुछ देने का एक ढंग है। क्योंकि यह कुटुम्ब की निधि के निवेश के कारण किया गया था। क्या यह वैयक्तिक रूप से किसी सहदायिक द्वारा की गई सेवा का प्रतिकर है ? अगर ऐसा पूर्ववर्ती कारण से किया गया है तो यह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय है और अगर ऐसा उत्तरवर्ती कारण से किया गया है तो यह सहदायिक की व्यक्तिगत आय है। अगर आय लगाई गई

निधि के परिणामस्वरूप ही है तो इस कारण से कि किसी सहदायिक ने कुछ सेवा की हैं उस प्राप्ति की प्रकृति नहीं बदल जाती है। दूसरी ओर अगर यह किसी सहदायिक द्वारा की गई सेवा का पारिश्रमिक ही है तो इन तथ्यों से कि उसकी सेवाएं इसलिए प्राप्त की गई थीं कि वह उस कारबर में निधि लगाने वाले कुटुम्ब का सदस्य था या उसने ऐसा करने का योग्यता-शेयर कुटुम्ब की निधि से प्राप्त किया है तो इससे यह "प्राप्ति" हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय नहीं बन जाएगा। (पैरा 21)

		पैरा
[1983]	(1983) 138 आई० टी० आर० 628 : लक्ष्मण दास **बनाम** आय-कर आयुक्त (Laxman Das *Vs.* Commissioner of Income Tax);	11
[1969]	(1969) 72 आई० टी० आर० 192 : आय-कर आयुक्त, मैसूर **बनाम** गुरुनाथ वी० धकप्पा (Commissioner of Income Tax, Mysore *Vs.* Gurunath V. Dhakappa);	13, 23
[1968]	(1968) 68 आई० टी० आर० 221 : एस० आर० एम० सी० टी० पी० एल० पालानियप्पा चेट्टियार **बनाम** आय-कर आयुक्त, मद्रास (S. RM. CT. PL. Palaniappa Chattier *Vs.* Commissioner of Income Tax, Madras);	14
[1968]	(1968) 68 आई० टी० आर० 365 एस० सी० : वी० डी० धनवते **बनाम** आय-कर आयुक्त, मध्य प्रदेश, नागपुर एण्ड भण्डारा (V. D. Dhanwatey *Vs.* Commissioner of Income Tax, Madhya Pradesh, Nagpur and Bhandara)	15, 23

का अवलम्ब लिया गया।

[1978]	(1978) 112 आई० टी० आर० 234 : आय-कर आयुक्त, आसाम और अन्य **बनाम** अमसोई टी एस्टेट, (Commissioner of Inome Tax, Assam, and others *Vs.* Amsoi Tea Estate);	11

[1970] (1970) 78 आई० टी० आर० 33 : राज कुमार सिंह हुकम चंद जी **बनाम** आय-कर आयुक्त (Raj Kumar Singh Hukamchandji *Vs.* Commissioner of Income Tax); 17, 21

[1970] (1970) 78 आई० टी० आर० 319 : प्रेम नाथ और अन्य **बनाम** आय-कर आयुक्त दिल्ली और राजस्थान (Prem Nath and others *Vs.* Commissioner of Income tax, Delhi and Rajasthan); 17, 21

[1969] (1969) 73 आई० टी० आर० 692 : आय-कर आयुक्त **बनाम** डी० सी० शाह (Commissioner of Iucome Tax *Vs.* D. C. Shah) 21

निर्दिष्ट किए गए।

[1977] (1977) 106 आई० टी० आर० 292 : आय-कर आयुक्त, मद्रास **बनाम** आर० एम० चिदाम्बरम पिल्लई आदि (Commissioner of Income-tax, Madras *Vs.* R. M. Chidambaram Pillai etc.) 8, 11, 23

से प्रभेद बतलाया गया।

निर्देश अधिकारिता : 1975 का आय-कर निर्देश सं० 3.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री बी० पी० राजगढ़िया और एस० के० शरण

विरोधी पक्षकार की ओर से ... सर्वश्री बाजला और एस० के० पोद्दार

न्यायालय का निर्णय न्या० हरी लाल अग्रवाल ने दिया।

न्या० अग्रवाल :

यह निर्देश आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन आय-कर आयुक्त, बिहार, पटना के अनुरोध पर और इस न्यायालय के निर्देश पर आय-कर अधिकरण (अपील) ने न्यायालय के अवधारण के लिए निम्नलिखित प्रश्न निर्दिष्ट किया है :—

"क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में निर्धारिती आत्मा राम बुधिया को, जो कि भागीदार भी है, वेतन के रूप में दिए गए 18,000 रुपये आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 67(1)(ख) के अनुसार उसके वैयक्तिक निर्धारण में सम्मिलित किए जाने योग्य है?"

2. इस निर्देश की सुनवाई करने के पश्चात् हमने यह पाया कि इस न्यायालय को निर्दिष्ट किए जाने वाले निर्देशित प्रश्न को फिर से विरचित किए जाने की आवश्यकता है। इसलिए मैंने इसे निम्नलिखित रूप में विरचित किया है :—

"क्या, इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में श्री आत्मा राम बुधिया को मैसर्स बुधिया एण्ड कम्पनी द्वारा, जिसमें वह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के रूप में भागीदार है, वेतन के रूप में दिए गए 18,000 रुपये निर्धारिती, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की कुल आय में सम्मिलित किए जाने योग्य है?"

3. यह मामला 1967-68 के निर्धारण वर्ष से सम्बन्धित है और तथ्य और/या स्वीकृत तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

निर्धारिती श्री आत्मा राम बुधिया का निर्धारण हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के रूप में और साथ ही वैयक्तिक हैसियत में किया जाता रहा था। वर्तमान मामला हिन्दू-अविभक्त कुटुम्ब के निर्धारण से सम्बन्धित है। फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी में श्री बुधिया, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की हैसियत में भागीदार थे। निर्धारिती, हिन्दू-अविभक्त कुटुम्ब का निर्धारण करते समय आय-कर अधिकारी ने आबंटित शेयरों के अनुसार फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी से श्री बुधिया को प्राप्त आय और वेतन के रूप में 30,602 रुपये, जिसमें वेतन के 18,000 रुपये भी सम्मिलित हैं, को सम्मिलित कर लिया। निस्संदेह पिछले वर्षों में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के निर्धारणों में वेतन से हुई आय को सम्मिलित नहीं किया गया था। निर्धारण वर्ष 1965-66 तक यही स्थिति थी।

4. निर्धारिती ने सहायक आयुक्त (अपील) के समक्ष एक अपील फाइल की जिसमें उसने श्री बुधिया को वेतन से हुई 18,000 रुपये की आय को हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय में सम्मिलित किए जाने को इस आधार पर

चुनौती दी कि फर्म श्री बुधिया को उसकी वैयक्तिक हैसियत में वेतन दे रही थी और आय-कर अधिकारी, रांची ने वेतन से हुई आय को श्री बुधिया के वैयक्तिक निर्धारण में पहले ही सम्मिलित कर लिया था।

अपील प्राधिकारी ने 18,000 रुपये की रकम को यह दृष्किोण अपनाते हुए अपवर्जित कर दिया कि आय-कर अधिकारी ने वेतन की रकम को अपीलार्थी, हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की सकल आय में सम्मिलित करने का कोई विनिर्दिष्ट कारण नहीं दिया है। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि श्री बुधिया की वैयक्तिक हैसियत में यह निर्धारणीय है।

5. विभाग ने आय-कर अधिकरण (अपील) पटना को एक अपील फाइल की। निर्धारिती अधिकरण के समक्ष उपस्थित नहीं हुआ। परन्तु उसने निर्धारण वर्ष 1966-67 के लिए आय-कर अपील संख्या 888-पटना में अधिकरण द्वारा 23 फरवरी, 1973 को किए गए आदेश की एक प्रति भेजी जिसमें ऐसा ही प्रश्न विचारण के लिए आया था और अधिकरण ने विभाग की अपील को खारिज कर दिया था। अधिकरण ने अपने दिनांक 20 सितम्बर, 1973 वाले आदेश द्वारा अपील को इस आधार पर खारिज कर दिया कि बिल्कुल वैसे ही प्रश्न का विनिश्चय ठीक पूर्ववर्ती वर्ष के लिए हो चुका है और प्रश्नगत वर्ष के तथ्य और परिस्थितियां वही हैं, इसलिए अपील में कोई बल नहीं है।

6. तथ्य सम्बन्धी कथन, जो कि बहुत ही तात्विक है और मैं यह भी कह सकता हूं कि विवादगत प्रश्न के विनिश्चय के लिए निर्णायक है, और जो "मामले के कथन" में अभिलिखित किया गया है, इस प्रकार है :—

> "पूर्वतर वर्ष में सहायक आयुक्त (अपील) ने यह पाया था कि श्री आतमा राम बुधिया को फर्म के लिए कार्य करने के लिए वेतन दिया जा रहा था और कार्य वैयक्तिक हैसियत में किया जा रहा था। अधिकरण ने पहले वर्ष में यह भी पाया कि वेतन से हुई आय को कभी भी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय नहीं माना गया था और इसे व्यक्तिगत निर्धारण में सम्मिलित कर लिया गया था। अधिकरण के समक्ष विभाग ने इस तथ्य का खण्डन नहीं किया है कि श्री बुधिया ने उसके द्वारा फर्म का कार्य करने के लिए वैयक्तिक हैसियत में वेतन प्राप्त किया है।"

7. इसी दौरान एक महत्वपूर्ण बात हो गई। फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी के संबंध में निर्धारिती ने अधिनियम की धारा 40(ख) के

अधीन अस्वीकृत 18,000 रुपये की रकम को उसी आधार पर प्रश्नगत किया। सहायक आयुक्त (अपील) ने इस रकम का विलोप फर्म की आय में से करने की आज्ञा दे दी, जिसके विरुद्ध विभाग ने एक अपील फाइल की थी और जिसे अधिकरण ने अपने दिनांक 29 सितम्बर, 1973 वाले आदेश से विभाग के पक्ष में विनिश्चित कर दिया। इस प्रकार धारा 40(ख) के अधीन अस्वीकृत 18,000 रुपये की रकम को स्वीकार कर लिया गया।

तथ्य सम्बन्धी कथन और साथ ही साथ बहस के दौरान विभाग ने हमारे समक्ष इस बात पर बल दिया कि अधिनियम की धारा 67(1)(ख) के उपबंधों के अनुसार फर्म द्वारा किसी भागीदार को संदत्त ब्याज, वेतन, कमीशन और अन्य पारिश्रमिक को ध्यान रखते हुए किसी भागीदार को आय की संगणना की जानी होती है और इसे फर्म के कारबार की आय में भागीदार के अंश के रूप में माना जाएगा। इसलिए, किसी भागीदार की, (प्रस्तुत मामले में श्री बुधिया को) जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता है, आय की संगणना करते समय, फर्म के भागीदार की हैसियत संदत्त पारिश्रमिक को उसके अंश से हुई आय अवश्य माना जाना चाहिए और परिणामतः इसे फर्म की आय में भागीदार के अंश के रूप में माना जाना चाहिए था।

8. विभाग की ओर से उपस्थित होने वाले काउन्सेल, श्री राजगढ़िया ने लिंडले रचित "भागीदारी" (तेरहवां संस्करण) का अवलम्ब लिया है। उसके पृष्ठ 26 पर यह कहा गया है कि कोई भागीदार "उसकी फर्म द्वारा नियोजित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना नियोक्ता नहीं हो सकता" और इसलिए वह यह मानता है कि श्री बुधिया को दिया गया वेतन फर्म के लाभ में से, जिसमें कि वह एक भागीदार था, दी जाने वाली आय का एक ढंग है। उसने **आय-कर आयुक्त, मद्रास** बनाम **आर०एम० चिदाम्बरम पिल्लई**[1] वाले उच्चतम न्यायालय के हाल ही के एक मामले का दृढ़ अवलम्ब लिया। यह उच्चतम न्यायालय के दो विद्वान् न्यायाधीशों का विनिश्चय है, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया कि चूंकि नियोजन की संविदा में दो सुभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, अर्थात् नियोक्ता और कर्मचारी की। इसलिए विधि के अनुसार एक फर्म और इसके भागीदार के बीच में सेवा के सम्बन्ध में संविदा नहीं हो सकती। किसी भागीदार को दिया जाने वाला वेतन आय का विशेष अंश दर्शित करता है। किसी भागीदार को संदत्त वेतन की प्रकृति वैसी ही होती है,

---

[1] (1977) 106 आई० टी० आर० 292.

जैसी कि फर्म की आय की होती है। इसलिए किसी भागीदार को कारबार में भाग लेने के लिए दिए जाने वाले पारिश्रमिक के सम्बन्ध में किए गए करार को लाभ के एक हिस्से को कार्मिक पूंजी लगाने के लिए दिए जाने वाले इनाम के रूप में अवश्य माना जाना चाहिए।

यद्यपि इस विनिश्चय का अनुसरण न करने के लिए और भी सुभिन्नताएं हैं, जिनका उल्लेख मैं करूंगा, परन्तु उच्चतम न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों के समक्ष वाले मामले का विधि संबंधी प्रश्न और तथ्य बिल्कुल ही भिन्न थे। उसमें साधारण प्रश्न यह था कि क्या फर्म के भागीदार द्वारा सेवा के बदले में प्राप्त किए गए वेतन का कोई भाग कृषि आय थी औरआय-कर के दायित्वाधीन थी।

9. वर्तमान मामले में, इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि वेतन क रूप में प्राप्त की गई 18,000 रुपये की रकम आय-कर के दायित्वाधीन थी। राजस्व द्वारा पाए गए तथ्यों के अनुसार, जो केवल एकमात्र विवाद उत्पन्न होता है, वह यह कि क्या इसे (वेतन को) श्री बुधियाँ के व्यक्तिगत निर्धारण में सम्मिलित किया जाए या इसे हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की, जिसका कि वह कर्ता है, आय में जोड़ा जाए ?

10. श्री राजगढ़िया ने इस बात पर भी बल दिया है कि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अधिनियम की धारा 67 के साथ पठित धारा 140(ख) में यह उपबंधित है कि किसी भागीदार को संदत्त किए गए वेतन की आय की संगणना करते समय फर्म के कारबार के लाभ और अभिलाभ के अधीन प्रभार्य है। निर्धारिती फर्म (इस मामले में मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कंपनी) की आयकी संगणना करने में ऐसा हो सकता है क्योंकि इस खण्ड के उपबन्ध आत्यंतिक हैं और इसमें किसी व्यक्ति को भागीदार के रूप में या किसी भिन्न हैसियत में, उदाहरणार्थ उसकी व्यक्तिगत हैसियत में, जबकि वह अविभक्त कुटुंब के कर्ता आदि की हैसियत में भागीदार है, किए गए ब्याज, कमीशन, सम्बलम् आदि के रूप में किए गए संदायों में कोई फर्क नहीं करता। धारा 67 की उपधारा (1) के खण्ड (ख) में किसी बात के होते हुए भी, मेरे विचार से किसी भागीदार के लिए यह सिद्ध करने और स्थापित करने में किसी प्रकार का वर्जन नहीं है कि उसको बांटी गई रकम या वेतन या पारिश्रमिक इत्यादि को फर्म की आय में सम्मिलित नहीं किया जाएगा।

11. यद्यपि आय-कर आयुक्त, असम और अन्य बनाम असमोई टी

एस्टेट गौहाटी[1] वाले मामले में गौहाटी उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने **आर० एम० चिदम्बरम् पिल्लई**[2] वाले मामले के विनिश्चयाधार को अपनाते हुए भागीदार द्वारा वित्तीय अंशदान करने के कारण उसे प्राप्त वेतन और ब्याज को सम्मिलित किया था। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने **लक्ष्मण दास** बनाम **आय-कर आयुक्त**[3] वाले मामले में इसका अनुसरण नहीं किया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सम्मुख जो मामला था, उसकी प्रकृति और इस मामले की प्रकृति एक जैसी ही है। उस मामले में भी एक फर्म में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता भागीदार था और चूंकि उसे कारबार में विशेष रुचि थी और उसके लिए कार्य करने पर उसे पारिश्रमिक संदत्त किया गया था। उच्चतम न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ के पूर्व विनिश्चयों और उनमें अधिकथित प्रतिपादनाओं का अवलम्ब लेते हुए, जिनमें यह सुभिन्नता अधिकथित की गई थी कि अगर किसी भागीदार द्वारा कोई पारिश्रमिक अर्जित किया जाता है, तो संयुक्त कुटुम्ब की आस्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता तब इस प्रकार कर्ता द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं होता है, जब तक कि इसका सीधा संबंध परिवार द्वारा फर्म में लगाई गई रकम से न हो। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने **आर० एम० चिदम्बरम् पिल्लई**[2] वाले मामले को निम्नलिखित शब्दों में प्रभेदित किया है :—

> "उस मामले में न्यायालय का संबंध उस प्रश्न से नहीं था, जो कि हमारे सम्मुख है। उस मामले में प्रत्यर्थी दो भागीदारी फर्मों में भागीदार थे और लाभों में उनके अंश के अतिरिक्त फर्म की सेवा करने के कारण वेतन पाने के हकदार भी थे। उसमें यह विवाद नहीं था कि इस प्रकार प्राप्त किया गया वेतन उन भागीदारों की आय के रूप में कराधेय नहीं था। जो एक मात्र विवाद था वह यह था कि क्या इस प्रकार वेतन के रूप में प्राप्त की गई रकम पूर्णतः कराधेय थी या उसका 40 प्रतिशत भाग जो कि आकृषि क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। अगर यह मान भी लिया जाए कि **चिदम्बरम् पिल्लई** [(1977) 106 आई० टी० आर० 292] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय इस

---

[1] (1978) 112 आई० टी० आर० 234.
[2] (1977) 106 आई० टी० आर० 292.
[3] (1983) 138 आई० टी० आर० 628.

विधिक स्थिति से विचलित हो गया था तो भी ये विचलन किसी प्रकार की बाध्यता उत्पन्न नहीं करता क्योंकि यह विनिश्चय केवल दो न्यायाधीशों से गठित न्यायपीठ द्वारा किया गया था।"

12. मैं इलाहाबाद उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किए गए मत से पूर्णतः सहमत हूं।

13. इस प्रश्न के संबंध में उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा दिया गया **वी० डी० धनवते** बनाम **आय-कर आयुक्त, मध्य प्रदेश, नागपुर एण्ड भण्डारा**[1] वाला निर्णय बिल्कुल इसी प्रश्न से संबंधित है। पांच में से चार विद्वान् न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया कि जब तक संयुक्त परिवार द्वारा लगाई गई और फर्म द्वारा कर्ता को संदत्त किए गए वेतन में कोई वास्तविक और पर्याप्त संबंध न हो तब तक यह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं होती है।

14. उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों द्वारा दिए गए एक विनिश्चय अर्थात् **एम० आर०एम० सी० टी० पी० एल० पालानियप्पा चेट्टियार** बनाम **आय-कर आयुक्त, मद्रास**[2] में यह प्रश्न था कि क्या कर्ता द्वारा कम्पनी के प्रबन्ध निदेशक के रूप में प्राप्त किया गया पारिश्रमिक और कमीशन परिवार की आय के रूप में निर्धारणीय है। यह पाया गया कि परिवार द्वारा इस उद्देश्य से शेयर प्राप्त नहीं किए गए थे कि कर्ता प्रबन्ध-निदेशक बन जाए, बल्कि पूंजी साधारण अनुक्रम में लगाई गई थी। संयुक्त परिवार के धन से शेयरों के खरीदने और कर्ता को पारिश्रमिक दिए जाने में कोई वास्तविक और सीधा संबंध नहीं है, इसलिए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रबन्ध निदेशक के रूप में उसे संदत्त किया गया पारिश्रमिक संयुक्त परिवार की आस्तियों को हानि पहुंचाकर नहीं अर्जित किया गया और उसके द्वारा प्राप्त की गई रकम हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारणीय नहीं है।

15. इसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का **आय-कर आयुक्त, मैसूर** बनाम **गुरुनाथ वी० धाकप्पा**[3] वाला विनिश्चय है। उस मामले में इस स्पष्ट निष्कर्ष के अभाव में कि कर्ता द्वारा प्राप्त किया गया वेतन सीधा परिवार की आस्तियों से, जो कि उस फर्म में, जिसका हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब भागीदार था, सीधा संबंध

---

[1] (1968) 68 आई० टी० आर० 365.
[2] (1968) 68 आई० टी० आर० 221.
[3] (1969) 72 आई० टी० आर० 192.

है। कर्ता को संदत्त 6,000 रुपये की रकम के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि इसे हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय न माना जाए।

16. देश के उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए इन परस्पर-विरोधी विनिश्चयों के कारण ही इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने मामला बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट कर दिया, परन्तु यह मत व्यक्त करने से अपने आपको नहीं रोक पाया कि "हम स्पष्ट रूप से निर्धारिती की दलील को स्वीकार करने के पक्ष में हैं"।

17. निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल श्री बाजला ने उच्चतम न्यायालय के कुछ और मामलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिनमें इसी प्रकार के सिद्धांत अधिकथित किए गए हैं। वे मामले हैं: (1) **राज कुमार सिंह हुकम चन्द जी** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] और (2) **प्रेम नाथ और अन्य** बनाम **आय-कर आयुक्त, दिल्ली और राजस्थान**[2]।

18. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के उपरोक्त विनिश्चयों के परिशीलन से यह अप्रतिरोध्य निष्कर्ष निकलता है कि जब तक यह स्थापित नहीं हो जाता कि हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के प्रबन्धक द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक कुटुम्ब की आय नहीं थी और पारिश्रमिक उसकी सेवाओं के लिए था और संयुक्त कुटुम्ब से लगाई गई आस्तियों और उसे संदत्त किए गए पारिश्रमिक में कोई वास्तविक और पर्याप्त संबंध नहीं है तब तक अविभक्त कुटुम्ब के प्रबन्धक या कर्ता द्वारा भागीदार के रूप में कार्य करते हुए प्राप्त किए गए पारिश्रमिक को कुटुम्ब की आय नहीं माना जा सकता और इसलिए वह आय-कर के दायित्वाधीन नहीं है।

19. पहले ही दिए गए मामले के विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि बुधिया द्वारा वेतन के रूप में प्राप्त किए गए 18,000 रुपये फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी में उसके द्वारा की गई सेवा के लिए उसे वैयक्तिक हैसियत में प्राप्त किए गए थे। इसके बारे में कोई विवाद नहीं है। मेरे विचार से इस निष्कर्ष के कारण अधिकरण ने विधि का सही दृष्टिकोण अपनाया है।

20. तद्नुसार मैं निर्देशित प्रश्न का उत्तर नकारात्मक अर्थात् निर्धारिती

---

[1] (1970) 78 आई० टी० आर० 33.
[2] (1970) 78 आई० टी० आर० 319.

के पक्ष में और विभाग के विपक्ष में देता हूं। निर्धारिती खर्चे प्राप्त करने का हकदार है जो केवल 250/- रुपये निर्धारित किए गए हैं।

न्या० नजीर अहमद :

मैं सहमत हूं।

न्या० पी० एस० मिश्र :

21. मुझे भ्राता न्या० हरी लाल अग्रवाल द्वारा दिए जाने वाले प्रस्तावित निर्णय को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। बिहार के आय-कर आयुक्त (पटना) द्वारा आय-कर अधिनियम की धारा 256(2) के अधीन निर्दिष्ट प्रश्न के सम्बन्ध में निकाले गए इस निष्कर्ष से मैं सहमत हूं कि इसका सभी प्रकार से नकारात्मक उत्तर, अर्थात् निर्धारिती के पक्ष में और विभाग के विरुद्ध दिया जाना चाहिए। जैसा कि उच्चतम न्यायालयों के विभिन्न निर्णयों से प्रकट होता है, हमें निर्दिष्ट प्रश्न का उत्तर इस बात पर विचार करने के पश्चात् देना होगा कि क्या सहदायिक (कोपार्सनर) द्वारा प्राप्त किया गया पारिश्रमिक यद्यपि सारतः उस रूप में नहीं था, बल्कि कुटुम्ब को कुछ देने का एक ढंग है। क्योंकि यह कुटुम्ब की निधि के निवेश के कारण किया गया या क्या यह वैयक्तिक रूप से किसी सहदायिक द्वारा की गई सेवा का प्रतिकर है। अगर ऐसा पूर्ववर्ती कारण से किया गया है तो यह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय है और अगर ऐसा उत्तरवर्ती कारण से किया गया है तो यह सहदायिक की व्यक्तिगत आय है। अगर आय लगाई गई निधि के परिणामस्वरूप ही है तो इस कारण से कि किसी सहदायिक ने कुछ सेवा की है, उस प्राप्ति की प्रकृति नहीं बदल जाती है। दूसरी ओर, अगर यह किसी सहदायिक द्वारा की गई सेवा के लिए पारिश्रमिक ही है तो इन तथ्यों से कि उसकी सेवाएं इसलिए प्राप्त की गई थीं कि वह उस कारबार में निधि लगाने वाले कुटुम्ब का सदस्य था या उसने ऐसा करने का योग्यता-शेयर कुटुम्ब की निधि से प्राप्त किया है तो इससे यह "प्राप्ति" हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय नहीं बन जाएगा।

22. वर्तमान मामले में निर्धारिती श्री आत्मा राम बुधिया का निर्धारण हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के रूप में तथा साथ ही साथ उसकी व्यक्तिगत हैसियत में किया गया था। इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि श्री बुधिया फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की हैसियत से भागीदार हैं। वह कुटुम्ब की ओर से भागीदार के रूप में लाभांश प्राप्त करता रहा है। फर्म की सेवा करने के लिए श्री बुधिया पारिश्रमिक के रूप में वेतन प्राप्त करता रहा है। उसने प्रश्नगत निर्धारण वर्ष अर्थात् 1967-68 के लिए 18,000 रुपये वेतन सहित 30,000 रुपये की रकम प्राप्त की।

हमारे समक्ष ऐसे कोई तथ्य नहीं हैं, जिससे यह प्रकट होता हो कि श्री बुधिया को संदत्त की गई 18,000 रुपये की रकम कुटुम्ब द्वारा फर्म के कारबार में लगाई गई निधि के परिणामस्वरूप थी या कुटुम्ब की ओर से लगाई गई निधि के लिए अर्जित आय थी। निर्धारिती ने यह बात कही कि उक्त 18,000 रुपये की रकम उसके द्वारा की गई सेवा के पारिश्रमिक के रूप में संदत्त की गई थी। अन्तिम रूप से सुस्थिर विधि को देखते हुए इसका कोई महत्व नहीं है कि उसकी सेवाएं इसलिए प्राप्त की गई थीं कि वह ऐसे कुटुम्ब का सदस्य था, जिसने फर्म के कारबार में पूंजी लगाई थी। ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिससे यह पता चले कि श्री बुधिया को सेवा के लिए कुटुम्ब की ओर से नियुक्त किया गया था या किसी लागत या खर्च या कुटुम्ब की सम्पत्ति को हानि पहुंचा कर लगाया गया था या उसकी नियुक्ति का कारबार के अर्जन से कोई संबंध था। यह अभिनिर्धारित किया जाना है कि उसकी नियुक्ति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और योग्यता के कारण थी और सेवा की संविदा के बदले में उसे पारिश्रमिक दिया गया था।

23. **आय-कर आयुक्त, मद्रास** बनाम **आर० एम० चिदम्बरम्** पिल्लई[1] वाले मामले में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया था जिनसे यह प्रभाव पड़ता था कि कारबार के संचालन में भाग लेने के कारण किसी भागीदार को दिए गए पारिश्रमिक के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वह उसे किसी भागीदार द्वारा कार्मिक-पूंजी लगाने के लिए लाभों के अंश में से दिए गए इनाम के रूप में माना जाना चाहिए। उस मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि—भागीदारी मनुष्यों के बीच में एक प्रकार का सम्बन्ध है और करार के परिणामस्वरूप कारबार के लाभ को बांटना है। "फर्म" किसी सत्ता को सम्बोधित करने के लिए समूहवाचक संज्ञा की संक्षिप्त अभिव्यक्ति है। यह कोई व्यक्ति नहीं है। आयकर विधि में विशेष उपबन्धों के अनुसार यह निर्धारण की एक इकाई है। परन्तु यह एक पूर्ण व्यक्ति नहीं है, जिससे अगला कदम उठाना होता है। क्योंकि नियोजन की संविदा के लिए दो सुभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता होती है अर्थात् नियोक्ता और नियोजित। सही विधि तो यह है कि फर्म और इसके किसी भागीदार के बीच सेवा की संविदा नहीं हो सकती। किसी भागीदार से उसके द्वारा कारबार के संचालन करने के लिए पारिश्रमिक देने के लिए किए गए करार के बारे में यह माना जाना चाहिए कि यह कार्मिक पूंजी लगाने के बदले में लाभ का हिस्सा देना है। माननीय न्या० कृष्ण अय्यर

---

[1] (1977) 106 आई० टी० आर० 292.

ने, जिन्होंने निर्णय सुनाया था, आय-कर अधिनियम, 1922 की धारा 10 और 16, जिनके उपबंध आय-कर अधिनियम, 1961 की धाराएं 40 और 60 के समान हैं, पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया :—

> "इस उपबंध की अन्तर्वस्तु स्पष्ट है चाहे इसका स्पष्टीकरण या इसका उद्देश्य एक से अधिक हो। यह विवक्षित है कि भागीदार द्वारा हिस्से की आय वेतन में ले ली गई। इस बात की परीक्षा इससे हो जाती है कि जब किसी फर्म को हानि होती है तो वेतन पाने वाले भागीदार का हिस्सा उसकी आय के हिस्से को कम कर देता है। इसलिए निस्संदेह भागीदार के पारिश्रमिक के संदर्भ में वेतन लाभ देने का एक भिन्न ढंग है।"

तथापि माननीय न्या० कृष्ण अय्यर किसी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के किसी फर्म में, जिसमें हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब भागीदार है, वेतन के लिए किसी पद पर कार्य करने पर विचार नहीं कर रहे थे। उन्होंने (माननीय न्या० कृष्ण अय्यर ने) उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित किसी भी ऐसे मामले को निर्दिष्ट नहीं किया और न ही संयोगवश निर्देश किया जिसमें किसी ऐसे हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के किसी भागीदार को, जो कुटुम्ब फर्म का भागीदार है, कार्य करने के लिए फर्म द्वारा पारिश्रमिक दिए जाने के सम्बन्ध में विधि अधिकथित करता हो। इस बात पर माननीय न्या० कृष्ण अय्यर ने अप्रासांगिक रूप से भी कोई विचार नहीं किया है क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि उसके समक्ष वाला मामला बिल्कुल भिन्न था। **राजकुमार सिंह हुकुमचंद जी** बनाम **आय-कर आयुक्त, मध्य प्रदेश**[1], **प्रेम नाथ और अन्य** बनाम **आय-कर आयुक्त, दिल्ली और राजस्थान**[2], **आयकर आयुक्त** बनाम **गुरुनाथ वी० धाकप्पा**[3], **वी०डी० धनवते** बनाम **आय-कर आयुक्त**[4] और **आयकर आयुक्त** बनाम **डो० सी० शाह**[5] वाले मामलों में उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण भारत के उच्चतम न्यायालय के निर्णय होने के कारण इस सिद्धांत के लिए ऐसी नजीरें हैं, जो कि प्रामाणिक हैं कि इस साक्ष्य के अभाव में कि जो स्वीकार्य पारिश्रमिक दिया जाना था वह उसके द्वारा फर्म की सेवा किए जाने के बदले में नहीं था बल्कि कुटुम्ब की निधि में से लगाई गई पूंजी के बदले में लाभ था। अतः अप्रतिरोध्य निष्कर्ष यह होगा कि कुटुम्ब

---

[1] (1970) 78 आई० टी० आर० 33.
[2] (1970) 78 आई० टी० आर० 319.
[3] (1969) 72 आई० टी० आर० 192.
[4] (1968) 68 आई० टी० आर० 365.
[5] (1969) 73 आई० टी० आर० 692.

के किसी सदस्य को संदत्त किया गया वेतन/पारिश्रमिक कुटुम्ब की आय नहीं है बल्कि यह सेवा संविदा का प्रतिफल है और उसके द्वारा की गई सेवा के लिए प्रतिकर है।

24. मैं प्रश्न को फिर से विरचित किए जाने और इस निष्कर्ष से पूर्णतया सहमत हूं कि श्री बुधिया द्वारा वेतन के रूप में प्राप्त किए गए 18,000 रुपये कुटुम्ब (हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब) का लाभांश नहीं हैं और यह उसकी व्यक्तिगत आय है जो उसे व्यक्तिगत रूप से फर्म मैसर्स आर० के० बुधिया एण्ड कम्पनी की सेवा करने के लिए प्राप्त हुई है। मैं निकाले गए निष्कर्ष से सहमति प्रकट करता हूं और निर्दिष्ट प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देता हूं अर्थात् निर्धारिती के पक्ष में और विभाग के विरुद्ध देता हूं। मैं विभाग द्वारा निर्धारिती को देय खर्चों के निर्धारण से भी सहमत हूं।

निर्दिष्ट प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया जाता है।

खन्ना/ब्रह्म

नि० प० 1984 : पटना—72

मोहम्मद हसन और अन्य बनाम मोहम्मद अब्बास और अन्य

(Md. Hasan and others *Vs.* Md. Abbas and others)

तारीख 17 जनवरी, 1984

[न्या० वीरेन्द्र प्रसाद सिन्हा और बी० पी० ग्रियाधे]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 32, नियम 3(4) के अधीन जारी किया गया आदेश तभी विधिमान्य होगा जब किसी संरक्षक की नियुक्ति के पूर्व सक्षम प्राधिकारी द्वारा अवयस्क के नियुक्त संरक्षक, माता या पिता या नैसर्गिक संरक्षक या उनके न होने पर उस व्यक्ति को, जिसकी देख-रेख में अवयस्क रह रहा है, को इसकी सूचना दी गई हो और उसके द्वारा फाइल किए गए आक्षेप, यदि कोई हैं, पर भली-भांति विचार कर लिया गया है। अगर इस प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया जाता है तो इस प्रकार की गई संरक्षक की नियुक्ति अविधिमान्य होगी।

इस पुनरीक्षण आवेदन में मुख्य विचारार्थ मुद्दा यह है कि किसी अवयस्क

के संरक्षक की नियुक्ति करने में यदि सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के आदेश 32, नियम 3 (4) में अधिकथित प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया जाता है तो क्या ऐसी नियुक्ति अवैध होगी ?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण आवेदन खारिज किया गया।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 32, नियम 3(4) में यह उपबंध किया गया है कि कोई भी आदेश इस नियम के अधीन किए गए आवेदन पर तब के सिवाय नहीं किया जाएगा जबकि अवयस्क के किसी ऐसे संरक्षक को, जो ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित किया गया है जो इस निमित्त सक्षम है या जहां ऐसा संरक्षक नहीं है वहां अवयस्क के पिता को या जहां पिता नहीं हैं वहां माता को या जहां पिता या माता नहीं हैं वहां अन्य नैसर्गिक संरक्षक को या जहां पिता, माता या अन्य नैसर्गिक संरक्षक नहीं हैं वहां उस व्यक्ति को, जिसकी देख-रेख में अवयस्क है, सूचना दी गई है और जिस किसी व्यक्ति पर इस उपनियम के अधीन सूचना की तामील की गई है उस व्यक्ति की ओर से किया गया कोई भी आक्षेप सुन लिया गया है। अभिलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे यह दर्शित हो कि अवयस्कों की माता संरक्षक को इस आशय का नोटिस दिया गया था कि वह इस बात का कारण बताए कि अवयस्कों की ओर से वाद में रुचि न लेने के कारण क्यों न उसे उन्मोचित कर दिया जाए। जो कुछ हुआ वह यह था कि जब न्यायालय ने यह पाया कि माता किसी प्रकार की रुचि नहीं ले रही है तो उन्होंने सीधे ही अभिवक्ता-संरक्षक को अवयस्कों का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्ति कर दी। विद्वान् मुन्सिफ ऐसा नहीं कर सकता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह माता को इस आशय का नोटिस देता कि वह यह बताए कि क्यों न उसे वाद में रुचि न लेने के कारण उन्मोचित कर दिया जाए। संहिता के आदेश 32, नियम 3(4) में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार कार्य न करने के कारण अभिवक्ता-संरक्षक की नियुक्ति अवैध हो गई है। विचारण न्यायालय इस उपधारणा के अनुसार अग्रसर हुआ कि अभिवक्ता-संरक्षक को उचित नोटिस की तामील की गई थी और चूंकि अभिवक्ता-संरक्षक मामले में रुचि नहीं ले रहा था इसलिए अवयस्कों के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री पारित कर दी गई थी। ऐसे मामले में जहां पर अभिवक्ता-संरक्षक की नियुक्ति ही अवैध थी, वहां पर उसको जारी किए गए नोटिस के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह वैध नोटिस था। इसलिए यह स्पष्ट रूप से अवयस्कों को नोटिस न दिये जाने का मामला है। संहिता के आदेश 9, नियम 13 में यह उपबन्धित है कि यदि न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि समन की तामील सम्यक रूप से नहीं की गई थी या वह वाद की सुनवाई के लिए

पुकार होने पर उपसंजात होने से किसी पर्याप्त हेतुक से निवारित रहा था तो न्यायालय इस निमित्त दिए गए किसी आवेदन के आधार पर डिक्री को अपास्त कर सकता है। (पैरा 6)

		पैरा
[1977]	1977 बी० बी० सी० जे० पृष्ठ 4 : राम बदन राय और अन्य **बनाम** पल्टन पासवान और अन्य (Rambadan Rai and others *Vs.* Paltan Pawsan and others);	7
	2 पटना ला टाइम्स 11 : हरीहर प्रसाद सिंह **बनाम** बाबू इदल सिंह (Harihar Prasad Singh *Vs.* Babu Edal Singh)	7
	निर्दिष्ट किए गए ।	

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1979 का सिविल पुनरीक्षण आवेदन संख्या 357.

पुरनिया के तृतीय अपर अधीनस्थ न्यायाधीश, श्री शशि कुमार चौधरी के तारीख 25 नवम्बर, 1978 के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन ।

पिटीशनरों की ओर से ... श्री एच० आर० दास

विरोधी पक्षकार की ओर से ... सर्वश्री विशम्भर शर्मा और जगदीश प्रसाद भगत

न्यायालय का निर्णय न्या० बीरेन्द्र प्रसाद सिन्हा और न्या० बी० पी० ग्रियाधे ने दिया।

न्या० सिन्हा और न्या० ग्रियाधे :

पुनरीक्षण के लिए यह आवेदन विद्वान् एकल न्यायाधीश के तारीख 8 अक्तूबर, 1982 के आदेश द्वारा खण्ड न्यायपीठ को निर्देशित किया गया है।

2. यह आवेदन वादियों-प्रत्यर्थियों द्वारा किया गया है जिन्होंने 1968 के हक वाद संख्या 290 में कुदरत मियां के अप्राप्तवय पुत्र और अप्राप्तवय पुत्री के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री अभिप्राप्त की थी ।

3. पिटीशनरों के पिता, मोहम्मद सईद ने पुरनिया के मुन्सिफ के न्यायालय में हक की घोषणा तथा कब्जा प्राप्त करने के लिए हक संबंधी वाद फाइल किया था । विरोधी पक्षकार सं० 1 और 2 अवयस्क थे और उनके विरुद्ध उनकी माता, बीबी शमीमा बानो (विरोधी पक्षकार सं० 3) जो कि उनकी

नैसर्गिक संरक्षक है, की मार्फत वाद फाइल किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अवयस्कों के लिए तात्पर्यित सूचनाओं की तामील उनके संरक्षक अर्थात् उनकी माता पर की गई थी परन्तु उसने वाद में अवयस्कों की ओर से कोई कदम नहीं उठाया था। इस पर विद्वान् विचारण न्यायालय ने भोलानाथ बर्मन नामक एक अधिवक्ता को दोनों अवयस्कों का संरक्षक नियुक्त किया। 4 अगस्त, 1976 को हक वाद एकपक्षीय रूप में डिक्री कर दिया गया। यहां पर यह उल्लेख किया जाता है कि अभिवक्ता-संरक्षक भोलानाथ बर्मन ने भी वाद में कोई कदम नहीं उठाया और न ही उसने कोई लिखित कथन ही फाइल किया था। इसके पश्चात् उक्त अवयस्कों ने अपने वादमित्र अब्दुल अजीज, जोकि उनका मामा था, की मार्फत सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन 1977 का प्रकीर्ण मामला सं० 8 अन्य बातों के साथ-साथ यह कहते हुए फाइल किया कि वाद को उसके मूल संख्याक पर रखा जाए क्योंकि उक्त अभिवक्ता संरक्षक की घोर उपेक्षा के कारण वे वाद में प्रतिरक्षा नहीं कर सकें। यह भी बताया गया कि उनके मामा अब्दुल अजीज को रामानन्द मिश्रा नामक एक व्यक्ति से 9 जनवरी, 1977 को यह पता चला कि वाद एकपक्षीय डिक्री कर दिया गया था। 11 फरवरी, 1977 को 1977 का उपर्युक्त प्रकीर्ण मामला सं० 8 फाइल किया गया था।

4. पिटीशनरों ने प्रकीर्ण मामले का विरोध किया और यह दलील दी कि चूंकि प्रकीर्ण मामला वाद-मित्र द्वारा फाइल किया गया था इसलिए चलाए जाने योग्य नहीं था और यह कि प्रकीर्ण मामला परिसीमा से वर्जित था। विद्वान् मुन्सिफ ने यह अभिनिर्धारित किया कि मामला चलाए जाने योग्य था परन्तु उसने यह पाया कि वह परिसीमा अवधि के पश्चात् फाइल किया गया था और इसलिए उसने इसे खारिज कर दिया। विरोधी पक्षकार सं० 1 और 2 ने 1978 की प्रकीर्ण अपील सं० 15 फाइल की थी और पुरनिया के तृतीय अपर अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा इसका निपटारा किया गया। पक्षकारों को सुनने के पश्चात् विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि मूल न्यायालय द्वारा की गई थी क्योंकि न्यायालय द्वारा संरक्षक अभिवक्ता की नियुक्ति विधितः नहीं की गई थी और इसलिए परिसीमा संबंधी प्रश्न उद्भूत नहीं होता था। इसलिए प्रकीर्ण अपील मंजूर कर ली गई और 1968 के हक वाद सं० 290 में पारित एकपक्षीय डिक्री अपास्त कर दी गई।

5. पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री दास ने यह दलील दी कि प्रकीर्ण मामला परिसीमा से वर्जित था और निचले विद्वान् न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके गलती की है कि इस मामले में परिसीमा

संबंधी प्रश्न उद्‌भूत नहीं होता था। उसने यह दलील भी दी कि अवयस्कों के वाद-मित्र और मामा, मोहम्मद अजीज द्वारा फाइल किया गया वाद चलने योग्य नहीं है।

6. हमने ऊपर यह बताया है कि वादियों के दोनों अवयस्कों को उनकी माता के संरक्षण में रखा था। परन्तु उनकी ओर से उसने वाद में कोई कदम नहीं उठाया। उसके पश्चात् ही न्यायालय ने अवयस्कों का प्रतिनिधित्व करने के लिए भोलानाथ बर्मन नामक अभिवक्ता-संरक्षक को नियुक्त किया। सिविल प्रक्रिया संहिता (जिसे इसमें इसके पश्चात् संहिता कहा गया है) के आदेश 32, नियम 3(4) में यह उपबंध किया गया है कि "कोई भी आदेश इस नियम के अधीन किए गए आवेदन पर तब के सिवाय नहीं किया जाएगा जबकि अवयस्क के किसी ऐसे संरक्षक को, जो ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित किया गया है जो इस निमित्त सक्षम है या जहां ऐसा संरक्षक नहीं है वहां अवयस्क के पिता को या जहां पिता नहीं हैं वहां माता को या जहां पिता या माता नहीं हैं वहां अन्य नैसर्गिक संरक्षक को या जहां पिता, माता या अन्य नैसर्गिक संरक्षक नहीं हैं वहां उस व्यक्ति को, जिसकी देख-रेख में अवयस्क है, सूचना दी गई है और जिस किसी व्यक्ति पर इस उपनियम के अधीन सूचना की तामील की गई है उस व्यक्ति की ओर से किया गया कोई भी आक्षेप सुन लिया गया है।" अभिलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं हैं जिससे यह दर्शित हो कि अवयस्कों की माता संरक्षक को इस आशय का नोटिस दिया गया था कि वह इस बात का कारण बताए कि अवयस्कों की ओर से वाद में रुचि न लेने के कारण क्यों न उसे उन्मोचित कर दिया जाए। जो कुछ हुआ वह यह था कि जब न्यायालय ने यह पाया कि माता किसी प्रकार की रुचि नहीं ले रही है तो उन्होंने सीधे ही अभिवक्ता-संरक्षक की अवयस्कों का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्ति कर दी। विद्वान् मुन्सिफ ऐसा नहीं कर सकता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह माता को इस आशय का नोटिस देता कि वह यह बताये कि क्यों न उसे वाद में रुचि न लेने के कारण उन्मोचित कर दिया जाए। संहिता के आदेश 32, नियम 3(4) में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार कार्य न करने के कारण अभिवक्ता-संरक्षक की नियुक्ति अवैध हो गई है। विचारण न्यायालय इस उपधारणा के अनुसार अग्रसर हुआ कि अभिवक्ता-संरक्षक की उचित नोटिस की तामील की गई थी और चूंकि अभिवक्ता-संरक्षक मामले में रुचि नहीं ले रहा था इसलिए अवयस्कों के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री पारित कर दी गई थी। ऐसे मामले में जहां पर अभिवक्ता-संरक्षक की नियुक्ति ही अवैध थी, वहां पर उसको जारी किए गए नोटिस के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह वैध

नोटिस था। इसलिए यह स्पष्ट रूप से अवयस्कों को नोटिस न दिए जाने का मामला है। संहिता के आदेश 9, नियम 13 में यह उपबन्धित है कि यदि न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि समन की तामील सम्यक् रूप से नहीं की गई थी या वह वाद की सुनवाई के लिए पुकार होने पर उपसंजात होने से किसी पर्याप्त हेतुक से निवारित रहा था तो न्यायालय इस निमित्त दिए गए किसी आवेदन के आधार पर डिक्री को अपास्त कर सकता है। प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में यह पता लगाना होगा कि अवयस्कों पर नोटिस की तामील नहीं की गई थी और वे वाद की सुनवाई में उपसंजात होने से निवारित हो गए थे। ऐसी परिस्थिति में विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने में ठीक था।

7. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि संहिता के आदेश 9, नियम 13 अवयस्कों के लिए उचित उपचार नहीं था और उन्हें डिक्री को अपास्त करने के लिए वाद फाइल करना था। उसने इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश के **रामबदन राय और अन्य** बनाम **पल्टन पासवान और अन्य**[1] वाले विनिश्चय का अवलम्ब लिया। यह मामला पूरी तरह से प्रतिवेदित नहीं किया गया है और न ही प्रतिवेदन में इसका मामला संख्या दिया गया है। इससे यह पता चलता है कि उस मामले में जहां पर अवयस्क का प्रतिनिधित्व ठीक ढंग से नहीं हुआ था और एकपक्षीय डिक्री पारित की गई थी वहां पर संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन एकपक्षीय डिक्री को अपास्त करने के लिए अवयस्कों की ओर से दिए गए आवेदन चलने योग्य नहीं हैं। पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल द्वारा हमारा ध्यान इस न्यायालय की एक और खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय की ओर दिलाया गया। वह **हरीहर प्रसाद सिंह** बनाम **बाबू इदल सिंह**[2] वाला मामला है जिसमें इससे विपरीत मत व्यक्त किया गया था। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अवयस्क संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन देकर उपचार प्राप्त कर सकता था। हमारे विचार से जहां पर अवयस्क को उचित ढंग से नोटिस की तामील नहीं की गई है और अवयस्क पर्याप्त कारणों से वाद में उपसंजात होने से निवारित हो गया था, उस स्थिति में भी संहिता का आदेश 9, नियम 13 उचित उपचार प्रदान करता है। उसके लिए एक और भी उपचार उपलब्ध है परन्तु संहिता के आदेश 9, नियम 13 ऐसी परिस्थितियों में लागू होने से विवर्जित नहीं हो गया है।

---

1 1977 बी० बी० सी० जे० पृ० 4.

2 2 पटना ला टाइम्स 11.

8. अगली दलील यह दी गई थी कि संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन दिया गया आवेदन परिसीमा से वर्जित था। परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 123 में यह उपवन्धित है कि एकपक्षीय पारित डिक्री को अपास्त करने के लिए 30 दिन के अन्दर आवेदन देना होता है। विद्वान् विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी साक्षी 4, मोहम्मद अज़ीज की प्रतिपरीक्षा के पैरा 7 की ओर निर्देश करते हुए यह कहा कि उसे एकपक्षीय डिक्री के बारे में संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन दिए जाने से कम से कम 4 माह पूर्व पता चल गया था। अपीलार्थी साक्षी 4 ने अपनी मुख्य परीक्षा के पैरा 2 में यह कहा है कि उसे 9 फरवरी, 1978 से, जब न्यायालय में उसका साक्ष्य लिया गया था, 13 माह पूर्व उसे एकपक्षीय डिक्री के बारे में मालूम हुआ था। उसकी प्रतिपरीक्षा के पैरा 7 में साक्षी ने यह कहा कि यह सही है कि एकपक्षीय डिक्री के बारे में मालूम होने के 4 माह पश्चात् वह न्यायालय में आया था। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान् मुन्सिफ ने अपील साक्षी 4 के साक्ष्य को गलत पढ़ा है और उसका ठीक ढंग से मूल्यांकन नहीं किया है। साक्षी ने यह कहा था कि उसे 9 फरवरी, 1978 से 13 माह पूर्व एकपक्षीय डिक्री के बारे में मालूम हुआ था। इस प्रकार वह जनवरी, 1977 की बात है। आवेदन में यह अभिकथन किया गया था कि इस जानकारी की तारीख 9 जनवरी, 1977 है। यह सुस्थापित है कि संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन एकपक्षीय डिक्री के बारे में मालूम होने के 30 दिनों के भीतर भी आवेदन दिया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आवेदन एकपक्षीय डिक्री के पारित होने की जानकारी प्राप्त होने के 30 दिनों के भीतर फाइल किया गया था। हमारे विचार से यह आवेदन परिसीमा से वर्जित नहीं था और विद्वान् मुन्सिफ ने अपील साक्षी 4 के साक्ष्य का गलत मूल्यांकन करके गलत निष्कर्ष निकाला है। हमारा यह मत है कि विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने प्रकीर्ण अपील को ठीक ही मंजूर किया था और विद्वान् मुन्सिफ द्वारा पारित एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कर दिया था।

9. परिणामस्वरूप यह आवेदन खारिज किया गया है। किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

पुनरीक्षण आवेदन खारिज किया गया।

खन्ना/चन्द

नि० प० 1984 : पटना—79

वासुदेव राय और अन्य बनाम अल्तान राय और अन्य

(Basudev Rai and others *Vs.* Altan Rai and others)

तारीख 15 फरवरी, 1984

[न्या० सत्य व्रत सान्याल और उदय सिन्हा]

बिहार लैंड रिफार्म्स (फिक्सेशन ऑफ सीलिंग एरिया एण्ड एक्वीजीशन आफ सरप्लस लैंड) ऐक्ट, 1961—धारा 16 सपठित भारतीय रजिस्ट्रीकरण की धारा 18—किसी दस्तावेज का अंतरण और उसका भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकरण धारा 16 के विभिन्न उपबंधों तथा अधिक विशेष रूप से धारा 16(3)(i) के उपबंधों के प्रवर्तन के प्रयोजनार्थ अधिनियम की धारा 16 का एक अविभाज्य अंग है—संगत अर्थान्वयन का नियम—किसी कानून के उपबंधों का अर्थान्वयन संगत रूप से किया जाना चाहिए ताकि विधानमण्डल का सही आशय अभिनिश्चित किया जा सके—न्यायालय को ऐसा निर्वचन करने से बचना चाहिए जो कानून के दो उपबन्धों में विरोध उत्पन्न करता हो ।

पिटीशनरों ने 14 अप्रैल, 1971 के दो विक्रय-विलेखों के माध्यम से ग्राम सिवाईसिंहपुर, जिला समस्तीपुर के खाता सं० 337 से संबंधित भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1433 में से 12 कट्टा और 1 कट्टा, 15 धुर भूमि अर्जित की थी। इन विक्रय विलेखों का भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकरण 5 मई, 1971 को हुआ था। प्रत्यर्थियों ने 2 जून, 1971 को अधिनियम की धारा 16(3) के अधीन दो आवेदन, जिन पर सीलिंग केस सं० 1971 की 9 (12 कट्टा) और सीलिंग केस सं० 1971 की 10 (1 कट्टा, 15 धुर) पड़ी थीं, फाइल किए थे। पिटीशनरों ने कारण बताओ नोटिस के उत्तर में यह तथ्य प्रकट किया था कि सीलिंग केसों के फाइल किए जाने से पूर्व उन्होंने भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1432 की भूमि में से 5 धुर भूमि मौखिक विक्रय द्वारा अर्जित कर ली थी। अतः उनके पार्श्वस्थ रैयत होने के कारण प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए केस पोषणीय नहीं हैं। पुनरीक्षण सर्वेक्षण के दौरान भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1432 में से 3 प्लाट काटे गए थे और उनकी संख्याएं 3252, 3253 और 3251 पु० सं० हैं। प्रत्यर्थी पु० सं० प्लाट सं० 3252 और 3253 के निश्चित रूप से स्वामी हैं। प्रत्यर्थी का अग्रक्रयाधिकार संबंधी आवेदन उप-कलक्टर भूमि सुधार तथा अपर कलक्टर, दोनों, के न्यायालयों में असफल हो गया था। उसके विरुद्ध प्रत्यर्थियों ने सदस्य राजस्व बोर्ड के समक्ष

दो पुनरीक्षण आवेदन सं० 448/74 और 449/74 फाइल किए थे। तथापि, राजस्व बोर्ड की राय यह थी कि चूंकि क्रेता ने अग्रक्रयाधिकार संबंधी आवेदन को फाइल करने से पूर्व अपनी पार्श्वस्थता को न्यायोचित ठहराने के लिए मौखिक विक्रय अपने दावे का आधार बनाया है और धारा 16 के अधीन मौखिक विक्रय की अवेक्षा नहीं की जा सकती अतः उसके कारण अग्रक्रयाधिकार का दावा विफल नहीं हो सकता। अतः क्रेताओं ने अग्रक्रयाधिकार संबंधी तारीख 2 जून, 1971 के आवेदन के फाइल किए जाने से पूर्व पार्श्वस्थ प्लाट के 25 अप्रैल, 1971 के अपने मौखिक क्रय की संगणना करने से इनकार करने वाले सदस्य, राजस्व बोर्ड के विनिश्चय पर आक्षेप करते हुए दो रिट पिटीशन फाइल किए थे।

पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री बलभद्र सिंह ने यह निवेदन किया था कि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 54 के अधीन 100.00 रुपये से कम मूल्य की मूर्त स्थावर संपत्ति का अंतरण परिदान मात्र से किया जा सकता है। विधि में यह अपेक्षित नहीं है कि ऐसा अंतरण किसी रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा ही किया जाए। यदि ऐसा होता तो धारा केवल यही कथन करके रुक जाती कि "किसी भूमि के अंतरण, विनिमय, पट्टा, बंधक, विरासत अथवा दान का निष्पादन रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के बिना नहीं किया जाएगा" और इसी से विधानमंडल का आशय स्पष्ट हो जाता। परन्तु विधानमंडल का ऐसा आशय न होने के कारण उपधारा में प्रयुक्त परवर्ती शब्द ये हैं: "भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 के अनुसार" यही शब्द तथाकथित उपधारा के निर्वचन के लिए वास्तविक सूत्र प्रदान करते हैं। यदि उसका तर्क स्वीकार नहीं किया जाएगा तो ये शब्द न केवल अनावश्यक हो जाएंगे बल्कि तथाकथित धारा को संपत्ति अंतरण अधिनियम, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, आदि जैसे विभिन्न केन्द्रीय अधिनियमों का विरोधी बना देंगे। ऐसे मामलों में रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 18 के अधीन रजिस्ट्रीकरण वैकल्पिक होता है। रजिस्ट्रीकरण की अपेक्षा करने वाली विधि में इस संबंध में ऐसी स्थिति होने के कारण पिटीशनर द्वारा किए गए मौखिक क्रय की प्रत्यर्थी, अर्थात् अग्रक्रयाधिकारी, को अनुतोष प्रदान करते समय अवैध रूप से उपेक्षा की गई थी।

प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री परमेश्वर प्रसाद ने न्यायालय का ध्यान अधिनियम की धारा 16(2)(iii) की ओर आकर्षित करते हुए यह निवेदन किया था कि अधिनियम की धारा 16 के प्रयोजनार्थ प्रत्येक अंतरण भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के

अनुसार किसी रजिट्रीकरण दस्तावेज के माध्यम से किया जाना चाहिए अन्यथा धारा 16 का मूल प्रयोजन विफल हो जाएगा।

इन परिस्थितियों में न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या तथाकथित मौखिक विक्रय की संगणना के लिए इसका रजिस्ट्रीकरण आवश्यक था।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किए गए।

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल का निवेदन सही नहीं है। "अंतरण" शब्द का निर्वचन अधिनियम के उपबंधों तक ही सीमित रखा जाना है ताकि राजस्व प्राधिकारियों को अधिनियम के उद्देश्यों और उसके विभिन्न उपबंधों का कार्यान्वयन करने में सुविधा रहे। (पैरा 6)

"भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार" नामक शब्द अधिनियम की धारा 16(2)(iii) में सप्रयोजन प्रत्यारोपित किए गए हैं। ये शब्द तनिक भी अनावश्यक नहीं हैं। राजस्व प्राधिकारियों को किसी दस्तावेज के केवल भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किए गए रजिस्ट्रीकरण की अवेक्षा करने की अनुज्ञा प्रदान की गई है, किसी अन्य प्रकार के रजिस्ट्रीकरण की नहीं। यदि तथाकथित धारा में से "भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार" नामक शब्दों का लोप कर दिया जाता तो उसके कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता। (पैरा 8, 9)

किसी अंतरण अथवा विक्रय का संज्ञान तब तक नहीं किया जा सकता जब तक ऐसा अंतरण अथवा विक्रय भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन सम्यक्‌रूपेण रजिस्ट्रीकृत लिखित द्वारा न किया गया हो। परिणामतः पिटीशनरों ने पु० स० प्लाट सं० 3251 में से 50-00 रुपये की राशि के बदले जिस 5 धूर भूमि का मौखिक क्रय किया है उसकी उपेक्षा की जानी है। तथाकथित मौखिक अर्जन प्रत्यर्थियों के अधिकार को, जो किसी पार्श्वस्थ रैयत के अग्रक्रयाधिकारी के अधिकार के समान है, विफल नहीं कर सकता। (पैरा 10)

पैरा

[1979] ए० आई० आर० 1979 पटना 65 : कोशिला देवी बनाम पार्वती देवी (Koshila Devi *Vs.* Parvati Devi); 4

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1781, पृ० 1785 : वी० एस० राइस एंड आयल मिल्स **बनाम** आन्ध्र प्रदेश राज्य (V. S. Rice and Oil Mills *Vs.* The State of Andhra Pradesh); 7

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 244 : हीरा लाल अग्रवाल **बनाम** राम पदारथ सिंह (Hira Lal Agrawal *Vs.* Ram Padarath Singh); 9

[1958] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 255, पृ० 268 : वेंकटरमन देवारू **बनाम** मैसूर राज्य और अन्य (Venktaramana Devaru *Vs.* State of Mysore and others); 7

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 83, पृ० 86 : दर्शन सिंह बलवंत सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Darshan Singh Balwant Singh *Vs.* The State of Punjab) 7

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 2347/76 और 2348/76.

एकल न्यायाधीश द्वारा निर्देश किए जाने पर।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री बलभद्र प्रसाद सिंह, राजेश्वर दयाल और कामेश्वर दयाल

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री परमेश्वर प्रसाद सिन्हा और हरे कृष्ण कुमार

न्यायालय का निर्णय न्या० सत्य व्रत सान्याल ने दिया ।

न्या० सान्याल :

इन दोनों रिट पिटीशनों में विचारार्थ उद्भूत होने वाला प्रश्न यह है कि क्या बिहार लैंड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया एण्ड ऐक्विजीशन आफ सरप्लस लैंड) ऐक्ट, 1961 (जिसे इसमें आगे 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 16 के उपबन्धों के अधीन मौखिक विक्रय संगणनीय है । ये दोनों रिट पिटीशन एकल न्यायाधीश द्वारा निर्देश किए जाने पर इस न्यायपीठ के समक्ष आए हैं । चूंकि इन दोनों रिट पिटीशनों में एक ही मुद्दा अंतर्वलित है,

अतः यह निर्णय संबंधित मामलों पर लागू होगा और उनका निपटारा करेगा।

2. चूंकि मुद्दा अपूर्ण है अतः मैं इस प्रयोजन के लिए केवल आवश्यक तथ्यों का ही उल्लेख करूंगा। पिटीशनर क्रेता हैं। पिटीशनरों ने 14 अप्रैल, 1971 के दो विक्रय विलेखों के माध्यम से ग्राम सिवाई-सिंहपुर, थाना मुहिउद्दीनपुर, जिला समस्तीपुर के खाता सं० 337 से संबंधित भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1433 में से 12 कट्ठा और 1 कट्ठा 15 धूर भूमि अर्जित की थी। तथाकथित विक्रय-विलेखों का भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकरण 5 मई, 1971 को हुआ था। 2 जून, 1971 को अधिनियम की धारा 16(3) के अधीन प्रत्यर्थियों ने दो आवेदन, जिन पर सीलिंग केस सं० 1971 की 9 (12 कट्ठा) और सीलिंग केस सं० 1971 की 10 (1 कट्ठा 15 धूर) पड़ी थीं, फाइल किए थे। तथाकथित दावा इस आधार पर किया गया था कि तथाकथित भूमि भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1432 के पार्श्वस्थ थी। पिटीशनरों ने कारण बताओ नोटिस के उत्तर में यह तथ्य प्रकट किया था कि सीलिंग केसों के फाइल किए जाने से पूर्व उन्होंने 50 रुपये के प्रतिफल के बदले भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1432 की भूमि में से 5 धूर भूमि मौखिक विक्रय द्वारा अर्जित कर ली थी। अतः उनके पार्श्वस्थ रैयत होने के कारण प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए सीलिंग केस पोषणीय नहीं हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि पुनरीक्षण सर्वेक्षण के दौरान भू-कर सर्वेक्षण प्लाट सं० 1432 में से 3 प्लाट काटे गए थे और उनकी संख्याएं 3252, 3253 और 3251 पु० स० हैं। पांच धूर भूमि का मौखिक क्रय पु०स० प्लाट सं० 3251 में से किया गया है। प्रत्यर्थी पु० स० प्लाट सं० 3252 और 3253 के निश्चित रूप से स्वामी हैं। प्रत्यर्थी का अग्रक्रयाधिकार संबंधी आवेदन उप-कलक्टर, भूमि सुधार तथा अपर कलक्टर दोनों के ही न्यायालयों में असफल हो गया था। उसके विरुद्ध प्रत्यर्थियों ने सदस्य, राजस्व बोर्ड के समक्ष दो पुनरीक्षण आवेदन सं० 448/74 और 449/74 फाइल किए थे। तथापि सदस्य, राजस्व बोर्ड की राय यह थी कि चूंकि क्रेता ने अग्रक्रयाधिकार संबंधी आवेदन को फाइल करने से पूर्व अपनी पार्श्वस्थता को न्यायोचित ठहराने के लिए मौखिक विक्रय को अपने दावे का आधार बनाया है और धारा 16 के उपबन्ध के अधीन मौखिक विक्रय की अवेक्षा नहीं की जा सकती, अतः उसके कारण अग्रक्रयाधिकार का दावा निष्फल नहीं हो सकता। सदस्य राजस्व बोर्ड ने इन दोनों पुनरीक्षण पिटीशनरों का निपटारा एक ही निर्णय से किया था। अतः क्रेताओं ने अग्रक्रयाधिकार संबंधी तारीख 2 जून, 1971 के आवेदन के फाइल किए जाने से पूर्व पार्श्वस्थ प्लाट के 25 अप्रैल, 1971 के अपने मौखिक

क्रय की संगणना करने से इनकार करने वाले सदस्य, राजस्व बोर्ड के विनिश्चय पर आक्षेप करते हुए दो रिट पिटीशन फाइल किए हैं।

3. पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री बलभद्र प्रसाद सिंह ने यह निवेदन किया है कि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 54 के अधीन 100.00 रुपए से कम मूल्य की मूर्त स्थावर संपत्ति का अंतरण परिदान मात्र से किया जा सकता है। विधि में यह अपेक्षित नहीं है कि ऐसा अंतरण किसी रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा ही किया जाए। विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया है कि ऐसे मामलों में रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 18 के अधीन रजिस्ट्रीकरण वैकल्पिक होता है। रजिस्ट्रीकरण की अपेक्षा करने वाली विधि में इस संबंध में ऐसी स्थिति होने के कारण पिटीशनर द्वारा किए गए मौखिक क्रय की प्रत्यर्थी अर्थात् अग्रक्रयाधिकारी को अनुतोष प्रदान करते समय अवैध रूप से उपेक्षा की गई थी। अग्रक्रयाधिकार अपने आप में एक बहुत निर्बल अधिकार है। अतः न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह अग्रक्रयाधिकार को मान्य ठहराने में सुस्ती बरते। दूसरी ओर, प्रत्यर्थी, अर्थात् अग्रक्रयाधिकारी, की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री परमेश्वर प्रसाद ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि अधिनियम की धारा 16 के प्रयोजनार्थ प्रत्येक अंतरण भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किसी रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के माध्यम से किया जाना चाहिए और उसने हमारा ध्यान धारा 16(2)(iii) की ओर आकर्षित किया। उसने यह भी तर्क दिया कि ऐसा न किए जाने की स्थिति में धारा 16 का मूल प्रयोजन और उद्देश्य विफल हो जाएगा। विद्वान् काउंसेल ने यह भी निवेदन किया कि प्रस्तुत प्रश्न के विनिर्धारण के लिए यह बात पूर्ण रूप से असंगत है कि अग्रक्रयाधिकारी का अधिकार निर्बल है अथवा नहीं।

4. इस मुद्दे पर विचार करने से पूर्व मैं यह उल्लेख करना चाहूंगा कि इस न्यायालय ने **कौशिला देवी** बनाम **पार्वती देवी**[1] वाले मामले में प्रामाणिक रूप से इस विधि का अधिकथन किया है कि अधिनियम की धारा 16(2)(iii) का उपबन्ध भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम का, जो कि एक केन्द्रीय अधिनियम है, विरोधी नहीं है। वे अपने-अपने क्षेत्र में प्रवर्तित होते हैं। धारा 16(2)(iii) में अंतर्विष्ट उपबन्ध अधिनियम तक ही सीमित हैं। पूर्वोक्त उपबन्ध अधिनियम की सीमा से बाहर लागू नहीं होता। इस अधिनियम का मुख्य प्रयोजन कतिपय उपरैयतों द्वारा रैयत की स्थिति का अर्जन, राज्य द्वारा

---

[1] ए० आई० आर० 1979 पटना 65.

अधिशेष भूमि का अर्जन, चकबन्दी द्वारा भूमि सुधार, भूमि की अधिकतम सीमा से संबंधित प्रतिबन्ध का निर्धारण आदि इस अधिनियम का मुख्य प्रयोजन है। अतः यह अधिनियम संविधान की राज्य सूची की प्रविष्टि सं० 18 के अंतर्गत आता है। चूंकि संघ सूची में ऐसा विषय समाहित नहीं है अतः संविधान का अनुच्छेद 246 लागू नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह समवर्ती सूची की विषयवस्तु नहीं है इसलिए संविधान का अनुच्छेद 254 लागू नहीं होता। अधिनियम के अधीन राजस्व प्राधिकारी अंतरणों की सद्भावी बातों से अथवा अन्यथा मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। न्या० एस० के० झा ने किसी अरजिस्ट्रीकृत विल के संबंध में इस अधिनियम के भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के साथ विरोध के प्रश्न पर विचार करते समय निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "सीलिंग ऐक्ट कृषि भूमि तक परिसीमित है और वह समग्र रूप से जैसा कि पहले मत व्यक्त किया जा चुका है, सातवीं अनुसूची की सूची-II की मद सं० 18 द्वारा राज्य को प्रदत्त शक्तियों के अन्तर्गत आता है। भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम नामक केन्द्रीय अधिनियम, जिसके अन्तर्गत अन्य बातों के साथ-साथ विलों, निर्वसीयतता और उत्तराधिकार का क्षेत्र समाहित है समवर्ती सूची (सूची III) की मद सं० 5 के अन्तर्गत अनन्य रूप से आने वाले विधायन का एक अंग है। अतः ऐसे मामलों में विरोध का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और संविधान के अनुच्छेद 254(2) के सिद्धान्तों का सहारा लेना त्रुटिपूर्ण है।"

इससे यह दर्शित होगा कि राज्य विधानमंडल अधिनियम के प्रयोजनार्थ धारा 16(2)(iii) में उपबंध करने के अधिकार से केवल इसीलिए वंचित नहीं होता था कि संपत्ति अंतरण अधिनियम के उपबंधों के अधीन यह बताया गया है कि 100.00 रुपये से कम मूल्य की संपत्ति के कब्जे के परिदान द्वारा विक्रय की अनुमति रजिस्ट्रीकरण अधिनियम ने प्रदान की है। धारा 16 अधिनियम के अध्याय 5 के अंतर्गत आती है। यह अध्याय भावी अर्जन पर प्रतिबंध के बारे में व्यवहृत होता है। अंतर्वलित प्रश्न के उचित मूल्यांकन के लिए मैंने अधिनियम का सुसंगत उपबंध निष्कर्षित किया है जिसकी भाषा निम्नलिखित है :—

***अंतरण आदि द्वारा भावी अर्जन की बाबत निर्बन्ध :**

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"*Restriction on future acquisition by transfer etc ;*

(1) इस अधिनियम के आरंभ होने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति स्वयं अथवा किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से किसी ऐसी भूमि को अंतरण, विनिमय, पट्टे, बंधक, करार अथवा व्यवस्थापन द्वारा अर्जित नहीं करेगा अथवा कब्जे में नहीं लेगा जो उसके द्वारा पहले से धारित किसी भूमि को मिलाकर भूमि की अधिकतम सीमा से अधिक हो जाएगी।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनार्थ 'अंतरण' में विरासत, वसीयत अथवा दान सम्मिलित नहीं हैं।

(2)(i) इस अधिनियम के आरंभ होने के पश्चात् किसी ऐसी दस्तावेज का जिसमें अंतरण, विनिमय, पट्टे, बंधक, करार अथवा व्यवस्थापन द्वारा किसी भूमि के अर्जन अथवा कब्जे का संव्यवहार समाविष्ट हो, रजिस्ट्रीकरण तब तक नहीं किया जाएगा जब तक अंतरिती ने राज्य में कहीं भी स्वयं अपने द्वारा अथवा किन्हीं अन्य व्यक्तियों के माध्यम से धारित भूमि के कुल क्षेत्रफल के बारे में भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) के अधीन सम्यक्रूपेण सत्यापित की गई लिखित घोषणा न की हो और उसे

---

(1) No person shall after the commencement of this Act, either by himself or through any other person, acquire or possess by transfer or settlement any land which together with the land, if any, already held by him exceeds in the aggregate the ceiling area।

Explanation :—For the purposes of this section 'transfer' does not include inheritance, bequest or gift.

(2) (i) After the commencement of this Act, no document incorporating any transaction for acquisition or possession of any land by way of transfer, exchange, lease, mortgage, agreement or settlement shall be registered, unless a declaration in writing duly verified is made and filed by the transferee before the registering authority under the Indian Registration Act, 1908 (XVI of 1908), as to the total area of land held by himself or through

रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के समक्ष फाइल न कर दिया हो।

(ii) यदि खंड (1) के अधीन की गई घोषणा से यह प्रतीत होता है कि संबंधित संव्यवहार उपधारा (i) के उपबंध का उल्लंघन करते हुए किया गया है तो कोई भी रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी ऐसे संव्यवहार के साक्ष्य स्वरूप प्रस्तुत की गई दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण नहीं करेगा।

(iii) भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकृत संबंधित दस्तावेज के बिना किसी भूमि का अंतरण, विनिमय, पट्टा, बंधक, वसीयत अथवा दान नहीं किया जाएगा।

स्पष्टीकरण :—इस उपधारा में कही गई कोई भी बात संबंधित क्षेत्र की अंतरण, विनिमय, पट्टा, बंधक, करार अथवा व्यवस्थापन संबंधी अभिधृति विधि के उपबंधों को किसी भी रूप से प्रभावित नहीं करेगी।

3(i) यदि इस अधिनियम के आरंभ होने के पश्चात् भूमि का अंतरण पार्श्वस्थ भूमि के किसी सहअंशधारी अथवा रैयत से भिन्न किसी व्यक्ति को किया जाएगा तो अंतरक का कोई सहअंशधारी अथवा अंतरित भूमि की पार्श्वस्थ भूमि का धारक कोई रैयत अंतरण की

---

any other persons any where in the State.

(ii) No such registering authority shall register any document evidencing any transaction if, from the declaration made under clause (1) it appears that the transaction has been affected in contravention of the provisions of sub-section (i).

(iii) No land shall be transferred, exchanged, leased, mortgaged, bequeathed or gifted without a document registered in accordance with the provisions of the Indian Registration Act, 1908 (XVI of 1908).

Explanation :-- Nothing in this sub-section shall be deemed to have any effect on the provisions of the tetnancy law of the area relating to transfer, exchange, lease, mortgage, agreement or settlement.

3(i) When any transfer of land is made after the commencement of this Act to any person other than a co-sharer or a raiyat of adjoining land, any co-sharer of

दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन महीने के भीतर कलक्टर के समक्ष विहित रीति से इस आशय का आवेदन कर सकेगा कि उसे तथाकथित विलेख के निबंधनों और शर्तों पर भूमि का अंतरण किया जाए।"

5. पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल श्री बलभद्र प्रसाद का निवेदन यह है कि न्यायालय को धारा 16(2)(iii) के उपबंध का अर्थान्वियन ऐसी रीति से करना चाहिए जो संपत्ति अंतरण अधिनियम नामक केन्द्रीय अधिनियम की धारा 54 के उपबंधों के अनुरूप हो। यदि ऐसा अर्थान्वयन संभव हो तो न्यायालय को वैसा अर्थान्वयन करने से बचना चाहिए जो तथाकथित उपधारा को केन्द्रीय अधिनियम का विरोधी बनाता हो। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार तथाकथित उपधारा का सही निर्वचन यह होगा कि ऐसे अंतरण, जिनके रजिस्ट्रीकरण की अपेक्षा सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 54 में की गई है, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 के उपबंधों के अनुसार होने चाहिए। विद्वान् काउन्सेल ने निवेदन किया है कि तथाकथित उपधारा यह अपेक्षा नहीं करती कि प्रत्येक अंतरण, विनिमय, पट्टा, बंधक, विरासत अथवा दान का निष्पादन किसी रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज द्वारा ही हो। यदि ऐसा होता तो धारा केवल यही कथन करके रुक जाती कि "किसी भूमि के अन्तरण, विनिमय, पट्टा, बंधक, विरासत अथवा दान का निष्पादन रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के बिना नहीं किया जाएगा" और इसी से विधानमंडल का आशय स्पष्ट हो जाता। परन्तु, विधानमंडल का ऐसा आशय न होने के कारण उपधारा में प्रयुक्त परवर्ती शब्द ये हैं: "भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 के उपबंधों के अनुसार"। विद्वान् काउन्सेल ने निवेदन किया है कि ये ही शब्द तथाकथित उपधारा के निर्वचन के लिए वास्तविक सूत्र प्रदान करते हैं। विद्वान् काउन्सेल ने संक्षेप में यह निवेदन किया है कि यदि उसका तर्क स्वीकार नहीं किया जाएगा तो वे शब्द न केवल अनावश्यक हो जायेंगे बल्कि तथाकथित धारा को संपत्ति अंतरण अधिनियम, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, आदि जैसे विभिन्न केन्द्रीय अधिनियमों का विरोधी बना देंगे।

---

the transferor or any raiyat holding land adjoining the land transferred, shall be entitled, within three months of the date of registration of the document of the transfer, to make an application before the collector in the prescribed manner for the transfer of the land to him on the terms and conditions contained in the said deed."

6. मेरे विचार से पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल का यह निवेदन सही नहीं है। मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूं कि यहां विरोध का कोई प्रश्न नहीं है और अधिनियम की धारा 16 में प्रयुक्त 'अंतरण' शब्द के निर्वचन के लिए उस बाधा को ध्यान में रखना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त "अंतरण" शब्द का निर्वचन अधिनियम के उपबंधों तक ही सीमित रखा जाना है ताकि राजस्व प्राधिकारियों को अधिनियम के उद्देश्य और उसके विभिन्न उपबंधों का कार्यान्वयन करने तथा उनकी बाबत न्यायनिर्णयन करने में सुविधा रहे।

7. अर्थान्वयन का सुविख्यात सिद्धांत यह है कि किसी कानून के उपबंधों का अर्थान्वयन संगत रूप से किया जाना चाहिए ताकि विधानमंडल का सही आशय अभिनिश्चित किया जा सके। किसी अधिनियमिति के उपबंधों का निर्वचन, यदि संभव हो, इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह उन सभी पर लागू हो सके। यह संगत अर्थान्वयन का नियम कहलाता है—**वेंकटरमन देवारु** बनाम **मैसूर राज्य और अन्य**[1] देखिए। न्यायालय को ऐसा निर्वचन करने से बचना चाहिए जो कानून के दो उपबंधों में विरोध उत्पन्न करता हो। अर्थान्वयन का सामान्य नियम यह है कि न्यायालय को पक्षकारों के मध्य विवादग्रस्त किसी अलग विशेष उपबंध पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करना चाहिए बल्कि उसे ऐसे उपबंध पर विचार उसकी उचित व्यवस्था और अधिनियम के अन्य उपबंधों तथा उसकी सामान्य स्कीम और प्रयोजन का ध्यान रखते हुए करना चाहिए—**वी० एस० राइस एण्ड आयल मिल्स** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[2] देखिए। एकल वाक्य और एकल उपबंध का चयन करके उनका अर्थान्वयन संदर्भ से हटकर न किया जाए बल्कि उनका पठन एक साथ किया जाना चाहिए—**दर्शन सिंह बलवंत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[3]। संक्षेप में जब न्यायालय किसी धारा में प्रयुक्त शब्दों का अर्थान्वयन करे तो वह कानून के ऐसे अन्य उपबंधों पर भी ध्यान दे जो उन पर प्रकाश डालते हों।

8. कानून के निर्वचन की विधि के पूर्वोक्त सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए अब मैं अधिनियम की धारा 16 के क्षेत्र की बाबत विचार करूंगा। धारा 16(1) किसी ऐसी भूमि के अर्जन को निर्बन्धित करती है जिसे मिलाकर भूमि की अधिकतम सीमा बढ़ जाती है। यह धारा दो रूपों में प्रवर्तित होगी।

---

1 ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 255, पृ० 268.
2 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1781, पृ० 1785.
3 ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 83, पृ० 86.

संभव है कि कोई व्यक्ति अधिकतम सीमा के अंतर्गत रहने के उद्देश्य से भूमि के आधिक्य का व्ययन करने की कोशिश करे और कुछ ऐसे व्यक्तियों की, जिनके पास अधिकतम सीमा से कम भूमि है, रुचि अधिकतम सीमा तक भूमि का अर्जन करने में हो। यह भी संभव है कि ऐसे व्यक्ति बेनामी संव्यवहार और फर्जी संव्यवहार करके अपनी भूधृतियों का समायोजन करने के लिए अनुचित साधन इस्तेमाल करें। ऐसा विक्रय और अर्जन सद्भावी न होकर केवल अधिनियम के उपबंधों को विफल करने वाला होगा। धारा 16(2)(i) अंतरितियों से यह अपेक्षा करती है कि वे अपने द्वारा अथवा किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से धारित भूमि के कुल क्षेत्रफल के बारे में रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के समक्ष एक सम्यक्‌रूपेण सत्यापित लिखित घोषणा करें। धारा 16(2)(ii) रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को किसी ऐसे दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण करने से रोकती है जो किसी ऐसे संव्यवहार का प्रमाण है जो धारा 16(1) के उपबंधों का उल्लंघन करते हुए किया गया है। धारा 16(2)(ii) यह कथन करती है कि किसी भूमि का अंतरण, विनिमय, पट्टा भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किसी रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के बिना नहीं किया जाएगा। धारा 16(3)(i) किसी पार्श्वस्थ रैयत और सह-अंशधारी को अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् किन्हीं व्यक्तियों द्वारा निष्पादित भूमि के अंतरण विलेख में अंतर्विष्ट निबन्धनों और शर्तों पर अग्रक्रयाधिकार का दावा प्रदान करने का अधिकार प्रदान करती है बशर्ते कि ऐसा दावा अंतरण संबंधी दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन महीनों के भीतर किया गया हो। धारा 16(3)(iii) कलक्टर से, उस स्थिति में जब वह किसी ऐसे आवेदन को मंजूर कर लेता है, यह अपेक्षा करती है कि वह अंतरिती को यह निदेश दे कि वह अंतरण दस्तावेज निष्पादित करके और उसका रजिस्ट्रीकरण कराके आवेदक के पक्ष में भूमि का हस्तांतरण कर दे। इस प्रकार धारा 16 के सभी उपबंधों का एक साथ पठन करके मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि किसी दस्तावेज का भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन यथा अपेक्षित निष्पादन और रजिस्ट्रीकरण तथाकथित धारा के विभिन्न उपबंधों के प्रवर्तन के लिए एक अनिवार्य शर्त है। यदि मौखिक विक्रय की अनुज्ञा प्रदान कर दी जाएगी तो अग्रक्रयाधिकारी को अन्तरण की तारीख से तीन महीने के भीतर अधिनियम की धारा 16(3) के अधीन दावा फाइल कर सकने के लिए यह पता ही नहीं चलेगा कि अंतरण कब किया गया था? यदि पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा प्रस्तुत किया गया तर्क सही है तो मौखिक विक्रय अग्रक्रयाधिकार के दावे के क्षेत्र से बाहर हो जाएगा। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि अग्रक्रयाधिकार

का प्रयोग अंतरण दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन महीनों के भीतर ही किया जा सकता है। चूंकि मौखिक विक्रय के मामले में न तो कोई अंतरण दस्तावेज होगा और न ही कोई रजिस्ट्रीकरण होगा इसलिए अग्रक्रयाधिकारी अग्रक्रयाधिकार का दावा करने का हकदार नहीं होगा। हमें किसी मौखिक विक्रय और अंतरण विलेख द्वारा विक्रय के संबंध में अग्रक्रयाधिकार को मंजूरी न देने का कोई युक्तियुक्त वर्गीकरण दिखाई नहीं देता। तथाकथित धारा अंतरिती और रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी पर कुछ ऐसे कर्त्तव्य भी अधिरोपित करती है जिनका पालन उन्हें अंतरण दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण के समय करना होता है। अधिनियम की बाधा केवल ऐसे दस्तावेजों पर लागू होती है जो अधिनियम के आरंभ होने के पश्चात् अस्तित्वशील बनते हैं। मेरी राय में "भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार" नामक शब्द अधिनियम की धारा 16(2)(iii) में सप्रयोजन प्रत्यारोपित किए गए हैं। ये शब्द तनिक भी अनावश्यक नहीं हैं। राजस्व प्राधिकारियों को किसी दस्तावेज के केवल भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार किए गए रजिस्ट्रीकरण की अवेक्षा करने की अनुज्ञा प्रदान की गई है किसी अन्य प्रकार के रजिस्ट्रीकरण की नहीं।

9. यदि तथाकथित उपधारा में से "भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार" नामक शब्दों का लोप कर दिया जाता तो उसके कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता। शब्दकोश में "रजिस्टर" शब्द का जो अर्थ दिया गया है वह यह है : किसी विशेष रजिस्टर में किसी दस्तावेज की औपचारिक प्रविष्टि करना। प्रश्न यह है कि ऐसी प्रविष्टि किस रजिस्टर में की जाए। संभवतः ऐसा रजिस्टर भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रखे जाने वाला रजिस्टर न हो। भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम में रजिस्ट्रीकरण का तरीका और रीति तथा वह समय अधिकथित है जब कोई दस्तावेज रजिस्ट्रीकृत कहा जाता है। **हीरा लाल अग्रवाल** बनाम **राम पदारथ सिंह**[1] वाले मामले में यह अधिकथित किया गया था कि अग्रक्रयाधिकारी को पुनः हस्तांतरण का अधिकार अंतरण के रजिस्ट्रीकरण की पूर्णता की तारीख को ही प्रोद्भूत होता है। तथाकथित मामले में यह प्रश्न उद्भूत हुआ था कि अधिनियम की धारा 16(3)(i) के अधीन अग्रक्रयाधिकार संबंधी आवेदन प्रस्तुत करने का वाद हेतुक कब उत्पन्न होता है अथवा दूसरे शब्दों में, तब, जब भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकरण पूर्ण हो जाता है अथवा उस

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 244.

दिन जब रजिस्टर में प्रविष्टि कर दी जाती है, अथवा जब भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रखे जाने वाले रजिस्टर में भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 61 के अनुसार संबंधित दस्तावेज की नकल उतार दी जाती है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि किसी दस्तावेज का अंतरण और उसका भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकरण धारा 16 के विभिन्न उपबंधों तथा अधिक विशेष रूप से धारा 16(3)(i) के उपबंधों के प्रवर्तन के प्रयोजनार्थ अधिनियम की धारा 16 का एक अविभाज्य अंग है। तथापि मैं यह कथन करने में शीघ्रता करूंगा कि अधिनियम की धारा 16 के प्रयोजनार्थ भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन अंतरण का रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य है। तथाकथित धारा के प्रयोजनार्थ तथाकथित तरीके से किए गए अंतरण से भिन्न अंतरण मान्य नहीं हो सकता। मैंने ऐसा कथन इसलिए किया है क्योंकि अन्य धारायें, विशेष रूप से धारा 5 की उपधारा (1)(iii) यह आदिष्ट करती हैं कि तथाकथित धारा के प्रयोजनार्थ किसी रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा किए गए अंतरण से भिन्न अंतरण का संज्ञान किया जाए।

10. अतः मुझे पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल के तर्क में कोई सार दिखाई नहीं देता। मैं स्वयं को यह अभिनिर्धारित करने के लिए प्रेरित नहीं पाता कि राजस्व प्राधिकारी अधिनियम की धारा 16 के प्रयोजनार्थ मौखिक विक्रय की अवेक्षा कर सकते हैं। किसी अंतरण अथवा विक्रय का संज्ञान तब तक नहीं किया जा सकता जब तक ऐसा अंतरण अथवा विक्रय भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन सम्यक्रुपेण रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा न किया गया हो। परिणामतः पिटीशनरों ने पु० सं० प्लाट सं० 3251 में से 50.00 रुपए की राशि के बदले जिस 5 धूर भूमि का मौखिक क्रय किया है उसकी उपेक्षा की जानी है। तथाकथित मौखिक अर्जन प्रत्यर्थियों के अधिकार को, जो किसी पार्श्वस्थ रैयत के अग्रक्रयाधिकारी के समाने है, विफल नहीं कर सकता।

11. परिणामतः ये दोनों रिट पिटीशन असफल होते हैं और तदनुसार खारिज किए जाते हैं। अपर सदस्य राजस्व बोर्ड के प्रत्यर्थी के अग्रक्रयाधिकार के दावे को मन्जूर करने वाले विनिश्चय की पुष्टि की जाती है। उप-कलक्टर भूमि सुधार को निदेश दिया जाता है कि वह अंतरिती को यह निदेश दे कि वह उसके द्वारा विनिर्दिष्ट समय के भीतर रजिस्ट्रीकृत अंतरण दस्तावेज का निष्पादन करके आवेदक के पक्ष में भूमि का हस्तांतरण कर दे। तथापि इस

मामले में खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं होगा।

न्या० उदय सिन्हा :

मैं सहमत हूं।

रिट पिटीशन खारिज किए गए।

अशोक

नि० प० 1984 : पटना—93

अजीमुद्दीन मियां और अन्य बनाम मदीना खातून और अन्य

(Azimuddin Mian and others *Vs*. Madine Khatoon and others)

तारीख 5 दिसम्बर, 1983

[न्या० ए० के० सिन्हा]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—धारा 24(1)(क)—जिला न्यायाधीश के न्यायालय में अपील का फाइल किया जाना—जिला न्यायाधीश द्वारा स्वप्रेरणा से अपील को अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अन्तरित किया जाना और पक्षकारों या उनके वकीलों को ऐसे अन्तरण के बारे में कोई सूचना (नोटिस) जारी न किया जाना—यदि जिला न्यायाधीश द्वारा स्वप्रेरणा से अपील का अधीनस्थ न्यायाधीश को अन्तरण करते हुए न तो पक्षकारों को या उनके वकीलों को कोई सूचना जारी नहीं की जाती है तो वादी के पक्ष में निचले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री में हस्तक्षेप किया जा सकता है।

2. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 32, नियम 3—उक्त आदेश 32, नियम 3 के उपबन्ध आज्ञापक हैं और यदि अवयस्क प्रत्यर्थियों का किसी कार्यवाही में उचित रूप से प्रतिनिधित्व न किया गया हो तो अवयस्क के विरुद्ध दिया गया निर्णय या पारित किया गया आदेश अधिकारितारहित, अकृत्य और शून्य होगा।

जब वादी ने निचले अपील न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की थी तो मूल रूप से इसे गया के जिला न्यायाधीश के समक्ष फाइल किया गया था। 4 अप्रैल, 1974 को गया के विद्वान् जिला न्यायाधीश ने स्वप्रेरणा से अपील को

जहानाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अंतरित कर दिया था। 30 अप्रैल, 1974 को अंतरिती न्यायालय ने जहानाबाद में अभिलेख प्राप्त किया था। आदेश-पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि गया के जिला न्यायाधीश के न्यायालय से अभिलेख प्राप्त होने के पश्चात् जहानाबाद के अंतरिती न्यायालय से पक्षकारों को कोई सूचना जारी नहीं की गई थी। इसके बजाए 8 फरवरी, 1975 को विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) अपील में हाजिर हुआ था किन्तु कोई अन्य प्रतिवादी-प्रत्यर्थी अपील में हाजिर नहीं हुआ था। निचले अपील न्यायालय ने वादी-अपीलार्थी के विद्वान वकील और विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी संख्या 2) के विद्वान् वकील की सुनवाई की और अपील का निपटारा किया और वाद डिक्री किया गया था। इसके विरुद्ध यह द्वितीय अपील फाइल की गई है। इस अपील में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या जिला न्यायाधीश के न्यायालय द्वारा अपील का अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अंतरण करते समय पक्षकारों या उनके वकीलों को सूचना जारी की जानी चाहिए थी? इस अपील में यह भी प्रश्न विचारार्थ है कि यदि अवयस्क किसी कार्यवाही में उचित रूप से पक्षकार नहीं है तो क्या उनके विरुद्ध पारित निर्णय या आदेश अधिकारितारहित, अकृत्य और शून्य होगा?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

यह सुस्थापित है कि जहां एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में अपील के अंतरण का आदेश किया जाता है तो यह वांछनीय है कि प्रत्येक मामले में पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों को सूचना (नोटिस) दी जानी चाहिए। यदि अपील का बिना सूचना के निपटारा किया जाता है या उसे व्यतिक्रम के लिए खारिज किया जाता है या एकपक्षीय डिक्री की जाती है तो पक्षकारों को अंतरण की सूचना के अभाव में अपील की पुनः ग्रहण या अपील की पुनः सुनवाई के लिए पर्याप्त हेतुक गठित करता है। यदि विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) ने केवल यह द्वितीय अपील फाइल की थी तो वह गया के जिला न्यायाधीश के न्यायालय से सूचना के अभाव का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता था क्योंकि यद्यपि पक्षकारों या उनके वकीलों को कोई सूचना नहीं दी गई थी। किन्तु प्रतिवादी सं० 2 अंतरिती न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ था और अपने मामले में तर्क दिया था और निचले अपील न्यायालय में वादी-अपीलार्थियों ने विरोध किया था। किन्तु इस न्यायालय में विरोध करने वाले प्रतिवादी के साथ अन्य प्रतिवादियों, जिसमें प्रतिवादी सं० 10 के अवयस्क सम्मिलित हैं, उनसे मिल गए थे और एक साथ द्वितीय अपील फाइल की थी। इस द्वितीय अपील में अन्य प्रतिवादी भी अपीलार्थी हैं और यह दलील दी गई है कि वादी के

पक्ष में निचले अपील न्यायालय द्वारा पारित डिक्री अंतरक न्यायालय की ओर से सूचना के अभाव के एकमात्र आधार पर हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है। न्यायालय की राय में इस दलील में काफी बल है। यह मात्र दुहराना ही होगा यदि प्रतिवादी सं० 2 (विरोध करने वाला प्रतिवादी) एकमात्र अपीलार्थी होगा, यह मुद्दा उसको उपलब्ध नहीं था क्योंकि वह निचले अपील न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ था और अपने मामले में उसने तर्क दिया था और उसे अवसर मिल गया था और उसको कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता है। अपील के पक्षकार गया के विद्वान् जिला न्यायाधीश के न्यायालय से सूचना के हकदार थे या उनके वकीलों को सूचना दी जानी चाहिए थी। विधि के सुस्थापित सिद्धांतों पर मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों में काफी बल है और निचले अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री केवल इसी आधार पर अपास्त किए जाने योग्य हैं। (पैरा 11, 12, 13)

स्वीकृततः निचले अपील न्यायालय ने भी अवयस्क प्रत्यर्थियों (प्रतिवादी सं० 10) के वारिसों के लिए वादार्थ कोई संरक्षक नियुक्त किए बिना अपील में कार्यवाही की थी। उनकी मां, नैसर्गिक संरक्षक ने भी निचले अपील न्यायालय के समक्ष उनके मामले में प्रतिनिधित्व नहीं किया था। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के उपबंध आज्ञापक हैं और यदि अवयस्क कार्यवाही में उचित रूप से पक्षकार नहीं है तो दिया गया निर्णय या उसके विरुद्ध पारित किया गया आदेश अधिकारितारहित है और अकृत्य और शून्य है। यद्यपि प्रतिवादी सं० 2 के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति ने वाद का विरोध नहीं किया था फिर भी निचले अपील न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के उपबन्धों के अधीन अपील में कार्यवाही करने से पूर्व अवयस्क प्रत्यर्थियों के संरक्षक के रूप में किसी उचित व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिए था। अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि जब निचले अपील न्यायालय ने वादी की अपील मंजूर कर ली है और विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया है तो इससे अवयस्कों के हित प्रभावित होते हैं जबकि वादी-प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि अवयस्कों के हित के प्रभावित होने का प्रश्न इस मामले में उद्भूत नहीं होता था क्योंकि विरोध करने वाला प्रतिवादी क्रेता के रूप में विवादग्रस्त सम्पत्तियों का अनन्य रूप से दावा कर रहा था और विरोध करने वाले प्रतिवादी ने अन्य सभी प्रतिवादियों को अपने पीछे रखा था और न तो अवयस्क प्रत्यर्थियों का पिता और न ही अवयस्क प्रत्यर्थियों की माता, उनके

नैसर्गिक संरक्षक ने वाद का विरोध किया था और मामले को उस दृष्टि से देखते हुए अवयस्कों के विरुद्ध कोई डिक्री नहीं है और यदि अपील में अवयस्क प्रत्यर्थियों का उचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था तो भी उस आधार पर डिक्री अपास्त नहीं की जा सकती। न्यायालय इस प्रश्न का विनिश्चय करने से अपने आपको अलग रखता है क्योंकि अपील प्रथम मुद्दे पर स्वयं विचार करने के लिए निचले अपील न्यायालय को वापस भेजी जा रही है। (पैरा 14 और 15)

		पैरा
[1977]	1977 का सिविल पुनरीक्षण सं० 1063 : जिसका निपटारा 5 जनवरी, 1980 को किया गया था : भारत संघ **बनाम** वासुदेव नारायण सिंह (Union of India *Vs.* Basudeo Narayan Singh);	11
[1968]	ए० आई० आर० 1968 पटना 439 : हीरा लाल और अन्य **बनाम** बिहार राज्य (Hiralal and others *Vs.* The State of Bihar);	11
[1968]	ए० आई० आर० 1968 पटना 341 (विशेष न्यायपीठ) : राम शुकल पाठक और अन्य **बनाम** केशव प्रसाद सिंह और अन्य (Ram Sukul Pathak and others *Vs.* Kesho Prasad Singh and others)	11

का **अनुसरण** किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1975 की अपील सं० 747.

जहानाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश श्री यूनुस अंसारी के तारीख 28 अगस्त, 1975 के विनिश्चय से अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री मथुरा नाथ रे

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री एस० एस० ए० हुसैन और अब्दुस्सलाम

न्या० ए० के० सिन्हा :

यह द्वितीय अपील उलटने के निर्णय के विरुद्ध मोहम्मद हनीफ (प्रतिवादी सं० 10) के वारिस प्रतिवादी सं० 2 और प्रतिवादी सं० 17 (जिसको तारीख 10 अक्तूबर, 1969 के आदेश द्वारा विचारण न्यायालय में जोड़ा गया था), की गई है।

2. वादी-प्रत्यर्थी सं० 1 ने विभाजन के लिए वाद फाइल किया था और

यह दावा किया था कि वादपत्र की अनुसूची 1 में वर्णित सम्पत्तियों में उसका 4 आने 5-1/21 पैसे का अंश है और वादपत्र की अनुसूची 2 में वर्णित सम्पत्तियों में 11 आने 10-3/4 पैसे का अंश है। अन्य ब्योरों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

3. प्रतिवादियों में से केवल प्रतिवादी सं० 2 ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने वाद का विरोध किया था और लिखित कथन फाइल किया था। विरोध करने वाले प्रतिवादी ने वादी के मामले से इनकार किया था और उसके बदले में उसने यह दलील दी थी कि मोहदी ने अपने जीवन काल के दौरान अर्थात् 40 वर्ष पूर्व मौखिक रूप से अनुसूची 1 की सम्पूर्ण सम्पत्तियों को अपने चार पुत्रों को दान दिया था और अपनी पुत्री मुगलन को नकद राशि संदत्त की थी। उसी समय से मोहदी के चारों पुत्र अनुसूची 1 की सम्पत्तियों की विवादग्रस्त भूमि पर काबिज हुए और मोहदी की पुत्री मुगलन का खाता सं० 54 के अधीन अनुसूची 1 की सम्पत्तियों की विवादग्रस्त भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार से अनुसूची 2 भूमियों के सम्बन्ध में विरोध करने वाले प्रत्यर्थी का मामला यह था कि लुतकू मियां अपनी पत्नी बीबी ईदन का मेहर ऋण के रूप में ऋणी था क्योंकि मेहर का उसको संदाय नहीं किया गया था और इसलिए लगभग 34 वर्ष पूर्व उसने अनुसूची 2 की सम्पत्तियों को दान में दिया था और अनुसूची 1 की सम्पत्तियों में चौथाई अंश अपनी पत्नी ईदन को दिया था जिसने उस दान को स्वीकार कर लिया था और उस पर काबिज हो गई थी। विरोध करने वाले प्रतिवादी के अनुसार उसका भाई और बहन को कुछ नहीं मिला था और इसलिए वादी को अपनी बहिन या लुतकू मियां के भाइयों के वारिसों को क्रय के द्वारा कोई हक अर्जित नहीं हुआ था।

4. यहां पर यह उल्लेख करना अनिवार्य है कि प्रतिवादी सं० 2 विवादग्रस्त सम्पत्तियों के क्रेता के रूप में दावा कर रहा है। विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) ने भी आनुकल्पिक रूप से वादगत भूमियों में प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् किया है।

5. विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया था। वादी द्वारा अपील करने पर वाद डिक्री किया गया था और निचले अपील न्यायालय ने विभाजन के लिए प्राथमिक डिक्री तैयार करने का आदेश दिया था और उसके पश्चात् विभाजन सर्वेक्षण आयुक्त के माध्यम से प्रभावित होना था और जैसा कि आदेश दिया गया था, संयुक्त भूमि को अलग किया जाना था।

6. मोहम्मद हनीफ वाद में प्रतिवादी सं० 10 था। ऐसा प्रतीत होता

है कि मोहम्मद हनीफ की निचले न्यायालय में मृत्यु हो गई थी और उसके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित किया गया था। अपीलार्थी सं० 3, 4, 5, 6 और 7 उसके वारिस और विधिक प्रतिनिधि हैं। अपीलार्थी सं० 3 उसकी विधवा है। अपीलार्थी सं० 4 और 5 उसकी पुत्री है और अपीलार्थी सं० 6 और 7 उसके पुत्र हैं। इन वारिसों में से अपीलार्थी सं० 4, 5, 6 और 7 अप्राप्तव्य हैं और उन्होंने यह द्वितीय अपील अप्राप्तवय के रूप में नैसर्गिक संरक्षक, अपनी माता बीबी हसीना की संरक्षकता के अधीन फाइल की है। उन्होंने अपीलाधीन डिक्री में भी इसी रूप में वर्णित किया गया है।

7. जब वादी ने निचले अपील न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की थी तो मूल रूप से इसे गया के जिला न्यायाधीश के समक्ष फाइल किया गया था। 4 अप्रैल, 1974 को गया के विद्वान् जिला न्यायाधीश ने स्वप्रेरणा से अपील को जहानाबाद के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अंतरित कर दिया था। 30 अप्रैल, 1974 को अंतरिती न्यायालय ने जहानाबाद में अभिलेख प्राप्त किया था। आदेश-पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि गया के जिला न्यायाधीश के न्यायालय से अभिलेख प्राप्त होने के पश्चात् जहानाबाद के अंतरिती न्यायालय से पक्षकारों को कोई सूचना जारी नहीं की गई थी। इसके बजाय 8 फरवरी, 1975 को विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) अपील में उपसंजात हुआ था किन्तु कोई अन्य प्रतिवादी-प्रत्यर्थी अपील में हाजिर नहीं हुआ था। निचले अपील न्यायालय ने वादी-अपीलार्थी के विद्वान् वकील और विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) के विद्वान् वकील की सुनवाई की और अपील का निपटारा किया और वाद डिक्री किया गया था।

8. मैंने पहले ही ऊपर उल्लेख किया है कि केवल प्रतिवादी सं० 2 ही ऐसा व्यक्ति है जिसने लिखित कथन फाइल किया था और उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति ने वाद का विरोध नहीं किया था। निचले अपील न्यायालय में मोहम्मद हनीफ (प्रतिवादी सं० 10) के वारिसों में से कुछ प्रत्यर्थी थे। उन वारिसों में से, जैसाकि पहले ही उल्लेख किया गया है, मोहम्मद हनीफ के दो पुत्र और दो पुत्रियां अप्राप्तवय थे और न तो उनकी माता बीबी हसीना (नैसर्गिक संरक्षक) ने उनके हित का प्रतिनिधित्व किया था और न ही निचले अपील न्यायालय ने उन अप्राप्तवय प्रत्यर्थियों के लिए वादार्थ कोई संरक्षक नियुक्त किया था और निचले अपील न्यायालय ने अप्राप्तवय प्रत्यर्थियों (मोहम्मद हनीफ प्रत्यर्थी 10 के वारिसों) के लिए वादार्थ किसी संरक्षक की नियुक्ति के बिना अपील में कार्यवाही की थी।

9. यद्यपि वाद का केवल प्रत्यर्थी सं० 2 द्वारा विरोध किया गया था फिर भी इस द्वितीय अपील में प्रतिवादी सं० 17 (जिसे विचारण न्यायालय में तारीख 10 अक्तूबर, 1969 के आदेश द्वारा जोड़ा गया था) और मोहम्मद हनीफ (प्रतिवादी सं० 10) के वारिस विरोध करने वाले प्रतिवादियों के साथ मिल गए थे।

10. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने निम्नलिखित दलील दी :—

(i) विद्वान् जिला न्यायाधीश ने, जब उसने जहानाबाद के विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में अपील अंतरित की थी, पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों को कोई सूचना नहीं दी थी और इसलिए अपीलार्थियों को गया के विद्वान् जिला न्यायाधीश के न्यायालय से जहानाबाद के विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में अपील के अंतरण की कोई जानकारी नहीं थी। मामले को उस दृष्टि से देखते हुए निचले अपील न्यायालय (अंतरिती न्यायालय) द्वारा पारित डिक्री अवैध थी और उसमें हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता थी।

(ii) अपील की सुनवाई करते समय निचले अपील न्यायालय ने अप्राप्तवय प्रत्यर्थियों (मोहम्मद हनीफ के वारिसों) के लिए वादार्थ कोई संरक्षक नियुक्त नहीं किया था और न ही उपर्युक्त अप्राप्तवयों का उचित प्रतिनिधित्व न होने के बिना विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को नहीं उलटा जा सकता था।

(iii) निचले अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को उलटते हुए, अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार किसी सारवान साक्ष्य (प्रतिवादी साक्षी 9 के साक्ष्य) पर विचार नहीं किया था जो कि मौखिक दान के प्रश्न पर बहुत ही सारवान था और इसलिए अपीलाधीन निर्णय और डिक्री में इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने की आवश्यकता।

(iv) निचले अपील न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को उलटते हुए विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए तर्क पर विचार नहीं किया था।

(v) प्रतिवादी के दस्तावेज, प्रदर्श 'ख' का निचले अपील न्यायालय द्वारा गलत अर्थान्वयन किया गया था।

मेरी राय में चूंकि, अपील प्रथम मुद्दे पर ही सफल होती है इसलिए अन्य मुद्दों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

11. यह सुस्थापित है कि जहां एक न्यायालय दूसरे न्यायालय में अपील के अंतरण का आदेश करता है तो यह वांछनीय है कि प्रत्येक मामले में पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों को सूचना दी जानी चाहिए। यदि अपील का बिना सूचना के निपटारा किया जाता है, जैसा कि उपर्युक्त है, और व्यतिक्रम के लिए खारिज किया जाता है या एकपक्षीय डिक्री की जाती है तो पक्षकारों को अंतरण की सूचना के अभाव में अपील की पुनः ग्रहण या अपील की पुनः सुनवाई के लिए पर्याप्त हेतुक गठित करता है। **राम शुकल पाठक और अन्य बनाम केशव प्रसाद सिह और अन्य**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश किया जा सकता है। उस मामले में आरा के जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील लम्बित थी। अपील की सुनवाई के लिए नियत तारीख से पूर्व मामला आरा के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय को अंतरित किया गया था। पक्षकारों या उनके वकीलों को अंतरण की सूचना नहीं दी गई थी, यद्यपि अपीलार्थी न्यायालय में हाजिर था। वह अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में हाजिर नहीं हो सकता था जबकि अपील की सुनवाई की गई थी और उसके परिणाम स्वरूप अपील व्यक्तिक्रम के लिए खारिज की गई थी। अपीलार्थी ने वहाली के लिए आवेदन फाइल किया था जो कि अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा नामंजूर किया गया था। अपीलार्थी द्वारा दी गई दलील यह थी कि जिला न्यायाधीश ने मामले को अधीनस्थ न्यायाधीश को अंतरित करते हुए पक्षकारों या उनके वकीलों को इस बारे में सूचित किया जाना चाहिए था कि मामला अंतरित किया गया था। मुख्य न्यायाधीश सरडोसन मीलर, जिसने विशेष न्यायपीठ की ओर से निर्णय दिया था, ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "मुझे ऐसा प्रतीत होता हैं कि इन मामलों में जहां पर अंतरण का आदेश किया जाता है यह वांछनीय होगा कि प्रत्येक मामले में पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों को सूचना दी जाए। ऐसा ही न्यायाधीश ज्वाला प्रसाद के निर्णय में एक पैरा है जिसका इस मुद्दे से सम्बन्ध है जिसके साथ मैं पूर्णतः सहमत हूं। उसने यह कहा :—
>
> "मेरे विचार से ऐसा महत्वपूर्ण आदेश-जैसा कि एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को मामले के अंतरण का आदेश अनिवार्यतः सम्बद्ध व्यक्तियों को संसूचित किया जाना चाहिए और ऐसी संसूचना के रूप में पक्षकारों या उनके अभिवक्ताओं के हस्ताक्षर अभिप्राप्त किए जाने चाहिए कि सूचना संसूचित की गई है।"

[1] ए० आई० आर० 1918 पटना 341 (विशेष न्यायपीठ).

यही सिद्धांत **हीरा लाल और अन्य** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में अपनाया गया था और **भारत संघ** बनाम **वासुदेव नारायण सिंह**[2] वाले मामले में भी।

12. यदि विरोध करने वाले प्रतिवादी (प्रतिवादी सं० 2) ने केवल यह द्वितीय अपील फाइल की थी तो वह गया के जिला न्यायाधीश के न्यायालय से सूचना (नोटिस) के अभाव का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता था क्योंकि यद्यपि पक्षकारों या उनके वकीलों को कोई सूचना नहीं दी गई थी। किन्तु प्रतिवादी सं० 2 अंतरिती न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ था और अपने मामले में तर्क दिया था और निचले अपील न्यायालय में वादी-अपीलार्थियों ने विरोध किया था। किन्तु इस न्यायालय में विरोध करने वाले प्रतिवादी के साथ अन्य प्रतिवादियों, जिसमें मोहम्मद हनीफ (प्रतिवादी सं० 10) के अवयस्क वारिस सम्मिलित हैं, उनसे मिल गए थे और एक साथ द्वितीय अपील फाइल की थी।

13. वादी प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि विद्वान् जिला न्यायाधीश ने स्वप्रेरणा से विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश, जहानाबाद के न्यायालय को अंतरण करते हुए न तो पक्षकारों को या उनके वकीलों को कोई सूचना जारी की थी। इस द्वितीय अपील में अन्य प्रतिवादी भी अपीलार्थी हैं और जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है यह दलील दी गई है कि वादी के पक्ष में निचले अपील न्यायालय द्वारा पारित डिक्री अंतरक न्यायालय की ओर से सूचना के अभाव के एकमात्र आधार पर हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है। मेरी राय में इस दलील में काफी बल है। यह मात्र दुहराना ही होगा यदि प्रतिवादी सं० 2 (विरोध करने वाला प्रतिवादी) एकमात्र अपीलार्थी होगा, यह मुद्दा उसको उपलब्ध नहीं था क्योंकि वह निचले अपील न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ था और अपने मामले में उसने तर्क दिया था और उसे अवसर मिला था और उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। अपील के पक्षकार गया के विद्वान् जिला न्यायाधीश के न्यायालय से सूचना के हकदार थे या उनके वकीलों को सूचना दी जानी चाहिए थी। जैसा कि उपर्युक्त मामलों में पहले ही अधिकथित किया गया है विधि के सुस्थापित सिद्धांतों पर मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों में काफी बल है और निचले अपील

---

[1] ए० आई० आर० 1968 पटना 439.

[2] 1977 का सिविल पुनरीक्षण सं० 1063, जिसका निपटारा 5 जनवरी, 1980 को किया गया था।

न्यायालय के निर्णय और डिक्री केवल इसी आधार पर अपास्त किए जाने योग्य है।

14. स्वीकृततः निचले अपील न्यायालय ने भी अवयस्क प्रत्यर्थियों (प्रतिवादी सं० 10) मोहम्मद हनीफ के वारिसों के लिए वादार्थ कोई संरक्षक नियुक्त किए बिना अपील में कार्यवाही की थी। उनकी मां (बीबी हसीना) नैसर्गिक संरक्षक ने भी निचले अपील न्यायालय के समक्ष उनके मामले में प्रतिनिधित्व नहीं किया था। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के उपबन्ध आज्ञापक हैं और यदि अवयस्क कार्यवाही में उचित रूप से पक्षकार नहीं है तो दिया गया निर्णय या उसके विरुद्ध पारित किया गया आदेश अधिकारितारहित है और अकृत और शून्य है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है यद्यपि प्रतिवादी सं०2 के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति ने वाद का विरोध नहीं किया था फिर भी निचले अपील न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के उपबंधों के अधीन अपील में कार्यवाही करने से पूर्व अवयस्क प्रत्यर्थियों के संरक्षक के रूप में किसी उचित व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिए था।

15. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि जब निचले अपील न्यायालय ने वादी की अपील मंजूर कर दी है और विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त कर दिया है तो इससे अवयस्कों के हित प्रभावित होते हैं जबकि वादी-प्रत्यर्थी सं०1 की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि अवयस्कों के हित के प्रभावित होने का प्रश्न ही इस मामले में उद्भूत नहीं होता था क्योंकि विरोध करने वाला प्रतिवादी क्रेता के रूप में विवादग्रस्त सम्पत्तियों का अनन्य रूप से दावा कर रहा था और विरोध करने वाले प्रतिवादी ने अन्य सभी प्रतिवादियों को अपने पीछे रखा था और न तो मोहम्मद हनीफ (अवयस्क प्रत्यर्थियों का पिता) और न ही बीबी हसीना (अवयस्क प्रत्यर्थियों की माता और उनके नैसर्गिक संरक्षक) ने वाद का विरोध किया था और मामले को उस दृष्टि से देखते हुए अवयस्कों के विरुद्ध कोई डिक्री नहीं है और यदि अपील में अवयस्क प्रत्यर्थियों का उचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था तो भी उस आधार पर डिक्री अपास्त नहीं की जा सकती। मैं इस प्रश्न का विनिश्चय करने से अपने आपको विरत रखता हूं क्योंकि अपील प्रथम मुद्दे पर स्वयं विचार करने के लिए निचले अपील न्यायालय को वापस भेजी जा रही है।

16. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई अन्य दलीलों की चर्चा करने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि अपील प्रथम मुद्दे पर ही सफल होती है।

17. परिणामतः अपील सफल होती है और निचले अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री अपास्त की जाती है। मामला अभिलेख पर पहले से ही उपलब्ध सामग्री पर और विधि के अनुसार पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् अपील का नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए निचले अपील न्यायालय को वापस भेजा जाता है। निचले अपील न्यायालय सभी प्रत्यर्थियों को सूचना भेजेगा। यह अप्राप्तवय प्रत्यर्थियों के लिए वादार्थ संरक्षकों की भी नियुक्ति करेगा यदि अप्राप्तवय प्रत्यर्थियों का उनकी माता बीबी हसीना, उनके संरक्षक के माध्यम से प्रतिनिधित्व नहीं किया जाता है। किन्तु मामले की परिस्थिति में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

18. चूंकि, अपील वर्ष 1972 में फाइल की गई थी और अब तक 11 वर्ष हो चुके हैं और निचले अपील न्यायालय को अपील को उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के अनुसार यथाशीघ्र निपटाने का निदेश दिया जाता है।

अपील मंजूर की गई।

चन्द

नि० प० 1984 : पटना—103

राम अवतार शर्मा बनाम जगदीश राम और अन्य

(Ram Avtar Sharma *Vs.* Jagdish Ram and others)

तारीख 17 जनवरी, 1984

[न्या० एस० के० चौधरी]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 6, नियम 17—यदि किसी वादपत्र के वाद हेतुक में कोई त्रुटि हो तो उसे ठीक करने के लिए संशोधन अनुज्ञात किया जा सकता है किन्तु यदि वादपत्र में कोई वाद हेतुक नहीं है तो नए वाद हेतुक को लाने के लिए संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाएगा।

वादी-पिटीशनर ने तारीख 9 मई, 1968 के अहदनामा के आधार पर संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया था। मूल रूप से वाद में 5 प्रतिवादी थे। प्रतिवादी ने विवादग्रस्त सम्पत्ति वर्ष 1976 में किसी समय खरीदी थी और तद्नुसार वर्ष 1980 में उसको प्रतिवादी सं० 6 के रूप में पक्षकार के रूप में जोड़ा गया था। यह दुर्भाग्य की बात है कि यद्यपि वर्ष 1969

का है, वाद एक या अन्य कारणों से अभी तक सुनवाई के लिए तैयार नहीं हुआ है। इसके पश्चात् प्रतिवादी सं० 6 को जोड़ा गया था और उसने लिखित कथन फाइल किया था। वादपत्र के संशोधन के लिए वादी द्वारा तारीख 23 अप्रैल, 1981 को एक पिटीशन फाइल किया गया था। इस पिटीशन द्वारा वादी-पिटीशनर ने वादपत्र के पैरा सं० 16 के अंत में एक वाक्य जोड़ने की प्रार्थना की थी। इस आवेदन का प्रत्युत्तर प्रतिवादी सं० 6, जो कि इस पुनरीक्षण आवेदन में विरोधी पक्षकार सं० 6 है, द्वारा उक्त पिटीशन का विरोध करते हुए फाइल किया गया था। संशोधन के मामले में दोनों पक्षकारों की सुनवाई की गई थी और उसके पश्चात् संशोधन पिटीशन को नामंजूर करते हुए आक्षेपित आदेश पारित किया गया है। आक्षेपित आदेश से ऐसा प्रतीत होता है कि निचले न्यायालय का यह मत था कि यदि संशोधन अनुज्ञात किया जाता है तो प्रतिवादी को एक मूल्यवान अधिकार, जो कि उसे प्रोद्‌भूत हुआ है, से वंचित किया जाएगा। इस पुनरीक्षण पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि यदि किसी वादपत्र के वाद हेतुक में कोई त्रुटि नहीं है तो क्या नए वाद-हेतुक को लाने के लिए संशोधन अनुज्ञात किया जाएगा ?

अभिनिर्धारित—आवेदन मंजूर किया गया।

वादपत्र में इस प्रकथन के अभाव में कि वादी संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामन्द था। वादी के लिए वाद-हेतुक नहीं था। जैसा कि वादपत्र में उल्लेख किया गया है वाद हेतुक में त्रुटि हो सकती है किन्तु ऐसा मामला भी हो सकता है जहां वादपत्र में कोई वाद-हेतुक न हो। यदि वाद-हेतुक में कोई त्रुटि है तो उसे ठीक करने के लिए संशोधन अनुज्ञात किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई वाद-हेतुक नहीं है तो वाद-हेतुक को लाने के लिए संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। वाद हेतुक अभाव में वादपत्र को नामंजूर किया जाना चाहिए। वादपत्र में पहले ही यह प्रकथन किया गया है कि वादी शुरू से ही संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामन्द है और पैरा 16 के अंत में वादी प्रस्तावित संशोधन जोड़ना चाहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वादपत्र में वाद-हेतुक का कोई प्रकथन नहीं था और यह वाद-हेतुक के बारे में अभिवचनों के सम्पूर्ण अभाव वाला मामला है। उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए निचले न्यायालय के आक्षेपित आदेश को कायम रखना कठिन है। एक अन्य दलील जो कि विरोधी पक्षकार के विद्वान् काउन्सेल ने दी वह यह है कि प्रस्तुत आवेदन को फाइल करने में बहुत अधिक विलम्ब हुआ है। पहले ही इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि प्रतिवादी सं० 6, जो कि इस पुनरीक्षण आवेदन का विरोध कर रहा है, को

वर्ष 1980 में जोड़ा गया है क्योंकि उसने वाद के लम्बित रहने के दौरान वादगत सम्पत्तियों का क्रय किया था। संशोधन के लिए प्रस्तुत आवेदन 23 अप्रैल, 1981 को फाइल किया गया था। वाद अभी तक भी सुनवाई के लिए तैयार नहीं किया गया है। इन परिस्थितियों में यह कहना कठिन है कि संशोधन पिटीशन को फाइल करने में बहुत विलम्ब हुआ है। (पैरा 4, 6, 8 और 9)

		पैरा
[1982]	1982 पी० एल० जे० आर० 389 : राम सिंहासन चौबे **बनाम** सुदामा प्रसाद शाह (Ram Singhasan Choubey *Vs.* Sudama Prasad Sah);	7
[1978]	ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 463 : महमूद खान **बनाम** अय्यूब खान (Mahmood Khan *Vs.* Ayub Khan);	4
[1968]	(1968) 2 उम० नि० प० 350=ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1355 : पंडित प्रेम राज **बनाम** डी० एल० एफ० एच० कं० प्रा० लिमिटेड [Prem Raj *Vs.* D. L. F. Housing and Construction (Pvt.) Ltd.]	4

का **अवलम्ब** लिया गया।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1983 का सिविल पुनरीक्षण सं० 268.

छपरा के प्रथम मुन्सिफ श्री सैयद रहबर हुसैन के तारीख 27 जनवरी, 1983 के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री शशि शेखर द्विवेदी और अजय कुमार त्रिपाठी

विरोधी पक्षकारों की ओर से ... सर्वश्री सुदान प्रसाद सिन्हा और अरुण कुमार सिंह सं० 2

न्या० एस० के० चौधरी :

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन वादी द्वारा यह पुनरीक्षण 1969 के हक़ वाद सं० 37 में छपरा के प्रथम मुन्सिफ द्वारा तारीख 27 जनवरी, 1983 को पारित उस आदेश के विरुद्ध किया गया है, जिसमें वादी के पिटीशन में संशोधन करने को नामंजूर किया गया था।

2. वादी-पिटीशनर ने तारीख 9 मई, 1968 के अहदनामा के आधार पर संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया था। मूल रूप से वाद में 5 प्रतिवादी थे। श्रीमती विन्ध्याचली देवी ने विवादग्रस्त सम्पत्ति वर्ष 1976 में किसी समय खरीदी थी और तद्नुसार वर्ष 1980 में उसको प्रतिवादी सं० 6 के रूप में पक्षकार के रूप में जोड़ा गया था। यह दुर्भाग्य की बात है कि यद्यपि वाद वर्ष 1969 का है, एक या अन्य कारण से और वाद अभी तक सुनवाई के प्रक्रम पर नहीं पहुंचा है। इसके पश्चात् प्रतिवादी सं० 6 को जोड़ा गया था और उसने लिखित कथन फाइल किया था। वादपत्र में संशोधन करने के लिए वादी द्वारा तारीख 23 अप्रैल, 1981 को एक पिटीशन फाइल किया गया था। इस पिटीशन द्वारा वादी-पिटीशनर ने वादपत्र के पैरा सं० 16 के अंत में निम्नलिखित वाक्य जोड़ने की प्रार्थना की थी :—

"कि वादी अतिशेष प्रतिफल धन को देने के लिए पहले भी और अब भी तैयार और रजामन्द है और भविष्य में भी वह रजामन्द रहेगा और प्रतिवादी से वादगत भूमियों की बाबत विक्रय-विलेख के निष्पादित और रजिस्ट्रीकृत करने के लिए भी तैयार है और प्रतिवादियों को धन देने के लिए वह हमेशा तैयार होकर आता है।"

वादपत्र का पैरा 16 इस प्रकार पढ़ा जा सकता है :—

"कि वादी शुरू से ही अपनी ओर से संविदा का पालन करने के लिए रजामन्द हैं किन्तु प्रतिवादी जदुनन्दन राम और कुछ अन्य व्यक्ति, जो वादी के शत्रु हैं, के साथ मिले हुए हैं और संविदा की अवहेलना करने पर एकजुट हैं जिसके परिणामस्वरूप वादियों को उनके अधिकारों पर गंभीर क्षति होने की आशंका है।"

3. इस आवेदन का प्रत्युत्तर प्रतिवादी सं० 6, जो कि इस पुनरीक्षण आवेदन में विरोधी पक्षकार सं० 6 है, द्वारा उक्त पिटीशन का विरोध करते हुए फाइल किया गया था। संशोधन के मामले में दोनों पक्षकारों की सुनवाई की गई थी और उसके पश्चात् संशोधन पिटीशन को नामंजूर करते हुए आक्षेपित आदेश पारित किया गया है। आक्षेपित-आदेश से ऐसा प्रतीत होता है कि निचले न्यायालय का यह मत था, यदि संशोधन अनुज्ञात किया जाता है तो प्रतिवादी को एक मूल्यवान अधिकार, जो कि उसे प्रोद्भूत हुआ है, से वंचित किया जाएगा।

4. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री शशि शेखर द्विवेदी ने यह दलील दी कि निचले न्यायालय ने संशोधन पिटीशन को मंजूर करने से इंकार करके

सारवान् अनियमितता से कार्यवाही की है यद्यपि वाद-हेतुक का वादपत्र के पैरा 16 में अभिवाक् किया गया है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार वादपत्र के पैरा 16 में वाद-हेतुक का अभिवाक् करते हुए कुछ लोप हुआ है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल के तर्क का मूल्यांकन करने के लिए पैरा 16 में प्रकथन को पहले ही ऊपर उद्धृत किया गया है और ईप्सित संशोधन का भी ऊपर उल्लेख किया गया है। दूसरी ओर विरोधी पक्षकार सं० 6, जो कि निचले न्यायालय में प्रतिवादी सं० 6 है, की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री सुदानुप्रसाद सिन्हा ने आक्षेपित आदेश का समर्थन किया है और यह दलील दी है कि वाद-हेतुक के सम्बन्ध में कोई अभिवाक् नहीं था और इसलिए निचले न्यायालय ने संशोधन पिटीशन को ठीक ही नामंजूर किया है। अपनी दलील के समर्थन में विरोधी पक्षकार सं० 6 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने **महमूद खान** बनाम **अय्यूब खान**[1] वाले मामले में के विनिश्चय का उल्लेख किया है। उक्त विनिश्चय को सावधानीपूर्वक पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि अभिवाकों में वाद-हेतुक के प्रकथन के सम्पूर्ण अभाव का मामला था और अपील के प्रक्रम पर वे वादपत्र में वाद-हेतुक को पुरःस्थापित करके अपनी गलती को ठीक कराना चाहते थे। उस निर्णय के पैरा 16 में **पंडित प्रेम राज** बनाम **डी० एल० एफ० एच० कं० प्रा० लिमिटेड**[2] वाले मामले को निर्देशित किया है। उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का सुसंगत भाग इस प्रकार है :—

> "यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि अपीलार्थी संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के अनुतोष के संबंध में कोई वाद-हेतुक साबित नहीं कर सका है, एक अन्य कारण भी है। यह अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है कि विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में वादी को यह अभिकथन करना चाहिए कि मैं संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तत्पर और रजामन्द हूं। वर्तमान मामले में वादपत्र में ऐसा कोई प्रकथन नहीं किया गया है। इसके विपरीत, वादी ने यह अभिकथन किया है कि करार, कपट और असम्यक् असर के परिणामस्वरूप हुआ था और वह उसके लिए आबद्धकर नहीं है। इन कारणों से, यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि जहां तक कि विनिर्दिष्ट पालन के अनुतोष का संबंध है, वादी के पास कोई वाद-हेतुक नहीं है।"

इलाहाबाद विनिश्चय के पैरा 20 में इसके अतिरिक्त यह कहा गया था कि

---

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 463.

[2] [1968] 2 उम० नि० प० 350=ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1355.

वादपत्र में इस प्रकथन के अभाव में कि वादी संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामन्द था। वादी के लिए वाद-हेतुक नहीं था। जैसा कि वादपत्र में उल्लेख किया गया है वाद-हेतुक में त्रुटि हो सकती है किन्तु ऐसा मामला भी हो सकता है जहां वादपत्र में कोई वाद-हेतुक नहीं होता। यदि वाद-हेतुक में कोई त्रुटि है तो उसे ठीक करने के लिए संशोधन अनुज्ञात किया जा सकता किन्तु यदि कोई वाद-हेतुक नहीं है तो वाद-हेतुक को लाने के लिए संशोधन अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। वाद-हेतुक के अभाव में वादपत्र को नामंजूर किया जाना चाहिए।

5. उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय की चर्चा करने के पश्चात् इलाहाबाद उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने इसके अतिरिक्त यह कथन किया कि प्रस्तुत मामले में, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, वादपत्र में प्रकथन करने के लिए वादी ने लोप किया है और वह संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामन्द था। उसने वाद-हेतुक को दर्शाने में लोप किया है और अतः ऐसे संशोधन को अनुज्ञात करना वादी को ऐसे संशोधन द्वारा वाद में वाद-हेतुक को लाने के लिए अनुज्ञात करना होगा जो कि ऊपर उद्धृत मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों की दृष्टि से नहीं होना चाहिए।

6. जो कुछ इलाहाबाद और उच्चतम न्यायालय के उपर्युक्त विनिश्चयों में कहा गया है उसको ध्यान में रखते हुए विरोधी पक्षकार सं० 6 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील को समझना कठिन होगा। वादपत्र में पहले ही यह प्रकथन किया गया है कि वादी शुरू से ही संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामन्द है और पैरा 16 के अन्त में वादी प्रस्तावित संशोधन जोड़ना चाहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वादपत्र में वाद-हेतुक का कोई प्रकथन नहीं था और यह वाद-हेतुक के बारे में अभिवचनों के सम्पूर्ण अभाव वाला मामला है।

7. अन्य मामला, जो उद्धृत किया गया था, इस न्यायालय का एकल न्यायाधीश का विनिश्चय है। वह मामला है **राम सिंहासन चौबे** बनाम **सुदामा प्रसाद शाह**[1]। उसमें भी यह पाया गया था कि मूल वादपत्र में किसी वाद-हेतुक का कोई अभिवचन नहीं किया गया था और वाद-हेतुक के अंतःस्थापन के लिए संशोधन करना आशयित था जिसका कि बिल्कुल भी अभिवचन नहीं किया गया था। उपर्युक्त इलाहाबाद विनिश्चय को निर्देशित करने के पश्चात् विद्वान्

---

[1] 1982 पी० एल० जे० आर० 389.

एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि ईप्सित संशोधन को अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए।

8. उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए निचले न्यायालय के आक्षेपित आदेश को कायम रखना कठिन है।

9. एक अन्य दलील जो कि विरोधी पक्षकार के विद्वान् काउन्सेल ने दी वह यह है कि प्रस्तुत आवेदन को फाइल करने में बहुत अधिक विलम्ब हुआ है। ऊपर पहले ही इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि प्रतिवादी सं० 6, जो कि इस पुनरीक्षण आवेदन का विरोध कर रहा है, को वर्ष 1980 में जोड़ा गया है क्योंकि उसने वाद के लम्बित रहने के दौरान वादगत सम्पत्तियों का क्रय किया था। संशोधन के लिए प्रस्तुत आवेदन 23 अप्रैल, 1981 को फाइल किया गया था। वाद अभी तक भी सुनवाई के लिए तैयार नहीं किया गया है। इन परिस्थितियों में यह कहना कठिन है कि संशोधन पिटीशन को फाइल करने में बहुत विलम्ब हुआ है।

10. ऊपर उल्लिखित कारणों से इस आवेदन में गुणागुण हैं और तदनुसार इसे मंजूर किया जाता है और आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है। अब वादपत्र में संशोधन अंतर्विष्ट किया जाना चाहिए किन्तु यह आदेश कनिष्ठ काउन्सेल श्री अरुण कुमार सिंह सं० 2, जो श्री सुदानु प्रसाद सिन्हा अधिवक्ता के साथ हाजिर हुए हैं, को आज से तीन सप्ताह के भीतर 200 रुपये (दो सौ रुपये) की लागत का संदाय करने पर होगा।

आवेदन मंजूर किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : पटना—109

योगेश्वर प्रसाद और अन्य बनाम सूरज नारायण प्रसाद

(Yogeshwar Prasad and others *Vs.* Suraj Narain Prasad)

तारीख 2 फरवरी, 1984

[न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा]

परिसीमा अधिनियम 1963—अनुच्छेद 64 सपठित बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950 की धारा 6—वादी और प्रतिवादियों द्वारा भूमि का

संयुक्त रुप से नीलाम में क्रय किया जाना—वादी और प्रतिवादियों का भूमि पर संयुक्त कब्जा होना—वादी द्वारा अपने अंश के लिए विभाजन की मांग किया जाना—भूमि पर प्रतिवादियों का खास कब्जा होना और उनके द्वारा प्रतिकूल कब्जे का दावा किया जाना और यह अभिवाक् किया जाना कि प्रतिवादियों के प्रतिकूल कब्जे के आधार पर भूमि में वादी का हक निर्वापित हो गया था—वादी द्वारा सहअंशधारी होने के रुप में यह अभिवाक् किया जाना कि एक सहअंशधारी का कब्जा दूसरे सहअंशधारी का भी कब्जा होता है—निचले अपील न्यायालय द्वारा वादी और प्रतिवादियों को सहअंशधारी के रुप में अभिनिर्धारित किया जाना—यदि वादी और प्रतिवादी किसी भूमि के सहअंशधारी हैं और उनमें से उस भूमि पर एक सहअंशधारी का कब्जा हो तो एक सहअंशधारी का कब्जा दूसरे सहअंशधारी का भी कब्जा समझा जाएगा और इस बात के बावजूद भी कि वादगत भूमियां प्रतिवादियों के कब्जे में थीं तो भी प्रतिवादी चूंकि केवल सहअंशधारी हैं और प्रतिवादियों का कब्जा वादी का भी कब्जा होगा।

2. बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950—धारा 6 सपठित बिहार एण्ड उड़ीसा जनरल कलाजिज ऐक्ट की धारा 15(2)—उक्त धारा 6 में प्रयुक्त "मध्यवर्ती" शब्द यद्यपि एकवचन में है किन्तु इसमें स्पष्टतः बहुवचन सम्मिलित होगा।

इस अपील में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या एक सहअंशधारी का कब्जा दूसरे सहअंशधारी का भी कब्जा होगा।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

यह सुस्थापित है कि जो प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करता है उसको साबित करने का भार उस पर ही होता है। यदि खाता सं० 42 और 46 और गैरमजरूआ प्लाट सं० 100 की भूमियां उनके घरों की सीमाओं में सम्मिलित की गई थीं तो निचले अपील न्यायालय ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया था कि प्रतिवादी अपने प्रख्यान के सबूत इस बात की छूट प्राप्त कर सकते थे। न्यायालय की राय में निचले अपील न्यायालय ने अपना न्यायिक विवेक स्वतन्त्रता से लागू किया है और ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि इन प्लाटों के सम्बन्ध में प्रतिवादियों के प्रतिकूल कब्जे का दावा मंजूर नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त निचले अपील न्यायालय ने बहुत ही अकाट्य कारण से यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादियों का यह मामला कि भूमियां प्रतिवादियों के घरों के अहाते में सम्मिलित स्वीकार नहीं किया जा सकता। निचले अपील

न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वादी और प्रतिवादी सहअंशधारी हैं, इसलिए एक सहअंशधारी का कब्जा अन्य सहअंशधारी का कब्जा समझा जायेगा और यदि यह भी बात मान ली जाए कि वादगत भूमियां प्रतिवादियों के कब्जे में थीं, तो भी प्रतिवादी चूंकि केवल सहअंशधारी हैं और प्रतिवादियों का कब्जा, वादी का भी कब्जा है। यह सुस्थापित है कि प्लाटों के कब्जे का एक सहअंशधारी अभिवाक् कर सकता है और दूसरे के दावे को नासाबित कर सकता है और यदि इस प्रकार से अभिवाक् किया गया है और सहअंशधारी का कब्जा साबित किया गया है तो अन्य सहअंशधारी का कब्जा नहीं समझा जाएगा। प्रस्तुत मामले में प्रतिवादियों ने इसको साबित न करने का अभिवाक् किया है। यह सच है कि निचले अपील न्यायालय में प्रतिवादियों की ओर से यह दलील दी गई थी कि वादगत भूमि पर प्रतिवादियों के कब्जे की प्रकृति के सम्बन्ध में लिखित कथन में मोखलापाना और मलकौना शब्दों का प्रयोग किया गया था और यह तर्क दिया गया था कि इन पदों से प्रतिकूल कब्जा और बाहर निकालना अभिप्रेत था। निचले न्यालालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि मलकौना से अभिप्रेत बाहर निकलने से है तो मामले में बाहर निकालने का भी कोई साक्ष्य नहीं था। निचले अपील न्यायालय ने कब्जे की प्रकृति को स्वीकार नहीं किया था जिसका प्रतिवादियों ने अभिवाक् किया था अर्थात् घरों के निर्माण आदि। मामले को उस दृष्टि से देखते हुए चूंकि प्रतिवादी केवल सहअंशधारी हैं इसलिए न्यायालय की राय में उनका कब्जा वादी का भी कब्जा ठीक ही लिया गया था। जहां तक प्रतिवादियों-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई इस दलील (जैसा कि पहले ही ऊपर उल्लेख किया गया है) का सम्बन्ध है, न्यायालय की राय में दलील में कोई बल नहीं है। प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने निचले अपील न्यायालय के निर्णय के माध्यम से उसने ब्यौरों के बारे में न्यायालय का ध्यान आकर्षित किया है। प्रतिवादियों-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल की ओर से यह निवेदन करना ठीक नहीं है कि निचले अपील न्यायालय ने इस पहलू पर विचार नहीं किया था। निचले अपील न्यायालय ने निर्णय के पैरा 24 में प्रतिवादियों-अपीलार्थियों द्वारा बिहार राज्य को किराए के संदाय के तथ्य पर विचार किया था और सुसंगत तर्कों पर ठीक ही प्रतिवादियों के अभिवचनों को नकारा था। न्यायालय ने पहले ही ऊपर यह अभिनिर्धारित किया है कि इस संबंध में निचले अपील न्यायालय का यह निष्कर्ष कि वादी प्रतिवादियों के साथ एक सहअंशधारी था, त्रुटिपूर्ण नहीं है और इसको स्वयं प्रतिवादी सं० 1 द्वारा स्वीकार भी किया गया था जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है और यह कि तौजी का 10 आना 18 गन्डाज चंद्रचूड़ देव और अन्य व्यक्तियों द्वारा नीलाम में क्रय

किया गया था। निचले अपील न्यायालय ने इस अकाट्य तर्क से यह स्वीकार किया है कि नीलाम क्रेता से वादी के क्रय का मामला सही था अर्थात् तौजी में 10 आना और 18 गन्डाज का क्रय। ऐसी स्थिति होते हुए वादी और प्रतिवादी दोनों सम्बद्ध तौजी के सहअंशधारी थे। प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल का तर्क यह है कि निचले अपील न्यायालय ने एक पहलू पर विचार नहीं किया है जिस पर विचारण न्यायालय द्वारा विचार किया गया था कि विचारण न्यायालय का इस बारे में निष्कर्ष यह है कि प्रतिवादी बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में मान्यता प्राप्त थे। प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने भी किराए की रसीदों (बिहार राज्य द्वारा दिए गए प्रदर्श-क से क-3) की ओर न्यायालय का ध्यान आकर्षित किया था और यह कि इस मुद्दे पर कि प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बात को स्वीकार करने के लिए न्यायालय को प्रेरित किया था कि इस तथ्य की दृष्टि से कि प्रतिवादी बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में मान्यता प्राप्त थे तो वादी का कोई मामला नहीं है और उसके बारे में कोई वाद नहीं हो सकता था। न्यायालय ने पहले ही ऊपर यह उल्लेख किया है कि प्रतिवादी अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील में कोई बल नहीं है। जब प्रतिवादी-अपीलार्थियों के पक्ष में बिहार राज्य द्वारा किराया नियत किया गया था तो वादी को उसके बारे में सूचना नहीं थी। निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अभिलेख पर यह दर्शाने के लिए कुछ भी नहीं है कि इन पक्षकारों के सम्बन्ध में किराये के नियतन की कोई सूचना थी। ऐसी स्थिति में न्यायालय की राय में बिहार राज्य को प्रतिवादियों द्वारा किराए का संदाय वादी के हक को निर्वापित नहीं कर सकता। प्रतिवादी अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बारे में न्यायालय के सामने कोई जानकारी नहीं रखी है और न ही कोई तर्क दिया है कि निचले अपील न्यायालय का यह निष्कर्ष (जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है) त्रुटिपूर्ण था या अभिलेख पर की सामग्री पर आधारित नहीं था। इस प्रकार प्रश्नगत तौजी में वादी के सहअंशधारी होने के कारण यदि प्रतिवादी-अपीलार्थी काबिज भी थे तो भी प्रतिवादी-अपीलार्थियों के कब्जे को वादी का भी कब्जा समझा जाना चाहिए और इसलिए न तो वादी का हक निर्वापित हुआ था और न ही कब्जे से बाहर ही कहा जा सकता है। (पैरा 12, 13, 14, 15 और 16)

यह सुस्थापित है कि बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट (भूमि सुधार अधिनियम), 1950 की धारा 6 में "मध्यवर्ती" शब्द प्रयुक्त किया गया है यद्यपि यह एक

वचन में है किन्तु इसमें स्पष्टतः बहुवचन सम्मिलित है और बिहार और उड़ीसा साधारण खण्ड अधिनियम की धारा 15(2) से भी यह स्पष्ट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक से अधिक मध्यवर्ती हैं और उनमें से सभी का संयुक्त कब्जा है तो उनके खास कब्जे की भूमियों को मध्यवर्तियों के सम्पूर्ण निकाय द्वारा अधिभोग अधिकार के साथ रैयत के रूप में रखी जा सकती है। (पैरा 17)

		पैरा
[1965]	ए० आई०आर० 1965 पटना 117 (पूर्ण न्यायपीठ) : रामरुद्र सिंह **बनाम** दिलेश्वर सिंह और अन्य (Ramrudhar Singh *Vs.* Dileshwar Singh and others) **निर्दिष्ट** किया गया।	17

सिविल अपीली अधिकारिता : 1976 की अपील सं० 497.

मुंगेर के चौथे अपर जिला न्यायाधीश श्री जी० एन० सिंह के तारीख 22 मई, 1976 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री ए० सी० घोष

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री आर० एन० पी० सिन्हा

न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा :

यह द्वितीय अपील विभाजन के लिए वाद में उलटाव के निर्णय के विरुद्ध प्रत्यर्थियों द्वारा की गई है।

2. वादी ने वादपत्र के पाद टिप्पणी में दिए गए ब्यौरों के रूप में सम्पत्तियों में 10 आनाज और 18 गन्डाज के अंश का दावा किया है।

3. वाद तौजी सं० 7205 में खाता सं० 331, थाना सं० 542 से सम्बद्ध खसरा सं० 211 से सम्बन्धित है। यह प्लाट सं० 97, 98 और 99 से भी सम्बद्ध है। प्लाट सं० 97 खाता सं० 42 से सम्बद्ध था और प्लाट सं० 98 और 99 खाता सं० 46 से सम्बद्ध थे। ये दो खाते अर्थात् खाता सं० 42 और 46 उसी तौजी के अंतर्गत थाना सं० 538 से सम्बद्ध थे। इसका सम्बन्ध उसी तौजी के अंतर्गत थाना 538 में खाता सं० 49 से सम्बद्ध था। विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया था। वादी ने अपील की थी। निचले अपील न्यायालय ने खाता सं० 331 से सम्बद्ध प्लाट सं० 211 के सम्बन्ध में वादी का दावा नामंजूर कर दिया था। किन्तु खाता सं० 42, 46 और 49 से

सम्बद्ध प्लाटों के बारे में वादी के दावे के सम्बन्ध में विभाजन के लिए वादी का दावा डिक्री किया गया था। यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि खाता सं० 49 से सम्बद्ध प्लाट सं० 100 गैरमजरूआ मालिक भूमि हैं।

4. निचले अपील न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध वादी ने द्वितीय अपील की। वादी द्वारा की गई इस द्वितीय अपील की सं० 1976 की द्वितीय अपील सं० 545 और इसे ग्रहण करने के प्रक्रम पर ही सुनवाई के पश्चात् खारिज कर दिया गया था।

5. प्रतिवादियों ने भी द्वितीय अपील फाइल की जो कि प्रस्तुत द्वितीय अपील है। इस प्रकार प्रतिवादियों द्वारा की गई प्रस्तुत अपील केवल प्लाट सं० 97, 98, 99 और 100 (विभिन्न खाता सं० का पहले ही उल्लेख किया गया है) से सीमित है। प्रतिवादियों-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने केवल एक दलील दी है और वह इस बारे में है कि विचारण न्यायालय ने वादी के वाद को खारिज करते हुए अन्य निष्कर्षों के साथ यह भी अभिनिर्धारित किया था कि प्रतिवादियों को वादगत भूमि के संबंध में बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में मान्यता दी गई थी और विद्वान् काउन्सेल के अनुसार निचले अपील न्यायालय ने बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में प्रतिवादियों की मान्यता के प्रभाव पर विचार करने से पूर्णतः उपेक्षा की है प्रतिवादियों-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि निचले अपील न्यायालय द्वारा इस पहलू पर विचार न करने से अपीलाधीन निर्णय दूषित हो गया है।

6. प्रतिवादियों-अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील को समझने के लिए केवल उन तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है। जिनका प्लाट सं० 97, 98 और 99 व 100 से सम्बन्ध है। संक्षेप में वादी का मामला यह है कि थाना सं० 542 और 538 मूल रूप से प्रतिवादियों के वंशजों से सम्बद्ध थे। इस तौजी (तौजी सं० 7205) के 16 आना में 10 आना और 18 गंडाज नीलाम द्वारा बेचा गया था और चन्द्र देव और अन्य के पूर्वजों, जो कि प्रतिवादियों के पूर्वजों के साथ तौजी के संयुक्त काबिज हुए थे द्वारा खरीदे गए थे। उनके पश्चात् वादी के अनुसार चंद्रचूड़ देव और अन्य (नीलाम क्रेता) ने तौजी में अपने 10 आना और 18 गंडाज अंश जिसमें वादी की बकाश्त, गैरमजरूआ रैयती भूमि सम्मिलित है, तारीख 29 अप्रैल, 1946 के रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा बेची गई थी और उस पर वादी काबिज हुआ था। वादी के अनुसार तौजी के 5 आना 2 गंडाज प्रतिवादियों के पास रहे थे

जो कि वादी के साथ संयुक्त रूप से काबिज बने रहे। (जोर देने के लिए ये शब्द मेरे द्वारा अधोरेखांकित किए गए।)

7. इसके अतिरिक्त वादी का पथकथन यह था कि खाता सं० 42 और 46 के अधीन भूमियां रैयती भूमियां थीं और अभिलेख किराएदारों में से कुछ किराएदारों की निसन्तान मृत्यु हो गई थी और अन्य किराएदारों ने भूमि को छोड़ दिया था और गांव छोड़ दिया था और उन भूमियों पर बकाश्त के रूप में भूस्वामी काबिज हुए थे। वादी प्रतिवादियों के साथ उन भूमियों पर संयुक्त कब्जे का दावा करता है। चूंकि संयुक्त कब्जे में वादी को कठिनाई महसूस हुई है इसलिए उसने प्रतिवादियों से उसके विभाजन के लिए कहा, जो कि उसके लिए तैयार नहीं हैं, तो वादी ने अपने अंश (जैसा दावा किया गया है) के विभाजन के लिए प्रस्तुत रिट संस्थित किया।

8. प्रतिवादी 1 और 4 से 7 ने संयुक्त रूप से लिखित कथन फाइल किए और वाद का विरोध किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि तौजी सं० 7205 मूल रूप से उनके पूर्वजों से सम्बद्ध थी और तौजी के 10 आना 18 गंडाज नीलाम द्वारा बेचा गया था और चंद्रचूड़ देव और अन्य के पूर्वजों द्वारा क्रय किया गया था। प्रतिवादियों ने वर्ष 1946 में वादी द्वारा उस अंश के क्रय से इनकार किया है। मुख्य प्रतिरक्षा यह थी कि खाता सं० 42 और 46 की भूमियां उनके द्वारा स्वअर्जन की गई थी और वादी का उसमें कोई हक नहीं था। खाता सं० 49 से खाता सं० 100 के सम्बन्ध में प्रतिवाद यह था कि यह उनके अनन्य कब्जे में था। प्रतिवादियों ने यह भी अभिवाक् किया कि गैरमजरूआ मालिक भूमि प्लाट सं० 100 पर और खाता सं० 42 और 46 की भूमियों पर उनके मकान और सहन (ओगन) हैं।

9. खाता सं० 331 से सम्बद्ध प्लाट सं० 211 के सम्बन्ध में प्रतिवाद का मैं लोप कर रहा हूं क्योंकि यह प्लाट सं० 211 प्रस्तुत द्वितीय अपील की विषय-वस्तु नहीं है।

10. प्रतिवादियों ने यह अभिवाक् किया है कि जमींदारी के निहित होने के पश्चात् वादगत भूमि का किराया उनके नाम में नियत किया गया था और वे लगातार बिहार राज्य को किराये का संदाय कर रहे थे। इनके अतिरिक्त प्रतिवादियों ने वादगत भूमि पर अपने प्रतिकूल कब्जे का दावा किया है। इन अभिवचनों पर प्रतिवादियों ने यह अभिवाक् किया कि वादी विभाजन के लिए किसी डिक्री का हकदार नहीं था।

11. विचारण न्यायालय ने प्रतिवादी के मामले को इस बारे में मान

लिया कि उनका खाता सं० 42 और 46 गैरमजरुआ मालिक प्लाट सं० 100 पर कब्जा था। विचारण न्यायालय ने प्रतिवादियों के इस मामले को भी मंजूर कर लिया कि उन भूमियों पर उनके मकान थे। विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वादी हक की अखण्डता और वादगत भूमि पर कब्जे को साबित करने में असफल रहा है। और तदनुसार विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वादी दावा किए गए अनुतोष का हकदार नहीं था। जहां तक प्लाट सं० 97, 98, 99 और 100 (प्रस्तुत द्वितीय अपील से सम्बद्ध प्लाट संख्या) के बारे में निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं०1 (प्रतिवादी साक्षी 7) की इस बात को स्वीकार करने की दृष्टि से कि अर्जन वर्ष 1920 में किया गया था जबकि वे तौजी के 16 आने के भूस्वामी थे और स्वामियों के व्यापक हित में उन खातों को सम्मिलित किया गया था और बिहार टीनेन्सी ऐक्ट की धारा 22(1) के अधीन यह बकाश्त हो गई थी इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया गया कि स्वीकृततः तौजी के 10 आना और 18 गंडाज नीलामकर्ताओं द्वारा नीलाम में क्रय किया गया था और अर्जन के पश्चात् तौजी के 10 आना 18 गंडाज के नीलाम क्रेता ने इसलिए इन दो खातों में भी हित अर्जित कर लिया था।

12. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, प्रतिवादियों का मामला यह था कि इन तीन प्लाटों (प्लाट सं० 97, 98 और 99) और अन्य प्लाटों के कुछ भागों पर उनके आवासीय गृह हैं और उनके अनुसार इन प्लाटों के भाग में उनका विक्रय-विलेख में सम्मिलित किए गए हैं और इन प्लाटों पर उनके शौचालय हैं और यह कि ये प्लाट उनके अहाते के अंतर्गत थे। प्रतिवादियों के इस प्राख्यान से वादी द्वारा इनकार किया गया और पक्षकारों ने अपने-अपने साक्ष्य पेश किए। प्रतिवादियों ने भी उन प्लाटों पर प्रतिकूल कब्जे का दावा किया और इस आधार पर उनका पक्षकथन यह है कि उनके ऊपर वादी का हक निर्वापित हो गया था। यह सुस्थापित है कि जो प्रतिकूल कब्जे का अभिवाक् करता है उसको साबित करने का भार उस पर ही होता है। यदि खाता सं० 42 और 46 और गैरमजरुआ प्लाट सं० 100 की भूमियां उनके घरों की सीमाओं में सम्मिलित की गई थीं तो निचले अपील न्यायालय ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया था कि प्रतिवादी अपने प्राख्यान के सबूत इस बात की छूट प्राप्त कर सकते थे। मेरी राय में निचले अपील न्यायालय ने अपना न्यायिक विवेक स्वतन्त्रता से लागू किया है और ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि इन प्लाटों के सम्बन्ध में प्रतिवादियों के प्रतिकूल कब्जे का दावा मंजूर नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त निचले अपील न्यायालय ने बहुत ही

अकाट्य कारण से यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादियों का यह मामला, कि भूमियां प्रतिवादियों के घरों के अहाते में सम्मिलित थीं, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

13. निचले अपील न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वादी और प्रतिवादी सहअंशधारी हैं, इसलिए एक सहअंशधारी का कब्जा अन्य अंशधारी का कब्जा समझा जाएगा और यदि यह भी बात मान ली जाए कि वादगत भूमियां प्रतिवादियों के कब्जे में थीं, तो भी प्रतिवादी चूंकि केवल सह अंशधारी हैं और प्रतिवादियों का कब्जा, वादी का भी कब्जा है।

14. यह सुस्थापित है कि प्लाटों के कब्जे का एक सहअंशधारी अभिवाक् कर सकता है और दूसरे के दावे को नासाबित कर सकता है और यदि इस प्रकार से अभिवाक् किया गया है और सहअंशधारी का कब्जा साबित किया गया है तो अन्य सहअंशधारी का कब्जा नहीं समझा जायेगा। प्रस्तुत मामले में प्रतिवादियों ने इसको साबित न करने का अभिवाक् किया है। यह सच है कि निचले अपील न्यायालय में प्रतिवादियों की ओर से यह दलील दी गई थी कि वादगत भूमि पर प्रतिवादियों के कब्जे की प्रकृति के सम्बन्ध में लिखित कथन में मोखलापाना और मलकौना शब्दों का प्रयोग किया गया था और यह तर्क दिया गया था कि इन पदों से प्रतिकूल कब्जा और बाहर निकालना अभिप्रेत था। निचले न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि मलकौना से अभिप्रेत बाहर निकालने से है तो मामले में बाहर निकालने का भी कोई साक्ष्य नहीं था। निचले अपील न्यायालय ने कब्जे की प्रकृति को स्वीकार नहीं किया था जिसका प्रतिवादियों ने अभिवाक् किया था अर्थात् घरों के निर्माण आदि। मामले को उस दृष्टि से देखते हुए चूंकि प्रतिवादी केवल सहअंशधारी हैं, इसलिए मेरी राय में उनका कब्जा वादी का भी कब्जा ठीक ही लिया गया था।

15. इन निष्कर्षों के साथ निचले न्यायालय ने प्लाट सं० 97, 98, 99 और 100 का जहां तक सम्बन्ध है, प्रतिवादियों के मामले को स्वीकार नहीं किया था।

16. जहां तक प्रतिवादियों-अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई इस दलील (जैसा कि पहले ही ऊपर उल्लेख किया गया है) का सम्बन्ध है मेरी राय में दलील में कोई बल नहीं है। प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने निचले अपील न्यायालय के निर्णय के माध्यम से उसने ब्यौरों के बारे में मेरा ध्यान आकर्षित किया है। प्रतिवादियों-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल की ओर से यह निवेदन करना ठीक

नहीं है कि निचले अपील न्यायालय ने इस पहलू पर विचार नहीं किया था। निचले अपील न्यायालय ने निर्णय के पैरा 24 में प्रतिवादियों-अपीलार्थियों द्वारा बिहार राज्य को किराए के संदाय के तथ्य पर विचार किया था और सुसंगत तर्कों पर ठीक ही प्रतिवादियों के अभिवचनों को नकारा था। मैंने पहले ही ऊपर यह अभिनिर्धारित किया है कि इस सम्बन्ध में निचले अपील न्यायालय का यह निष्कर्ष कि वादी प्रतिवादियों के साथ एक सह अंशधारी था, त्रुटिपूर्ण नहीं है और इसको स्वयं प्रतिवादी सं०1 द्वारा स्वीकार भी किया गया था जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है और यह कि तौजी का 10 आना 18 गन्डाज चंद्रचूड़ देव और अन्य व्यक्तियों द्वारा नीलाम में क्रय किया गया था, निचले अपील न्यायालय ने इस अकाट्य तर्क से यह स्वीकार किया है कि नीलाम क्रेता से वादी के क्रय का मामला सही था अर्थात् तौजी में 10 आना और 18 गन्डाज का क्रय। ऐसी स्थिति होते हुए वादी और प्रतिवादी दोनों सम्बद्ध तौजी के सहअंशधारी थे। प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल का तर्क यह है कि निचले अपील न्यायालय ने एक पहलू पर विचार नहीं किया है जिस पर विचारण न्यायालय द्वारा विचार किया गया था कि विचारण न्यायालय का इस बारे में निष्कर्ष यह है कि प्रतिवादी बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में मान्यता प्राप्त थे। प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने भी किराए की रसीदों (बिहार राज्य द्वारा दिए गए प्रदर्श-क से क-3) की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था और यह कि इस मुद्दे पर कि प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बात को स्वीकार करने के लिए मुझे प्रेरित किया था कि इस तथ्य की दृष्टि से कि प्रतिवादी बिहार राज्य द्वारा रैयत के रूप में मान्यता प्राप्त थे तो वादी का कोई मामला नहीं है और उसके बारे में कोई वाद नहीं हो सकता था। मैंने पहले ही ऊपर यह उल्लेख किया है कि प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलील में कोई बल नहीं है। जब प्रतिवादी-अपीलार्थियों के पक्ष में बिहार राज्य द्वारा किराया नियत किया गया था तो वादी को उसके बारे में कोई सूचना नहीं थी। निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अभिलेख पर यह दर्शाने के लिए कुछ भी नहीं है कि इन पक्षकारों के सम्बन्ध में किराए के नियतन की कोई सूचना थी। ऐसी स्थिति में मेरी राय में बिहार राज्य को प्रतिवादियों द्वारा किराए के संदाय वादी के हक को निर्वापित नहीं कर सकता। प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बारे में मेरे सामने कोई जानकारी नहीं रखी है और न ही कोई तर्क दिया है कि निचले अपील

न्यायालय का यह निष्कर्ष (जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है) त्रुटिपूर्ण था या अभिलेख पर की सामग्री पर आधारित नहीं था। इस प्रकार प्रश्नगत तौजी में वादी के सहअंशधारी होने के कारण यदि प्रतिवादी-अपीलार्थी काबिज भी थे तो भी प्रतिवादी-अपीलार्थियों के कब्जे को वादी का भी कब्जा समझा जाना चाहिए और इसलिए न तो वादी का हक निर्वापित हुआ था और न ही कब्जे से बाहर ही कहा जा सकता है।

17. प्रतिवादी-अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट की धारा 6 का अवलम्ब लिया है जो इस प्रकार है :—

* "6. मध्यवर्तियों के खास कब्जे में कतिपय अन्य भूमियों को अधिभोग अधिकारों के रूप में किराए के संदाय पर उनके द्वारा रखा जाना।

(1) कृषि या उद्यान कृषि प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त ऐसी सभी भूमियों, जो ऐसे निहित होने की तारीख को किसी मध्यवर्ती के खास कब्जे में थीं के निहित होने की तारीख को या से में—

(क)(i) बिहार किराएदारी अधिनियम, 1885 (1885 का 8) की धारा 116 में निर्दिष्ट वर्षों के निबन्धन के आधार पर पट्टाधीन या वर्षानुवर्षी आधार पर पट्टाधीन स्वत्वधारियों के पट्टे पर दी गई निजी भूमियां,

(ii) छोटा नागपुर टीनेन्सी ऐक्ट, 1908 (1908 का

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"6. Certain other lands in khas possession of intermediaries to be retained by them on payment of rent as having occupancy rights.

(1) On and from the date of vesting all lands used for agricultural or horticultural purposes, which were in khas possession of an intermediary on the date of such vesting, including—

(a) (i) Proprietors' private lands let our under a lease for a term of years or under a lease from year to year, referred to in section '116 of the Biher Tenancy Act, 1885 (8 of 1885)

(ii) landlords' privileged lands let out under a

अधिनियम 6) की धारा 43 में निर्दिष्ट एक वर्ष या उससे कम अवधि के लिए लिखित या मौखिक रूप से एक वर्ष से अधिक या पट्टाधीन अवधि के लिए रजिस्ट्रीकृत पट्टे के अधीन पट्टे पर दी गई भू-स्वामियों की विशेषाधिकार भूमियां।

(ख) कृषि और कृषि उद्यान प्रयोजनों के लिए भूमियां और किसी सम्पदा के अस्थायी पट्टेदार के सीधे कब्जे में धारित या भूमि और अपने स्टाक से उसके स्वयं द्वारा या अपने सेवकों द्वारा या किराए पर श्रमिकों द्वारा या किराए के स्टाक द्वारा जोती गई भूमियां, और

(ग) विद्यमान बंधक की विषय-वस्तु गठित करने के कृषि या कृषि उद्यान प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त ऐसी भूमियां, जिनकी निर्मुक्ति पर मध्यवर्ती उसके खास कब्जा वसूल करने का हकदार है, सम्मिलित होंगी, परन्तु इसे राज्य द्वारा ऐसे मध्यवर्ती के साथ धारा 7(क) और 7(ख) के उपबन्धों के अध्यधीन परिनिर्धारित किया जायेगा और वह उसका कब्जा बनाए रखने का हकदार होगा और ऐसी भूमियों के सम्बन्ध में अधिभोग अधिकारों को रखते हुए राज्य के धीन रैयत के

---

registered lease for a term exceeding one year or under a lease, written or oral, for a period of one year or less, referred to in section 43 of the Chota Nagpur Tenancy Act, 1908 (Ben Act 6 of 1908)

(b) lands used for agricultural or horticultural purposes and held in the direct possession of a temporary leasee of an estate or tenure and cultivated by himself with his own stock or by his own servants or by hired labour or with hired stock, and

(c) lands used for agricultural or horticultural purposes forming the subject matter of a subsisting mortgage on the redemption of which the intermediary is entitled to recover khas possession thereof; shall, subject to the provisions of section 7-A and 7-B be deemed to be settled by the State with such intermediary

रूप में उसको धारण करने का हकदार होगा बशर्ते कि वह ऐसे ऋजु और समान किराए का संदाय करता है जो विहित रीति में कलक्टर द्वारा अवधारित किया जाए।

परन्तु इस उपधारा में अंतर्विष्ट किसी बात से किसी मध्यवर्ती को किसी नौकराना भूमि पर अथवा अधिकार-अभिलेख (खतियान) में चौकीदारी चकरान या गौरायती जागीर अथवा मैफी गैरायती के रूप में अभिलिखित किसी भूमि पर या किसी अन्य ऐसी भूमि पर, जिसका अधिभोग अधिकार, निहित होने की तारीख के पहले ही, रैयत को प्रोद्भूत हो चुका हो, कब्जा बनाए रखने का हकदार न होगा।

स्पष्टीकरण : इस उपधारा के प्रयोज़नार्थ नौकराना भूमि से अभिप्रेत है अनुदान के रूप में धारित ऐसी भूमि जो लगान के बदले सेवा से धारित हो अथवा ऐसी भूमि जो केवल की जाने वाली सेवाओं की मजदूरी के बदले धारित हो।"

*(2) यदि किसी मध्यवर्ती का उपधारा (1) में निर्दिष्ट भूमियों पर अपना खास कब्जा के रूप में कब्जा किया जाता है या ऐसी भूमियों की सीमा के रूप में उक्त उपधारा के अधीन ऐसी भूमियों के किराए के अवधारण से पूर्व किसी व्यक्ति द्वारा विवाद किया जाता है तो तो कलक्टर आवेदन पर मामले में ऐसी जांच करेगा जो वह उचित समझे और ऐसा आदेश पारित करेगा जो उसे उचित और समुचित प्रतीत हो :

---

and he shall be entitled to retain possession thereof and hold them as a raiyat under the State having occupancy rights in respect of such lands subject to the payment of such fair and equitable rent as may be determined by the Collector in the prescribed manner;

*2. If the claim of an intermediary as to his khas possession over the lands referred to in sub-section (1) or as to the extent of such lands is disputed by any person prior to the determination of rent of such lands under the said sub-section the Collector shall, on application, make such inquiry into the matter as he deems fit and pass such order as may appear to him to be just and proper :

परन्तु यह तब जबकि कलक्टर ऐसी जांच करते हुए उन परिस्थितियों पर सम्यक् रूप से ध्यान देगा जिनके अधीन वह क्षेत्र, जिसमें ऐसी भूमियां स्थित थीं 1 नवम्बर, 1946 के पश्चात् पुलिस अधिनियम, 1861 (1861 का 8) के अधीन अशांतिग्रस्त क्षेत्र घोषित किया गया था।"

यह सुस्थापित है कि बिहार लैंड रिफार्म्स ऐक्ट, भूमि सुधार अधिनियम, की धारा 6 में "मध्यवर्ती" शब्द में प्रयुक्त किया गया है यद्यपि यह एक वचन में है किन्तु इसमें स्पष्टतः बहुवचन सम्मिलित है और बिहार और उड़ीसा साधारण खण्ड अधिनियम की धारा 15(2) से भी यह स्पष्ट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक से अधिक मध्यवर्ती हैं और उनमें से सभी का संयुक्त कब्जा है तो उनके खास कब्जे में की भूमियों को मध्यवर्तियों के सम्पूर्ण निकाय द्वारा अधिभोग अधिकार के साथ रैयत के रूप में रखी जा सकती हैं। **रामरुद्र सिंह बनाम दिलेश्वर सिंह और अन्य**[1] वाले मामले की ओर निर्देश किया जा सकता है।

18. निचले अपील न्यायालय के निर्णय के परिशीलन से मेरा यह समाधान हो गया है कि निचले अपील न्यायालय ने अपने न्यायिक विवेक को स्वतन्त्रतापूर्वक लागू किया है और अभिलेख पर के साक्ष्य का उचित रूप से मूल्यांकन किया है। मेरी राय में निचले अपील न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को अयुक्तियुक्त या प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

19. परिणामतः अपील असफल होती है किन्तु मामले की परिस्थितियों में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

अपील खारिज की गई।

चन्द

Provided that the Collector in making such inquiry shall give due weight to the circumstances under which the area in which such lands were situated was declared to be a disturbed area under the Police Act, 1861 (8 of 1861), after the first day of November, 1946."

[1] ए० आई० आर० 1965 पटना 117 (पूर्ण न्यायपीठ।)

नि० प० 1984 : पटना—123

रूपक लिमिटेड बनाम बिहार, पटना के कंपनी रजिस्ट्रार और अन्य

(Rupak Limited *Vs*. The Registrar of Companies, Bihar, Patna and others)

तारीख 14 फरवरी, 1984

[न्या० एस० सरवर अली और बी० पी० झा]

कम्पनी अधिनियम, 1956—धारा 100(1) और धारा 155—कंपनी द्वारा कुछ व्यक्तियों से 2,50,000 रुपए की राशि प्राप्त किया जाना और उसके लिए कोई शेयर जारी न किया जाना—कंपनी द्वारा शेयर रजिस्टर में परिशुद्धि के लिए आवेदन फाइल किया जाना और उसका विद्वान् कंपनी न्यायाधीश द्वारा नामन्जूर किया जाना—कोई पक्षकार विधि की स्वीकृति से आबद्ध न होकर तथ्यों की स्वीकृति से आबद्ध होगा ।

अपीलार्थी रूपक कम्पनी भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 के अधीन रजिस्ट्रीकृत है । उपर्युक्त कम्पनी में अंशधारियों के दो समूह थे । एक समूह का एक लाख रुपये का असली अंश थे । समूह ने भी कम्पनी को दो लाख पचास हजार रुपये संदत्त किए थे । यह वह राशि है जो कि विवादग्रस्त है । इस संबंध में एक समूह द्वारा 1954 का धन सम्बन्धी वाद सं० 35 फाइल किया गया था । कम्पनी ने भी 1953 का प्रतिहक सम्बन्धी वाद संख्या 55 फाइल किया था । उन सभी वादों पर पटना के अपर अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा एक साथ विचारण किया गया था । उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि 2 लाख 50 हजार रुपए कम्पनी द्वारा प्राप्त किए गए थे । दो लाख पचास हजार रुपये के सम्बन्ध में कोई अंश जारी नहीं किए गए थे । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि इस तथ्य की दृष्टि से कि यह रकम कम्पनी द्वारा प्राप्त की गई थी और इसलिए कम्पनी को इस रकम को ब्याज सहित उस समूह को लौटाना चाहिए । सिविल न्यायालय के निष्कर्ष के अनुसार यह स्पष्ट था कि दो लाख पचास हजार रुपये के सम्बन्ध में कम्पनी द्वारा कोई शेयर पूंजी जारी नहीं की गई थी । इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 30 नवम्बर, 1964 तक कम्पनी द्वारा तुलन-पत्र में प्रतिश्रूत पूंजी के रूप में 8,60,047.10 रुपये को दर्शाया गया था । 1965 से कम्पनी की शेयर पूंजी 6,10,047.10 रुपये कम हो गई थी । इन परिस्थितियों में कम्पनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रार ने कम्पनी को भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 की

धारा 100 से 103 तक के उपबंधों के अधीन आवश्यक कदम उठाने के लिए निदेश दिया क्योंकि प्रतिश्रुत पूंजी 8,60,047.10 रुपये से 6,10,047.10 रुपये कम हो गई है। इस आदेश के विरुद्ध है कि कम्पनी ने अधिनियम की धारा 155 के अधीन शेयर रजिस्टर में परिशुद्धि करने के लिए आवेदन फाइल किया। विद्वान् कम्पनी न्यायाधीश ने अधिनियम की धारा 155 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि 2 लाख 50 हजार रुपये की कमी और प्रतिश्रुत पूंजी की कमी शेयर पूंजी थी। इस अपील में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या कम्पनी द्वारा प्राप्त 2,50,000 रुपये अंश पूंजी है या नहीं ?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

कम्पनी के विरुद्ध काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि यह उसकी ओर से स्वीकृत करने पर कम्पनी को अधिनियम की धारा 100(1) के अधीन आवेदन फाइल करना चाहिए था। इस सम्बन्ध में कम्पनी द्वारा फाइल किए गए उत्तर को भी निर्देशित किया गया था। उस उत्तर में कम्पनी अधिनियम की धारा 100 (1) में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए सहमत थी। इस स्वीकृति के आधार पर विद्वान् रजिस्ट्रार ने यह कथन किया कि कम्पनी उस पिटीशन में की गई स्वीकृति से आबद्धकर है। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि विधि की स्वीकृति मुवक्किल पर आबद्धकर नहीं है। अन्य शब्दों में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि कम्पनी द्वारा विधि की स्वीकृति कम्पनी पर उस समय तक आबद्धकर नहीं है जब तक यह तथ्य की स्वीकृति न हो। इन सभी तथ्यों पर विचार करने पर न्यायालय का यह मत है कि विधि की स्वीकृति द्वारा मुवक्किल आबद्ध नहीं है। कोई पक्षकार तथ्यों की स्वीकृति से आबद्ध है। अतः रजिस्ट्रार के पक्षकथन के उत्तर में कम्पनी द्वारा किया गया कथन विधि को गलत रूप से लागू किया गया है। अतः न्यायालय की राय यह है कि अधिनियम की धारा 100(1) के अधीन कोई आवेदन नहीं होगा। अतः इन कारणों से अपीलार्थी अधिनियम की धारा 155 के अधीन शेयर रजिस्टर का परिशुद्धि कराने के लिए ही हकदार था और उसके लिए उसे अनुज्ञात किया जाता है। (पैरा 7 और 8)

		पैरा
[1955]	ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 62 : कालीदास धानजीभाई **बनाम** मुम्बई राज्य (Kalidas Dhanjibhai *Vs.* State of Bombay) **निर्दिष्ट किया गया।**	7

सिविल अपीली अधिकारिता : 1974 की लेटर्स पेटेन्ट अपील संख्या 41.

न्यायाधीश मदनमोहन प्रसाद के तारीख 8 नवम्बर, 1974 के विनिश्चय से अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... रामेश्वर प्रसाद संख्या 2

प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से ... श्री श्रीनाथ सिंह

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री कमल कान्त प्रसाद

न्यायालय का निर्णय न्यायाधीश बी० पी० झा ने दिया।

न्या० झा :

यह लेटर्स पेटेन्ट अपील विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा 1971 के कंपनी मामला संख्या 3 में तारीख 8 नवम्बर, 1974 को पारित निर्णय से उद्भूत होती है।

2. विनिश्चय के लिए संक्षिप्त प्रश्न इस प्रकार है :—"क्या रूपक कम्पनी लिमिटेड (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'कम्पनी' कहा गया है) द्वारा प्राप्त 2 लाख 50 हजार रुपये अंश पूंजी है या नहीं ?"

3. अपीलार्थी रूपक कम्पनी भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 के अधीन रजिस्ट्रीकृत है। उपर्युक्त कम्पनी में अंशधारियों के दो समूह थे अर्थात् मिश्रा समूह और सिंह समूह। मिश्रा समूह का एक लाख रुपये का असली अंश था। मिश्रा समूह ने भी कम्पनी को 2 लाख 50 हजार रुपये संदत्त किये थे। यह वह राशि है जो कि विवादग्रस्त है। इस सम्बन्ध में मिश्रा समूह द्वारा 1954 का धन सम्बन्धी वाद संख्या 35 फाइल किया गया था। कम्पनी ने भी 1953 का प्रतिहक सम्बन्धी वाद संख्या 55 फाइल किया था। ये सभी वाद पटना के अपर अधीनस्थ न्यायाधीश, श्री टी० पी० चौधरी द्वारा एक साथ विचारण किया गया था। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि 2 लाख 50 हजार रुपये कम्पनी द्वारा प्राप्त किए गए थे। 2 लाख 50 हजार रुपए के बदले में कोई अंश जारी नहीं किए गए थे। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि इस तथ्य की दृष्टि से कि यह रकम कम्पनी द्वारा प्राप्त की गई थी और इसलिए कम्पनी को इस रकम को ब्याज सहित मिश्रा समूह को लौटाना चाहिए। सिविल न्यायालय के निष्कर्ष के अनुसार यह स्पष्ट था कि 2 लाख 50 हजार रुपये के बदले में कम्पनी द्वारा कोई शेयर पूंजी जारी नहीं की गई थी।

4. इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 30 नवम्बर, 1964 तक कम्पनी द्वारा तुलन पत्र में प्रतिश्रुत पूंजी के रूप में 8,60,047.10 रुपये को दर्शाया गया था। 1965 से कम्पनी की शेयर पूंजी 6,10,047.10 रुपये कम हो गई थी। इन परिस्थितियों में कम्पनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रार ने कम्पनी को भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 100 से 103 तक के उपबंधों के अधीन आवश्यक कदम उठाने के लिए निदेश दिया क्योंकि प्रतिश्रुत पूंजी 8,60,047.10 रु० से 6,10,047.10 रु० कम हो गई है। उसी आदेश के विरुद्ध कम्पनी ने अधिनियम की धारा 155 के अधीन शेयर रजिस्टर के परिशुद्धि के लिए यह आवेदन फाइल किया है। विद्वान् कम्पनी न्यायाधीश ने अधिनियम की धारा 155 के अधीन फाइल किए गए पिटीशन को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि 2 लाख 50 हजार रुपये की कमी और अभिदत्त पूंजी की कमी शेयर पूंजी थी। ससम्मान मैं यह कहना चाहूंगा कि विद्वान् कम्पनी न्यायाधीश ने 1953 के टी० एस० संख्या 55, 1954 के टी० एस० संख्या 35 और ऐसे अन्य मामलों में अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णयों पर ध्यान नहीं दिया है। निर्णय में विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने इस प्रकार अधिनिर्धारित किया था: (क) यह कि 2 लाख 50 हजार रुपये कम्पनी द्वारा शेयर पूंजी के रूप में प्राप्त नहीं किए गए थे, (ख) यह कि 2 लाख 50 हजार रुपये कम्पनी द्वारा प्राप्त किए गए थे। इन निष्कर्षों के आधार पर विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने कम्पनी को 2 लाख 50 हजार रुपए ब्याज सहित मिश्रा समूह को लौटाने का निदेश दिया था। इन तथ्यों के आधार पर विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि कम्पनी ने 2 लाख 50 हजार रुपये शेयर पूंजी के रूप में प्राप्त किए थे। यदि ऐसा है तो अधिनियम की धारा 100(1) के अधीन शेयरों को कम करने के लिए आवेदन करने की आवश्यकता नहीं है। धारा 100 (1) में यह उपबंध किया गया है कि कम्पनी को शेयर पूंजी में कमी करने के प्रयोजन के लिए आवेदन फाइल करना चाहिए और न कि अन्य किसी प्रयोजन के लिए।

5. विद्वान् कम्पनी न्यायाधीश ने उस समझौता पिटीशन को अनदेखा कर दिया जो कि परिसमापन कार्यवाही संबंधी 1959 के कम्पनी मामला संख्या 1 में फाइल किया गया था। उस मामले में विद्वान् कम्पनी न्यायाधीश के समक्ष एक समझौता पिटीशन फाइल किया गया था। समझौता पिटीशन के पैरा 3 और 7 में कम्पनी को 3,58,000/-रुपये ब्याज सहित की राशि का संदाय करने का निदेश दिया गया था। 3,58,000 रुपये की राशि में 2 लाख 50 हजार

रुपये तथा ब्याज सम्मिलित था। यहां पर निबंधन (VII) उद्धृत करना सुसंगत है :—

(VII) 1954 के धन सम्बन्धी वाद संख्या 34 और 35 में डिक्रीदार डिक्री की सम्पूर्ण तुष्टि में 6% वार्षिक ब्याज की दर से 3 लाख 58 हजार रुपये की राशि को स्वीकार करने के लिए सहमत हैं और शेष राशि को निम्नलिखित निबन्धनों और शर्तों पर वापस लौटाने के लिए सहमत हैं :—

× × × ×

6. 1958 के समझौता पिटीशन एफ० ए० 306 के आधार पर कंपनी द्वारा फाइल किए गए ऐसे मामले वापस लिए गए थे। परिसमापन कार्यवाही संबंधी 1959 के मामला संख्या 1 में की कार्यवाहियां समझौता पिटीशन के कारण ही वापस ली गई थीं। अतः यह स्पष्ट है कि समझौता पिटीशन के कारण दो लाख पचास हजार रुपये की राशि ब्याज सहित मिश्रा समूह को संदत्त की गई थी। इसे कम्पनी की शेयर पूंजी नहीं माना गया था। यदि ऐसा है तो कम्पनी के लिए प्रतिश्रुत पूंजी में उस कमी होने के लिए आवेदन करने की आवश्यकता नहीं थी।

7. कम्पनी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि यह उसकी ओर से स्वीकृत करने पर कम्पनी को अधिनियम की धारा 100(1) के अधीन आवेदन फाइल करना चाहिए था। इस सम्बन्ध में कम्पनी द्वारा फाइल किए गए उत्तर को भी निर्देशित किया गया था। उस उत्तर में कम्पनी अधिनियम की धारा 100(1) में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए सहमत थी। इस स्वीकृति के आधार पर विद्वान् रजिस्ट्रार ने यह कथन किया कि कंपनी उस पिटीशन में की गई स्वीकृति से आबद्धकर है। अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि विधि की स्वीकृति मुवक्किल पर आबद्धकर नहीं है। अन्य शब्दों में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि कम्पनी द्वारा की गई विधि की स्वीकृति कंपनी पर उस समय तक आबद्धकर नहीं है जब तक यह तथ्य की स्वीकृति न हो। इस संबंध में **कालीदास धानजीभाई बनाम मुम्बई राज्य**[1] वाले मामले में के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया है। उक्त विनिश्चय में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि तथ्यों के विधिक प्रभाव के बारे में पक्षकार की राय धारा का अर्थान्वयन करने में कोई महत्वपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया कि कोई विबंध उद्भूत नहीं हुआ है। इन

---

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 62.

सभी तथ्यों पर विचार करने पर मेरा यह मत है कि विधि स्वीकृति ठीक नहीं है। मेरी राय में विधि की स्वीकृति द्वारा मुवक्किल आबद्ध नहीं है। कोई पक्षकार तथ्यों की स्वीकृति से आबद्ध है। अतः रजिस्ट्रार के पक्षकथन के उत्तर में कम्पनी द्वारा किया गया कथन विधि को गलत रूप से लागू करके किया गया है।

8. अतः मेरी राय यह है कि अधिनियम की धारा 100 (1) के अधीन कोई आवेदन नहीं होगा। ऊपर दिए गए कारणों से अपीलार्थी अधिनियम की धारा 155 के अधीन शेयर रजिस्टर में परिशुद्धि कराने के लिए ही हकदार था और उसके लिए उसे अनुज्ञात किया जाता है।

9. परिणामतः अपील मंजूर की जाती है किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

न्या० एस० सरवर अली :

मैं सहमत हूं।

अपील मंजूर की गई।

चन्द

नि० प० 1984 : पटना—128

रामेश्वर सिंह बनाम हरी नारायण सिंह और अन्य

(Rameshwar Singh *Vs*. Hari Narain Singh and another)

तारीख 14 फरवरी, 1984

[न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा]

संविदा अधिनियम, 1872—धारा 37 सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 101 और 102—प्रतिवादी सं० 1 के पिता द्वारा कुछ भूमि के विक्रय हेतु अग्रिम धन प्राप्त करके वादी के पक्ष में करार विलेख निष्पादित किया जाना—प्रतिवादी सं० 1 के पिता की मृत्यु हो जाना—वादी के बार-बार कहने पर करार विलेख के अनुसरण में मृतक और प्रतिवादियों की ओर से विक्रय विलेख का निष्पादित न किया जाना और मृतक की मृत्यु से कुछ समय पूर्व प्रतिवादी सं० 3 के पक्ष में उक्त भूमि के बारे में विक्रय-विलेख निष्पादित किया जाना—प्रतिवादी सं० 3 द्वारा वादी के पक्ष में किसी पूर्व संविदा की सूचना/

जानकारी के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता का अभिवाक् किया जाना—यद्यपि सुस्थापित विधि यह है कि यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि वह पूर्व संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था फिर भी प्रतिवादियों द्वारा वादी को पूर्व संविदा की जानकारी न होने के बारे में इनकार करने की दृष्टि से उसे साबित करने का भार वादी पर होगा।

2. परिसीमा अधिनियम, 1963—अनुच्छेद 54—उक्त अनुच्छेद 54 यदि संविदा के पालन के लिए नियत तारीख हो तो ऐसी तारीख से 3 वर्ष के भीतर या यदि ऐसी कोई तारीख नियत न हो तब वादी पालन से इनकार करने की सूचना मिलने से तीन वर्ष के भीतर वाद फाइल कर सकता है।

प्रतिवादी सं० 1 के पिता और प्रतिवादी सं० 2 के पति द्वारा अपनी भूमि के विक्रय के लिए वादी के पक्ष में करार विलेख निष्पादित किया गया था और 4000 रुपये की राशि अग्रिम धन के रूप में प्राप्त की गई थी। करार विलेख के अनुसरण में वादी के पक्ष में विक्रय विलेख को निष्पादित करने के लिए वादी ने बार-बार निवेदन किया किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला और प्रतिवादी सं० 1 के पिता की मृत्यु हो गई और प्रतिवादी सं० 1 और 2 उनके वारिसों के रूप में रहे। वादी ने प्रतिवादी सं० 1 और 2 से भी करार विलेख के अनुसार उसके पक्ष में विक्रय-विलेख निष्पादित करने का निवेदन किया किन्तु उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। वादी को यह पता चला कि प्रतिवादी सं० 1 के पिता ने वादगत भूमि के सम्बन्ध में बिना किसी प्रतिफल के प्रतिवादी सं० 3 के पक्ष में कपटपूर्ण विक्रय-विलेख निष्पादित किया था ताकि प्रश्नगत विक्रय-विलेख के आधार पर वादी द्वारा अर्जित विधिक अधिकार विफल हो जाए। प्रतिवादी सं० 3 ने यह अभिवाक किया कि उसे वादी के पक्ष में किसी पूर्व संविदा की कोई सूचना या जानकारी नहीं थी। वादी ने उक्त विक्रय-विलेख को कूटरचित और गढ़ा हुआ दस्तावेज होने का अभिवाक् किया है। विचारण न्यायालय और निचले अपील न्यायालय ने वाद को वादी के विरुद्ध अभिनिर्धारित किया और यह कहा कि यह साबित करने का भार वादी पर था कि प्रतिवादी सं० 3 को पूर्व संविदा की कोई जानकारी थी। इसके विरुद्ध यह द्वितीय अपील की गई है। इसमें मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या प्रतिवादी सं० 3 को वादी के पक्ष में संविदा की पूर्व सूचना/जानकारी थी और यह कि निचले न्यायालयों ने प्रस्तुत मामले में साबित करने के भार को वादी पर ठीक ही डाला गया था। इसमें एक मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह भी है कि क्या प्रस्तुत वाद परिसीमा अधिनियम के अनुच्चेद 54 में विहित अवधि के भीतर फाइल किया गया था।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

यह सुस्थापित है कि यह साबित करने का भार प्रतिवादी पर है कि वे मूल्य के लिए अंतरिती थे और यह कि उन्होंने पूर्व संविदा को सूचना के बिना सद्भावी रूप से धन संदत्त किया था। संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में यदि वादी अपनी पूर्व संविदा को साबित करता है तो सूचना के बिना मूल्य के लिए पश्चात्वर्ती सद्भावी अंतरण को साबित करने का भार उस पक्षकार पर होता है जो इसका अभिकथन करता है। यह सुस्थापित विधि है किन्तु यह भी सुस्थापित है कि बहुत कम साक्ष्य और कतिपय परिस्थितियों में वादी को संविदा की जानकारी के अभाव के बारे में मात्र इनकार करने से इस भार का विमोचन हो जायेगा और भार वादी पर हो आ जायेगा। यह कहना ठीक नहीं कि विरोधी प्रतिवादी ने पूर्व संविदा की जानकारी से इनकार नहीं किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विरोध करने वाले प्रतिवादी ने वादी की पूर्ण संविदा की जानकारी न होने का अभिवाक् किया था। इस प्रकार यद्यपि सुस्थापित विधि यह है कि यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि वह पूर्ण संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था फिर भी प्रतिवादी/प्रतिवादियों द्वारा वादी को पूर्व संविदा की जानकारी न होने के बारे में इनकार करने की दृष्टि से भार वादी पर हो जाता है। विधि की इस दृष्टि से निचले दो न्यायालयों ने इस न्यायालय की राय में पूर्व संविदा की जानकारी विरोध करने वाले प्रतिवादी पर से सबूत का भार वादी पर ठीक ही रखा है। न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों को देखते हुए निचले न्यायालयों ने विधि का कोई त्रुटिपूर्ण मत नहीं अपनाया है और इस प्रकार से वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की प्रथम और द्वितीय दलीलें असफल होती हैं। इसके अतिरिक्त न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि इस बारे में निष्कर्ष कि प्रतिवादी सं० 3 को कोई जानकारी नहीं थी भले ही उसने अन्य भूमियों के साथ वादगत भूमियों का क्रय किया था और न ही वह अयुक्तियुक्त और प्रतिकूल है और न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि निष्कर्ष अभिलेख पर की सामग्री के उचित मूल्यांकन पर आधारित हैं। (पैरा 7, 9 और 10)

प्रस्तुत मामले में प्रश्नगत अहदनामा 16 जून, 1969 को निष्पादित किया गया था और विरोध करने वाले प्रतिवादियों के पक्ष में विक्रय-विलेख तारीख 11 अगस्त, 1969 के हैं और वादी-अपीलार्थी द्वारा वाद 3 अगस्त, 1971 को फाइल किया गया है। वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने न्यायालय का ध्यान परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 54 की ओर आकर्षित किया है जो कि

संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद के लिए 3 वर्ष विहित करता है। परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 54 के अनुसार वाद पालन के लिए नियत तारीख से 3 वर्ष के भीतर या यदि ऐसी कोई तारीख नियत नहीं की गई है, जब वादी को यह सूचना मिलती है कि पालन के इनकार किया गया है, से 3 वर्ष के भीतर फाइल किया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में स्वीकृततः संविदा के पालन के लिए कोई तारीख नियत नहीं है और इसलिए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद उस समय फाइल किया जा सकता था जब वादी को यह सूचना मिली थी कि पालन से इनकार किया गया है। अभिकथित अहदनामे से यह विरोध करने वाले प्रतिवादी के पक्ष में विक्रय-विलेखों की तारीख से 3 वर्ष की अवधि समाप्त नहीं हुई है जो कि उस तारीख से बहुत कम है जबकि प्रतिवादी सं० 1 के पिता के वारिस द्वारा उसके पालन से इनकार किया गया था। न्यायालय की राय में निचले अपील न्यायालय ने इस बारे में त्रुटिपूर्ण मत अपनाया है कि प्रश्नगत संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के बारे में 2 वर्ष का विलम्ब हुआ है जो कि वादी अपीलार्थी के विरुद्ध एक कारण था। यह सुस्थापित है कि विधि के नियम के अधीन जहां तक परिसीमा अधिनियम द्वारा विहित अवधि का सम्बन्ध है वह समाप्त नहीं हुई है, इसलिए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन का दावा करने वाले व्यक्ति की ओर से अधित्यजन या उपमति का कोई प्रश्न नहीं है। यद्यपि इस मुद्दे पर निचले अपील न्यायालय ने त्रुटिपूर्ण मत अपनाया है फिर भी निचले अपील न्यायालय द्वारा इसे विलम्ब के कारणों में से एक कारण के रूप में लिया गया है और इसलिए इस मामले में निचले अपील न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत त्रुटिपूर्ण है। इससे वादी को बिल्कुल भी कोई मदद नहीं मिलती है क्योंकि मामले का मुख्य विधिक पहलू यही है। न्यायालय ने पहले ही उपर यह अभिनिर्धारित किया है कि निचले न्यायालयों ने प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर यह साबित करने का भार वादी पर ठीक ही रखा है कि विरोध करने वाले प्रतिवादी को पूर्व संविदा की जानकारी थी। (पैरा 11)

पैरा

[1929] ए० आई० आर० 1929 पटना 300 : रामधनी सिंह और एक अन्य बनाम गुमानी रावत और एक अन्य (Ramdeni Singh and another *Vs.* Gumani Raut and another) — 7

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की अपीली डिक्री सं० 12 से उद्भूत अपील।

छपरा के जिला न्यायाधीश, मोहम्मद जमीलुर्रहमान के तारीख 11 सितम्बर, 1978 के विनिश्चय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री बिनोद कुमार राय

प्रत्यर्थियों की ओर से ... कोई नहीं

न्या० अश्विनी कुमार सिन्हा :

यह द्वितीय अपील वादी द्वारा की गई है और यह तारीख 16 जून, 1969 की संविदा (प्रदर्श-3) के विनिर्दिष्ट पालन करने के लिए वाद से और पुष्टि के निर्णय से उद्भूत हुई है।

2. पक्षकारों का यह स्वीकृत मामला है कि विवादग्रस्त भूमि (वाद-पत्र में पूर्ण रूप से वर्णित) ग्राम कस्बा मकेर टोला शीवजी (जिला सारन) के रामयाद सिंह नामक व्यक्ति की थी जो प्रतिवादी सं० 1 का पिता था और प्रतिवादी सं०2 का पति था। वादी का पक्षकथन यह था कि चूंकि उसकी बहिन का विवाह ग्राम कस्बा मकेर में हुआ था और वह समय-समय पर उस गांव में जाता था और उसके वहां जाने के दौरान उसका रामयाद सिंह से परिचय हो गया था। वादी ने यह अभिवाक् किया है कि वर्ष 1969 में रामयाद सिंह को धन की आवश्यकता थी और वह अपनी भूमि का निपटान करने के बिना धन का प्रबन्ध करने में असमर्थ था और इसलिए उसने 6,000 रुपये की राशि में वादी को अपनी भूमि का एक बीघा बेचने की बातचीत की। वादी के अनुसार बात-चीत को अन्तिम रूप दिया गया और उसने 16 जून, 1969 को अग्रिम धन के रूप में रामयाद सिंह को 4,000 रुपये की दावा की गई राशि दी जिस तारीख को वादी के अनुसार रामयाद सिंह ने वादी को 6,000 रुपये की राशि में अपनी भूमि का एक बीघा बेचने की सहमति प्रकट करते हुए वादी के पक्ष में करार विलेख निष्पादित किया। वादी के अनुसार उक्त करार विलेख रामयाद सिंह द्वारा अपने पुत्र (प्रतिवादी संख्या 1) और ठाकुर सिंह (प्रतिवादी संख्या 3) की उपस्थिति में निष्पादित किया गया था। वादी के अनुसार उक्त करार विलेख के अनुसरण में उसके पक्ष में विक्रय-विलेख को निष्पादित करने के लिए रामयाद सिंह से वादी ने बार-बार निवेदन किया किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला और उसके पश्चात् माघ 1375 फसली के मास में रामयाद सिंह की मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र प्रतिवादी सं०1 और उसकी प्रदिवादी सख्या 2 उसके वारिसों के रूप में रहे। वादी के अनुसार उसने प्रतिवादी सं०1 और 2 से भी करार विलेख के अनुसार उसके पक्ष में विक्रय-

विलेख निष्पादित करने का निवेदन किया किन्तु न तो प्रतिवादी सं०1 ने और न ही प्रतिवादी सं० 2 ने उसके ऐसा करने की कोई परवाह की।

3. इसके अतिरिक्त वादी का पक्षकथन यह था कि उसको यह पता चला कि रामयाद सिंह ने अन्य भूमियों के अलावा वादगत भूमि के संबंध में बिना किसी प्रतिफल के प्रतिवादी संख्या 3 के पक्ष में कपटपूर्ण विक्रय-विलेख निष्पादित किया था ताकि प्रश्नगत करार विलेख के आधार पर वादी द्वारा अर्जित विधिक अधिकार विफल हो जाए। वादी का मामला यह था कि प्रतिवादी सं० 3 के पक्ष में उपर्युक्त अन्तरण से उसको कोई अधिकार, हक या हित सृष्ट नहीं हुआ था और वादी क़रार विलेख (प्रदर्श 3) के अनुसार संविदा के विशिष्ट पालन के लिए डिक्री का हकदार था। वादी के अनुसार प्रतिवादी सं०1 और 2 को रजिस्ट्रीकृत सूचनाएं भी भेजी गई थीं किन्तु उनमें से किसी ने उसका उत्तर देने की परवाह नहीं की, इसलिए यह वाद किया गया।

4. वाद का प्रतिवादी सं० 3 द्वारा विरोध किया गया। इस प्रतिवादी सं० 3 (विरोध करने वाले प्रतिवादी) ने वादगत भूमि के क्रय का कुछ अन्य भूमियों के साथ प्रत्येक भूमि के लिए 2,000 रुपये में तारीख 11 अगस्त, 1969 के चार विक्रय-विलेख के कारण क्रय का दावा किया था। प्रतिवाद यह था कि वह विक्रय के लिए किसी पूर्व संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए वादगत भूमि का सद्भावपूर्ण क्रेता था। विरोध करने वाले प्रतिवादी ने यह प्रत्याख्यान किया कि रामयाद सिंह द्वारा वादी के साथ किसी भी करार विलेख किए बिना उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था और इसके अतिरिक्त उसने यह दलील दी कि वादी द्वारा अवलंब लिया गया करार विलेख कूटरचित था और गढ़ा हुआ दस्तावेज था जो कि पूर्व दिनांकित स्टाम्प पर लिखा गया था ताकि उपर्युक्त विक्रय-विलेखों के आधार पर उसका हक विफल हो जाए। विरोध करने वाले प्रतिवादी के अनुसार वादी प्रतिवादी सं० 1 का मामा था और प्रतिवादी सं० 2 का सगा भाई था और उसे पूर्व दिनांकित दस्तावेज के आधार पर वाद फाइल करने के लिए प्रतिवादी सं०1 और 2 द्वारा स्थापित किया गया था जो कि उसके अनुसार रामयाद सिंह की मृत्यु से कुछ दिन पहले ही किया गया था। इन अभिवचनों के आधार पर विरोध करने वाले प्रतिवादी का पक्षकथन यह था कि वादी उस करार-विलेख, जो कि प्रतिवादी के अनुसार कूटरचित और गढ़ा हुआ था, के आधार पर किसी अनुतोष का हकदार नहीं था।

5. विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि वादी द्वारा अवलम्ब लिए गए अहद नामा सन्देहपूर्ण दस्तावेज था और

यह कि प्रतिवादी संख्या 3 किसी पूर्व संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए सद्भावपूर्ण क्रेता था। इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी पूर्व संविदा की सूचना/जानकारी के बारे में प्रतिवादी संख्या 3 की ओर से इनकार करने की दृष्टि से यह साबित करने का भार वादी पर था कि प्रतिवादी सं० 3 को अभिकथित अहद नामे के बारे में पूर्व जानकारी थी। विचारण न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि वादी यह साबित करने में असफल रहा है कि वह संविदा के पालन के लिए अपनी ओर से तत्पर था और तत्पर है। इन निष्कर्षों के आधार पर विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया।

6. विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध वादी ने अपील की। निचले अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि रामयाद सिंह द्वारा निष्पादित करार विलेख (प्रदर्श 3) कूटरचित और गढ़ा हुआ नहीं है और न ही यह पूर्व दिनांकित था। फिर भी इसने निम्नलिखित निष्कर्षों के आधार पर वादी की अपील खारिज कर दी। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं०3 बिना सूचना के मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था और इस प्रतिवादी संख्या 3 को अभिकथित अहद नामे की कोई पूर्व जानकारी नहीं थी। इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिवादी संख्या 3 क्रय के पश्चात् वादगत भूमियों पर काबिज हुआ था। इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वाद फाइल करने में विलम्ब (अर्थात् अभिकथित अहद नामे के निष्पादन के 2 वर्ष पश्चात्) वादी के विरुद्ध एक कारण था। इन निष्कर्षों के आधार पर निचले अपील न्यायालय ने, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अपील खारिज कर दी।

7. इस प्रकार वादी ने प्रस्तुत द्वितीय अपील फाइल की है। वादी-अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने प्रथमतः यह दलील दी है कि निचले न्यायालयों ने साबित करने का भार वादी पर गलत रूप से रखा था और यह दलील दी गई थी कि यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि उसे पूर्व संविदा की कोई जानकारी नहीं थी। वादी-अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउन्सेल के अनुसार यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि वह बिना किसी सूचना के मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था। द्वितीयतः विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि पूर्व संविदा की जानकारी से अपने लिखित कथन में विरोध करने वाले प्रतिवादी द्वारा इनकार नहीं किया गया है और मामले को उस दृष्टि से देखते हुए निचले न्यायालयों ने गलत रूप से साबित करने का भार वादी पर रखा था और इस

प्रकार से विधि संबंधी भूल करके वादी के विरुद्ध निष्कर्ष निकाला था जो कि द्वितीय अपील पर आबद्ध नहीं था और अन्ततः यह कि निचले अपील न्यायालयों ने वादी के पक्ष में अहदनामा के निष्पादन के पश्चात् वाद फाइल करने में दो वर्ष के विलम्ब के आधार पर वादी के वाद को खारिज करके विधि संबंधी भूल की है। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार निचले अपील न्यायालय को विधि के नियम की जानकारी होनी चाहिए थी कि जहां तक परिसीमा अधिनियम द्वारा विहित अवधि का सम्बन्ध है वह समाप्त नहीं हुई थी इसलिए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन का दावा करने वाले व्यक्ति की ओर से अधित्यजन और उपमति का कोई प्रश्न नहीं था। वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई प्रथम और द्वितीय दलीलें आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। यह सुस्थापित है कि यह साबित करने का भार प्रतिविादियों पर है कि वे मूल्य के लिए अन्तरिति थे और यह कि उन्होंने पूर्व संविदा की सूचना के बिना सद्भावी रूप से धन संदत्त किया था। संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में यदि वादी अपनी पूर्व संविदा को साबित करता है तो सूचना के बिना मूल्य के लिए पश्चात्वर्ती सद्भावी अन्तरण को साबित करने का भार उस पक्षकार पर होता है जो इसका अभिकथन करता है। यह सुस्थापित विधि है किन्तु यह भी सुस्थापित है कि बहुत कम साक्ष्य और कतिपय परिस्थितियों में वादी की संविदा की जानकारी के अभाव के बारे में मात्र इन्कार करने से इस भार का विमोचन हो जाएगा और भार वादी पर आ जाएगा। **रामधनी सिंह और एक अन्य बनाम गुमानी रावत और एक अन्य**[1] वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया जा सकता है।

8. विधि के उपर्युक्त सुस्थापित मत को ध्यान में रखते हुए यह देखना है कि क्या निचले न्यायालयों ने प्रस्तुत मामले में साबित करने के भार को वादी पर ठीक ही डाला है।

9. वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने अपनी इस दलील के समर्थन में वादपत्र के पैरा 7 को रखा है कि वादी ने विरोध करने वाले प्रतिवादियों की ओर से वादी की पूर्व संविदा की जानकारी का अभिकथन किया था। वाद-पत्र के पैरा 7 में अन्य पंक्तियों का लोप करते हुए सुसंगत पंक्ति जिसकी ओर वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने मेरा ध्यान आकर्षित किया था, वह इस प्रकार है :—

"मुदालाह नं० 3 में बाद के बेदार बहलम महदा में मुद्दई के है"

---

[1] ए० आई० आर० 1929 पटना 300.

और उसने यह स्वीकार करने के लिए मेरे समक्ष लिखित कथन के पैरा 12 को रखा कि विरोध करने वाले प्रतिवादी को वादी की पूर्व संविदा जैसा कि वादपत्र के पैरा 7 में अभिकथित किया गया है, विरोध करने वाले प्रतिवादी द्वारा इनकार नहीं किया गया है। पैरा 12 को उद्धृत करना सुसंगत है :—

"यह के बयान मुद्दई मुन्दर्जे दफा 7 आरजी नालिस सरिहन झूठा व मनगढ़न्त है। मुद्दई ने कभी कि तकाजा रामयाद सिंह से वास्ते तेहरीर कराने बेनामा नहीं की और न कभी इसकी नौबत आई। लिहाजा रामयाद सिंह के टाल-मटोल या इनकार करने की कोई सबूत ही नहीं था। मुद्दई को मैं मुदालाह के बेनाम का इल्म शुरू से था वो है। हरगिज वसीजात बेनामा बनाम मैं मुदालाह फर्जी वो बिना दादसीदत का नहीं है। बल्कि असली, जायज वो सही दालसीदत के है। मैं मुदालाह हरगिज रामयाद सिंह के बिरादर हकीकी के साले नहीं है। मैं मुदालाह आरजा करीब 24 वरस से मौजा कस्बो मकेर टोला शिव सिंह के रहते चली आई।"

न्याय के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने विरोध करने वाले प्रतिवादी द्वारा फाइल किए गए लिखित कथन को पढ़ा है। वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की ओर से यह दलील देना ठीक नहीं है कि विरोध करने वाले प्रतिवादी ने अपनी ओर से पूर्व संविदा की जानकारी से इनकार नहीं किया है। लिखित कथन के पैरा 6 और 9 से सुसंगत पंक्तियों को उद्धृत करना आवश्यक है :—

"6. मुद्दई ने कभी कोई जायदाद मौजा कस्बा मकेर में हासिल नहीं किया है वो ना कोई जर पेशकी है। मौजा कस्बा मकेर से लिखवाया है। तहत इल्म में मुदालाह मुद्दई को कोई भी आवाकत बया या जर पेशगी लिखवाने का नहीं है।"

"9. दफा मजकूर में कथित अहदनामे के तहरीर के वक्त में मुदाला की मौजूदगी का झूठा बयान सिर्फ मैं मुदालाह पर कथित अहदनामा का नौलेज फसान करने के लिए किया गया है।"

विरोध करने वाले प्रतिवादी की प्रतिवादी साक्षी 4 के रूप में परीक्षा की गई और उसने अभिकथित अहदनामे की जानकारी से स्पष्ट रूप से इनकार किया है और निम्नलिखित अभिसाक्ष्य दिया है :—

"ऐसी बात सच नहीं है कि कथित अहद मेरे ही समक्ष लिखा गया था।"

10. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विरोध करने वाले प्रतिवादी ने वादी की पूर्व संविदा की जानकारी न होने का अभिवाक् किया था। इस प्रकार यद्यपि सुस्थापित विधि यह है कि यह साबित करने का भार विरोध करने वाले प्रतिवादी पर था कि वह पूर्व संविदा की सूचना के बिना मूल्य के लिए सद्भावी क्रेता था फिर भी प्रतिवादी/प्रतिवादियों द्वारा वादी की पूर्व संविदा की जानकारी न होने के बारे में इनकार करने की दृष्टि से भार वादी पर हो जाता है। विधि की इस दृष्टि से निचले दो न्यायालयों ने मेरी राय में पूर्व संविदा की जानकारी विरोध करने वाले प्रतिवादी पर से सबूत का भार वादी पर ठीक ही रखा है। मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों को देखते हुए निचले न्यायालयों ने विधि का कोई मनमाना मत नहीं अपनाया है और इस प्रकार से वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की प्रथम और द्वितीय दलीलें असफल होती हैं। इसके अतिरिक्त मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि प्रश्नगत अहदनामे के इस प्रभाव के निष्कर्ष के बारे में प्रतिवादी सं० 3 को कोई जानकारी नहीं थी भले ही उसने अन्य भूमियों के साथ वादगत भूमियों का क्रय किया था और न ही वह अयुक्तियुक्त और प्रतिकूल है और मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि निष्कर्ष अभिलेख पर की सामग्री के उचित मूल्यांकन पर आधारित हैं।

11. अब वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की अन्तिम दलील पर विचार करना शेष है जो कि वाद को फाइल करने में 2 (दो) वर्ष के विलम्ब के बारे में है और यह तथ्य भी वादी-अपीलार्थी के विरुद्ध ही है। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार निचले अपील न्यायालय ने इस विलम्ब के तथ्य उस वाद की खारिजी करने के लिए गलत अपनाया है। प्रस्तुत मामले में प्रश्नगत अहदनामा 16 जून, 1969 को निष्पादित किया गया था और विरोध करने वाले प्रतिवादियों के पक्ष में विक्रय-विलेख तारीख 11 अगस्त, 1969 के हैं और वादी-अपीलार्थी द्वारा वाद 3 अगस्त, 1971 को फाइल किया गया है। वादी-अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने मेरा ध्यान परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 54 की ओर आकर्षित किया है जोकि संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद के लिए 3 वर्ष विहित करता है। परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 54 के अनुसार पालन के लिए वाद नियत तारीख से 3 वर्ष के भीतर या यदि ऐसी कोई तारीख नियत नहीं की गई है, जब वादी को यह सूचना मिलती है कि पालन से इनकार किया गया है, से 3 वर्ष के भीतर फाइल किया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में स्वीकृततः संविदा के पालन के लिए कोई तारीख नियत नहीं है और इसलिए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद उस समय फाइल किया जा सकता था जब वादी को यह सूचना मिली थी कि पालन से इनकार किया गया है।

अभिकथित अहदनामे से यह विरोध करने वाले प्रतिवादी के पक्ष में विक्रय-विलेखों की तारीख से वह 3 वर्ष की अवधि समाप्त नहीं हुई है जो कि उस तारीख से बहुत कम है जबकि रामयाद सिंह के वारिस द्वारा उसके पालन से इनकार किया गया था। मेरी राय में निचले अपील न्यायालय ने इस बारे में त्रुटिपूर्ण मत अपनाया है कि प्रश्नगत संविदा के विनिर्दिष्ट पालन के बारे में 2 वर्ष का विलम्ब हुआ है जो कि वादी अपीलार्थी के विरुद्ध एक कारण था। यह सुस्थापित है कि विधि के नियम के अधीन जहां तक परिसीमा अधिनियम द्वारा विहित अवधि का सम्बन्ध है, वह समाप्त नहीं हुई है इसलिए संविदा के विनिर्दिष्ट पालन का दावा करने वाले व्यक्ति की ओर से अधित्यजन या उपमति का कोई प्रश्न नहीं है। यद्यपि इस मुद्दे पर निचले न्यायालय ने त्रुटिपूर्ण मत अपनाया है फिर भी निचले अपील न्यायालय द्वारा इसे विलम्ब के कारणों में से एक कारण के रूप में लिया गया है और इसलिए इस मामले में निचले अपील न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत त्रुटिपूर्ण है। मामले में इससे वादी को बिलकुल भी कोई मदद नहीं मिलती है क्योंकि मामले का मुख्य विधिक पहलू यही है। मैंने पहले ही ऊपर यह अभिनिर्धारित किया है कि निचले न्यायालयों ने प्रस्तुत मामले के तथ्यों पर यह साबित करने का भार वादी पर ठीक ही डाला है कि विरोध करने वाले प्रतिवादी को पूर्व संविदा की जानकारी थी।

12. परिणामतः, अपील खारिज की जाती है, किन्तु मामले की परिस्थितियों में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

अपील खारिज की गई।

चन्द

नि० प० 1984 : पटना—138

राजेश कुमार ठाकुर बनाम संघ लोक सेवा आयोग और एक अन्य

(Rajesh Kumar Thakur *Vs.* Union Public Service Commission and another)

तारीख 28 फरवरी, 1984

[न्या० ललित मोहन शर्मा और न्या० एम० पी० वर्मा]

नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत—दूसरे पक्ष को भी सुनो—यदि किसी मामले में अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध शास्तिक आदेश से सिविल परिणाम होते

हैं, और ऐसा आदेश कुछ दस्तावेजों के आधार पर पारित किया जाता है तो अपराधी व्यक्ति दस्तावेजों की जांच करने और उनकी प्रतियां प्राप्त करने के लिए हकदार है और उसे सुनवाई का अवसर भी दिया जाना चाहिए—इन शर्तों में से किसी भी शर्त के अतिक्रमण से 'दूसरे पक्ष को भी सुनो', सिद्धांत का अतिक्रमण होता है—दण्डस्वरूप दिया गया आदेश अवैध है।

पिटीशनर भारतीय वन सेवा में नियुक्ति के लिए परीक्षा में बैठा। उक्त परीक्षा संघ, लोक सेवा आयोग द्वारा ली गई थी। पिटीशनर विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में पास हुआ है और फिलहाल प्राध्यापक है। किन्तु महत्त्वकाक्षी होने के कारण वह 1982 में केन्द्रीय सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा में बैठा और मुख्य परीक्षा में बैठने के लिए अर्हित हुआ। भारतीय वन सेवा की परीक्षा के सम्बन्ध में उसे कारण बताओ सूचना मिली जिसमें उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने एक अन्य परीक्षार्थी को ऋजु साधनों का उपयोग करने के लिए दुष्प्रेरित किया और उक्त परीक्षार्थी ने पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिका में से उत्तरों की नकल की और यह कार्य पिटीशनर की मौनानुकूलता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। उक्त सूचना प्राप्त होने के समय पिटीशनर सिविल सेवा की परीक्षा में व्यस्त था अतः उसने जल्दी-जल्दी में उसका स्पष्टीकरण दे दिया। आयोग ने उसे 10 वर्ष की कालावधि के लिए संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में बैठने से विवर्जित कर दिया और उक्तपरीक्षा में उसकी अभ्यर्थिता भी रद्द कर दी। उक्त आदेश को अभिखडित करने के लिए प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया गया है। पिटीशनर ने यह दलील दी है कि वह उन कारणों को जानने के लिए हकदार है जिनके आधार पर प्राधिकारियों ने आक्षेपित आदेश पारित किया। उसने दोनों उत्तर-पुस्तकाओं के निरीक्षण करने की अनुमति चाही तथा यह भी निवेदन किया कि परीक्षक द्वारा पेश की गई रिपोर्ट की प्रति भी उसे उपलब्ध कराई जाए जिससे कि वह अपना पक्षकथन पेश कर सके।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

यदि आक्षेपित आदेश कायम रखा जाता है तो इस बात की सम्भावना है कि पिटीशनर पर गम्भीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिसमें सिविल परिणाम अंतर्वलित हैं। ऐसी स्थिति में किसी परीक्षार्थी को दण्डित करने के पहले नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण अवश्य ही किया जाना चाहिए। (पैरा 8)

प्राधिकारी द्वारा जो राय कायम की गई है, वह पारिस्थितिक साक्ष्य

पर आधारित है। यह नहीं कहा गया है कि किसी ने भी पिटीशनर या अन्य परीक्षार्थी को परीक्षा के दौरान नावाजिब तरीकों का उपयोग करते हुए देखा था। परीक्षक द्वारा उत्तर-पुस्तिकाओं की परीक्षा करने के पश्चात् ही कुछ उत्तरों में समानता देखी गई। इस समानता के आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि अन्य परीक्षार्थी ने अवश्य ही पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिकाओं से उत्तरों की नकल की है और यह भी कि ऐसा तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि पिटीशनर की मौनानुकूलता न हो। इन परिस्थितियों में दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं में समानता की प्रकृति और विस्तार सुसंगत बन जाती है और यदि पिटीशनर दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं की जांच करने के लिए अवसर का दावा करता है तो ऐसे दावे को नामंजूर नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रम पर यह धारणा नहीं की जा सकती कि पिटीशनर ने या तो अन्य परीक्षार्थी को बोलकर उत्तर लिखवाए थे या यह कि उसने अपनी उत्तर-पुस्तिकाएं उसे नकल करने के लिए सौंपी थीं और इसलिए आगे यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि पिटीशनर को उत्तरों के दोनों प्रवर्गों में समानता के विस्तार और डिक्री का ज्ञान है। अतः उसे दोनों उत्तर-पुस्तिकाओं की जांच करने की अनुज्ञा दी जानी चाहिए। पिटीशनर ने यह भी प्रार्थना की है कि प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाए कि वे इस सम्बन्ध में अधीक्षक और/या परीक्षक की रिपोर्ट की एक प्रति भी उसे सौंपे। यह प्रार्थना भी अयुक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती है। (पैरा 9)

इन परिस्थितियों में न्यायालय आयोग की इस दलील को नामंजूर करता है कि प्रश्नगत दस्तावेजें विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेजें हैं और वे प्रकट नहीं की जा सकतीं। पिटीशनर को इस बात की अनुज्ञा दी जाती है कि वह दो उत्तर-पुस्तिकाओं और परीक्षक की रिपोर्ट का निरीक्षण कर सके। (पैरा 10)

प्रत्यर्थियों को स्थान, तारीख और समय नियत करने का निदेश दिया जाता है जिससे कि पिटीशनर उत्तर पुस्तिकाएं और परीक्षक की रिपोर्ट की जांच कर सके और पिटीशनर को दस्तावेजों की परीक्षा करने की इजाजत दी जाती है। इस सम्बन्ध में पिटीशनर प्रत्यर्थी सं० 2 से सम्पर्क स्थापित कर सकता हैं। इसके पश्चात् पिटीशनर के मामले पर विचार करने के बाद जांच समाप्त हो जाएगी। पिटीशनर के विरुद्ध पहले जो आदेश पारित किए गए हैं, वे अभिखंडित किए जाते हैं और मामले का पुनः विनिश्चय करते समय उन पर विचार नहीं किया जाएगा। (पैरा 12)

इस तथ्य का समर्थन करने के लिए कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है कि स्वयं पिटीशनर ने परीक्षा भवन में उत्तर-पुस्तिकाओं को लिखने के दौरान नावाजिब

तरीकों का इस्तेमाल किया था। परीक्षा भवन के अधीक्षकों की ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं है। (पैरा 16)

यह बात अवश्य ही स्मरण रखी जानी चाहिए कि ऐसे मामले में यदि पारिस्थितिक साक्ष्य से भिन्न-भिन्न निर्वचन या भिन्न-भिन्न सम्भावनाएं और उपधारणाएं प्रकट होती हैं तो उनके आधार पर कार्य करना कभी भी निरापद नहीं हो सकता और किसी भी अपराधी को आरोप के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार के मामलों में निश्चित रूप से ही साक्ष्य अधिनियम के सिद्धांतों को लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राधिकारियों को यह स्मरण रखना होगा कि किसी व्यक्ति पर ऐसे आरोप लगाने और उसे दोषी ठहराने के लिए पर्याप्त साक्ष्य होना चाहिए जिसके आधार पर कोई भी प्रज्ञावान व्यक्ति कार्यवाही कर सके और निष्कर्ष अस्तित्व में न रहनें वाली सामग्रियों पर आधारित नहीं होने चाहिए। (पैरा 17)

ऐसे मामले में, जिसमें दस्तावेजें आरोप की विषय-वस्तु हैं, कोई अपराधी व्यक्ति दस्तावेजों की जांच करने और उनकी प्रतियां प्राप्त करने के लिए हकदार है और उसे सुनवाई का भी अवसर दिया जाना चाहिए। इन शर्तों में से किसी भी शर्त के अतिक्रमण से 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' के सिद्धांत का अतिक्रमण होता है। (पैरा 18)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 149 : एस० पी० गुप्ता **बनाम** भारत संघ (S. P. Gupta *Vs.* Union of India);	10
[1979]	ए० आई० आर० 1979 इलाहाबाद 209 पूर्ण न्यायपीठ : गजनफर रशीद **बनाम** सचिव, हाई स्कूल और इन्टरमिडिऐट शिक्षा बोर्ड (Ghaznafar Rashid *Vs.* Secretary, Board of High School and Intermediate Education);	11
[1975]	ए० आई० आर० 1975 राजस्थान 116 : इन्दिरा मेथी **बनाम** माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (Indira Methi *Vs.* Board of Secondary Education);	8
[1972]	ए० आई० आर० 1972 उड़ीसा 224 (पूर्ण न्यायपीठ) : प्रमीला देयी **बनाम** सचिव, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड	8

(Pramila Dei *Vs.* Secretary Board of Secondary Education);

[1964] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 460 ई० वी० कुमार **बनाम** मद्रास विश्वविद्यालय (E. V. Kumar *Vs.* The University of Madras) 8

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक अधिकारिता : 1983 का सिविल रिट मामला सं० 2239.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री ताराकांत झा और मिहिर कुमार झा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री कमला कांत प्रसाद, स्थायी काउंसेल, केन्द्रीय सरकार

न्यायालय का निर्णय न्या० ललित मोहन शर्मा ने दिया।

न्या० शर्मा :

पिटीशनर भारतीय वन सेवा में नियुक्ति के लिए परीक्षा में बैठा। उक्त परीक्षा संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ली गई थी। आक्षेपित आदेश के द्वारा यह कहा गया है कि पिटीशनर ने एक अन्य विद्यार्थी को अऋजु साधनों का उपयोग करने के लिए दुष्प्रेरित किया और तद्नुसार उसे संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं में बैठने से 10 वर्ष की कालावधि के लिए विवर्जित किया गया। उक्त परीक्षा में उसकी अभ्यर्थिता भी रद्द कर दी गई।

2. रिट पिटीशन में वर्णित तथ्यों के अनुसार पिटीशनर एक अच्छा विद्यार्थी रहा है और विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उसे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई है। वह 1982 में केन्द्रीय सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा में बैठा था और मुख्य परीक्षा में बैठने के लिए अर्हित हुआ था। इसी बीच भारतीय वन सेवा में नियुक्ति के लिए परीक्षा हुई और उसमें पिटीशनर एक अभ्यर्थी बना। वह परीक्षा में बैठा और इसके पश्चात् सिविल सेवा में अपनी नियुक्ति के लिए होने वाली मुख्य परीक्षा के लिए वह तैयारी कर रहा था। उस समय उसे एक कारण बताओ सूचना उपा० 3 मिली जिसमें उससे यह कहा गया कि वह यह स्पष्टीकरण दे कि उसके विरुद्ध कार्यवाही क्यों नहीं की जानी चाहिए। पत्र में यह कहा गया कि जितेन्द्र कुमार सिंह परीक्षा भवन में उसी लाइन में पिटीशनर के ठीक पीछे

बैठा था और यह पाया गया कि भौतिकी के प्रश्न-पत्र में प्रश्न सं० 2 और 5 के उत्तर बहुत हद तक समान हैं। प्रश्न सं० 1-ए और 1-डी के उत्तर और प्रश्न सं० 1-सी का कुछ भाग भी जितेन्द्र कुमार सिंह के समान ही हैं। पत्र में आगे यह वर्णित किया गया कि इस समानता से यह ज्ञात होता है कि जितेन्द्र कुमार सिंह ने पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिका में से उत्तरों की नकल की थी और यह कार्य पिटीशनर की मौनानुकूलता के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

3. भारतीय वन सेवा परीक्षा, 1982 के नियमों के नियम 10 द्वारा प्राधिकारियों को ऐसी परिस्थितियों में जांच करने की और दोषी व्यक्ति को दण्डित करने की अनुज्ञा दी गई है। पिटीशनर के कथनानुसार कारण बताओ सूचना उसे उस समय मिली जब वह सिविल सेवा की परीक्षा में से गुजर रहा था और चूंकि कारण बताओ सूचना का उत्तर देने का समय अपर्याप्त था, अतः उसने अपना स्पष्टीकरण उपा० 4 में यथा अंतर्विष्ट अनुसार जल्दी-जल्दी में दे दिया। तत्पश्चात् आक्षेपित आदेश, जो उपा० 5 में है, पारित किया गया। प्रस्तुत रिट आवेदन उस आदेश को अभिखंडित करने के लिए पारित किया गया है।

4. कारण बताओ सूचना के उत्तर में पिटीशनर ने यह वर्णित किया कि प्रश्न सं० 1 (ए), 1 (सी) और 1 (डी) विशुद्ध रूप से गणित के पत्र थे और उत्तरों में समानता से नकल करने का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रश्न सं० 5 के विषय में भी यह वर्णित किया गया था कि उसमें भी अंक सम्बन्धी समस्या अंतर्वलित थी।

5. यह रिट आवेदन 17 मई, 1983 को फाइल किया गया था और ग्रहण किए जाने के लिए 19-5-1983 को न्यायालय के समक्ष रखा गया। ग्रहण किए जाने से सम्बन्धित मामले की सुनवाई करने वाली न्यायपीठ ने भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल को यह निदेश दिया कि वह इस न्यायालय के समक्ष पिटीशनर और जितेन्द्र कुमार सिंह की भौतिकी के प्रश्न पत्र की उत्तर पुस्तिकाएं प्रस्तुत करे। 11-7-1983 को और आदेश किए जाने के लिए मामला प्रस्तुत किया गया। मामले की सुनवाई करने वाले न्यायपीठ ने पिटीशनर की इस दलील को स्वीकार किया कि वह उन कारणों को जानने के लिए हकदार है जिनके आधार पर प्राधिकारियों ने आक्षेपित आदेश पारित किया। प्रत्यर्थियों की ओर से यह कहा गया कि दस्तावेज विशेषाधिकार प्राप्त हैं और पिटीशनर को कारण संसूचित नहीं किए जा सकते। न्यायपीठ ने इस प्रश्न पर काफी विस्तार से विचार किया और तब यह अभिनिर्धारित किया

कि प्रत्यर्थियों द्वारा जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह कायम रखे जाने योग्य नहीं है और तद्नुसार प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया कि वे पिटीशनर को वे कारण प्रदाय करें जिनके आधार पर आक्षेपित आदेश पारित किया गया था। मामलेको अंततः 29 अगस्त, 1983 को न्यायालय के समक्ष रखा गया। इसबीच पिटीशनर ने 18-8-1983 को एक आवेदन, जो अभिलेखों के पृष्ठ 47 पर है, फाइल किया। उसने एक पत्र की प्रतिलिपि संलग्न की जिसमें आदेश के कारण उपदर्शित किए गए थे जो उपा० 9 है और यह वर्णित किया कि परीक्षक द्वारा पेश की गई एक रिपोर्ट पर, जो उसे ज्ञात नहीं है, विचार किया गया था। पिटीशनर ने इस न्यायालय में यह प्रार्थना की कि यह निदेश दिया जाए कि दो उत्तर पुस्तिकाओं की प्रतिलिपियां और उपा० 9 में वर्णित रिपोर्ट उसे प्रदत्त की जाए। 29-8-1983 को उपा० 9 को अभिखण्डित करने के लिए एक आवेदन किया। उस तारीख को मामला स्वीकार किया गया और अब हमारे समक्ष अंतिम सुनवाई के लिए रखा गया है।

6. प्रत्यर्थियों की ओर से एक प्रतिशपथ पत्र फाइल किया गया जिसमें यह वर्णित किया गया है कि लिखे हुए उत्तर की पुस्तिकाएं गोपनीय हैं और वे विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेज हैं और इसलिए पिटीशनर को उनका निरीक्षण करने की अनुमति नहीं दी जा सकती और न वह उनकी प्रतिलिपियां ही प्राप्त कर सकता है। एक प्रतिशपथ पत्र में यह और वर्णित किया गया कि उत्तर पुस्तिकाएं पिटीशनर के वकील की मौजूदगी में खुले न्यायालय में पेश की गई थीं और इसलिए पिटीशनर को या उसके काउंसेल को उनकी परीक्षा करने के लिए और आगे अवसर देना जरूरी नहीं है।

7. आवेदन के समर्थन में हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि आदेश की प्रकृति दाण्डिक है और उससे यह सभावना है कि पिटीशनर के कैरियर पर गम्भीर रूप से प्रभाव पड़ सकता है। श्री ताराकांत झा ने यह कहा कि हाल ही में तेल और प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों के सम्बन्ध में पिटीशनर द्वारा दी गई परीक्षा में वह प्रथम आया है। किन्तु आक्षेपित आदेश के कारण यह सम्भावना है कि उसकी नियुक्ति न की जाए और यदि उसकी नियुक्ति कर भी ली जाती है तो जब कभी प्रोन्नति का प्रश्न उद्भूत होगा, तो भविष्य में भी उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

8. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यदि आक्षेपित आदेश कायम रखा जाता है तो इस बात की सम्भावना है कि पिटीशनर पर गंभीर

हिन्दी में प्रामाणिक विधि साहित्य

ारतीय संविधान के प्रमुख तत्त्व

लेखक—डॉ० प्रद्युम्न कुमार त्रिपाठी

इस पुस्तक में संविधान के तत्त्वों का अत्यन्त सरल और बोधगम्य भाषा में विवेचन किया गया है। पुस्तक में संविधान से सम्बन्धित अद्यतन सामग्री का तथा उससे सम्बन्धित्त निर्णयों का भी समावेश किया गया है। यह पुस्तक विधि तथा राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए और सभी ऐसे व्यक्तियों के लिए उपयोगी है जो संविधान का गहन अध्ययन करना चाहते हैं।

मूल्य : 36.50 रुपये

चिकित्सा न्यायशास्त्र और विषविज्ञान

लेखक—डॉ० सी० के० पारिख

अनुवादक—डॉ० नरेन्द्र कुमार पटोरिया

मूल पुस्तक "मेडिकल ज्यूरिस्प्रूडेंस एण्ड टॉक्सिकोलॉजी" को संसार भर में इस विषय की पाठ्य पुस्तक के रूप में मान्यता मिली है। हिन्दी संस्करण भी प्रत्येक दृष्टि से अद्वितीय और अभूतपूर्व है। विषय को समझने के लिए 278 आकृतियां और रेखाचित्र दिए गए हैं। चिकित्सा न्यायशास्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्तों को उपयोगी बनाने के लिए इसमें पर्याप्त मात्रा में निर्णयज विधि (केस लॉ) शामिल की गई है। यह पुस्तक विधि तथा आयुर्विज्ञान के छात्रों, पुलिस अधिकारियों, वकीलों तथा न्यायाधीशों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मूल्य : 70.00 रुपए

अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय

लेखक—डॉ० सुभाष चन्द्र खरे

डॉ० खरे हिन्दी साहित्य और अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के विद्वान होने के साथ ही विधि साहित्य के हिन्दी और अंग्रेजी के प्रतिष्ठित लेखक भी हैं। उनकी इस कृति में अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत, अन्तरर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि, राज्यक्षेत्र, समुद्रीय सीमा, अन्तरर्राष्ट्रीय न्यायालय की अधिकारिता, न्यूरेम्बर्ग निर्णय आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रमुख निर्णयों को बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस विषय के विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

मूल्य : 16.70 रुपए

दण्ड प्रक्रिया संहिता

लेखक—न्यायमूर्ति महावीर सिंह

इस पुस्तक में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के सभी पहलुओं की सरल भाषा में विवेचना की गई है तथा उससे सम्बन्धित निर्णयज विधि (केस लॉ) भी सम्मिलित की गई है। विद्यार्थियों और न्यायालयों से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के लिए यह एक अद्वितीय पुस्तक है।

मूल्य : 46.50 रुपए

साक्ष्य की विधि (परिवर्धित और पुनरीक्षित द्वितीय संस्करण)

लेखक—श्री रेवाशंकर गोविन्दराम त्रिवेदी

श्री त्रिवेदी, मध्य प्रदेश के विधि आयोग के सदस्य और विधि साहित्य के सुविज्ञ लेखक थे। यह पुस्तक विधि के छात्रों को ध्यान में रखते हुए ही लिखी गई है किन्तु यह वकालत आरम्भ करने वाले युवा वकीलों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है।

मूल्य : 33.60 रुपए

निर्णय लेखन

लेखक—श्री भगवती प्रसाद बेरी

एक हिन्दी प्रेमी, एक सफल अधिवक्ता और अन्ततः राजस्थान उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में प्राप्त अपने अमूल्य अनुभवों के आधार पर लेखक ने हिन्दी में निर्णय लिखने वाले या लिखने के लिए इच्छुक न्यायाधीशों और न्यायिक अधिकारियों के मार्गदर्शन और प्रोत्साहन के लिए सरल और सरस भाषा में इस पुस्तक की रचना की है।

मूल्य : 11.00 रुपए

मुस्लिम विधि

लेखक—डॉ० हफीज़ुल रहमान

मुस्लिम विधि पर अब तक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों में यह न केवल नवीनतम पुस्तक है बल्कि तुलनात्मक, वैश्लेषिक, अद्यतन निर्णय तथा अन्य दृष्टिकोणों से भी परिपक्व एकमात्र ऐसी कृति है जो विद्यार्थियों, अध्यापकों, वकीलों और न्यायाधीशों के लिए निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगी।

मूल्य : 16.50 रुपए

विधि साहित्य प्रकाशन
विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग)
भारत सरकार
भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001